मुनिश्रीपद्मविजयजी द्वारा अनुवादित एवं लिखित अपूर्व धार्मिकसाहित्य

१– ललित-भक्तिदर्पण
२– ऐतिहासिक तीर्थ : हस्तिनापुर
३– ज्ञानसार अष्टक (हिन्दी-अनुवाद)
४– प्रशमरति (हिन्दी-अनुवाद)
५– उपदेशमाला (हिन्दी-अनुवाद)
६– पर्वकथासंग्रह (हिन्दी-अनुवाद)
७– योगशास्त्र (हिन्दी-अनुवाद)

प्रकाशन की प्रतीक्षा में

* अध्यात्मसार (हिन्दी अनुवादसहित)
* षड्दर्शनसमुच्चय (हिन्दी अनुवादसहित)

प्राप्ति-स्थान

१– श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ
१८४४ प्रताप मार्केट, सदर बाजार,
दिल्ली–६

२– श्री मेहता किस्तूरचन्द अमीचन्द
३६ बाग बिल्डिंग, एन. टी. ब्रिज
मझगाँव–बम्बई-१०

३– सोमचन्द डी. शाह
जीवन निवास के सामने,
पो०–पालीताणा (सौराष्ट्र)

४– पं० भूरालाल शाह
सरस्वती पुस्तक भंडार
रतनपोल, हाथीखाना,
पो०– अहमदाबाद–१ (गुजरात)

MUNSHIRAM MANOHARLAL
PUBLISHERS PVT. LTD.
Oriental & Foreign Book Sellers,
P.B. 5715, 54 Rani Jhansi Road
NEW DELHI-110055.

अब तक धरती पर अनन्त तीर्थंकर हो गए, अनन्त चक्रवर्ती और अनन्त वासुदेव बलदेव हो गए, पर इतिहास के पृष्ठों पर उनका आज कोई अता पता नहीं है। वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों का भी तो कहाँ वर्तमान इतिहास उल्लेख कर पा रहा है? महाकाल की करवट के नीचे बड़े-बड़े महापुरुष दब गए हैं, अतीत की तहों के भीतर समा गए हैं। बहुतों के स्पष्ट तो क्या, धूमिल चित्र भी नहीं मिल पा रहे हैं।

व्यक्ति नहीं, गुण :

अतएव हमारे आचार्यों ने काल के इस अजस्र-प्रवाह से व्यक्ति को नहीं, गुण को उभारा है। व्यक्ति मिट जाता है, पर उसका व्यक्तित्व अमर रहता है। अतएव भारतीय आचार्य व्यक्ति-पूजा से गुण-पूजा की ओर प्रवृत्त हुए हैं।

उन्होंने कहा है—आत्मा का निर्मल और निर्विकार स्वरूप ही शाश्वत है, अजर-अमर है। उसका जो ज्ञानमय-चिन्मय रूप है, ज्ञान का जो अखण्ड दीप है, वह महाकाल के झंझावातों से भी बुझ नहीं सकता। अनन्त काल पूर्व होने वाले तीर्थंकरों का जो यह आभ्यन्तर रूप था, वही वर्तमान चौबीसी के तीर्थंकरों का था, और वही आभ्यन्तर रूप अनागत में होने वाले समस्त अनन्त तीर्थंकरों का होगा। उनके खानदान, वंश, जाति, नाम-धाम, शरीर के रंगरूप और चिह्न भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, किंतु उनकी आत्मा का रूप एक ही प्रकार का होता है। उनके आन्तरिक रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतएव आचार्यों ने जो स्तुतियाँ, प्रार्थनाएँ की हैं, वे व्यक्ति की नहीं अपितु गुणों की हैं। व्यक्ति विशेष के नाम-रूप पर वे मुग्ध नहीं हुए हैं, अपितु उसकी आभ्यन्तर-आत्मा के अनन्त सौन्दर्य पर निछावर हुए हैं।

व्यक्ति के नाम का मूल्य, कुछ है तो, बस वह कुछ समय के लिए हो सकता है, इतिहास के लंबे पन्नों पर उसका कुछ भी मूल्य नहीं रह पाता।

उपर्युक्त श्लोकों में जो स्तुति की गई है वह किसी तीर्थंकर-विशेष के नाम पर नहीं की गई है, अपितु उनके सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक उज्ज्वल, उदात्त आभ्यन्तर रूप की की गई है।

चलते फिरते कल्पतरु :

स्तुति केवल वाग्-विलास नहीं होती, उसमें सिर्फ शब्दों का जोड़तोड़ या अलंकारों का चमत्कार मात्र ही नहीं होता, उसमें आत्मा का उदात्त स्वर गुंथा रहता है। उसमें हृदय का जोड़तोड़ एवं भावों का चमत्कार भरा रहता है। आत्मा की अतल गहराई मे उठने वाली श्रद्धा एवं भक्ति की लहरों में भाव-विभोर भक्त हृदय कहता है—"**जयति जङ्गम कल्प मही रुहो**'—प्रभु! आप जगम कल्प वृक्ष हैं। जंगम यानी चलते-फिरते। स्थावर जड़ क वृक्ष मनुष्य की भौतिक आशाएँ भले ही पूरी कर दें, पर वे एक ही जगह खड़े रहते हैं, इधर-उधर नहीं आ-जा सकते। किन्तु धरती पर के महामानव तो इस भूतल पर चलते-फिरते कल्पवृक्ष हैं। कल्प- यानी इच्छाएँ, उनको पूर्ण करने वाले है। संसार के प्राणियों की आशाएँ, कामनाएँ प्रभु की स्तुति और सेवा से पूर्ण होती हैं। जिसका तन-मन भगवान् के चरणों मे लीन हो गया, उनके गुणों में तन्मय हो गया, उसे ससार का महानतम वैभव प्राप्त हो गया। उसकी सब कामनाएँ-इच्छाएँ-अभिलाषाएँ पूर्ण हो गई।

दुःख-सागर के तारक :

संसार दुःखों का समुद्र है। इसमें संघर्ष, कलह, कष्ट एवं परस्पर के विग्रह का अपार खारा जल भरा रहता है, आसक्ति एवं लालसाओं की उद्दाम तरंगें उछलती रहती हैं। आत्मा इस अतल गहराई में डूबी रहती है। दुःख और पीड़ाओं के थपेड़ खाती रहती है। कष्टों के तूफानों से टकराती रहती है, पर कहीं किनारा दिखाई नहीं देता। जिस ओर जाए उधर ही दुःखों की अपार जलराशि लहराती दिखाई देती है। उसे कोई सहारा नहीं, कोई किनारा नहीं। उस दुःखी संत्रस्त आत्मा को दुःखों के इस महासागर से तारने वाला यदि कोई है, तो हे प्रभु, आप ही हैं। आपके प्रवचन, आपके उपदेश ही तो उस विराट् जलपोत के समान हैं, जो ससार-सागर में डूबते हुए प्राणियों को पार लगा सकते हैं।

कभी न बुझने वाला दीप :

और वह कभी नहीं बुझने वाला सनातन दीप कौन है? हे प्रभु,

आप ही तो हैं। आपने अपने अंतर् में जो ज्ञान का महादीपक जलाया है, वह संसारी हवाओं के तूफानी झोंकों से कभी बुझ नहीं सकता, रात-दिन का अनन्त काल चक्र उसके प्रकाश एवं प्रभामंडल को क्षीण नहीं कर सकता। वह एकरस निरंतर जलता रहता है, अखण्ड रूप में प्रकाश फैलाता रहता है। और जो उसके प्रकाश से प्रकाशित हो गया, स्वयं को पहचान लिया, उस मुमुक्षु आत्मा का भी अन्तर् दीपक जल उठा। इस प्रकार आपके इस सनातन ज्ञान दीपक से हजारों-लाखों ही दीप जल उठते हैं। सब ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है।

धरती पर के चाँद :

आकाश में जो यह चाँद के रूप में एक प्रकाश का टुकड़ा दिखाई देता है, वह तो क्या है आपके सामने प्रभो? वह कभी क्षीण होता है, कभी बढ़ता है। उसकी कलाएँ भी घटती-बढ़ती रहती हैं। अमावस्या की काली रात में तो आकाश मण्डल में उसका कहीं कोई चिह्न ही नहीं दिखाई देता। दिन के समय में वह ढाक का सूखा पत्ता जैसा हो जाता है। उसकी ज्योत्स्ना और शीतलता भी सिर्फ रात भर रहकर प्रातः होते ही धरती से अपनी चादर समेट कर विदा हो जाती है। ग्रहण के समय तो वह काला कपाल हो जाता है। अतः इस धरती के सच्चे चाँद तो आप हैं! आपके ज्ञान की ज्योत्स्ना कितनी शुभ्र और निर्मल है! कभी क्षीण नहीं होती! वह दीप एक-बार प्रदीप्त हो गया तो अनन्त-अनन्त काल तक संसार को ज्योतित करता रहता है। रात में भी और दिन में भी! न उसको राहु ग्रस सकता है, न सूर्य उसके प्रभापुंज को क्षीण कर सकता है। शीतलता भी कितनी विचित्र है! भव ताप से, दुःखों व संघर्षों की अग्नि से संतप्त व्यक्ति को जब आपके ज्ञान-चन्द्र की शीतल किरणों का जीवन में अन्तःस्पर्श होता है तो वह सब ताप-संताप भूल कर आह्लादित हो उठता है।

एक अद्भुत कमल :

प्रभु-स्तुति में इस प्रकार भाव-विभोर होकर प्रार्थना करता हुआ भक्त अन्त में कहता है—**"विषय पङ्किल मोह जलोल्लसद्"**— यह संसार एक ऐसी झील है जिसमें विषय-कषाय का कीचड़ भरा

है। मोह का जल ठाठें मार रहा है। राग-द्वेष की तरंगें उछल रही हैं।

राग-द्वेष की तरंगें बड़ी भयानक हैं। स्वजन, स्वधन, और स्वतन के राग का महान् भंवर है, समुद्र में उठने वाला जल का चक्र है, जो बड़े-बड़े जहाजों को भी डुबा देता है।

स्वजन-की सीमाओं में विराट् आत्मा बंध जाती है। यह विकल्प उठ खड़ा होता है कि यह मेरा है, मेरे जाति या वंश का है, मेरी परम्परा और मेरे संप्रदाय का है। यह स्व-पर की कल्पना, ऊपर से बड़ी मधुर लगती है, पर, वास्तव में है बहुत ही कटु। जितने भी दुःख हैं, संघर्ष हैं, सब पर को स्व मानने से उत्पन्न होते हैं। और स्व-पर का भेद करने के कारण चेतन चेतन के बीच में भी जब द्वैत बुद्धि जन्म लेती है, अपना-पराया का भेद उठता है, तो दुःख की परम्परा का वह सूत्रपात हो जाता है, जिसकी समाप्ति सहज नहीं रहती।

स्व-धन की भावना भी कम भयानक नहीं है। धन का मोह मनुष्य को पागल बना देता है। उसकी आँखें बन्द हो जाती हैं। आत्मा में ममत्व का दावानल जल उठता है। 'मेरा धन, मेरी संपत्ति' का कोलाहल अन्तर्मन को उद्वेलित कर देता है। व्यक्ति धन पर साँप की तरह फन फैलाकर बैठ जाता है। कोई उसे हाथ लगाए, उसकी तरफ नजर भी उठाले तो वह उसे ही काटने दौड़ता है, फुंकार मारता है। धन का लोभी मानव यह नहीं समझता है कि धन से सुख नहीं प्राप्त होता। उससे तो देर-सबेर दुःखों, पीड़ाओं और यातनाओं की ज्वालाएँ ही उठेंगी। उसी ज्वाला में आत्मा जलती रहती है।

तीसरा भँवर-जाल है स्व-तन का। स्व-तन का व्यामोह मनुष्य को इतना भटकाता है कि कुछ पूछिए ही नहीं। अपने तन की सुख-सुविधाओं के लिए वह दिन-रात दौड़-धूप करता है, संघर्ष करता है। दूसरों के सुखों को लूट कर भी अपने तन का सुख प्राप्त करना चाहता है। अपने तन को मूल्यवान समझता है, फूलों-सा कोमल समझता है। इसके सामने दूसरे हजारों-लाखों तन की कोई कीमत ही नहीं समझता। उन्हें तो लोहे और पत्थर के बने समझता है कि

उन्हें क्या पीड़ा होती है ? जो भी पीड़ा होती है, मुझे ही होती है। स्व-तन का यह व्यामोह के अनर्गल संघर्ष और द्वन्द्वों की जड़ है। अनादि काल से यह संसार स्व-जन, स्व-धन और स्व-जन के इन्हीं आघातों से त्रस्त होता आ रहा है।

इस संसार रूपी सीमाहीन झील में प्रभु को एक कमल, अद्भुत कमल के रूप में देखते हुए स्तुति के अन्त में कहा है—"**कमल मेक-महो जिन पुङ्गवः**"—हे प्रभु, आप अपने ढंग के एक ही कमल है।

कमल कीचड़ में जन्म लेता है। कीचड़ में कीड़ कुलबुलाते रहते हैं, मच्छर और मक्खी मँडराते रहते हैं। कीचड़ का रंग काला होता है, दाग लग जाता है तो कपड़े गन्दे हो जाते हैं। सड़ता है, तो बदबू देता है, इस प्रकार जो कीचड़ संसार में मृत्यु और गंदगी बाँटता रहता है, उसी में कमल पैदा होता है। पर वह कमल कितना विचित्र होता है ! न उसमें कीचड़ की गन्दगी, न बदबू ! कितना मोहक, नयनाभिराम रूप होता है, कितनी मधुर सुगन्ध होती है उसमें और कितना पवित्र होता है वह ! निर्लिप्त वीतराग आत्माएँ भी संसार रूपी झील में ऐसे ही निर्लिप्त कमल हैं।

आत्मा की दृष्टि से तीर्थंकर की आत्मा और हमारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। चैतन्य की दृष्टि से दोनों समान हैं। पर, वह कीचड़ में जन्म लेकर कमल की तरह निर्मल पवित्र और सद्-गुणों के सौरभ से महकता रहता है। दया, करुणा, सद्भाव, निष्कामता की सुगन्ध संसार को अर्पण करता रहता है। उसी कमल का आदर्श सामने रखकर हमारी भावनाएँ उस ओर उन्मुख होती हैं। श्रद्धा और भक्ति का सम्बल लेकर उस आदर्श की ओर बढ़ने के लिए प्रार्थनाएँ हुआ करती हैं। इस प्रार्थना से आत्मा के सामने अपना जीवन-लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। साथ ही उस ओर बढ़ने का अजेय बल भी प्राप्त होता है।

"न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरणी-पलासं।"

—भगवान् महावीर

संसार में रहते हुए भी वीतराग आत्माएँ जल में कमल के समान निर्लिप्त होती हैं।

★

★ उपाध्याय अमरमुनि

साधना की तेजस्विता

साधक की साधना क्या है ? साधना अपने अंतर्हृदय में सुप्त ज्ञान-ज्योति को प्रदीप्त करना है। आत्मा के तैजस को प्रज्वलित करना है। साधक अपने अंतर् के तेज को जागृत करके ही अपनी साधना को सफल बनाता है।

और आत्मा का तेज क्या है ? लीजिए, प्रस्तुत है इस संदर्भ में श्रद्धेय कविश्रीजी का स्पष्ट विचार-चिंतन। —संपादक

जीवन का अर्थ क्या है ? जीवन की साधना क्या है ? क्या पचास-साठ-सौ वर्ष जी लेना मात्र जीवन है ? जीवन का मूल्यांकन क्या इसी आधार पर होता है कि कितना लम्बा, दीर्घ जीवन गुजरा है, या गुजरने वाला है ? नहीं ! जीवन का अर्थ जीना मात्र नहीं है। हजार वर्ष जीकर भी जीवन का कोई मूल्य नहीं स्थापित हो सकता, और एक दिन एवं एक घड़ी के जीवन से भी जीवन की सम्पूर्ण श्रेष्ठता और पूर्ण मूल्य प्राप्त किया जा सकता है। जीवन का अर्थ यह है कि वह किस तरीके से जीया जा रहा है ? उसमें तेजस्विता और प्रभावशीलता कितनी है ? जीवन एक साधना है। इस साधना के द्वारा जो अपने आप को परखता है, अपने अन्तरात्मा को पाता है। अपने को आगे बढ़ाता है अन्तर्मलों को धोकर शुद्ध और निर्मल बनाता है। दूसरों के लिए स्वयं समर्पित हो जाता है। इसी में उसके जीवन का महत्त्व छिपा है। इसी आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। साधना का मूल्य कभी भी समय और संख्या के आधार पर नहीं आँका जाता। साधना में संख्या और समय की परिकल्पना एक भुलावा है। इस प्रकार के गणित के ढंग

का लेखा-जोखा तो व्यापार में चल सकता है, साधना में नहीं। यह सब तो भूल भुलैय्या है, जिसमें साधक भटक जाता है।

साधना में तेजस्विता चाहिए :

साधना आज भी चल रही है, किन्तु उसमें कर्म काण्ड, विधि-विधान, और लेखा-जोखा बहुत चलता है। सामायिक आज भी होती है, सैकड़ों-हजारों ही होती हैं। चातुर्मास में जब साधना की गिनती होती है, तपस्या और सामायिक की गणना होती है, तो पता चलता है कि इतने सौ अठाइयाँ हो गईं, इतने बड़े तप हुए, इतने आयम्बिल हुए, इतनी दया हुई और इतनी हजार सामायिक हुईं। जन-गणना की तरह एक लम्बी-चौड़ी सूची सामने आ जाती है. रजिस्टर में दर्ज हो जाती है और बही-खाते में चढ़ जाती है। और फिर अखबारों में लम्बी-चौड़ी सुर्खियों में प्रचारित भी हो जाती है। यह बही-खाता चलता चला जाता है, रकमें जमा होती रहती हैं, हजारों-लाखों की कलमें लिख दी जाती हैं. पर अन्दर में झाँककर देखो तो कुछ भी नहीं मिलता। यह तो उस व्यापारी की तरह हुआ, जो कर्ज में इधर-उधर धन लुटाता चला जाता है, उसे बही-खाते में लिखता जाता है, पर उसको वसूल करने की कोई फिकर नहीं करता, कोई व्यवस्था और प्रबन्ध नहीं कर पाता। जब खाता देखता है, तो धन बहुत लिखा मिलता है, पर धन को देखना चाहता है तो कुछ भी पता नहीं चलता। खाते में धन है, पर तिजोरी खाली है। उसके लिए राजस्थान में एक कहावत है—**"खाता देखां धन धणो, धन देखां धन नांय"** खाते को देखते हैं तो धन बहुत मालूम पड़ता है, पर जब धन को देखने जाते हैं तो बस जय-जय गोपाल है।

इसी व्यापारी और साहूकार की स्थिति की तरह की स्थिति ही अधिकतर आज हमारे साधकों की हो रही है। किसी ने जीवन में हजार सामायिक की हैं, किसी ने दस हजार और किसी ने लाख पर भी नम्बर लगा दिया। पर उनके जीवन में गहराई से देखो तो साधना का धन कितना मिलेगा? वे ठीक वैसे ही दरिद्र और भिखारी मिलेंगे, जैसे कि एक भी सामायिक नहीं करने वाला है। साधना की दृष्टि से उनके खाते में धन जमा है, पर जीवन में देखें तो कुछ भी नहीं है। मैं

कहता हूँ, और मैं ही क्या, भगवान् महावीर तक ने कहा है कि तुम्हारी हजारों-लाखों सामायिक से भी एक सामायिक अच्छी है, यदि उसमें समभाव की जागृति हो गई हो तो ! एक सच्ची सामायिक के मूल्य में सम्राट् श्रेणिक का समूचा साम्राज्य तुच्छ और नगण्य सिद्ध हुआ। सुना है आपने, जब श्रेणिक ने पूणिया श्रावक की सामायिक खरीदने के लिए प्रयत्न किया था, उसके पास जाकर श्रेणिक ने कहा था—"श्रावक मुझे तुम्हारी एक सामायिक चाहिए ! सिर्फ एक सामायिक !! भगवान् महावीर ने बतलाया है कि तुम्हारी एक सामायिक से मेरी नरक-यात्रा टल सकती है। बोलो ! तुम्हें क्या मूल्य चाहिए ? जो माँगोगे वही दूँगा, सिर्फ एक सामायिक दे दो !"

पूणिया श्रावक सम्राट् की बात सुनकर चकित हो गया। उसने सोचकर कहा—"महाराज ! जिसने सामायिक खरीदने की बात कही है वही उसका मूल्य भी बता सकता है। जो मूल्य होगा वह आप पूछ आइए, मैं सामायिक दे दूँगा। वैसे मैंने यह धन्धा कभी किया नहीं है।"

सम्राट् हर्ष से उछलता हुआ प्रभु के चरणों में पहुँचता है और कहता है—"भन्ते ! पूणिया श्रावक सामायिक देने को तैयार हो गया है, कृपया बतलाइए कि एक सामायिक का मूल्य क्या होना चाहिए ? जो मूल्य होगा, वही मैं देने को तैयार हूँ।"

भगवान् महावीर ने देखा कि श्रेणिक भौतिक वैभव के बल पर आध्यात्मिक वैभव को खरीदने की बात सोच रहा है। धीर-गम्भीर वाणी में भगवान् बोले—"राजन् ! भौतिक वैभव के साथ सामायिक की क्या तुलना हो सकती है ? यदि भूतल से चन्द्रलोक तक स्वर्ण, मणि-मुक्ताओं का अम्बार लगा दिया जाए तब भी एक सामायिक का मूल्य तो क्या, सामायिक की दलाली का मूल्य भी पूरा नहीं हो सकता।"

श्रेणिक भगवान् की वाणी सुनकर दिग्मूढ़-सा हो गया। उसकी आशाओं पर सौ घड़े पानी गिर पड़ा। भगवान् ने उसको आध्यात्मिक समाधान देते हुए बतलाया—"मृत्यु के द्वार पर पहुँचे हुए किसी प्राणी को हजार, लाख या कोटि मुद्रा देकर भी क्या बचाया जा सकता है ?"

—"नहीं, भगवन् ! असम्भव है यह !"

—"तो, राजन् ! समझो, जीवन का मूल्य क्या है, कितना है ? कोटि-कोटि स्वर्ण मुद्रा या मणि-मुक्ताओं से जब एक जीव भी नहीं बचाया जा सकता, जीवन का एक क्षण भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, तो सामायिक की साधना, जो एक मुहूर्त भर के लिए अनन्त-अनन्त जीवों को अभय देती है, समत्व की अर्जना करती है उसका मोल क्या होगा ? वह तो मोल से परे अनमोल है !"

सम्राट् का समाधान हो गया, और मैं उस पर से आज का समाधान कर रहा हूँ !

अभिप्राय यह है कि सामायिक यदि सच्ची सामायिक होती है, पूणिया श्रावक जैसी सामायिक होती है, तो एक ही सामायिक जीवन का अमूल्य धन हो जाती है। वह एक ही सामायिक जीवन में अद्भुत परिवर्तन कर डालती है। जन्म-जन्मान्तरों के बन्धनों की बेड़ियाँ चकनाचूर हो जाती हैं। और यदि सामायिक में आध्यात्मिक साधना का, समभाव का यह तेज नहीं प्रकट होता है, तो लाखों-करोड़ों सामायिक का भी क्या मूल्य है ?

आज का साधक साधना के क्षेत्र में बहुत दीर्घकालीन कर्मकाण्ड को लिए हुए चल रहा है। देह-दण्ड का बहुत ऊँचा झण्डा लिए वह बाहर में बहुत दूर तक बढ़ता जा रहा है। पर अन्दर में कहाँ है उसकी साधना में शक्ति ? कहाँ है तेजस्विता और आत्म-दर्शन ? अभी तक उसमें जागृति नहीं आई है, बल पैदा नहीं हुआ है। और जिसे हम साधना का 'रस' कहते हैं, आनन्द कहते हैं वह भी तो वहाँ उत्पन्न नहीं हुआ है ! साधना के क्षणों में जब रस और आनन्द की अनुभूति नहीं होती है तो वह साधना नीरस हो जाती है। वह कर्म-काण्ड कितना ही बड़ा क्यों न हो, एक भार बनकर रह जाता है। मजदूर यदि सोना ढोता है, मणि-मुक्ता ढोता है तो उसका लाभ उसे नहीं मिलता, उसे मिलती है मजदूरी ! सिर्फ दो-चार आने ! उसी प्रकार बिना आध्यात्मिक आनन्द की जागृति हुए यदि कर्मकाण्ड किया जाता है, तो उसका वास्तविक मूल्य प्राप्त नहीं हो सकता, साधना का सच्चा लाभ उसे नहीं मिल सकता।

गुप्त अग्नि बनाम प्रज्वलित अग्नि :

प्राचीन आचार्य इस सत्य को पहचान चुके थे। उन्होंने जीवन के प्रत्येक कर्म को आनन्दमय और तेजस्वी बनाने की प्रेरणा दी है। उसे शक्ति-सम्पन्न बनाने का उपदेश किया है। गुरु जब शिष्य को अध्ययन कराते हैं, और शिष्य विनय पूर्वक, श्रद्धायुक्त होकर गुरु-चरणों में बैठ कर शिक्षा ग्रहण करता है, तो सर्वप्रथम गुरु-शिष्य एक सहमन्त्र का उच्चारण करते हैं—"**ॐ तेजस्विनावधीतमस्तु।**"

हमारा यह अध्ययन तेजस्वी बने, प्रकाशमान बने। प्रकाश की वे दिव्य किरणें निकलें, जो गुरु के अन्तस्तल में भी प्रकाश फेंकती रहें और शिष्य के जीवन के कोने-कोने को भी जगमगा दें। और वह प्रकाशकिरण लिए जिधर भी निकले—परिवार में, समाज में और राष्ट्र में—उधर बस, प्रकाश ही प्रकाश फैल जाये। अन्धकार भयभीत होकर भाग जाये। आकाशमण्डल में सूर्य जिधर भी घूमता है उधर ही अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता हुआ, प्रकाश ही प्रकाश बिखेरता चला जाता है। इसी प्रकार हमारा अध्ययन अज्ञान-तिमिर का नाश करता हुआ वैयक्तिक जीवन को, समाज और राष्ट्र के जीवन को जगमगादे, चारों ओर प्रकाश फैलादे। अपनी तेजस्विता से अज्ञान को परास्त कर डाले।

कितनी उच्च आकांक्षा और महान् संकल्प है अध्ययन के लिए। जीवन में अध्ययन तो चलता ही रहता है, शास्त्रों का स्वाध्याय भी होता है। पर इसे स्वाध्याय नहीं, केवल पारायण या पाठ कहना चाहिए। वास्तव में हम जो अध्ययन कर रहे हैं, वह स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता, पारायण या पाठ तक ही सीमित रहता है। अक्षरों का अध्ययन तो हम कर लेते हैं, उनका स्पष्ट उच्चारण भी कर लेते हैं, पर अक्षरों के भीतर छिपी आत्मा को हम नहीं पहचान पाते। उन अक्षरों के माध्यम से जिस तेज और प्रकाश की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वह नहीं हो सकती। फलस्वरूप हमारा अध्ययन सिर्फ अक्षर-पाठ तक ही सीमित रह जाता है। अक्षरों में शक्ति छिपी रहती है। उस शक्ति को जब तक जागृत नहीं किया जाता, उसके दर्शन नहीं किये जाते, तब तक अध्ययन में निखार नहीं आता, अध्ययन तेजस्वी और प्रकाशमान नहीं बन पाता। अक्षरों

की देह को पकड़ कर ही हम बैठे रहते हैं, उनकी सुप्त आत्मा को जगाने का प्रयत्न नहीं करते। और जब तक अक्षरों की आत्मा नहीं जगती, प्रकाश मिल नहीं सकता।

दियासलाई, जिसे संस्कृत में 'दीपशलाका' कहते हैं, अपने भीतर अग्नि-तत्त्व छिपाए बैठी है। उसमें वह शक्ति है, जो विराट् रूप धारण कर समूचे विश्व को प्रज्वलित कर सकती है, भस्मसात् कर सकती है, और संसार के समस्त अन्धकार को मिटा कर प्रकाश-रश्मियाँ फैला सकती है। पर कहाँ है उसमें वह शक्ति? वह एक छोटी-सी शलाका के अग्र भाग पर केन्द्रित है, एक नन्हे से बिन्दु में बन्द है, जिसे आप हाथ में ले सकते हैं। बच्चा भी उससे खेल सकता है। मुँह में भी ली जा सकती है और जेब में भी रख ली जा सकती है। क्योंकि उसमें अग्नि तत्त्व सोया पड़ा है, जागृत नहीं है। जबतक घर्षण करके आग प्रज्वलित नहीं की जाती, वह महाशक्ति प्रकट नहीं होती, और तब तक उस दियासलाई का कोई मूल्य नहीं, कोई महत्त्व नहीं। किंतु यदि उसका महत्त्व समझना है, ज्योति का दर्शन करना है, तो जरा उसे रगड़ कर देखिए, एक ज्योति-रेखा प्रकट होती है, एक अग्नि ज्वाला प्रज्वलित होती है, और एक ऐसा तेज दीप्त होता है, जो पर्वतों की गहन कन्दराओं के हजारों-लाखों वर्षों के सघन अन्धकार को भी मिटा देता है, सब ओर प्रकाश ही प्रकाश फैला देता है। ईन्धन और घास के बड़े-बड़े ढेर को कुछ ही क्षणों में जलाकर राख कर डालता है। एक बार हम एक छोटे से गाँव में गए थे। देहात में तो अधिकतर कच्चे मकान, घास-फूस के छप्पर और चारों ओर काँटों की कंटीली बाड़—बस यही घरों का रूप होता है। दोपहर में देखा कि गाँव के एक किनारे पर आग की भयंकर लपटें उठ रही हैं। धुएं से आच्छन्न हो रहा है। गाँव के लोग एकत्र होरहे हैं, चिल्ला रहे हैं, और आग की लपट हवा के साथ बढ़ती हुई झोंपड़ियों को भस्मसात् करती हुई फैलती चली जा रही है। बड़े प्रयत्न और संघर्ष के बाद वह आग बुझ पाई, किंतु उसने सैकड़ों पशुओं की बलि ले ली, पचासों घरों को राख की ढेरी बना दिया और सैकड़ों ही मनुष्यों को बेघरवार कर दिया। फिर पता चला कि किसी नादान बच्चे ने जलती हुई दियासलाई की तीली एक घास के ढेर पर फेंक दी थी, बस उसी तीली ने यह

भयंकर अग्निकाण्ड उपस्थित कर दिया। दियासलाई में जो गुप्त अग्निपुंज था, जब वह प्रज्वलित हो गया, तो एक महाशक्ति का रूप लेकर संसार के सामने आ खड़ा हुआ।

हमारा अध्ययन, सामायिक, उपवास, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि क्रियाकाण्ड एवं साधना — ये सब शक्ति के स्रोत हैं, तैजस् के पुंज हैं। उनमें से महाशक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है; तैजस् की प्रचण्ड किरणें फूटती हैं, पर कब? जब आत्मा के साथ उसकी रगड़ होती है। साधना आत्मा को छूती है। भावनाओं को स्पर्श करती है, तब उसका तेज-दीप्त होता है। उसमें 'रस' का प्रादुर्भाव होता है और आनन्द की अनुभूतियाँ उछलने लगती हैं। हजार और लाख दियासलाई भी वही काम करती हैं, जो एक दियासलाई करती है। वहाँ संख्या और गणना के आधार पर चलना ठीक नहीं होता, वहाँ तो एकमात्र उसकी शक्ति और तैजस् को देखा जाता है। यदि उसके मुँह पर ठीक से मसाला लगा है, ठीक से वह प्रज्वलित हो जाती है, तो एक ही सलाई काफी होती है, अन्यथा हजारों-लाखों सलाइयों का भी कोई मूल्य नहीं है।

जीवन में साधना का मूल्य उसके समय और उसकी गणना से नहीं आँका जाता। गणना के आधार पर, समय के आधार पर साधना का मूल्य आँकना भ्रान्ति है, गलत है। इस तरह से तो हम साधना की आत्मा को नहीं छूकर उसके देह से ही लिपटे रहते हैं, और तब उसमें प्रकाश और शक्ति, तेजस् और ज्योति का प्रादुर्भाव होना सम्भव ही नहीं है।

साधना के क्षेत्र में हमारे कुछ इस प्रकार के विश्वास और धारणाएँ स्थिर हो गई हैं कि अमुक तप कितना लम्बा होता है? कितनी मालाएँ जपनी चाहिएँ? कितने स्तोत्र पढ़ने चाहिएँ? कितनी सामायिक करनी चाहिए और कितने व्रत या प्रत्याख्यान करने चाहिएँ?

आचार्य कहते हैं कि यह जो लेखा-जोखा और गणना करने की बनिया पद्धति है, उसे साधना के साथ मत जोड़ो। धन की, सोने-चाँदी की और मणिमुक्ताओं की गणना करते-करते तुम्हारी आदत हो गई है कि हर एक बात को गिन कर देखा जाए। गणना, संख्या

और वजन के आधार पर उसका मूल्य स्थिर किया जाए। पर यह द्रव्यजगत् की बात भावजगत में नहीं चलती। वहाँ तो भाव का मूल्य है। म्यान का नहीं, तलवार का मूल्य है। "**मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान**"—की धारणा ही वहाँ चलती है। इसलिए साधना का मूल्य उसके भाव में है, अन्दर की तेजस्विता में है। यदि आपके अन्तःकरण में विचार शक्ति जागृत हुई है साधना हृदय को छू गई है और वह ज्योति प्रज्वलित हो उठी है, तो आपका फैसला अंतर्मुहूर्त्त में भी हो सकता है, कुछ ही क्षणों में आपकी साधना फलवती बन सकती है। अज्ञान अन्धकार का नाश करके ज्ञान का महाप्रकाश प्रदीप्त हो सकता है। और यदि आप में वह ज्योति नहीं जली है आत्मा के साथ उसकी रगड़ नहीं हुई है तो अंतर्मुहूर्त्त की बात क्या है, अनन्त-अनन्त काल तक भी कोई फैसला नहीं हो सकता। अनन्त काल बीत चुका और अनन्त काल और बीत सकता है, किन्तु मुक्ति उतनी ही दूर रह जाएगी, जितनी अनन्तकाल पहले थी। अनन्त काल की वह यात्रा आँखों पर पट्टी बाँधे घानी के बैल की यात्रा से अधिक कुछ भी नहीं है।

रगड़ लगी, ज्योति जगी :

महाकाल की राह अनन्त है, पथ अनन्त है और मंजिल बहुत दूर है। अनन्त-अनन्त यात्री कब से चले आ रहे हैं, चले क्या, भटक रहे हैं, और कहते हैं कि मंजिल नहीं मिल रही है। आचार्यों ने कहा है कि मंजिल क्या मिलेगी अभी तो राह भी नहीं मिली है। केवल चलना जैन साधना का लक्ष्य नहीं है, उसका लक्ष्य है राह पर चलना और चलने के ढंग से चलना। यदि मार्ग मिल गया है, और चलना शुरू कर दिया है तो मंजिल सामने खड़ी पुकारती नजर आएगी। कुछ ही क्षणों में चलने का फैसला हो जाता है और राही मंजिल को पा लेता है। लक्ष्य निश्चित किए बिना चलना, चलना नहीं है, भटकना है।

दियासलाई को जेब में या डिबिया में दबाए रखकर चाहे जितना प्रयत्न कीजिए, प्रकाश नहीं होगा। प्रकाश यदि करना है तो उसे निकालकर रगड़ना होगा। बस ठीक रगड़ लगी नहीं कि ज्योति जगी। फिर प्रकाश होते देर नहीं लगती। अन्धकार भाग जाता है और प्रकाश विहँस उठता है।

माता मरुदेवी का जीवन आप देखिए। वह ऐसी ही एक रगड़ से सहसा प्रज्वलित होता दिखाई देता है। चलते-चलते कुछ ही क्षणों में वह मंजिल पर पहुँचती दिखाई देती है। वह हाथी के हौदे पर बैठी है और जारही है। कहाँ? भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करने के लिए! दर्शन शब्द तो हमारी भाषा में है, वह तो जा रही है अपने पुत्र से मिलने के लिए। वह उन्हें भगवान् के रूप में नहीं, अपितु पुत्र के रूप में देख रही है। बहुत समय हो गया, पुत्र से मुलाकात किये। भरत को बार-बार उसने उलाहने दिए कि—"तू अपने पिता की खबर नहीं ले रहा है! वह कहाँ सूने जंगल में घूम रहा होगा, भूख-प्यास में उसकी कौन सुधि लेता होगा? कहाँ सोता होगा? कहाँ ठहरता होगा? कौन उसके साथ है? उसे क्या कष्ट है?" आदि बातें भरत से वह पूछा करती थी। उसके हृदय में ऋषभदेव के प्रति भक्ति नहीं, बल्कि मातृत्व का प्यार छलक रहा है।

जब भगवान् ऋषभदेव कैवल्य प्राप्त करके अयोध्या में आये और सम्राट् भरत को सूचना मिली, तो उन्होंने ~~सबसे पहले~~ माता मरुदेवी को सूचना दी- "दादी! तुम जो पिताजी के लिए बार-बार पूछती रहती थीं, वे आपके पुत्र आज अयोध्या-नगरी में आगए हैं, चलो उनसे मिलने के लिए।" बस फिर क्या देर थी, मरुदेवी हाथी के हौदे पर बैठकर चल पड़ी, पुत्र से मिलने के लिए। उसके पास 'प्रभु दर्शन' की भाषा नहीं थी। भाषा क्या, भावना भी नहीं थी। भगवान् के कैवल्य की बात भी उसकी समझ में नहीं आरही थी। जब नगर के बाहर आई और देव दुन्दुभियों की मधुर ध्वनि सुनी, पुष्पवृष्टि होती देखी, समवसरण की रचना देखी, और असंख्य देवी-देवताओं को स्वर्ग से धरती पर आते देखा, तो वह चकित हो गई! भरत से पूछा—"अरे भरत! यह सब क्या होरहा है?" तो भरत ने बताया— 'कि यह सब आपके पुत्र का ऐश्वर्य है, उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, और उसका उत्सव करने के लिए ये करोड़ों देव, दानव और मानव एकत्र हो रहे हैं।" भरत की बात सुनते ही मरुदेवी का विचार-प्रवाह बदल जाता है, वह वैराग्य की धारा में बह जाती है—कि मैं तो सोचती थी ऋषभ को बहुत कष्ट होंगे, भरत उसकी संभाल ही नहीं लेता, पर यहाँ तो बात ही दूसरी

है। जिस पुत्र के राग और स्नेह के कारण मेरा मन चिन्तित रहता था, रात-दिन उसके सुख के स्वप्न देखा करती थी, वह तो मेरे लिए कुछ भी नहीं सोच रहा है, उसने कभी मुझे सन्देश तक नहीं भेजा कि 'माँ, मैं आनन्द में हूँ, तुम चिन्ता न करना'। इसका इतना बड़ा ऐश्वर्य है, लाखों-करोड़ों देव-दानव और मानव इसकी सेवा में हैं। इसे भला माँ की क्या चिन्ता? मेरे मन में जो स्नेह है वह सब एकांगी है, निरर्थक है, झूठा है; मैं किधर बह रही हूँ! जो मेरी खबर तक नहीं लेता, उस पुत्र के लिए मैं इतनी अधिक स्नेह से अभिभूत क्यों हो रही हूँ।" मरुदेवी इस प्रकार प्रथम खिन्नता की भाव-धारा में बहती है, अनन्तर निर्मल वैराग्य का स्रोत अन्दर से फूट पड़ता है, मन की दिशाएँ बदल जाती हैं, चिन्तन की धाराएँ मोड़ ले लेती हैं। जो चिन्तन, जो विचार बाहर की दिशा में चल रहे थे वह अब अन्दर में आत्मा को छूने लगते हैं, उनमें अध्यात्म-भाव की ज्योति प्रज्वलित होती है, और कुछ ही क्षणों में वह ज्योति महाप्रकाश बन जाती है। अन्त में हाथी के हौदे पर बैठे ही बैठे केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है और कुछ ही क्षणों में वह मुक्ति भी प्राप्त कर लेती हैं।

'मन की साधना' के सम्बन्ध में यह विलक्षण घटना है। कहाँ तो शरीर को तपाते-तपाते, कष्ट सहते-सहते हजारों-लाखों वर्ष गुजर जाते हैं, पर मन पर से अज्ञान की परत नहीं हटती, विकार और वासना के बन्धन नहीं टूटते। और कहाँ कुछ ही क्षणों में, अन्तर्मुहूर्त्त में समस्त बन्धन चूर-चूर हो जाते हैं, विकार और वासना का विलय हो जाता है, आत्मा परम पवित्र, परम शुद्ध और परमात्मा बन जाता है।

इस घटना का फलितार्थ एक ही निकलता है कि साधना का तेज दीप्त हो जाता है, तो वह सब कर्ममलों को भस्मसात् कर डालता है। साधना के लिए कोई वेष, देश और पन्थ आदि अपेक्षित नहीं होते। ये ऊपरी चीजें सिर्फ ऊपर-ऊपर रहती हैं, अन्तस्तल को नहीं छू सकतीं। जैन दर्शन ने जो सिद्धों के पन्द्रह भेद माने हैं, उन में 'अन्य लिंगी सिद्ध' भी एक भेद माना है, और यह भेद स्पष्ट करता है कि साधना किसी पन्थ या तीर्थ में, कपड़ों या अन्य उप-

करणों में नहीं अटकती, वह तो आत्मा की अतल गहराई से उठने वाली लहर है जो इन भेद-प्रभेदों को अपने आप में समेटती हुई आगे निकल जाती है। माता मरुदेवी ने तो कोई मुनि वेष नहीं लिया था। रजोहरण, पात्र या अन्य कोई उपकरण, बाह्य चिह्न उनके पास नहीं थे। हाथी के हौदे पर बैठी थी, किंतु वहाँ पर भी उनकी मुक्ति अटकी नहीं, उसमें कोई रुकावट नहीं आई। चिन्तन और मनन की गहराई में जब उतरी, आत्मा की रगड़ मे साधना की ज्योति प्रज्वलित हुई, तो भगवान् ऋषभ देव ने घोषणा कर दी—
"मरुदेवी भगवई सिद्धा." भगवती मरुदेवी सिद्ध हो गई।

शुद्धि ही सिद्धि है :

इन्हीं घटनाओं के आलोक में चिन्तन करते हुए एक जैनाचार्य ने कहा है—

> **'नाशाम्बरत्त्वे न सिताम्बरत्त्वे।**
> **न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।**
> **न पक्ष सेवाश्रयणेन मुक्तिः**
> **कषाय-मुक्तिः किल मुक्ति रेव॥"**

नाशाम्बरत्त्वे—नग्न दिगम्बर बन जाने से ही कोई मुक्ति नहीं होती। चूँकि केवल कपड़े उतार देने से या नग्न-भ्रमण करने से यदि मुक्ति होती तो संसार के पशु-पक्षो, कीट-पतंग कौन कपड़े पहनते हैं? उनको मुक्ति कहाँ अटक रही है? अतः मुक्ति के लिए 'नग्न' होना कोई जरूरी नहीं है।

'न सिताम्बरत्त्वे'—श्वेत वस्त्र पहनलेने मे मुक्ति हो जाती है, यह भी गलत समझ है। मुक्ति वस्त्रों में केन्द्रित नहीं है। श्वेत वस्त्र हों तो मुक्ति हो, अन्य पीला या गेरुआ, काला या लाल पहन लिया तो मुक्ति रुक गई, ऐसी कोई बात नहीं है। वस्त्र रहे, या न रहे, इससे मुक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति इतनी साधारण वस्तु नहीं है कि वह वस्त्रों के झमेले में उलझी रहे।

आचार्य ने आगे कहा है **'न तर्क वादे न च तत्त्व वादे'**—जीवन में विचारों के जो अनेक प्रकार के वाद-विवाद चल रहे हैं, विचारों के जो द्वन्द्व चल रहे हैं, उनसे भी मुक्ति नहीं मिल सकती। तर्क-वितर्क करने से, न्याय और तर्कशास्त्र का अध्ययन कर लेने से मुक्ति का

परिज्ञान नहीं हो सकता। न तत्त्व वाद पर विश्वास करके चलने से ही मुक्ति मिल सकती है। यह सब तो बौद्धिक कसरतें हैं। इनसे विचारों में उलझन और भ्रान्ति ही पैदा होती है, चूँकि हरएक वाद अपने आपको संसार का सर्वोत्कृष्ट वाद स्थापित करके अन्य समस्त वादों और विचारों का निरस्कार करता चला जाता है, उन्हें मिथ्या करार देता रहता है। और इस प्रकार एक-दूसरे के प्रति वैमनस्य एवं विग्रह की परम्परा चलती रहती है। वाद-विवाद से कभी शान्ति नहीं हो सकती, ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, और विचारों एवं आत्मा की विशुद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न है कि जब वेश से मुक्ति नहीं है, तर्कवाद या तत्त्ववाद से मुक्ति नहीं है, अपने सम्प्रदाय और पक्ष का प्रचार-प्रसार करने एवं उसके नियमों का पालन करने से भी मुक्ति नहीं प्राप्त होती, तो फिर मुक्ति कैसे प्राप्त होगी ? आचार्य ने कहा है—किनारे-किनारे घूमने से कभी महासागर के अनन्त अन्तस्तल में छिपी रत्न राशि हाथ नहीं लगती है। जरा गहराई में उतरो और देखो कि संसार कहाँ है ? जहाँ संसार है, उसके ठीक विरुद्ध दिशा में मुक्ति खड़ा है। आत्मा के भीतर छिपा हुआ कषाय संसार है। राग-द्वेष संसार है। मोह संसार है, आत्मा के विकार संसार हैं, इन सबसे मुक्त हो जाना ही मुक्ति है—**'कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव'**। क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय भावों से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है।

मुक्ति का अर्थ इतना ही नहीं कि शरीर का छूट जाना मात्र मुक्ति हो। मुक्ति जीवन के हर क्षेत्र में, हर चरण पर खड़ी है। हम जीवन के कदम-कदम पर मुक्ति का आनन्द ले सकते हैं हर चरण पर मुक्ति हमारे सामने रहती है। मानव को जीवन में कुछ कर्म करने होते हैं, इधर-उधर की चर्चा में कुछ विकार पूर्ण दृश्य भी उपस्थित होते हैं। परन्तु इन सब से साधक का क्या बनता-बिगड़ता है ? यदि हमारे मन में आसक्ति नहीं है, कषाय भाव नहीं है तो हम शुभाशुभ रूप में कर्म बन्धन से नहीं बंधते। इस प्रकार निर्लिप्तता के भाव से हम बन्धन में नहीं फँसते तो हर जगह हमारी मुक्ति है। आसक्ति एवं कषाय जब भावों में होंगे, तभी कर्म का बन्ध होगा। अन्यथा कर्म किए जाएँगे, पर वे हमें बन्धन में नहीं डाल सकेंगे। आप उनके बीच रहकर भी मुक्त रहेंगे और मुक्ति की दिशा में हर क्षण बढ़ते रहेंगे।

यदि आप क्रोध से प्रभावित होकर कर्म करते हैं, अहंकार से प्रेरित होकर या लोभ-लालच के वश प्रवृत्ति में फँस रहे हैं, तो कर्म-बन्ध होगा। किन्तु यदि आप वासना और इच्छा से मुक्त होकर शुद्ध भाव से कर्म कर रहे हैं, तो वह बन्धन का नहीं, अपितु मोक्ष का कारण होगा, उससे मुक्ति होगी। इसलिए जैन दर्शन का मूल अभिप्राय यह है कि अन्तर् की शुद्धि ही सिद्धि का सोपान है। जो भी प्रवृत्ति हो, वह मनःशुद्धिपूर्वक होनी चाहिए मन की कलुषता जब समाप्त हो जाएगी, तो शुद्ध विचार प्रकट होंगे, निर्मल भाव जागृत होंगे। और इस प्रकार जीवन में क्रमशः शुद्ध दशा आती जाएगी।

स्नेह भी बन्धन है :

जैन दर्शन यहाँ पर एक गम्भीर बात को स्पष्ट करता है कि मुक्ति के लिए जीवन में शुद्धदशा ही आनी चाहिए। जिस प्रकार अशुभ विचार, अशुभ वृत्ति बन्धन है, संसार है, उसी प्रकार शुभ विचार और शुभ वृत्ति भी बन्धन एवं संसार है।

जहाँ अशुभ है वहाँ तो संसार है ही किन्तु जहाँ शुभ है वहाँ भी संसार है। स्वर्ग भी संसार है, और नरक भी संसार है। शुभ-अशुभ से परे, स्वर्ग और नरक की सीमाओं के उस पार जो शुद्ध अध्यात्म की भावभूमि है, वही आपका लक्ष्य है, वहीं पर आपको अक्षय आनन्द का स्रोत मिलेगा, जगत् के समस्त बन्धनों से मुक्ति मिलेगी। शास्त्र ने यहाँ तक कहा है कि स्नेह यदि भगवान से है, उनकी भी इच्छा मन में है, तब भी वह संसार है, बन्धन है। अभिप्राय यह है कि जीवन में जहाँ भी चाह है आकर्षण है, चाहे वह शुभ का हो या अशुभ का, वह बन्धन ही है, संसार ही है। साधक के लिए वह भी त्याज्य है।

सूफी परम्परा में एक सन्त हो गये हैं—अजाली। कहा जाता है कि एकबार वे बहुत लम्बी साधना करते रहे थे, इस बीच एक दिन उनको आवाज आई—"तू क्या चाहता है ?"

अजाली ने कहा—"बस, मुझे तो तेरे मिलने की इच्छा है। और मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

उधर से आवाज आई "जब तक मुझसे भी मिलने की इच्छा तेरे में शेष रह गई है, तब तक मैं नहीं मिलूँगा।"

यह बहुत बड़ी बात है, और बहुत दूर की बात है। जब तक मन में भगवान् से मिलने की इच्छा भी शेष है, उनके प्रति भी अनुराग है, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती, आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती।

जैन परम्परा में एक प्रसंग आता है कि गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा—"प्रभो! मेरे कई शिष्य केवल ज्ञानी हो गये हैं, मुक्त भी हो गये। मेरे शिष्यों के शिष्य भी भव-बन्धनों से मुक्त हो गए हैं। जो संसार के गली-कूचों में भटकते हुए आये, जिनका जीवन पापाचार और दुराचार की गन्दगी में सड़ता रहा, वे भी संयम आराधना के पथ पर आए, मन को साधना में रमाया और कैवल्य प्राप्त करके मुक्त हो गए, किन्तु बात क्या है कि मुझे अभी तक उसकी प्राप्ति नहीं हो रही है। मैं जब से आपकी शरण में आया हूँ बेले-बेले (दो-दो दिन के उपवास) धारण कर रहा हूं, अन्य भी साधना और तपस्या के प्रशस्त पथ पर बढ़ता ही रहा हूँ. हर प्रकार से सावधानी एवं सतर्कता रखता हूँ, किन्तु फिर भी मुझे केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है। यह बाधा क्यों आ रही है, क्या रुकावट है; क्या प्रतिबन्धक है मेरे कैवल्यज्ञान का ?"

प्रभु महावीर ने गौतम के मन को इस प्रकार द्रवित एवं दीन होते देखकर कहा–"गौतम! तुम्हारे कैवल्य में रुकावट डालने वाला और कोई नहीं, केवल मैं हूँ ?"

गौतम भगवान् की बात सुनकर चौंक पड़े—"प्रभ! आप कैसे रुकावट डाल रहे हैं? आप तो जन-जन के कल्याण के लिए अपना जीवन अर्पण करने वाले हैं। संसार को प्रकाश देने वाला सूर्य भी कहीं किसी के प्रकाश का आच्छादक बन सकता है ?"

प्रभु ने वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'गौतम मैं स्वयं अपनी ओर से रुकावट नहीं डाल रहा हूँ, किन्तु तुम्हारे मन में मेरे प्रति जो अनुराग का भाव जगता है, मेरे प्रति स्नेह के सूत्र ने जो तुम्हारे हृदय को बाँध रखा है, बस वही अनुराग और स्नेह तुम्हारे कैवल्य ज्ञान की रुकावट है। जब कोई मेरी प्रशंसा करता है तो

तुम सुनकर बाग-बाग हो जाते हो, और इसके विपरीत मेरी निन्दा की बातें सुनकर तुम्हारा मन उसके प्रति घृणा से भर जाता है। इसका अर्थ है—तुम मेरे प्रति मोह बुद्धि रखते हो, मेरे सुख-दुःख और यश-अपयश में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियाँ रखते हो। तुम्हारे मन में स्वयं के प्रति समभाव की उच्चतम साधना जागृत हो रही है किन्तु मेरे अनुराग के कारण तुम्हारे मन में हर्ष एवं विषाद की अनुभूतियाँ पैदा होती हैं, प्रेम और घृणा की तरंगें उछलती हैं। बस मोह का यह सूक्ष्म रूप ही तुम्हारे कैवल्य का बाधक बन रहा है। तुम्हारी साधना की सिद्धि में मेरे प्रति यह स्नेह, अनुराग ही रुकावट डाल रहा है।"

गौतम के मन का यह सूक्ष्म-विश्लेषण हमें साधना के क्षेत्र में बहुत दूर, ऊँचाई पर ले जाकर खड़ा कर देता है, जहाँ साधारण साधक नहीं पहुँच सकता। भगवान् के प्रति भी मन मे अनुराग का अंश न रहने पाये, मोह और स्नेह की हलकी-सी तरंग भी नहीं उठे। जिस प्रकार हम अपने मान-सम्मान और सुख-दुःख में तटस्थ एवं समभाव रखते हैं, उसी प्रकार की समता और निरपेक्षता हमें भगवान् के प्रति भी रखनी चाहिए। भगवान् के प्रति श्रद्धा एक अलग बात है, किन्तु उस श्रद्धा में मन का रागात्मक सम्बन्ध दूसरी बात है। आदर्श के प्रति भी रागात्मक भाव नहीं आना चाहिए। यदि श्रद्धा के साथ मोह का अंश जुड़ गया तो वह श्रद्धा, मोह और आसक्ति बन गई! स्नेह के ये विकल्प टूट जाने चाहिएँ, अन्यथा स्नेह सिद्धि का बाधक होगा।

आचार्यों ने मन की इस आसक्ति को, रागांश को बहुत ही सूक्ष्म रूप से पकड़ा है। राग का अंश जहाँ है वहाँ शुद्धि नहीं, अशुद्धि है मुक्ति नहीं, बन्ध है, और जहाँ शुद्धि नहीं, वहाँ सिद्धि नहीं, संसार है।

स्नेह और राग को एक चिकनाई की तरह बताते हुए कहा गया है कि किसी व्यक्ति ने शरीर पर तेल लगा रखा हो, और उधर से आँधी के साथ धूल उड़ती आ रही हो, तो धूल के कण वायुमण्डल में उड़ते हुए उस चिकनाई पर चिपट जाएँगे। संभव है, पहले कुछ क्षणों में यह प्रतीति नहीं हो कि धूल शरीर पर चिपट रही है, किन्तु धीरे-धीरे जब बहुत-सी धूल शरीर पर लग जाएगी और

चिकनाई के कारण शरीर से गहरे रूप में चिपट जाएगी, तो क्या झाड़ने का प्रयत्न करने से वह धूल उतर सकती है ? साफ हो सकती है ? नहीं। चूँकि चिकनाई के साथ धूल शरीर की चमड़ी से गहरी चिपट गई है। उसे साफ करने के लिए साबुन और पानी का बार-बार प्रयोग करना पड़ेगा। जब वह चिकनाई साफ होगी तभी धूल उतरेगी। अभिप्राय यह है कि चिकनाई छूटे बिना धूल नहीं उतर सकती। इसी प्रकार आत्मा के साथ जब राग की चिकनाई है, स्नेह का तेल लगा हुआ है तो साधक के जीवन में इच्छाओं और कामनाओं की, राग और द्वेष की जो धूल उछल रही है, तूफान और आँधी चल रही है, तो वह कर्म की धूल आत्मा के साथ चिपटेगी, उसके साथ घुल-मिल जाएगी, चूँकि वहाँ चिकनाई जो है ! कल्पना कीजिए, यदि आपके शरीर पर चिकनाई का अंश नहीं है, और कुछ धूल उड़कर लग गई है, तो वह एक दो झटके में ही साफ हो जाएगी, झाड़ देने से ही उतर जाएगी, थोड़ी-बहुत सूक्ष्म धूल रही तो जरा-सा पानी शरीर पर डालते ही साफ हो जाएगी। जितनी चिकनाहट कम, उतना ही बन्धन भी कम।

साधना के क्षेत्र में बढ़ने वाले साधक के लिए इसी दृष्टि का महत्त्व है कि उसकी आत्मा के साथ राग का अंश किस मात्रा में है ? कितना है ? यदि राग की क्षीणता हो चुकी है तो साधना शीघ्र ही फलवती हो जाएगी। उसके लिए दीर्घ साधना काल की अपेक्षा नहीं है। कुछ ही समय में वह सिद्धि के द्वार पर पहुँच सकता है और समस्त बन्धनों से मुक्ति पा सकता है। इसलिए आवश्यकता यही है कि साधना में विशुद्धि, तेजस्विता और निर्मलता जगे। जितनी अधिक विशुद्धि और तेजस्विता होगी, सिद्धि उतनी ही शीघ्र और निकट दिखाई देगी।

★

भगवान् महावीर के युग
की
एक महान् राजनीतिज्ञ नारी

महारानी मृगावती

✻ उपाध्याय अमरमुनि

भारतीय धर्म, समाज एवं राजनीति में जिस प्रकार से पुरुषों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, भारतीय नारियों की भूमिका भी कम गौरव-पूर्ण नहीं रही है। भारतीय रमणियों ने जहाँ धर्म के क्षेत्र में वैराग्य-जीवन अपनाकर एक स्तुत्य पहल किया है, राजनीति में भी वैसी चामत्कारिक भूमिका निभाई कि विश्व विस्मय-विमुग्ध हो देखता रह गया।

प्रस्तुत है, कविश्रीजी की इस संदर्भ में भ० महावीर की समकालीन इतिहास प्रसिद्ध महिला रत्न महारानी का एक वीरत्व पूर्ण कथा-प्रसंग।

—संपादक]

कौशाम्बी नरेश शतानीक ने एकबार देश-विदेश के कुशल चित्रकारों को बुलाया और कहा—"एक अद्भुत चित्र-सभा बनाने की मेरी इच्छा है। जो चाहिए वे सब सुविधाएँ दी जाएँगी, किंतु चित्रसभा संसार की अद्वितीय सभा होनी चाहिए।" कलाप्रिय उदार नरेश की आज्ञा पाकर कलाकारों की कला खिल उठी। कलम ने जादू दिखाया। कुछ ही दिनों में सुन्दर चित्रसभा तैयार होगई।

कलाप्रिय नरेश चित्रसभा की अद्भुत कला के दर्शन करके अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे। विशाल-साम्राज्य की एक बहुत बड़ी कमी पूरी हुई देखकर राजा का मस्तक गर्व से जैसे दो गज ऊँचा हो उठा। अन्तःपुर के पार्श्व में स्थित चित्रकक्ष में राजा ने प्रवेश किया, तो संसार की प्रसिद्ध पद्मिनी, रूप और लावण्य की देवी अपनी ही महारानी मृगावती का अद्भुत चित्र देख कर राजा की

आँखों में अपूर्व प्रसन्नता चमक उठी। महारानी जैसे साक्षात् स्वयं राजा के सामने मुस्करानी खड़ी थी। परन्तु यह क्या ? चित्र देखते-देखते राजा की प्रसन्नता रोष में बदल गई। आँखों में खून उतर आया। वे दहकते अंगारे-सी लाल सुर्ख हो उठीं, राजा ने कड़कती आवाज में पुकारा—'कहाँ है दुष्ट चित्रकार ! यह हिम्मत !'

युवक चित्रकार थर-थर काँपता हुआ सामने खड़ा था। राजा ने कहा—"दुष्ट ! मेरे अन्तःपुर को भी नहीं छोड़ा तूने ? सिंह के जबड़ो में लगा माँस खाने की दुश्चेष्टा ? कैसे अंकित किया तूने रानी की जाँघ पर का यह 'तिल' ! मेरे सिवाय संसार के किसी अन्य पुरुष को यह ज्ञात नहीं, बता, तेरे को यह ज्ञात हुआ तो कैसे ? दुश्चरित्र ! जानता है, इस जघन्य पाप का क्या दण्ड होगा ?"

चित्रकार ने पूरा साहस बटोर कर कहा-"महाराज ! एकबार कुछ क्षण के लिए मैंने सिर्फ गवाक्ष की जाली में से रानी की मुखाकृति देखी है। उसके सिवाय मुझे नहीं मालूम महारानी के किसी भी अंग-प्रत्यंग का।"

"तो फिर यह जाँघ पर का तिल...? वत्स देशाधिपति शतानीक को भी मूर्ख बना रहे हो ?"

"नहीं महाराज ! बात यह हुई कि रानी की आँख पर भौंहें बनाते समय स्याही की एक बूँद उसकी जाँघ पर गिर गई। मैंने उसे पोंछ डाला। परन्तु वह फिर गिरी और मैंने सावधानी से फिर पोंछा। तीसरी बार फिर एक स्याही की बूँद वहीं गिरी, तो मैंने उसे रहने दिया। यह सोचकर कि अवश्य ही रानी के इस अंग पर कहीं तिल होना चाहिए, चूँकि चित्रकला के लिए मुझे यक्ष का वरदान जो है।"

"कैसा यक्ष का वरदान है तुझे ?"—शतानीक ने पूछा।

साथी चित्रकारों ने भी इस बात की पुष्टि की—"महाराज ! यक्ष के वरदान से इसकी यह कला अद्भुत है, किसी भी आकृति की झलक मात्र से यह उसका पूरा यथार्थ चित्र अंकित कर देता है।"

राजा ने रोष के साथ आश्चर्य प्रकट किया—"तो फिर इसकी परीक्षा होगी। यदि परिणाम सही नहीं आया, तो उसका दंड जानते हो क्या होगा ? मृत्यु !!"

चित्रकार कलम हाथ में लेकर तैयार हो गया। राजा ने अपनी एक कुब्जा (कूबड़ी) दासी का जाली में से मुँह दिखलाया और कहा—"इसका यथार्थ चित्र अंकित करो।"

चित्रकार की तूलिका चोट खाई हुई नागिन की तरह बल खाकर चल पड़ी। देखते ही देखते रंगों का वह जादू हुआ कि कुछ ही क्षणों में कुब्जा का यथार्थ रूप चित्रपट पर उतर आया। राजा स्तंभित-सा देखता रहा। शतानीक के मन का वहम हवा हो गया, पर रोष अब भी शान्त नहीं हुआ। "रानी का ऐसा चित्र अंकित करने की धृष्टता की तो आखिर क्यों की ? आज यहाँ तो कल तू अन्यत्र महारानी का चित्र बनाएगा।" बस इसी क्षोभ की मनःस्थिति में राजा ने चित्रकार का अँगूठा कटवाकर वत्स देश की सीमा से निकल जाने का आदेश दे दिया।

चित्रकार क्षुब्ध था। उसे अँगूठा कट जाने का उतना क्षोभ नहीं हुआ जितना कि अपनी कला का अपमान देखकर हुआ। वह मन ही मन तिलमिला उठा। उसने अपमान का बदला लेने की ठानी। कटे अंगूठे से ही रानी मृगावती का एक सुन्दर चित्र बनाया और अवन्ती के राजा चन्द्रप्रद्योत के समक्ष प्रस्तुत किया।

चन्द्र प्रद्योत सौन्दर्य का कीड़ा था। देश-विदेश की सुन्दरियों को चुराना, उन्हें प्राप्त करने के लिए युद्ध करना—यही उसकी राज्य-परम्परा थी। मृगावती संसार की अनन्यतम सुन्दरी थी। वह चन्द्रप्रद्योत की पत्नी शिवादेवी की सगी बहन थी, पर ये रिश्ते-नाते चन्द्रप्रद्योत के कामासक्त हृदय को नहीं रोक सके। मृगावती को प्राप्त करने के लिए उसने कौशाम्बी पर अकारण आक्रमण कर दिया।

कौशाम्बी के चारों ओर मालव की विशाल सेना ने घेरा डाल दिया। अचानक और अकारण हमले की सूचना पाकर शतानीक के हृदय को भयंकर आघात पहुँचा। इस आघात से उसका धैर्य टूट गया, मन भय से व्याकुल हो उठा। भय के कारण ऐसा अतिसार रोग हुआ कि आखिर शतानीक के प्राणों को ही ले बैठा। राजा की मृत्यु, शत्रु का आक्रमण और राजकुमार उदयन का दुधमुँहा बचपन; न युद्ध की तैयारी और न सेना में साहस ! कौशाम्बी की प्रजा

भयभीत थी, राजमन्त्री चिंतातुर थे। पराजय और मौत सामने अट्टहास करते दिखाई दे रहे थे। इस विकट परिस्थति को विधवा रानी मृगावती ने सँभाला। मृगावती सुदक्ष गृहिणी ही नहीं, चतुर राजनीतिज्ञ भी थी। चन्द्रप्रद्योत के आक्रमण का कारण वह जान चुकी थी। राजनीति का एक मोहरा उसने चला। दूत के साथ संदेश कहलाया—"महाराज! आप मेरे लिए इतना नर संहार क्यों कर रहे हैं? राजा की मृत्यु के बाद मृगावती आपकी शरण में नहीं आएगी, तो कहाँ जाएगी!"

चन्द्रप्रद्योत की वासना से अंधी आँखें सहसा चमक उठीं— "मृगावती मेरी शरण में आने को तैयार है....? हम, अब तो बन गया काम।" उसने मुस्कराते हुए दूत को पूरे समाचार पूछने के लिए निकट में बुला लिया।

दूत ने बात पूरी की—"हाँ तो महाराज! महारानी ने आगे कहलाया है कि अभी मैं पतिशोक में हूँ, मुझे आप और अधिक खिन्न न करें। आज वत्स देश अनाथ है। राजा की मृत्यु हो चुकी है, और राजकुमार उदयन अभी बालक ही है। आप जानते हैं, पड़ोस के शत्रु राजाओं की ओर से आक्रमण की दुरभिसन्धि कितनी भयंकर है, अतः अवन्ती के समान ही दुर्ग एवं प्राचीर आदि के रूप में कौशाम्बी की सुरक्षा व्यवस्था भी सुदृढ़ होनी चाहिए और यह सब आपको ही करना है। वत्स देश का गौरव आपके हाथों में है। हम आपके भरोसे हैं।"

प्रणयपिपासु चन्द्रप्रद्योत को लगा जैसे चिड़िया उसके जाल में फँस चुकी है। उसको सब तरह प्रसन्न रखना ही प्रणय की सफलता होगी। जो आक्रमण करने आया था वह अब एक रक्षक की तरह नगर के कोर कंगूरों का पुनः निर्माण कराने में जुट गया। अवन्ती से विशेष प्रकार की ईंट लाई गई। दुर्ग निर्माण के विशेषज्ञ कारीगरों की देखरेख में दुर्ग का पुनर्निर्माण शुरू हो गया। कौशाम्बी की हर प्रकार की सुरक्षा-व्यवस्था के निर्माण का प्रबंध कर वह प्रसन्न मन से अवन्ती लौट आया और मृगावती के प्रणय के मधुर सपने देखने लगा।

समय बीतता गया। इधर कौशाम्बी दुर्ग-निर्माण और सैन्य-

सज्जा आदि की दृष्टि से अपराजित स्थिति में पहुँच रही थी और उधर चन्द्रप्रद्योत को मृगावती की प्रतीक्षा असह्य होती जा रही थी। "अब तक उसका कोई भी सन्देश नहीं आया! क्यों क्या बात है! कोई धोखा तो नहीं है?"—यह सोचकर प्रद्योत ने अपना विशेष दूत कौशाम्बी भेजा, और मृगावती से प्रणय याचना करते हुए उसे शीघ्र अवन्ती के राजमहलों को सुशोभित करने की प्रार्थना की। दूत ने मृगावती के समक्ष प्रद्योत का सन्देश पत्र रखा तो रानी उसे पढ़ कर प्रद्योत की मूर्खता पर मन-ही-मन हँस पड़ी। सचमुच नारी जादू का एक दर्पण है, जिसके सामने आते ही पुरुष अपने आपको भूल जाता है, पागल हो जाता है।

"दूत! अवन्ती पति से कहना, सूर्य के लिए हजारों कमलिनी प्रेम पिपासु हो सकती हैं, पर कमलिनी के लिए प्रणय का प्रतीक सूर्य एक ही होता है। मृगावती सती है। उसका सूर्य अस्ताचल में सो गया, अब वह कभी खिल नहीं सकती। संसार के सभी पुरुष पिता, बन्धु और पुत्र की कोटि में हैं।"

मृगावती का उत्तर लेकर दूत अवन्ती पहुँचा। चन्द्रप्रद्योत ने ज्यों ही मृगावती का उत्तर सुना कि उसके रोम रोम में आग लग गई—'नारी होकर इतनी धूर्त! दगाबाज! उसने मुझे सचमुच उल्लू बना दिया।" मृगावती की इस धोखेबाजी पर राजा चन्द्रप्रद्योत को एक ओर रोष उमड़ने लगा तो दूसरी ओर अपनी बेवकूफी पर पश्चात्ताप भी होने लगा। उसे लगा कि "संसार बड़ा दुष्ट है, वह उसकी सदाशयता का दुरुपयोग कर रहा है। एक बार राजगृह के चारों ओर सेना का मजबूत घेरा डालने पर अभयकुमार ने उसे इसी प्रकार मीठी-मीठी बातों में लेकर उल्लू बनाया था और युद्ध भूमि से बिना युद्ध किए ही भगा दिया था। इस बार एक चतुर नारी ने प्यार के भुलावे में डालकर उसे किस बुरी तरह से छला और उलटी उससे अपने राज्य की किलेबन्दी मजबूत करवाकर खाली हाथ लौटा दिया, प्रणय के आश्वासन पर! वह बार-बार मूर्ख बनाया जाता रहा है। पर नहीं, अब आँख खुल चुकी है। चन्द्रप्रद्योत इस धोके का, अपमान का खुलकर बदला लेगा।" —प्रद्योत ने तुरंत सेना को कौशाम्बी की ओर बढ़ जाने का आदेश दे दिया।

प्रद्योत एक कुचले हुए सर्प की तरह फुफकार रहा था। अपमान का बदला लेने के लिए उसकी भुजाएं फड़क रही थीं। बस, आज्ञा की देर थी, कौशाम्बी के चारों ओर उसकी विशाल सेना महासागर की तरह लहराने लगी। आक्रमण झंझावात की तरह होता रहा। पर, नगर के दुर्ग और द्वार तो उसी ने सुदृढ़ एवं अभेद्य बनवाये थे। अतः आज उन्हें तोड़ने में स्वयं प्रद्योत को ही नाकों चने चबाने पड़ रहे थे। मियाँ की जूती मियां के शिर! मस्त हाथियों के कुम्भस्थल कौशाम्बी के वज्र-कपाट द्वारों से टकराकर रक्तस्नात होते रहे, पर. कौशाम्बी के द्वार नहीं टूटे—नहीं टूटे!।

दिन पर दिन बीतते चले गए। प्रद्योत बाहर घेरा डाले बैठा रहा। उसका कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो रहा था। युद्ध चल रहा था। प्राचीर के भीतर में बंद नागरिक भय से त्रस्त थे। 'कुछ ही दिनों में भयंकर अन्न संकट का सामना करना पड़ेगा'—इस आशंका से सभी चिन्तित थे। रानी मृगावती प्राणों को हथेली में लिए बैठी थी। कामी प्रद्योत उसी के सौन्दर्य का दीवाना है, उसके लिए ही यह विकट संकट उपस्थित हुआ है। अब सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी। पर, यह आहुति अज्ञान या आवेश वश चिता में कूद पड़ने से नहीं दी जा सकती। वह क्या बलिदान, जिसमें वह ज्योति न हो, जिसके दिव्य प्रकाश में भविष्य के युग अपना रास्ता देख सकें।" रानी इन्हीं विचारों में डूब रही थी।

संकट की घड़ियों में कभी-कभी भगवान् भक्तों की रक्षा के लिए स्वयं आ जाते हैं। भक्तों का यह विश्वास सत्य निकला। रानी मृगावती ने सुना कि कौशाम्बी के उद्यान में श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं। नगर के द्वार बन्द थे, कोई दर्शन करने को जाये भी तो कैसे? रानी ने अपने मंत्रियों को बुलाया। राजकुमार उदयन भी उपस्थित हुआ। रानी ने कहा—"मैं भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए जाऊँगी, नगर के द्वार खोल दिए जायँ।"

रानी का विचित्र आदेश सुनकर मंत्री और सेनापति स्तम्भित रह गए। बोले—"महारानी! बाहर में शत्रु घेराबन्दी किए बैठा है, दरवाजे तोड़ने का दम तोड़ प्रयत्न कर रहा है। और हम दरवाजे खोलकर उसका मार्ग सुगम कर दें, अपनी मौत को स्वयं ही निमन्त्रण देकर बुला लें! असम्भव है यह।"

रानी ने कहा—"अभय का देवता हमारे नगर की सीमा में बैठा है, फिर भय कैसा ? बहादुर सामन्तो ! धीरज और विश्वास से काम लो। ताकत के साथ ताकत की टक्कर में कौशाम्बी की विजय हो सकती है, पर कितना रक्तपात ! मैं कहती हूँ, दरवाजे खोल दो, कौशाम्बी के उद्धार का सहज ही एक सुगम मार्ग निकल आया है।"

राजमाता के आदेश से नगर का मुख्य द्वार खोल दिया गया। मन्त्री और सेनापति का हृदय अब भी धड़क रहा था। किन्तु चतुर रानी की बुद्धिमानी पर उन्हें अटल विश्वास था। मृगावती श्वेत परिधान पहने, भगवान् के दर्शनों के लिए निकल पड़ी और उसके पीछे-पीछे नगर के असंख्य नर-नारी जय घोष करते हुए प्रभु की वन्दना करने को चल पड़े।

चन्द्रप्रद्योत के प्रचण्ड सैनिक स्तब्ध रह गए। जड़ मूरत की तरह अवाक् खड़े देखते रहे। यह थी भौतिक शक्ति पर आध्यात्मिक शक्ति की अपराजेय विजय।

राजमाता भगवान् महावीर की धर्म सभा में पहुँची। चन्द्रप्रद्योत भी वहीं एक ओर शान्त सिंह की तरह प्रभु का उपदेश सुन रहा था। शिकार सामने था, पर क्या मजाल जो जीभ लपलपा जाए ! क्रूर यमराज का अवतार वहाँ करुणामूर्ति बनकर बैठा था। प्रभु की वह अद्भुत उपदेश धारा बही, कि पापियों के हृदय का चिरलिप्त मल धुल कर साफ हो गया। सुप्त आत्माएँ जाग उठीं।

धर्मदेशना सुनकर मृगावती भगवान् महावीर के समक्ष उपस्थित हुई। बोली—"प्रभु ! मैं संसार से उद्विग्न हो चुकी हूँ। विषय-तृष्णा की आग शान्त हो गई है। मेरा मन अब परम शान्ति चाहता है, प्रभु चरणों में प्रव्रजित होकर आत्म-साधना के मार्ग पर बढ़ना चाहती हूँ।"

प्रभु ने धीर-गंभीर स्वर में कहा—"**जहा सुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह** !—देवी, तुम्हें जैसे सुख हो, वैसे करो। सत्कार्य में विलम्ब न करो।"

मृगावती ने कहा—"प्रभो ! मैं आपके श्रीचरणों में दीक्षित होऊँ, इससे पहले महाराज चन्द्रप्रद्योत से दो बातें निवेदन करना चाहती हूँ। पहली यह कि मैंने परिस्थिति वश उन्हें झूठा आश्वासन

देकर धोखा दिया है, इससे उनके मन को भारी चोट पहुँची होगी। पर, अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए यह बहुत जरूरी था। अस्तु, मैं उसके लिए सम्राट् से क्षमा मांगती हूँ"—रानी ने हाथ जोड़कर चन्द्रप्रद्योत की ओर देखा।

चन्द्रप्रद्योत लज्जावश भीतर-ही-भीतर गड़ा जा रहा था। मृगावती के जुड़े हुए हाथों के सामने उसके हाथ अपने आप जुड़ गए।

"दूसरी बात कौशाम्बी का भविष्य उनके हाथों में है। उदयन के वे मौसा है। उदयन अभी बालक है, इसकी जिम्मेदारी पिता के रूप में वे निभाएँगे, मैं यह वचन चाहती हूँ"—बात कहते-कहते रानी ने कुमार उदयन का हाथ चन्द्रप्रद्योत के हाथ में पकड़ा दिया।

सभा में सन्नाटा छाया हुआ था। सब लोग महारानी के साहस और विवेक पूर्ण कर्तृत्व को विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से चुपचाप अपलक निहार रहे थे। कुमार उदयन चन्द्रप्रद्योत की गोद में जा बैठा। प्रद्योत की सुप्त मानवता जागृत हो उठी! उसके क्रूर हृदय में स्नेह के अंकुर फूट पड़े और उसके हाथ, जिनमें तलवार चमचमाती रहती थी, वात्सल्य से सराबोर होकर उदयन के मस्तक को दुलार उठे। युद्धोन्मत्त राजा का हृदय प्रेम के समक्ष विजित हो गया। उसके मुँह से वाणी नहीं फूट सकी, पर, आँखें सजल होकर अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगी थीं।

रानी मृगावती प्रभु महावीर के चरणों में आर्या चन्दना के पास दीक्षित होगई। चन्द्रप्रद्योत की आठ रानियाँ भी इस दिव्य-प्रसंग पर प्रबुद्ध होकर साध्वी बन गईं। प्रभु महावीर की अमृत वाणी का जिसे भी स्पर्श मिला वह अमृत हो उठा।

चन्द्रप्रद्योत कौशाम्बी में आया, पर आक्रांता बन कर नहीं, अभिभावक बन कर। अपना 'चंड' रूप लेकर नहीं, अपितु शान्त 'चन्द्र' की शीतल रश्मियाँ लेकर। उदयन का राज्याभिषेक उत्सव धूमधाम से किया गया। चन्द्रप्रद्योत ने उसे आशीर्वाद दिया और कौशाम्बी का घनिष्ट मित्र बन कर अवन्ती को लौट गया।

—त्रिषष्टिशलाका १०।८

★

✶ उपाध्याय अमरमुनि

धर्मयुद्ध का आदर्श :

बंगला देश मुक्ति के संदर्भ में :

युद्ध होते हैं, किन्तु युद्ध का अर्थ यह नहीं कि सभी युद्ध एक-जैसे ही होते हैं। एक तो युद्ध वह होता है जो धर्म के लिए लड़ा जाता है, इसे धर्म-युद्ध कहते हैं, दूसरा अधर्म के लिए लड़ा जाता है, जिसे अधर्म युद्ध कहा जाता है। धर्मयुद्ध वास्तव में हिंसा का उतना नहीं, जितना कि अहिंसा का अंग है। बंगला देश की शरणागत रक्षा हेतु जो भारत युद्ध लड़ रहा है, यह धर्म-युद्ध ही है।

विशेष प्रस्तुत है इस सामयिक समस्या पर श्रद्धेय कवि श्री जी का ६-१२-७१ को दिया गया युक्ति-युक्त प्रवचन—सम्पादक]

अहिंसा और हिंसा की विवेचना बहुत पूर्व काल से होती आ रही है। अबतक जितने भी मनीषी-विचारक हुए हैं, सबों ने इस पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है। किन्तु फिर भी बहुत बार लोग गड़बड़ा जाते हैं कि वास्तव में अहिंसा और हिंसा का सही रूप क्या है? मोटे तौर पर द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के दो रूपों में विभाजित करके हिंसा की विवेचना की जाती है। किन्तु हिंसा के वास्तव में चार रूप हैं—(१) द्रव्य हिंसा—इसमें सिर्फ बाहर में हिंसा होती है, (२) भाव हिंसा—इसमें भावना मात्र से हिंसा होती है, (३) द्रव्य + भाव हिंसा—इसमें द्रव्य और भाव—दोनों प्रकार की हिंसा होती है, यह हिंसा का प्रचण्ड रूप है। और (४) न द्रव्य + न भाव हिंसा—इसमें न अन्दर में हिंसा होती है, न बाहर में। और यह हिंसा का शून्य भंग अर्थात् प्रकार है! अतः यह चतुर्थरूप वस्तुतः अहिंसा ही है।

जैन दर्शन में अहिंसा का बोलबाला है। इसमें अहिंसा सर्वोच्च शिखर के रूप में दीप्तिमान है। जैन साधना में इसका

बड़ा विशद् महत्त्व है। जैन धर्म-साधना का कण-कण अहिंसा से अनुप्राणित है। शास्त्र के शास्त्र इस पर लिखे गये हैं। "पुरुषार्थ सिद्धि उपाय" एक ऐसा ही ग्रन्थ है, जिसमें हिंसा और अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र शुभचन्द्र आदि की रचनाओं में भी हिंसा और अहिंसा की गम्भीर विवेचना उपलब्ध है।

किन्तु विचारणीय बात यह है कि जब तक जीवन है, तब तक इसमें हिंसा तो रहती ही है। हिंसा का क्रम निरंतर चलता ही रहता है। चलने-फिरने में हिंसा है, खाने-पीने में हिंसा है। धरती पर असंख्य कीटाणु फिरते हैं, जिन्हें माइक्रो-स्कोप से स्पष्ट देखा जा सकता है, कदम रखते ही उनका संहार हो जाता है। हवा में भी असंख्य सूक्ष्म कीटाणु हैं जो शास्त्रोक्त वायुकायिक जीवों के अतिरिक्त हैं, शरीर से लगते हर झोंके के साथ उनका सर्वनाश होता रहता है। हर साँस मे प्राणी मर रहे हे। व्यक्ति के अपने शरीर में भी मांस, मज्जा, रक्त, मलमूत्र आदि में भी प्रतिक्षण असंख्य प्राणी जनमते-मरते रहते हैं। प्रश्न है, इस स्थिति में हिंसा से कैसे बचा जा सकता है ? अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? जैन परम्परा इसका उत्तर द्रव्य और भाव के द्वारा देती है। यदि साधक जाग्रत है, उसके मन में अहिंसा का विवेक बोध है, हिंसा की वृत्ति या संकल्प नहीं है, तो वह बाहर में हिंसा होने पर भी अन्दर में अहिंसक ही है। यह भावशून्य द्रव्य हिंसा केवल बाह्य व्यवहार में कथनमात्र की हिंसा है, पापकर्म का बन्ध करने वाली हिंसा नहीं है। इस प्रकार हिंसा की भावना से मुक्त मनःस्थिति में द्रव्य हिंसा होने पर भी अहिंसा धर्म का परिपालन अक्षुण्ण है।

अहिंसा धर्म के परिपालन का एक दूसरा रूप और है। वह प्रवृत्ति में हिंसा और अहिंसा की मात्रा के आधार पर है। कल्पना कीजिए, कोई एक प्रवृत्ति है, जिसमें हिंसा की मात्रा कम है, किन्तु अहिंसा का भाग अधिक है, तो यह भी अहिंसा की साधना के क्षेत्र में आ जाता है। हिंसा और अहिंसा का केवल वर्तमान पक्ष ही नहीं, भविष्य पक्ष भी देखना आवश्यक है। यदि वर्तमान में हिंसा होती है, किन्तु उसके द्वारा भविष्य में अहिंसा की विपुल मात्रा परिलक्षित होती है, तो वह वर्तमान की हिंसा भी अहिंसा की साधक

हो जाती है। इसके विपरीत यदि वर्तमान में अहिंसा अल्पमात्रा में है, किन्तु भविष्य में उससे प्रचुर मात्रा में हिंसा फूट पड़ने की स्थिति है, तो यह वर्तमान की क्षुद्र अहिंसा अहिंसा के साधनाक्षेत्र में नहीं आती है।

अहिंसा का सही रूप :

गहराई से विचार करने पर हम देखते हैं कि हिंसा के दो रूप चल रहे होते हैं। एक लम्बी खूँखार हिंसा होती है और दूसरी, उस निर्दय एवं क्रूर हिंसा को रोकने के लिए एक छोटी हिंसा होती है। यहाँ यही विचारणीय है कि क्या हम दोनों को एक समान हिंसा कह सकते हैं ? नहीं ! स्पष्ट है कि एक लम्बी हिंसा अर्थात् एक बहुत बड़ी हिंसा को रोकने के लिए जो एक छोटी हिंसा होती है—भले ही इसमें प्रत्यक्षतः प्रचण्ड हिंसा क्यों न होती हो—वह हिंसा की एकान्त श्रेणी में नहीं आ सकती। कल्पना कीजिए, शरीर में एक जहरीला फोड़ा हो गया है; उस फोड़े को साफ करना है। यदि उसे साफ नहीं किया जाता है तो सारा शरीर ही बर्बाद हो जाता है। एक अँगुली के जहर को निकालकर पूरे शरीर को बचाना होता है। इसके लिए जरूरी होने पर उस विषदिग्ध अँगुली को काटकर शरीर से अलग भी कर दिया जाता है और पूरे शरीर को समाप्त होने से बचा लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि एक छोटे अंग का विष, जो पूरे शरीर में फैलकर जीवन को ही नष्ट करने वाला हो, तो उस समय एक हाथ, एक पैर या एक अँगुली को काटे जाने का मोह नहीं किया जाता। यह नहीं सोचा जाता कि उसे काटा जाए या नहीं काटा जाए। स्पष्ट है, सारे शरीर को बचाने के लिए एक अंग को काट दिया जाता है और सारे शरीर को बचा लिया जाता है। इस उदाहरण के सन्दर्भ में हमारी यह परम्परा है, जैन दर्शन के अनुसार कि जहाँ बड़ी हिंसा होने वाली है, या हो रही हो, तो वहाँ छोटी हिंसा का जो प्रयोग है, वह एक प्रकार से अहिंसा का ही रूप है। अहिंसा इसलिए है, चूँकि वह एक बड़ी हिंसा को रोकने के लिए है। वह हिंसा तो है, लेकिन इस हिंसा के पीछे दया छिपी हुई है, उसके मूल में करुणा छिपी हुई है और उसके पीछे एक महान् उदात्त भावना है कि यह जो बड़ी

हिंसा हो रही है, उसे किसी तरह समाप्त किया जाए। इसी कारण इसको जैन दर्शन के अन्दर आदर दिया गया है।

युद्ध और अहिंसा : और नैतिक आदर्श :

विचार कीजिए कि रावण सीता को चुराकर ले जाता है। और विरोध में सीता के लिए रामचन्द्र जी लंका पर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार एक भयंकर युद्ध हो जाता है। प्रश्न केवल एक सीता का है। और उसमें भी सीता को कोई कतल तो नहीं कर रहा था। सीता की कोई हिंसा तो हो नहीं रही थी। लेकिन विचारणीय तो यह है कि किसी को मार देना ही तो हिंसा नहीं कही जाती। बल्कि किसी के नैतिक जीवन को बर्बाद कर देना भी हिंसा है। क्योंकि अनैतिकता अपसे आप में स्वयं हिंसा हो जाती है। विचार कीजिए, रावण ने एक सीता का अपहरण कर जो सामाजिक अन्याय किया है, यदि उस अन्याय को नहीं रोका गया, तो अन्याय जनमानस पर हावी हो जाता है, न्याय की प्रतिष्ठा ध्वस्त हो जाती है, और उसकी देखादेखी भविष्य में और भी अन्याय फैल सकता है। इस दृष्टि से किया गया अन्याय का प्रतिकार धर्म के क्षेत्र में आता है।

राजनीति के अंदर दंड की जो परम्परा है, वह भी इसलिए है कि जो अन्याय और अत्याचार का दायरा लम्बा होता है, फैलता जाता है, उस पर नियंत्रण किया जाए, क्योंकि यदि उसे नियंत्रित नहीं किया जाएगा तो वह निरंतर फैलता चला जाएगा। अतः उसको रोकने के लिए अमुक प्रकार के कदम उठाये जाते हैं, जिसमे कि एक छोटे कदम के द्वारा, वह जो बड़े कदम के रूप में अन्याय, अत्याचार होने वाला है, उसको रोका जाए। प्रस्तुत प्रसंग में यदि केवल बाहर में ही स्थूल दृष्टि से देखा जाए, तो यही कहेंगे कि राम ने एक सीता के लिए लाखों लोगों को मौत के घाट उतार दिया। यह तो बहुत बड़ी हिंसा हो गई ! एक के लिए अनेकों का संहार ! लेकिन नहीं, यह तो एक छोटी हिंसा है। और वह जो उचित प्रतिकार न करने पर अन्याय-अत्याचार अनर्गल रूप पकड़ता, वह बड़ी हिंसा होती। तो, उस बड़ी हिंसा को रोकने के लिए ही युद्ध के रूप में यह छोटी हिंसा लाजमी होगई थी। इसलिए राम की ओर से जो युद्ध लड़ा गया था, वह धर्मयुद्ध था। इसके विपरीत

रावण की तरफ से जो युद्ध लड़ा गया, वह अधर्म युद्ध था। युद्ध एक ही है; और इसमें दोनों ओर हिंसा हुई है, दोनों ओर से मारे गए हैं लाखों आदमी लेकिन एक धर्मयुद्ध माना जाता है और एक अधर्म युद्ध माना जाता है। ऐसा क्यों माना जाता है? ऐसा इसलिए माना जाता है कि राम के मन में एक उदात्त नैतिक आदर्श है। उनका युद्ध किसी अनैतिक धरातल पर नहीं है, किसी भोग वासना की पूर्ति के लिए या राज्यलिप्सा के लिए नहीं है, बल्कि वह सतीत्व की रक्षा के लिए और अन्याय-अत्याचार की परम्परा को, जो कि जन-जीवन में बढ़ती जा रही है, रोकने के लिए है। इसी दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि यह जो वर्तमान में पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का युद्ध चल रहा है, उसका भी यथोचित विश्लेषण किया जाना चाहिए। विश्लेषण के अभाव में हमारे यहाँ कभी-कभी काफी भयंकर भूलें हुई हैं। और उनके दुष्परिणाम भारत को हजारों वर्षों तक भोगने पड़े हैं।

अहिंसा सम्बन्धी गलत धारणाएँ :

हमारे समक्ष हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का ज्वलंत उदाहरण है। कहा जाता है कि जब मोहम्मद गोरी भारत पर आक्रमण करने आया, उस समय भारत की शक्ति इतनी सुदृढ़ थी कि वह हार कर चला गया। वह फिर आया और फिर पराजित होकर लौट गया, फिर आया और फिर पराजित हुआ। इस प्रकार वह कई बार आया और पराजित हुआ। उस समय भारत की रणशक्ति बहुत बड़ी थी। बड़े-बड़े रणबांकुरे वीर थे यहाँ। अतः बारबार उसे यहाँ आकर पराजित हो जाना पड़ा। किंतु एकबार उसे पता लग गया कि ये जो हिन्दू हैं, गाय पर आक्रमण नहीं करते। अतः उस धूर्त्त ने क्या काम किया कि अपने नये आक्रमण में सेना के आगे गायों को रखा। आगे-आगे गायें चल रही थीं और पीछे-पीछे उसकी सेनाएँ युद्ध के लिए बढ़ रही थीं। अब यहाँ के वीर राजपूत धर्माधर्म की विचित्र उलझन में पड़ गए। उनमें अद्भुत शक्ति थी लड़ने की। कई बार गोरी को हराया भी था। लेकिन इस बार वे गड़बड़ा गए कि भाई, युद्ध तो कर रहे हैं, लेकिन यदि किसी गाय को बाण लग गया और गाय मर गई तो गो-हत्या का पाप

लग जाएगा। और यह बहुत बड़ा भयंकर पाप होगा। बस, इधर वीर राजपूत गायों को बचाने के विचार में उलझ गए और उधर शत्रु को तो कोई मतलब था नहीं इन बातों से। लड़ाई होती रही। गायों को बचाने के लिए राजपूत पीछे हटते रहे, निर्णायक प्रत्याक्रमण नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि आखिर राजपूत सेना, जो विजय प्राप्त कर सकती थी, जिसमें भरपूर ताकत थी लड़ने की और विजय प्राप्त करने की, वह पराजित हो गई और देश गुलाम हो गया।

यहाँ यदि आप विश्लेषण करते हैं ठीक तरह से, तो विचार करना पड़ेगा कि यह जो गोहत्या के सम्बन्ध में चिन्तन था, वह कितनी गलत दिशा में था। वीर राजपूतों ने यह तो देखा कि वर्तमान में हमारे बाणों से संभव है कुछ गाय मर जाएँ, किन्तु उन्होंने भविष्य को नहीं देखा कि क्या होने वाला है? आने वाले आक्रमण-कारियों के लिए तो गाय-भैंस जैसा कुछ भी विचारणीय न था। यह सब तो उनके भक्ष्य ही थे। उन थोड़ी-सी गायों को मारने या बचाने के पाप पुण्य का अथवा हिंसा-अहिंसा का कोई मूल्य नहीं था उनकी दृष्टि में। अतः वे पूरी शक्ति से लड़े और जीते। इस युद्ध के सम्बन्ध में आप विचार करके देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि उन थोड़ी-बहुत गायों को बचाने का क्या अर्थ रहा? कुछ गायों की रक्षा के काम में वे पराजित हो गये देश गुलाम हो गया। इतिहास पर नजर डालिए, इसके बाद कितनी गोहत्याएँ हुईं, कितनी मानव-हिंसाएँ हुईं और कितने अनाचार-दुराचार और कितने पापाचार हुए हैं। देश मिट्टी में मिलता चला गया और भारत की भव्य संस्कृति, सभ्यता, कल्चर (Culture) सब कुछ समाप्त होती चली गई। धर्म परम्पराओं को कितनी क्षति पहुँची। धर्म परम्पराओं को इस तरह से बर्बाद किया गया कि उनका निर्मल रूप ही विकृत हो गया। केवल गायों का ही सवाल नहीं रहा। हजारों माताओं और बहनों की बेइज्जतियाँ भी हुईं। यह हिन्दू-मुसलमान का सवाल नहीं है। इस प्रकार के सवालों में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है और न अपने आप में ये कोई अच्छे सवाल ही हैं। सवाल तो सिर्फ इतना है कि समय पर अन्याय का उचित प्रतिकार न करने से भविष्य में क्या होता है? हिन्दू हो या मुसलमान, कोई भी हो,

अन्याय का प्रतिकार होना चाहिए, केवल वर्तमान की हिंसा या अहिंसा को न देखकर, उसके भविष्यकालीन दूरगामी परिणामों को देखना चाहिए। वर्तमान की सीमित दृष्टि कभी-कभी सर्वनाश कर डालती है।

राजा चेटक का धर्म युद्ध :

इस बड़ी और छोटी हिंसा के विश्लेषण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं एक उदाहरण आपके समक्ष रख रहा हूँ—वह है कूणिक और चेड़ा राजा (राजा चेटक) के युद्ध का। भगवान् महावीर के समय का यह बहुत बड़ा भयानक युद्ध था, जिसका उल्लेख तत्कालीन धर्म परम्पराओं के साहित्य में है। सुप्रसिद्ध वैशाली गणतन्त्र के मान्य अध्यक्ष राजा चेटक एक महान् बारह व्रतधारी श्रावक थे। दूसरी ओर मगध सम्राट कूणिक थे, जिसने कि वैशाली पर आक्रमण किया था। उक्त युद्ध के मूल में एक शरणागत का प्रश्न था। प्रसंग यह है कि कूणिक अपने छोटे भाई के हक को छीन रहा था, उसकी स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को हड़प रहा था। राजकुमार पर भय छा गया। वह अपने बचाव के लिए चेटक राजा के पास पहुँच गया, शरणागत के रूप में। कूणिक को जब यह मालूम हुआ कि वह वैशाली में चेटक राजा के पास पहुँच गया है, तो उसने चेटक राजा को यह कहलवाया कि—"तुम उसको यों का यों वापस लौटाओ, अन्यथा, इसके लिए तुम्हें युद्ध का परिणाम भोगना पड़ेगा।" राजा चेटक ने शरणागत की रक्षा में युद्ध का वरण किया। भयंकर युद्ध हुआ, लाखों ही वीर काल के गाल में पहुँच गए। स्वयं चेटक नरेश भी वीरगति को प्राप्त हुए। अब प्रश्न है एक शरणागत की रक्षा का। अगर राजा चेटक उस एक शरणागत को लौटा देता, भले ही उसके साथ कुछ भी करता क्रुद्ध कूणिक, तो लाखों ही लोगों के प्राणों की रक्षा हो जाती। यदि राजा चेटक-हिंसा अहिंसा का वह विश्लेषण करता, जैसा कि आजकल कुछ लोग अपने मस्तिष्क में इस प्रकार की विचार-धारा रखते हैं, तो उसके मुताबिक वह अवश्य ही राजकुमार को वापस लौटा देता। कह देता कि—"भाई, तू यहाँ चला तो आया है। लेकिन तेरी रक्षा कैसे कर सकता हूँ ? तेरी एक की रक्षा में, लाखों आदमी युद्ध में मारे जाएँगे। एक के बचाने में लाखों आदमी मारे जाने

पर तो बहुत बड़ी हिंसा हो जाएगी।" परन्तु राजा चेटक ने ऐसा कुछ नहीं सोचा, ऐसा कुछ नहीं कहा। उसने शरणागत की रक्षा के लिए युद्ध किया, जो महाभारत जैसा ही एक भयंकर युद्ध था।

अब सवाल यह है कि राजा चेटक बारह व्रती श्रावक है, उसका हिंसा-अहिंसा से सम्बन्धित चिंतन काफी सूक्ष्म रहा है, प्रभु महावीर की वाणी सुनने का कितनी ही बार उसको सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह कोई साधारण नरेश नहीं है, तत्कालीन वैशाली के विशाल गणतन्त्र का चुना गया अध्यक्ष है। इसका अर्थ है कि वे अपने युग के एक महान् चिन्तनशील व्यक्ति थे। उन्होंने हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को व्यक्तियों की संख्या पर हल नहीं किया। उन्होंने अपने धर्म-चिन्तन के प्रकाश में स्पष्ट देखा कि यह शरणागत है, साथ ही निरपराध है, उसका कोई अपराध नहीं है, और उस निरपराध के हक को छीन रहा है मदान्ध कूणिक। अतः यह एक शरणागत का प्रश्न ही नहीं है, अपितु निरपराध के उत्पीड़न का भी प्रश्न है। और इस तरह से शरण में आये को, पीड़ित जन को यदि कोई वापिस लौटा दे, ठुकरा दे तो उसे कहाँ आश्रय मिलेगा? कल्पना कीजिए, एक इंसान चारों तरफ से घिर जाता है, सब ओर से मौत आ घेरती है, भयंकर निराशा के क्षण होते हैं। उक्त निराशा के क्षणों में वह एक बड़ी शक्ति के पास पहुँचता है कि उसे शरण मिलेगी। लेकिन वहाँ उसे ठुकरा दिया जाता है, फिर दूसरी जगह जाता है, वहाँ से भी ठुकरा दिया जाता है। अब कल्पना कीजिए, उसको कितनी पीड़ा हो सकती है! उस समय उसका मन कितना हताश हो जाता है। आँखों से आँसू बह रहे हैं, पर कोई पूछने वाला नहीं कि क्या बात है, क्यों रोना है? स्पष्ट है, इस स्थिति में दुनियाँ में न्याय का कोई प्रश्न ही नहीं रहा, किसी पीड़ित की रक्षार्थ करुणा और दया का कोई सवाल ही नहीं रहा। तो, इस तरह पीड़ित एवं अत्याचार से त्रस्त लोगों को समर्थ व्यक्ति भी धक्के देते रहें तो आपके इस अहिंसा और दयाधर्म का, इस धर्म और कर्म काण्ड का क्या महत्त्व रह जाता है?

अभिप्राय यह है कि यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह एक का या हजार का सवाल नहीं है। यह एक व्यक्ति की

हिंसा या दासता का सवाल भी नहीं है, बल्कि यह आदर्शों का सवाल है। यदि एक ओर एक उच्च आदर्श की हत्या होती है, दूसरी ओर आप हजार-लाख प्राणी बचा भी लेते हैं, तो उनका कोई मूल्य नहीं रहता है। क्योंकि आदर्श की हत्या सबसे बड़ी हत्या है। यदि आदर्श की हत्या हो जाती है, तो हजारों-लाखों वर्षों तक वह एक उदाहरण बनता चला जाता है अन्याय और अत्याचार का। और इस प्रकार के उदाहरण यदि संसार में बढ़ जाएँ, तो फिर तो संसार की कोई स्थिति ही नहीं रहेगी।

वैशाली के उपर्युक्त युद्ध की एक बात विचारणीय यह है कि चेटक और कूणिक दोनों युद्ध करते हैं। दोनों ओर से हिंसा होती है, भयङ्कर नरसंहार होता है, लेकिन राजा चेटक भयंकर युद्ध में वीर गति प्राप्त करता है और मरकर स्वर्ग में जाता है। और राजा कूणिक विजेता होने के बावजूद भी जब मरता है, तो कहाँ जाता है? नरक में। क्या बात है कि एक ही चीज के दो विभिन्न परिणाम होते हैं। एक युद्ध लड़ा गया, लेकिन दो परस्पर विरोधी नतीजे कैसे आये? दोनों ने भरपूर हिस्सा लिया युद्ध में—दोनों बराबर के साझीदार हैं युद्ध के। और जब दोनों साझीदार हैं युद्ध के, तो फिर परिणाम भिन्न-भिन्न कैसे आ गए? नतीजे अलग-अलग कैसे आए? तो स्पष्ट है कि ये जो भिन्न-भिन्न नतीजे आये हैं, ये आए हैं हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण के आधार पर। अभिप्राय यह है कि शरणागत की रक्षा करना धर्म है। क्योंकि वह भय से त्रस्त होता है, अन्याय से आक्रान्त होता है, मौत उसके सिर पर बुरी तरह मँड़रा रही होती है। वह किसी के पास रक्षा पाने के लिए आता है। अब बात यह है कि उसकी रक्षा करना क्या है? एक आदर्श की रक्षा करना है, एक नैतिक पक्ष का समर्थन करना है। जो पीड़ित है, भय से त्रस्त है, दुःखित है, निरपराध है, बेचारे ने कोई दोष किया नहीं है, उसको आश्रय देना आवश्यक है। हमारी भारतीय परम्परा का यह आदर्श है बहुत बड़ा। और भारतीय परम्परा ही क्यों, सारी मानवता का आदर्श है यह। आप जिसे मानवता कहते हैं, जिसे इंसानियत कहते हैं, यह उसका आदर्श है। तो, राजा चेटक ने इस आदर्श की रक्षा की, इसलिए वह स्वर्ग में गया। और कूणिक जो लड़ा, वह लड़ा किसके लिए? अपने स्वार्थ के लिए, अपने अहंकार के लिए और

अन्याय-अत्याचार के द्वारा अपने भाई का हक छीनकर उसे बर्बाद करने के लिए, एक सर्वथा निकृष्ट आधार पर लड़ा है। अतः वह जैन शास्त्रानुसार नरक में जाता है। प्रश्न है दोनों में से धर्मयुद्ध किसने लड़ा ? राजा चेटक ने धर्मयुद्ध लड़ा। इसलिए वह स्वर्ग में गया है। और कूणिक ने भी युद्ध को लड़ा, लेकिन वह अधर्मयुद्ध लड़ने के कारण नरक में गया है। यह बात यदि आपके ध्यान में स्पष्ट हो जाती है, तो विचार कीजिए कि हिंसा और अहिंसा के प्रश्न केवल बाहर में नहीं सुलझाए जाते हैं, वे सुलझाये जाते हैं अन्दर में, अन्दर के चिन्तन में। प्रवृत्ति का मूल वृत्ति में है, अतः वृत्ति में ही हिंसा-अहिंसा का विश्लेषण होना चाहिए।

शरणागत रक्षा : आज के सन्दर्भ में :

जैसा कि आपने ऊपर राजा चेटक की शरणागतवत्सलता की बात देखी है, आज भी वह बात ज्यों की त्यों है आपके समक्ष। और तब तो केवल एक शरणागत का सवाल था और अब तो एक करोड़ के लगभग प्रताड़ित, अतएव विस्थापित बंगाली शरणार्थियों का सवाल है। विचार कीजिए, इन शरणार्थियों में माताएँ भी हैं, बहनें भी हैं, बुड्ढे भी हैं, बच्चे भी हैं, बच्चियाँ भी हैं, नौजवान भी हैं। क्रूर पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा भयंकर मौत उन सबके सिर पर मँडरा रही है, और सिर्फ मौत ही नहीं, उनके नैतिक आदर्शों की भी हत्या हो रही है। मानवता को लजा देने वाले दुराचार हो रहे हैं, विभिन्न प्रकार के पापाचार हो रहे हैं। उन्हें एक पशु के समान भी नहीं समझा जा रहा है। यदि कोई पशु को मारता है, तो थोड़ी-बहुत दया तब भी रखी ही जाती है। पशुहत्या के सम्बन्ध में भी कुछ नियम हैं कि उनका क्रूरतापूर्ण बध नहीं होना चाहिए। लेकिन इन विस्थापितों के प्रति तो इतनी निर्दयता की गई कि घर-बार सब कुछ छोड़कर वे यहाँ आए। क्यों आए ? स्पष्ट है, भयत्रस्त व्यक्ति जाएगा कहाँ ? वहीं तो जाएगा, जहाँ उसे शरण पाने का भरोसा होगा ! कुछ लोग कहते हैं कि भारत सरकार ने, प्रधान मन्त्री इन्दराजी ने गलती की, जो इन सबको अपने यहाँ रख लिया। न रखते, न झगड़ा होता और न युद्ध की नौबत आती। बेकार का

सिरदर्द मोल ले लिया। मैं पूछता हूँ, बंगाल के विस्थापित यहाँ भारत में कैसे आए? पीछे से उन पर गोली चलाई जा रही थी। अतः प्राण-रक्षा के लिए भारत के द्वार पर आए। और किसी तरह से तो वे रुक नहीं सकते थे। यदि इधर से भी बन्दूक तान दी जाती कि खबर-दार इधर आए तो। पीछे लौटो, नहीं तो गोली मार दी जाएगी! विचार कीजिए, ऐसी स्थिति में, जब कि पीछे से गोली चल रही हो और आगे से भी गोली चलने लगे, तो बेचारा शरणागत कहाँ जाए? क्या करे? ऐसी स्थिति में आपका धर्म क्या कहता है? आपकी मानवता क्या कहती है?

भारतवर्ष की संस्कृति और सभ्यता को आदिकाल से ही अपने इस शरणागत रक्षा के धर्म पर गौरव है। इसी पर हिन्दू धर्म को गौरव है, जैन धर्म को गौरव है और जितने भी अन्य धर्म हैं—सबको गौरव है। और, जिसके सम्बन्ध में हम सब लाखों वर्षों से बड़े-बड़े गर्वीले नारे लगाते आ रहे हैं तो, क्या अब वर्तमान स्थिति में भारत अपने उस शरणागत रक्षा के पवित्र धर्म को तिलांजलि दे दे? नहीं, यह नहीं हो सकता। हिंसा और अहिंसा की गलत धारणाओं के चक्र में उलझकर जो धर्म बंगला देश की प्रस्तुत समस्या से अपने को तटस्थ रखने की बात करते हैं, तो मैं पूछता हूँ, वे धर्म हैं, तो किसलिए हैं? उनका मानवीय मूल्य क्या है? क्या उनका मूल्य केवल यही है कि कीड़े-मकोड़ों को बचाओ, छापे-तिलक लगाओ, मंदिर में घण्टा बजाओ, भजन-पूजन करो। यह सब तो साधना के बाह्यरूप भर हैं। यदि मूल में मानवता नहीं है तो यह सब मात्र एक पाखण्ड बनकर रह जाना है। सच्चा धर्म मानवता को विस्मृत नहीं कर सकता। कौन धर्म ऐसा कहता है कि द्वार पर आने वाले उत्पीड़ित शरणार्थियों का दायित्व न लिया जाए? उन्हें आश्रय न दिया जाए? कहा है कि एक व्यक्ति जो कि किसी को पीड़ित कर रहा है, वह तो पाप कर रहा है। लेकिन पीड़ित व्यक्ति अपनी प्राण रक्षा के लिए बहुत बड़े भरोसे के भाव से किसी के पास शरण लेने के लिए आए और यदि वह उस शरणागत की रक्षा के लिए प्रयत्नशील नहीं होता है, तो वह उस उत्पीड़क से भी बड़ा पापी है, जिसने कि अत्याचार करके उसको मार भगाया है। एक त्रस्त व्यक्ति विश्वास लेकर आपके पास आया है कि यहाँ उसकी सुरक्षा होगी और उसी विश्वास का आपकी ओर से यदि

घात हो जाए, तो कल्पना कीजिए, उसकी कितनी भयावह स्थिति होती है ! समर्थ होते हुए भी आपने उसके लिए कुछ किया नहीं, उलटा उसे धक्का दे दिया, तो यह एक प्रकार का विश्वासघात ही तो हुआ। और विश्वासघात बहुत बड़ा पाप है। किसी को अभय देना, एक महान धर्म है और अभय देने से किसी भयाक्रान्त को इन्कार कर देना, बहुत बड़ा अधर्म है। बंगला देश के एक करोड़ के लगभग पीड़ित विस्थापितों को अभय देकर भारत ने वह महान् सत्कर्म किया है, जो विश्व इतिहास में अजर अमर रहेगा।

यह बहुत बड़ी दैवी कृपा हुई कि बंगला देश के पीड़ितों ने आपके ऊपर भरोसा किया। और, यह जानी हुई बात है कि भरोसा किसी साधारण व्यक्ति पर नहीं किया जाता। पास में अन्य देश भी थे, लेकिन वहां पर कोई नहीं गया, सभी भारत में ही आए। क्यों आए ? इसका तात्पर्य यह है कि इसका गौरव उन्होंने एकमात्र आपको दिया। उनको भरोसा था कि यहाँ भारत में उनकी ठीक-ठीक रक्षा होगी। और इतना बड़ा विश्वास लेकर कोई जनता आए और फिर उसे आप ठुकरा दें, धक्का दे दें, तो यह कितना बड़ा पाप है ? आप भाग्यशाली थे कि आप से यह पाप न हुआ। भारत की सांस्कृतिक परम्परा का उज्ज्वल गौरव आपके हाथों में सुरक्षित रहा। आप वैयक्तिक तुच्छ स्वार्थों के अन्धकार में नहीं भटके। बहुत बड़ा दायित्व अपने ऊपर लिया और उसे प्रसन्नता से निभाया।

अभिप्राय यह है कि ऐसा समय इतिहास में कभी-कभी ही आता है। जैसा कि मैंने बताया, चेटक ने तो एक शरणागत की रक्षा के लिए इतना बड़ा भयंकर युद्ध किया। हिंसा हुई, फिर भी भगवान् महावीर कहते हैं कि वह स्वर्ग में गया और आपने तो लाखों-करोड़ों इन्सानों की रक्षा की है, और इसी कारण आपको यह युद्ध भी करना पड़ा है, अन्यथा आपके सामने तो युद्ध का कोई सवाल ही नहीं था। भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरागान्धी, समूची राष्ट्र शक्ति को साथ लिए आज जो जूझ रही हैं, उसके मूल में उन्हीं पावन भारतीय आदर्शों की रक्षा का प्रश्न है। कहना तो यों चाहिए कि ढाई हजार वर्ष बाद इतिहास ने अपने आपको दुहराया है। यानी भ० महावीर के युग की वह घटना आज फिर से दुहराई जा रही है और यदि महावीर आज धरती पर होते तो क्या निर्णय देते इस सम्बन्ध

में ? प्रभु महावीर आज धरती पर निर्णय देने को नहीं हैं, तो क्या बात है ? उनका जो निर्णय है, वह हमारे सामने है। आज जो फैसला लेना है, उनके द्वारा, वह फैसला पहले ही दिया जा चुका है। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान के नये जजों के फैसले में अतीत के पुराने जजों के फैसले निर्णायक होते हैं। अभिप्राय यह है कि भ० महावीर ने जो फैसला दिया था, कि राजा चेटक स्वर्ग में गया और कूणिक नरक में—बिलकुल स्पष्ट है कि यदि आज के इस संघर्ष को लेकर इंदिराजी के सम्बन्ध में पूछें तो प्रभु महावीर का वही उत्तर है, जो वे ढाई हजार वर्ष पहले ही दे चुके हैं। तात्पर्य यह है कि यह युद्ध शरणागतों की रक्षा का युद्ध है, अतः भारतीय चिन्तन की भाषा में धर्मयुद्ध है और धर्मयुद्ध अन्ततः योद्धा के लिए स्वर्ग के द्वार खोलना है—'स्वर्ग द्वारमपावृतम्'। यह वह केन्द्र है, जहाँ भारत के प्रायः सभी तत्त्वदर्शन और धर्म एकमत हैं।

मैं यह जो विश्लेषण कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ ? इसका कारण यह है कि अहिंसा-हिंसा के विश्लेषण का दायित्व जैन समाज के ऊपर ज्यादा है, चूँकि जैन परम्परा का मूलाधार ही अहिंसा है। भ० महावीर ने अपने तत्त्वदर्शन में हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण किस आधार पर किया है ? भगवान् के अहिंसा दर्शन की आधारशिला कर्त्ता की भावना है। बात यह है कि ये जो युद्ध होते हैं, हिंसाएँ होती हैं, आदमी मरते हैं, इन सबको गिनने का कोई सवाल नहीं है। सवाल तो सिर्फ यह है कि आप जो युद्ध कर रहे हैं, वह किस उद्देश्य से कर रहे हैं। आपके संकल्प क्या हैं ? आपके भाव क्या हैं ? आपका आन्तरिक परिणमन क्या है ? राम युद्ध करते हैं रावण से। राम का क्या संकल्प है ? नारी जाति पर होने वाले अत्याचारों का प्रतिकार करना ही तो ! राम के समक्ष एक सीता का ही सवाल नहीं है अपितु हजारों पीड़ित सीताओं के उद्धार का सवाल है। राम एक आदर्श के लिए लड़ते हैं। और रावण जो युद्ध कर रहा है, उसका क्या संकल्प है ? उसका संकल्प है वासना का, दुराचार का। पांडव युद्ध कर रहे हैं श्रीकृष्ण के नेतृत्व में किसलिए ? केवल अपने न्यायप्राप्त अधिकार के लिए। दूसरी ओर दुर्योधन भी युद्ध कर रहा है। किन्तु वह किस संकल्प से कर रहा है ? पाण्डवों के न्याय प्राप्त अधिकारों को हड़पने के लिए। ये सारी चीजें विचार करके

यदि आप देखेंगे तो इन सबका निर्णय अन्तर्जगत् के अन्दर जाकर हो जाता है। अन्तर्जगत् के अन्दर क्या परिणमन है, यह है विचारणीय प्रश्न ! जैसा कि मैंने पहले बताया है कि कभी द्रव्य हिंसा होती है, भावहिंसा नहीं होती। कभी भावहिंसा होती है, द्रव्य हिंसा नहीं होती। कभी दोनों ही होती हैं। उक्त चर्चा में भाव हिंसा ही वस्तुतः हिंसा का मूलाधार है। और भावहिंसा में भी हमें यह देखना पड़ेगा कि बड़ी हिंसा को रोकने के लिए, जो छोटी हिंसा कर रहे हैं, वह आवश्यक है या अनावश्यक ? स्पष्ट है कि जीवन में कुछ प्रसंग ऐसे आते हैं कि यह बिलकुल आवश्यक हो जाती है। बहुत बड़े अत्याचार, अनाचार, दुराचार, अन्याय एवं अधर्म को रोकने के लिए विचारकों को छोटी हिंसा का आश्रय लेना ही होता है। समाज और राष्ट्र के प्रश्न का समाधान यों ही बेतुकी बातों से कभी नहीं होता है।

हिंसा केवल शरीर की ही हिंसा तो नहीं है। मन की हिंसा भी बहुत बड़ी हिंसा होती है। विचार कीजिए कि जब देश गुलाम हो जाए और जनता पराधीनता के नीचे दब जाए, तो ऐसी स्थिति में उसके शरीर की हिंसा ही नहीं, सबसे बड़ी मन की हिंसा भी होती है। पराधीन जनता का मानसिक स्तर, बौद्धिक स्तर, जीवन के उदात्त आदर्श, गुलामी के अन्दर इस तरह से पिस-पिसकर खत्म हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं कि वह केवल एक मृत ढाँचा भर रह जाता है। पराधीन राष्ट्र के धर्मों, परम्पराओं एवं संस्कृतियों के अन्दर से प्राण निकल जाते हैं, और वे केवल सड़ती हुई लाश भर रह जाते हैं। भारत यह सब देख चुका है।

गाँधी युग फिर दुहराया है :

सभी जानते हैं कि जब विदेशी आक्रमणकारियों के द्वारा भारत पर आक्रमण हुआ, तब देश कितना पददलित हुआ था। कितने निम्न स्तर पर चला गया था और किस प्रकार हमारी नैतिक चेतना शमित हो गई थी ! यह जो फिर से दोबारा जान आई है देश के अन्दर। आप सबको मालूम है, यह गाँधीजी द्वारा आई है। अन्याय-अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए आवाज उठी, जनता में नई

प्रेरणाएँ जगीं, अहिंसा एवं सत्य के माध्यम से स्वतन्त्रता का युद्ध लड़ा गया और विश्व की एक बहुत बड़ी शक्ति—ब्रिटिश साम्राज्य को पराजित कर राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ। और सौभाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता का युद्ध लड़ने वाला सेनापति अपने युग का एक महान् अहिंसावादी था। वह अहिंसावादी था और अहिंसा के मूल अर्थ को समझता था। वह अहिंसा के प्रचलित सीमित अर्थ तक ही नहीं रुका हुआ था, बल्कि वह अहिंसा को भूत, भविष्य, वर्तमान के व्यापक धरातल पर परखता था।

अहिंसा के विस्तृत आयाम पर गांधीजी की दृष्टि थी। यही कारण है कि जब काश्मीर पर प्रथम पाकिस्तानी आक्रमण हुआ, तो उनसे पूछा गया कि काश्मीर की रक्षा के लिए सेनाएँ भेजी जाएँ या नहीं? तो उन्होंने यह नहीं कहा कि सेना न भेजो, यह हिंसा है, यदि कुछ करना है तो वहाँ जाकर सत्याग्रह करो। ऐसा क्यों नहीं कहा उन्होंने? इसलिए कि सत्याग्रह सभ्य पक्ष के लिए होता है। विरोधी भले ही हो, किन्तु सभ्य विरोधी सत्याग्रह जैसे सात्विक प्रयासों से प्रभावित होता है। परन्तु जो असभ्य बर्बर होते हैं, उनके लिए सत्याग्रह का कोई मूल्य नहीं होता। खूंख्वार भेड़ियों के सामने सत्याग्रह क्या अर्थ रखता है? ब्रिटिश जगत् कुछ और था, जिसके सामने सत्याग्रह किया गया था। वह फिर भी एक महान् सभ्य जाति थी! किन्तु याह्याखाँ और उसके पागल सैनिकों के समक्ष कोई सत्याग्रह करे, तो उसका क्या मूल्य हो? याह्याखाँ का क्रूर सैनिक दल बाँगला देश में मासूम बच्चों का कत्ल करता है, महिलाओं के साथ खुली सड़कों तक पर बलात्कार करता है, गाँव के गाँव जलाकर राख कर डालता है, हर तरफ निरपराध बच्चे, बूढ़े, नौजवान और स्त्रियों की लाशें बिछा देता है, इसका मतलब यह कि वह युद्ध नहीं लड़ रहा है। वह तो हिंसक पशु से भी गई-बीती स्थिति पर उतर आया है। प्रश्न है, इस अन्याय के प्रतिकार के लिए क्या किया जाए? अहिंसा की दृष्टि से विचार करें तो क्या होना चाहिए? युद्ध या और कुछ? क्रूर दरिंदों के समक्ष और कुछ का तो कुछ अर्थ ही नहीं रह गया है। युद्ध ही एक विकल्प रह गया है, जो चल रहा है। यह आक्रमण नहीं, प्रत्याक्रमण है। और, जैसा कि चेटक और कूणिक का उदाहरण आपके सामने

रखा कि चेटक युद्ध करके स्वर्ग में गया है, चूँकि उसने शरणागत की रक्षा के लिए आक्रमणकारी से धर्मयुद्ध लड़ा था, और कूणिक युद्ध करके नरक में गया है, चूँकि उसने न्यायनीति को तिलांजलि देकर अधर्मयुद्ध लड़ा था। आज आपके सामने ठीक वही प्रश्न यथावत है कि आप भी शरणागतों की रक्षा के प्रश्न पर युद्ध के लिए ललकारे गये हैं, युद्ध करने को विवश किये गये हैं। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बड़े धैर्य से काम लिया है, करोड़ों विस्थापितों का वह भार उठाया है, जो देश के अर्थतन्त्र को चकनाचूर कर देता है। आठ-आठ महीने प्रतीक्षा की है कुछ सुधार हो जाए, विश्व के प्रमुख राष्ट्रों को जा-जाकर सही स्थिति समझाई है। परन्तु जब कुछ भी परिणाम नहीं आया और पाकिस्तान की दुःसाहसी सैनिक टोली ने रणभेरी बजा ही दी, तो इन्दिराजी ने भी उत्तर में रण दुन्दुभी बजा दी है, भारत के नौजवान सीमा पर जूझ रहे हैं। युद्ध हो रहा है। भारतीय तत्त्वचिन्तन के आधार पर यह धर्मयुद्ध है और अंततः विजय धर्मयुद्ध की ही होती है। **"यतो धर्मस्ततो जयः"**—जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। **'सत्यमेव जयते, नानृतम्'** सचाई की ही विजय होती है, झूठ की नहीं।

★

विशेष :

जैसा कि आरंभ में इस निबंध की संपादकीय टिप्पणी में बताया है कि श्रद्धेय कविश्रीजी का यह प्रवचन ६-१२-७१ को ९ बजे हुआ था। और उसी दिन संसद में श्रीमती इंदिरा गांधी ने ऐतिहासिक निर्णय के रूप में भारत द्वारा "बांगला देश की मान्यता" की ऐतिहासिक घोषणा की थी।

आज स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। बांगला देश स्वतंत्र हो चुका है। युद्ध दोनों ओर से थम चुका है। हम नवोदित धर्म निरपेक्ष राष्ट्र बांगला देश की सर्वतोमुखी उन्नति की हार्दिक कामना करते हैं। और समय पर सर्वथा उचित निर्णय लेने के लिए प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधीजी का अभिनन्दन करते हैं, साथ ही देश के बहादुर जवानों पर गर्व करते हैं, जिन्होंने सत्य एवं न्याय की विजय के लिए संघर्ष किया। —कलाकुमार

वी रा य त न

एक समीक्षा : एक चिन्तन

वीरायतन क्या है ?

'वीर' और 'आयतन'—इन दो शब्दों से वीरायतन एक शब्द बना है। इसमें 'वीर', भगवान् महावीर का नाम है और शब्द कोश (प्राचीन आगम साहित्य में 'सिद्धायतन' भी ऐसा ही एक शब्द प्रयोग है) की दृष्टि से आयतन का अभिधाजन्य अर्थ है—पवित्र स्थान। मिलकर अर्थ हुआ—भगवान् महावीर का पवित्र स्थान, उनकी पुण्यभूमि। वीरायतन का अन्तर्निहित लाक्षणिक अर्थ है—निर्वाण शताब्दी के अवसर पर भगवान् महावीर की पुण्य स्मृति में हमारी श्रद्धा का प्रतीकात्मक एक आदर्श ज्योति केन्द्र, जो धर्म, संस्कृति, समाज और राष्ट्र एवं विश्व की समस्याओं के समाधान में भगवान् महावीर के जीवनदर्शन के आलोक में यथोचित योग-दान दे सके। विकासपथ पर, जैसा कि शासनभक्तों का स्वप्न है, यदि यह बढ़ता जाए, यदि को निकाल दीजिए, विश्वास है, बढ़ता ही जाएगा तो एक दिन वीरायतन का पांडीचेरी, शांति-निकेतन, हिन्दू यूनिवर्सिटी, शारदाग्राम आदि की भाँति ही विशिष्ट महत्त्व होगा। वीरायतन निर्वाण शताब्दी की एक ऐसी चिर-स्मरणीय ऐतिहासिक उपलब्धि होगी, जो भविष्य की अनेक शताब्दियों तक जन-जीवन को ज्योतिर्मय कर सकेगी और वीर शासन का गौरव जन-जन के मन में निष्ठा के साथ प्रतिष्ठित कर सकेगी।

विज्ञान की नई स्थापनाओं की छाया में प्राचीन गौरवमयी अनेक धारणाएँ धूमिल होती जा रही हैं। पुरातन परम्पराओं का

मूल्य गिर रहा है। निर्माणकारी नवीन परम्पराओं का निर्माण नहीं हो रहा है। अहिंसक समाज-रचना के परिवेश में, प्राचीन मौलिक संस्कृति की भावना को ध्यान में रखते हुए युगानुसारी चिन्तन के आलोक मे, जीवन के समस्त पहलुओं को स्पर्श करने वाली विचार पद्धति के आधार पर वीरायतन का कार्य होगा।

वीरायतन का उद्देश्य क्या है ?

आध्यात्मिक जगत् के महान् सूर्य भगवान् महावीर के दिव्य जीवनदर्शन को व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचाना, इसका प्रथम उद्देश्य है। इसके लिए आध्यात्मिक परिवेश में स्वस्थ एवं रचनात्मक जीवन के विकास की व्यवस्था वीरायतन देगा प्रायोगिक जीवन शिक्षण का प्रबन्ध करेगा।

शिक्षा के क्षेत्र में वीरायतन की योजना में प्राथमिक स्कूल से लेकर विश्व विद्यालय तक का संकल्प है। सार्वजनिक क्षेत्र में आरोग्य-केन्द्र, कला केन्द्र, उद्योग केन्द्र आदि की रूपरेखा है।

साधना के क्षेत्र में स्वाध्याय मन्दिर, आगम मन्दिर, आगम प्रकाशन, साधना केन्द्र, नयी और पुरानी दोनों शैलियों के आधार पर ध्यान योग का प्रशिक्षण, सुरुचिपूर्ण जीवनस्पर्शी साहित्य का प्रचार-प्रसार, नैतिक शिक्षण, समाज के सभी वर्गों में से सभी प्रकार के दुर्व्यसनों की मुक्ति आदि अनेक शाखाएँ हैं। समय और परि-स्थितियों ने ठीक तरह साथ दिया तो कार्यकर्त्ता बहुत कुछ करना चाहते हैं।

वीरायतन राजगृही में ही क्यों ?

स्थान की दृष्टि से समाज के प्रबुद्ध विचारकों को अभी तक राजगृही ही मुख्य केन्द्र के रूप में (भविष्य में शाखा केन्द्र अन्यत्र भी हो सकते हैं) पसन्द है। राजगृही को भगवान् महावीर के १४ वर्षावास होने का ऐतिहासिक सुअवसर मिला है। प्रभु के पावन चरण स्पर्श से वह पुण्यभूमि गौरवान्वित रही है। प्रभु की दिव्य-वाणी वहाँ से मुखरित होकर दूर-दूर तक पृथ्वी के अनेक देशों तक पहुँची है। अतीत में जिस नगर के हजारों-लाखों नर-नारियों को प्रभु के संघ को, समवसरण को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। धन

कुबेर धन्ना और शालिभद्र जैसे तरुण राजगृह में ही प्रभु चरणों में दीक्षित हुए हैं। तत्कालीन मगध और विदेह का विहार प्रान्त ही प्रभु महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि, धर्मप्रचार भूमि और निर्वाण भूमि है। अतः भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाग शताब्दी पर, जनहित की मंगल दिशा में, कुछ निर्माण-कार्य करने के लिए हमारी ऐतिहासिक चेतना, समाज के प्रबुद्ध विचारशील वर्ग को राजगृही का चुनाव करने को बाध्य करती है।

दूसरी बात राजगृही को और भी अनेक कारणों से महत्त्व प्राप्त है। सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व तो इसका है ही साथ ही विपुलाचल और वैभारगिरि आदि पर्वत माला के कारण प्राकृतिक महत्त्व भी उतना ही है। जो योजना है उसके लिए राजगृही का वातावरण बहुत उपयुक्त रहेगा। एक और महत्त्वपूर्ण बात है— राजगृही के विषय में प्रायः सभी को समान रूप से आस्था है। वह अन्तर्देशीय केन्द्र रहेगा, क्षेत्रीय दृष्टि से सीमित नहीं होगा।

विहार, बंगाल, और पूर्वी उत्तर प्रदेश आदि की सर्व साधारण जनता में अब भी भगवान् महावीर के प्रति हार्दिक भक्ति है, श्रद्धा है। विहार की शिक्षित जनता तो भगवान् महावीर पर विहारी होने के नाते गौरवानुभूति करती है। यदि समाज वीरायतन के रूप में अपने संकल्पों को ठीक योजनाबद्ध पद्धति से मूर्तरूप दे सके तो विहार में, और उसके पड़ोसी बंग, उत्कल (उड़ीसा) और असम में भगवान् महावीर के नैतिक आदर्शों को पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। श्रद्धेय कविश्रीजी के द्वारा अपने राजगृही के चातुर्मास-काल में तथा विहार यात्रा में ऐसा कुछ हुआ भी था। पुनः संपर्क के अभाव में इस प्रकार की विचार ज्योति फिर धुँधली हो जाती है। वीरायतन के द्वारा यह समस्या समाधान पा सकती है। और यदि निरंतर विकास होता रहा, तो आगे चलकर, भविष्य में संभव है, यह राजगृह का संस्थान समग्र समाज का एक महान् प्रतिनिधि संस्थान ही हो जाए।

वीरायतन की कौनसी धाराएँ हैं ?

वीरायतम की मुख्य २१ कर्म-धाराएँ हैं। चिन्तन चल रहा है। स्वप्न लम्बे देखे जा रहे हैं। समाज में यदि कोई नया विभ्रम न

खड़ा हुआ, और मुक्त सहयोग मिलता रहा, तो बहुत कुछ करने के संकल्प हैं।

(१) प्राथमिक पाठशाला
(२) स्कूल लड़कों के लिए
(३) स्कूल लड़कियों के लिए
(४) कॉलेज लड़कों के लिए
(५) कॉलेज लड़कियों के लिए
(६) छात्रावास लड़कों के लिए
(७) छात्रावास लड़कियों के लिए
(८) प्राकृत यूनिवर्सिटी
(९) साधना केन्द्र
(१०) स्वाध्याय मंदिर (पुस्तकालय)
(११) आगम प्रकाशन
(१२) जीवनोपयोगी सुगम साहित्य प्रकाशन केन्द्र
(१३) शोध संस्थान
(१४) आगम मंदिर
(१५) पुरातत्त्व संग्रहालय
(१६) निवृत्ति आश्रम
(१७) धर्म परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन
(१८) गोसदन (मूक प्राणिरक्षा केन्द्र)
(१९) उद्योग केन्द्र
(२०) कला केन्द्र
(२१) चिकित्सालय (हॉस्पीटल)

कार्य-विस्तार के साथ संस्था को और भी विकसित किया जा सकेगा। उपरिनिर्दिष्ट कार्यक्रम में समयानुसार उचित संशोधन भी संभव है।

स्कूल, कॉलेज या छात्रावास आदि अब तक के घिसे-पिटे पुराने संस्करण नहीं होंगे, अपितु पुराने और नये के संगम पर कुछ नया ही सृजनात्मक रूप लेंगे। वर्तमान शिक्षण पद्धति के दोषों से बचकर एक सचेतन सांस्कृतिक चेतना जगाना ही उक्त शिक्षण संस्थाओं का मूल उद्देश्य होगा। इसके लिए समय पर देश के मूर्द्धन्य शिक्षा शास्त्रियों से संपर्क साधा जाएगा।

वीरायतन के लिए किन लोगों का सहयोग अपेक्षित है ?

वीरायतन के लिए समग्र जनता का सहयोग अपेक्षित है। मानवतावादी महान् आत्माएँ किसी परम्पराविशेष में बद्ध नहीं होते हैं। वे सभी के होते हैं और सब उनके होते हैं। अत: असाम्प्रदायिक भावना के साथ सार्वजनिक स्तर पर ही उनके उत्सव मनाए जाने चाहिएँ, जिससे एकात्मकता की सुरक्षा हो सके। इसी दृष्टि से प्रस्तुत निर्वाण शताब्दी पर हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भगवान् महावीर की अति मूल्यवान देशनाएँ एकमात्र जैन समाज की ही नहीं, अपितु समग्र जन समाज की हैं, क्योंकि महावीर सबके हैं। किसी एक के नहीं।

पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर महावीर की स्मृति में "वीरायतन" के नाम से जो स्मारक खड़ा किया जा रहा है, वह भी सबके लिए है। अत: सभी की ओर से सहयोग लेना एवं देना जरूरी है। इसके लिए किसी सम्प्रदायविशेष का बन्धन नहीं है। महावीर से सम्बन्धित तत्त्वदर्शन एवं जीवन दर्शन जो भी प्राप्त करना चाहेगा, उसके लिए पूरी व्यवस्था होगी। सर्वसाधारण के लिए सेवा के द्वार मुक्त हैं, तो इसके लिए सहयोग के द्वार भी मुक्त होने चाहिएँ। सबके सहयोग से ही यह महान् कार्य यशस्वी होगा। सहयोग देने और लेने में, साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय अथवा राष्ट्रीय आदि के रूप मे किसी प्रकार से कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा।

संक्षेप में वीरायतन का कार्य सूत्र है—यह संस्था सभी की होगी, सबके लिए होगी, सभी के सहयोग से होगी।

सरकारी सहयोग लिया जा सकेगा क्या ?

सार्वजनिक धरातल पर किये जाने वाले इस प्रकार के असाम्प्रदायिक कार्यों में सरकार का सहयोग अवश्य मिल सकता है। सरकार स्वयं भी ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का विकास चाहती है। किन्तु मूल में प्रश्न जनता का है। पहले जनता स्वयं प्रारम्भ करे, उसके बाद ही सरकार के सहयोग की चर्चा हो सकती है। और वह सरकारी सहयोग भी उसी स्तर पर अपेक्षित होना चाहिए, जो

संस्थान की मूल भावना को मूर्तरूप देने के मार्ग में प्रतिबन्धक या प्रतिरोधक न हो।

साधु-साध्वियों का सहयोग इसमें क्या और कैसा हो सकता है ?

भगवान् महावीर की पुण्यस्मृति में असाम्प्रदायिक स्तर पर यह कार्य हो रहा है। अतः भगवान् महावीर के जीवन दर्शन एवं तत्त्व-दर्शन की विश्व मंगलकारी मौलिक आत्मभावना तो इसमें प्रति-बिम्बित होगी, किन्तु परस्पर में विग्रह, कलह, घृणा एवं विद्वेष बढ़ाने वाली आज कल की साम्प्रदायिक कट्टरता से सर्वथा दूर रहा जाएगा। इसलिए आज की प्रत्येक परम्परा से सम्बन्धित साधु-साध्वी अपनी मर्यादा के अनुसार इसमें भावनात्मक और विचारा-त्मक सहयोग दे सकते हैं। अपने पास अभ्यास करने वाले भाव-दीक्षार्थी भाई-बहनों को भी प्रचार कार्य में प्रेरणा दे सकते हैं।

वीरायतन के मूर्तरूप लेने पर राजगृही के मुख्य केन्द्र में, तथा अन्य प्रान्तीय शाखा केन्द्रों में धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, ध्यानयोग आदि की क्रियात्मक सजीव शिक्षण की समुचित व्यवस्था होगी, अतः साधु-साध्वी, दीक्षार्थी भाई-बहनें, तथा अन्य साधक भावना के प्रेमी योग्य लाभ ले सकेंगे।

वीरायतन का प्रचार कार्य व्यापक रूप ले सके, इसके लिए क्या करना चाहिए ?

वीरायतन के प्रचार कार्य के लिए तत्काल में प्रान्तीय, जिला, तहसील आदि के रूप में 'वीरायतन सेवा संघ' की स्थापना का विचार चल रहा है। आने वाले इन दो तीन वर्षों में लाखों सदस्य बनाने की योजना है। वीरायतन सेवा संघ के उत्साही सदस्य बनाने के लिए इन वर्षों में भारत के प्रायः सभी प्रान्तों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

वीरायतन सेवा संघ का उद्देश्य वीरायतन की योजना को समझाना, उसके लिए सक्रिय सहयोग प्राप्त करना, सभी धर्म पर-म्पराओं में उचित समन्वय भावना स्थापित करना, और महावीर निर्वाण शताब्दी का वर्ष शानदार तरीके से मनाने की विराट् योजना को मूर्तरूप देने का सामूहिक प्रयत्न करना है।

इस संघ के सदस्य बिना किसी भेदभाव के सभी बन सकेंगे। प्रचार के लिए योग्य प्रचारकों को गाँव-गाँव, नगर-नगर भेजना पड़ेगा, जिससे कि आने वाले इन तीन वर्षों में धीरे-धीरे वीरायतन सम्पूर्ण राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का रूप ले सके, साथ ही भगवान् महावीर के विश्वमंगल एवं जन कल्याणकारी अमरसंदेशों का भी व्यापक प्रचार-प्रसार हो सके।

महावीर निर्वाण शताब्दी का वर्ष किस प्रकार मनाया जाए ?

महावीर निर्वाण शताब्दी का कार्यक्रम बन रहा है। सभी स्तर के विद्वानों एवं विचारकों से विचार विमर्श का सम्पर्क सूत्र साधा जा रहा है। सम्भव है, शीघ्र ही वीरायतन सम्पूर्ण कार्यक्रम को प्रस्तुत करने की स्थिति में पहुँच सके। इस कार्यक्रम में यह ध्यान रखा जाएगा कि राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र का प्रत्येक मनुष्य भगवान् महावीर और उनकी सर्वमंगल लोककल्याणकारी अमृत-वाणी से परिचित हो जाए। इतना ही नहीं, उनके संदेशों को जीवन में ढालने का भी क्रियात्मक मार्ग प्रशस्त किया जा सके।

वीरायतन जैसी और कोई योजना है ?

जहाँ तक हमारी जानकारी है, वीरायतन जैसी कोई दूसरी योजना अभी तक प्रकाश में नहीं है। वस्तुत: अब तक के इसी अभाव के कारण ही वीरायतन योजना जनता के सामने उपस्थित हुई है।

अब तक के प्रयत्न क्षेत्रीय, रूढ़ साम्प्रदायिक तथा कार्यक्रमों के दृष्टिकोण से एकांगी एवं सीमित स्तर पर हुए हैं। व्यापक रूप से जन-भावना को छूने का प्रयत्न प्रथम तो हुआ नहीं, और यदि कुछ हुआ भी है तो वह नहीं के बराबर है। आज की विश्व जन-चेतना पुराने क्षुद्र एवं संकुचित चिन्तन स्तर से काफी ऊँचाई पर उठती जा रही है, अत: आज वे ही कर्मतन्त्र एवं प्रचारतन्त्र सफल हो सकते हैं, जो जनहित की व्यापक दृष्टि को लेकर आगे आते हैं। वीरायतन योजना का कार्यक्रम इस वैचारिक स्तर पर शत-प्रतिशत खरा उतर सकता है हम आशा करते हैं, विगत शताब्दियों से अभी तक

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है, वीरायतन उस अभाव को सक्षम रूप से भावात्मक पूर्ति कर सकेगा।

कार्य-संचालन पद्धति की क्या रूपरेखा है ?

कार्य-संचालन के सम्बन्ध में काफी गहराई से सोचा जा रहा है। क्या करना है यह तो निश्चित हो गया है, परन्तु कसे करना है, यह विचारमंथन की स्थिति में है। हम चाहते हैं, वह केवल आदर्श मात्र ही न रहे, अपितु ठोस व्यावहारिक रूप ले। काट-छाँट होरही है। फिर भी ऐसा कुछ निश्चित हो रहा है कि "एक केन्द्रिय संघ होगा, जिसमें भारत के विभिन्न स्थानो क प्रमुख व्यक्ति होंगे। संस्था के संविधान के अनुसार यह संघ कार्य संचालन करेगा। वीरायतन की अन्तरंग स्थिति एवं कार्य-नीति निश्चित करने का दायित्व भी इसी संघ का होगा। संस्थाओं पर नियन्त्रण, निरीक्षण और अन्तिम निर्देशन एव आर्थिक प्रबन्ध आदि केन्द्रीय संघ के अधीन होंगे। सुविधानुसार स्वतन्त्र तदर्थ कार्यवाहक समितियाँ भी कार्य करेंगी। शीघ्र ही कार्यसंचालन पद्धति और संविधान प्रकाशित होने जा रहा है।

वीरायतन का कार्य-विभाजन क्या प्रान्तीय स्तर पर होगा ?

केन्द्रीय नियन्त्रण न होकर यदि स्वतन्त्र रूप से प्रान्तीय स्तर पर कार्य किए जाएँ तो कार्यक्रम एक दिशा में गतिशील नहीं हो सकेगा, वह व्यर्थ ही इधर-उधर बेतरतीब बिखर जाएगा। इसलिए भविष्य के लिए तो क्या कहा जा सकता है, परन्तु अभी यही कहा जा सकता है, कि वर्तमान में कार्य को स्वतन्त्र प्रान्तीय स्तर पर छितरा देने का कोई विचार नहीं है। अभी वीरायतन की २१ शाखाएँ हमारे समक्ष हैं। किसी भी क्षेत्र से कोई भी एक व्यक्ति या पार्टी अथवा संघ इन शाखाओं में से जिस शाखा को विकसित करना चाहें, कर सकेंगे, पर वह सब वीरायतन के अन्तर्गत होगा। अभी पूर्व भारत स्था० जैन गुजराती संघ ने वीरायतन की ४ शाखाओं को विकसित करने का निर्णय किया है। कलकत्ता से और भी

कार्य होने की सम्भावना है। आगरा में भी विचार-चर्चा प्रगति पर है। निकट भविष्य में सुअवसर आने पर संस्था के कार्य का विभाजन सम्पूर्ण भारत में होगा। किसी एक प्रान्तविशेष अथवा क्षेत्रविशेष से ही इसका कोई सम्बन्ध नहीं होगा। जो जितना करना चाहेगा, उसका वैसा यथोचित सहयोग लिया जाएगा। अखिल भारतीय जैन कान्फरेन्स ने सहयोग देने का आश्वासन दिया है। महाराष्ट्र में हुए नासिक सम्मेलन ने भी सहयोग का प्रस्ताव पारित किया है। पंजाब, दिल्ली हरियाना, राजस्थान, उत्तर प्रदेश आदि अनेक प्रदेशों की ओर से भी सहयोग के आश्वासन मिल रहे हैं। जनता के उत्साह में कोई कमी नहीं है। कार्यकर्त्ताओं का अभाव अवश्य खटक रहा है। अतः समस्या है सम्पर्क साधने की। इसके समाधान का भी कोई मार्ग निकलेगा ही।

प्रमुख कार्यालय कहाँ रहेगा ?

अभी वीरायतन का प्रमुख कार्यालय आगरा ही रहेगा। कलकत्ता भी उपप्रमुख कार्यालय का रूप ले रहा है, जो संस्था के विकासोन्मुख कार्य की दृष्टि से आवश्यक है। अन्यत्र भी ऐसा ही कुछ हो सकता है, पर, सबका सम्पर्क सूत्र अभी आगरा से ही सम्बद्ध रहेगा। भविष्य में राजगृही में कार्य प्रारम्भ होने के बाद केन्द्रीय कार्यालय वहीं स्थानान्तरित कर दिया जाएगा।

अभी तक का यह विचार है। आखिर में तो विधान के अनुसार केन्द्रीय संघ को ही संस्था की समग्र गतिविधि निर्धारित करनी होगी।

संयोजक, वीरायतन

*

भगवान् महावीर की २५ वीं शताब्दी समायोजन में .

एकता की महती आवश्यकता

विश्व उद्धारक अहिंसा के अवतार एवं सत्य के साकार रूप भगवान् महावीर की वाणी बिखरे फूलों की भाँति थी, पर गणधरों ने उन बिखरे फूलों को पद्य एवं गद्यमय रचना के रूप में एकत्र करके एक पावन हार पिरो दिया। श्रमण संस्कृति का मूल एक है, शाखाएँ चाहे जितनी भी क्यों न हों। बिखरे हुए फूलों की तरह छः भागों में जैन धर्म फैला हुआ है। आज के विषमयुग में यह आवश्यक है कि गणधरों के जैसा कोई शक्तिशाली महान् व्यक्तित्व के धारक, विशाल मेधावी, उत्कृष्ट वर्चस्वी आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि समाज की इस विभाजित शक्ति को, श्रमण संस्कृति के मैत्री एवं सौहार्द के विशाल धागे में एक अपूर्व हार के रूप में पिरोकर सुन्दरता प्रदान करें।

अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने जैन एकता की 'पंच-सूत्री' योजना प्रस्तुत की है जैसे :—

(१) सबके प्रति मण्डनात्मक नीति बरती जाये।

(२) अपनी अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए, किन्तु दूसरों पर लिखित या मौखिक रूप से आक्षेप न किया जाए।

(३) दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाये।

(४) दूसरे सम्प्रदायों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना न फैलाई जाये।

(५) कोई व्यक्ति यदि सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ अवांछनीय व्यवहार न किया जाये।

जब तक जैन लोग अपने आपको एकता के सूत्र में नहीं पिरोयेंगे तब तक वे दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सकेंगे। इसलिए सर्वप्रथम धर्म समन्वय की दिशा में जैन एकता का होना अनिवार्य है।

एक-दूसरे के प्रति प्रेमपूर्वक सहयोग देने की धार्मिक भावना में अभिवृद्धि होनी चाहिए। जिससे धर्म-समाज में मैत्री-भाव बढ़े, विषमता दूर हो, राग-द्वेष की भावना नष्ट हो। सब जैन धर्मावलंबी अरिहन्त भगवान् को अपना आराध्य मानते हैं और वीतराग प्रभु की उपासना करते हैं। ऐसे वीतराग प्रभु के अनुयायियों में परस्पर रागद्वेष की वृद्धि अवांछनीय है। सभी जैन समाजों में भावात्मक एकता होनी चाहिए।

—मुनि श्री जसकरणजी 'सुजान'



एक आचार : एक विचार

'श्री अमरभारती' दिसम्बर अंक में श्री कलाकुमारजी द्वारा लिखित स्वकथ्य **'नदिया एक घाट बहुतेरे'** मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। 'भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी का व्यापक, सर्जनात्मक एवं स्थायी रूप लाने के लिए देश की एवं देश के बाहर की समस्त संस्थाओं एवं समितियों की एक निश्चित रूप-रेखा बनाकर एक साथ समन्वित रूप में बढ़ना चाहिए।" यह एक प्रशंसनीय पहल है। इसे ध्यान में रखते हुए मैं एक सुझाव रख रहा हूँ. जिसे कार्य रूप में परिणत करने पर जैन समाज में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है जो देश के सभी वर्गों के लिए भी एक उज्ज्वल उदाहरण हो सकता है।

श्रमण संस्कृति जीवन में सदाचार के उच्चतम नियमों को अङ्गीकार करने पर अधिक बल देती है। उसमें सैद्धान्तिक बारीकियों तथा उसमें उत्पन्न उपप्रश्नों का अधिक महत्त्व नहीं माना गया है। यही कारण है कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों का श्रमण संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् महावीर के युग में साधु नग्न तथा वस्त्र सहित रहते थे, दोनों के आचार में कुछ भेद भी था, पर दोनों का समावेश भगवान् महावीर के शासन में था। दोनों ही आदर

तथा श्रद्धा के पात्र थे। जैन इतिहास बताता है कि कुछ वर्षों के बाद दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दो परम्पराओं का आविर्भाव हो गया। यह आश्चर्य का विषय है कि भ० महावीर के अनुयायी २५०० वर्षों में भी परस्पर के मतभेदों का समन्वय न कर सके।

अत: आज जब कि समन्वय का बुलन्द नारा लगाया जा रहा है, और भगवान् महावीर की निर्वाण शताब्दी बड़े धूमधाम से मनाई जाने वाली है, तो अब समय आ गया है कि इन पुराने भेद-भावों को भूल करके समाज व साधु वर्ग इसको नया रूप देवें। वह रूप क्या है, उसकी रूपरेखा क्या होनी चाहिए—**सो, मेरी दृष्टि में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के मुनिराज जो डंडा रखते हैं, स्थानक वासी व तेरापंथी मुनिराज बड़े व छोटे आकार की मुँहपत्ती धारण करते हैं, दिगम्बर मुनिराज जो दिग्वसन रहते हैं—सभी कोई मिलकर एक सर्वमान्य आचार नियमों का सर्जन करें, और उसको समाज सापेक्ष रूप देकर जीवन व्यवहार में क्रियान्वित करें।** इस तरह करने से सब एकसे ही साधु मालूम पड़ेंगे। यह प्रत्यक्ष है कि आज-कल के अधिकांश श्रावकगण साधुओं के इशारे पर ही नाचते हैं, तो समाज में भी समन्वय की भावना जाग्रत हो सकती है। ओसवाल, अग्रवाल, पोरवाल, दशा-बीसा आदि जाति-पाँति के भेदों में जैन बन्धु इस प्रकार अलग-अलग बँटे हैं कि एक-दूसरे के घर का खाना नहीं खाते, बेटी-व्यवहार नहीं करते। यह भी एक प्रकार की अस्पृश्यता है और इसने हमारे जैनत्व को छिपा दिया है। जाति-पाँति के ये भेद यदि अब भी चलते रहे, तो फिर जैनत्व का पता चलना कठिन है। अब समय आ गया है कि इन सब भेदों को समाप्त किया जाए जिससे कि सबके भीतर एक विशुद्ध जैनत्व चमक उठे। इस दिशा में सामूहिक प्रयत्न होने चाहिए। इससे अच्छी भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी की श्रद्धांजलि और क्या हो सकती है।

—उम्मेदमल मुनोत

★

साहित्य-समीक्षा

समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ अवश्य भेजें :

पुस्तक : णीइ धम्म सुत्तीओ (प्राकृत-हिन्दी)
लेखक : श्री चन्दन मुनि।
भूमिका : उपाध्याय श्री अमरमुनि।
प्रकाशक : वृद्धि चन्द निर्मलकुमार, सूरत।
प्राप्तिस्थान : सजय साहित्य संगम, दास बिल्डिग नं० ५, आगरा २
मूल्य : दो रुपये पचास पैसे।

श्री चन्दन मुनिजी प्राकृत-संस्कृत के सिद्धहस्त लेखक हैं। उनकी कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इधर में विद्वद्‌जगत् में स्वागतार्ह बनी हैं।

प्रस्तुत कृति में उनकी स्वतःस्फूर्त मार्मिक सूक्तियाँ हैं, जो प्राकृत भाषा में निबद्ध की गई हैं। कई-कई सूक्तियाँ तो बड़ी ही मार्मिक हैं। प्राकृत भाषा की दृष्टि से पुस्तक का एक विशिष्ट महत्त्व है। उपाध्याय श्री अमरमुनि जी ने अपनी विद्वतापूर्ण भूमिका में कहा है–"श्री चन्दनमुनिजी माँ शारदा के वरद पुत्र हैं, वे निस्पृह वृत्ति के उदारमना सन्त हैं। उनकी यह सुन्दर शिक्षाप्रद और मौलिक विचारों से परिपूर्ण रचना पढ़कर मन मुग्ध हो उठा।"

पुस्तक की छपाई सुन्दर, सज्जा आकर्षक है। पुस्तक उपादेय एवं संग्रहणीय है।

✱

पुस्तक : ज्ञान का अमृत
लेखक : श्री ज्ञानमुनि।
प्रकाशक : आचार्य आत्माराम जैन मौडल स्कूल,
२९-डी, कमलानगर, दिल्ली।
पृष्ठ ३७५ : मूल्य—तीन रुपए।

श्रद्धेय मुनिराज श्री ज्ञानमुनिजी म० जैन दर्शन के अच्छे ज्ञाता

हैं। आप प्रसिद्ध वक्ता के साथ सिद्धहस्त लेखक भी हैं। 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति आपमें चरितार्थ है।

'ज्ञान का अमृत' पुस्तक में आठ कर्मों की बड़ी ही सुन्दर एवं स्पष्ट विवेचना हुई है। जैन दर्शन पर अद्यावधि प्रकाशित ग्रंथों के बीच इस पुस्तक का अवश्य सम्मान होगा।

पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध, शैली सरस एवं प्रवाहमयी है। अतः पुस्तक सामान्य पाठकगणों से लेकर दर्शन सम्बन्धी गम्भीर जानकारी प्राप्त करने वालों तक के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

★

दहेज के दीवानों से (काव्य)

प्रणेता : शर्मनलाल जैन 'सरस'

प्रकाशक : सरस साहित्य कुटीर, सकरार (झाँसी)

'दहेज की प्रथा' आज के मानव की दुर्दान्त भावनाओं का दाहक प्रस्फुटन है। वह समय कितना मर्मस्पर्शी एवं भावनाप्रवण रहा होगा जबकि मानव ने अपनी प्राणों से प्यारी बेटी का ब्याह रचाकर अपने जामाता एवं बेटी के जीवन को प्रथम गृहस्थी के संचालन एवं व्यवस्था हेतु उपहार स्वरूप अपनी वत्सलतामयी भेंट सहेजा होगा। तब उसने शायद स्वप्न में भी न सोचा होगा कि उसकी यह ममतामयी भेंट इतनी जड़ पकड़ लेगी कि एक रोज यह फाँसी की रस्सी बन जाएगी। और, उस रस्सी मे पिता तो लटक कर मरेगा ही, पुत्री भी अनाघ्रात कोमल कुसुम कलिका-सी घुटन की आग में अकाल हो झुलस-मरेगी!

नवयुग के समर्थ काव्यकार श्री 'सरस' जी ने मानव समाज की इसी कलंकमयी प्रथा पर अपनी वाग्वाणी से प्रहार किया है।

सरस जी का स्वर कितना प्रांजल एवं सशक्त है, देखिए :

"बन्द करो दर पर दहेज को, अब लालों की बोलियाँ,
कफन उड़ाकर अब न निकालो, अबलाओं की टोलियाँ।
लालों जैसा उनका भी, अब इस जग में सम्मान हो,
डाकिन जैसे अपशब्दों से, अब न कहीं अपमान हो।"

पुस्तक समाज के लिए एक गौरवपूर्ण कृति है।

— कलाकुमार

समाज दर्शन

राष्ट्रसुरक्षा की दिशा में योगदान :

—सुप्रसिद्ध दानवीर श्री खेल शंकर दुर्लभजी ने अपनी पूजनीया माताश्री की पुण्य स्मृति में "श्री संतोष बा दुर्लभजी मेमोरियल हास्पीटल" की स्थापना लगभग ५० लाख रुपए की लागत से की है। इस नवनिर्मित हास्पीटल का निरीक्षण माननीया प्रधानमन्त्री, श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने किया और श्री खेलूभाई की इस मानव-सेवा परायणता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। साथ ही इसे राजस्थान की एक महान् आवश्यकता की पूर्ति बताते हुए इसके प्रति अपनी हार्दिक सद्भावना एवं मंगलकामनाएं अर्पित कीं।

खेलूभाई ने वर्तमान युद्ध में घायल जवानों की चिकित्सा के निमित्त इसे राष्ट्र के प्रतिरक्षा सेना को समर्पित कर और भी गौरवपूर्ण बना दिया है। इससे श्री खेलूभाई की न सिर्फ मानव-सेवा-भावना की पुष्टि होती है, बल्कि उदात्त राष्ट्रीय भावना एवं देशभक्ति का भी आदर्श सामने आता है। ●

—पश्चिम पाकिस्तान के नृशंस अत्याचारों से पीड़ित एवं आजादी के लिए संघर्षशील बंगलादेश की जनता के प्रति भारत सरकार ने मानवता से प्रेरित होकर मानवीय संवेदना तथा सहयोग का जो परिचय दिया है वह वस्तुतः भारत की गौरवशाली परम्परा के अनुरूप है। बंगलादेश सरकार को मान्यता प्रदान कर पश्चिम पाकिस्तान की तानाशाही हुकूमत द्वारा भारत पर थोपे गये युद्ध में हमारी सरकार एव प्रधानमन्त्री ने जिस संयम, धैर्य, शौर्य और स्वाभिमान का परिचय देकर देश की जनता भावना को सफल बनाया है उसके लिए समग्र जैन समाज की ओर से भारत जैन महामण्डल अभिनन्दन करता है। मातृभूमि की रक्षा के लिए जैन समाज से

पूर्ण सहयोग और समर्थन का भारत जैन महामण्डल सरकार को विश्वास दिलाता है और समग्र जैन समाज से अपील करता है कि संकट की इस बेला में राष्ट्र एवं सरकार को पूर्ण सहयोग दें।

—शादीलाल जैन, शेरीफ आफ बम्बई,
अध्यक्ष—भारत जैन महामण्डल

—श्री मरुधर केसरी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, राणावास के समस्त सदस्यों द्वारा निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए गए :

विद्यालय की कार्यकारिणी सभा, राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अदम्य साहस तथा अद्वितीय शौर्य से वीरगति पाने वाले सैनिकों के पाँच पुत्रों को इस विद्यालय में आगामी सूत्र से निःशुल्क शिक्षा प्रदान करेगी एवं उनके भोजन, आच्छादन आदि का सभी व्यय भी कार्यकारिणी ही वहन करेगी।

शाला के सभी अध्यापक राष्ट्रीय सुरक्षा कोश में दो दिन का वेतन देंगे, तथा शाला से सम्बद्ध छात्रावास के २४० छात्र एक मास तक प्रति सप्ताह एक समय के भोजन व्यय की बचत राशि राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में प्रदान करेंगे। ●

—६ दिसम्बर। **जैन नगर मेरठ**। स्थानीय जैन नगर के समस्त निवासियों की एक मीटिंग में यह प्रस्ताव पारित करके पाकिस्तान के बर्बरतापूर्ण आक्रमण के विरुद्ध माननीया प्रधानमन्त्री के सशक्त रूप से उठाये गये कदमों में दृढ़ता लाने के लिए अपनी ओर से हर प्रकार की सहायता देने का निर्णय किया गया। ●

—२० दिसम्बर। **जालंधर सिटी**। भारत-पाक युद्ध में घायल जवानों की सुश्रूषा हेतु श्री जैन नवयुवक मण्डल जालंधर के उत्साही नवयुवकों ने रक्तदान देने हेतु अपने नाम भेजे हैं, साथ ही बोर्डर सेक्यूरिटी स्टाफ में बाँटने के लिए धनराशि एकत्रित की है। ●

—**स्थानकवासी श्वे. जैन संघ, आगरा**—के उत्साही सदस्यों ने भारत-पाक युद्ध में निरत एव घायल जवानों के लिए कम्बल आदि वस्त्र एवं धनराशि भेजी है। श्रद्धेय कविश्रीजी के प्रवचनों से प्रभावित आगरा संघ पहले भी बंगला-विस्थापितों के लिए उल्लेखनीय

योगदान देता आया है, और देशभक्ति में अपनी अटूट लगन एवं निष्ठा व्यक्त करता रहा है।●

अहिंसा स्तूप भवन का शिलान्यास :

कटक। स्थानीय स्थानकवासी जैन संघ के सद्प्रयत्नों से भगवान् महावीर की २५वें निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में १२ दिसम्बर को अहिंसास्तूप भवन का शिलान्यास सम्पन्न हुआ।

इस पावन कार्य के प्रेरणास्रोत महान् संत पंडितरत्न प्रवक्ता श्री मनोहरमुनि जी 'कुमुद' एवं उनके परम सहयोगी मधुर गायक, श्री विजय मुनिजी रहे हैं।●

"विश्वदर्शन की रूपरेखा" ग्रंथविमोचन :

जैन दर्शन एव साहित्य के स्वनामधन्य सिद्धहस्त लेखक वाणी-विशारद सुविज्ञ पं० विजयमुनिजी शास्त्री, साहित्यरत्न द्वारा प्रणीत 'विश्वदर्शन की रूपरेखा—द्वितीय खंड (चार्वाक, जैन, बौद्ध) का ग्रंथ विमोचन गत १६ दिसम्बर को धुलिया के सुविख्यात कार्यकर्त्ता श्रीमान् माणकचंदजी बाफना के कर कमलों द्वारा सादर सम्पन्न हुआ। समारोह में नगर के गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।●

सन्मति कन्या उच्च विद्यालय की स्थापना :

कालांवाली। २८ नवम्बर। जैन भूषण पं० श्री विमल मुनिजी म० प्रसिद्ध वक्ता श्री दर्शन मुनिजी म० आदि परम त्यागी संतों की सद्प्रेरणा से कालांवाली की विद्या प्रेमी जनता ने २८ नवम्बर को 'सन्मति उच्च कन्या विद्यालय' की स्थापना की है।●

दिव्यरत्न ज्योति ग्रन्थ विमोचन :

शाजापुर। जिन शासन प्रभाविका महासती स्वर्गीया श्री रत्नकुँवरजी म० श्री की स्मृति में निर्मित तथा जैनधर्म दिवाकर पंडितरत्न आचार्य श्री आनन्दऋषिजी महाराज को समर्पित 'दिव्य रत्न ज्योति ग्रन्थ' का विमोचन श्रमणसंघ' के प्रवर्तक मुनि श्री हीरा-लालजी म० कर कमलों द्वारा बड़े भव्य रूप में सम्पन्न हुआ।

समारोह के मुख्य अतिथि थे अ० भा० श्वे० स्था० कॉन्फ्रेंस के उपाध्यक्ष तथा मध्य प्रदेश स्था० जैन श्रावक संघ के अध्यक्ष श्री

सौभाग्यमलजी जैन, ऐडवोकेट तथा कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री चन्दनमलजी लुंकड़ ने की। ●

शांति सन्देश पत्रिका का उद्‌घाटन :

शाजापुर। स्थानीय श्री महावीर जैन नवयुवक मण्डल द्वारा प्रकाशित पत्रिका "शांति संदेश" का उद्‌घाटन मधुर व्याख्यान दातृ महासती श्री प्रीतिसुधाजी म० के कर कमलो द्वारा सम्पन्न हुआ। ●

श्री मोहनमलजी चौरड़िया का सार्वजनिक अभिनन्दन :

श्रीमान् दानवीर समाजभूषण सेठ श्री मोहनमलजी चौरड़िया का उनके अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस के अध्यक्ष चुने जाने के उपलक्ष में, मद्रास में एक विशाल सभा के बीच सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। सेठ श्री मोहनमलजी चौरड़िया वस्तुत: अधुना युग के एक महान् व्यक्ति हैं। देश की धर्म और संस्कृति के विकास में आपका योगदान सदा गौरव के साथ याद किया जाएगा। मद्रास शहर के अन्तर्गत—अगरचन्द मानमल जैन कालेज तथा एस. एस. जैन एजूकेशनल सोसाइटी के अन्तर्गत जैनबोर्डिंग हाऊस, हाई-स्कूल्स, प्राइमरी स्कूल्स तथा जैन मेडिकल रीलिफ सोसाइटी द्वारा चलाई जाने वाली लगभग १२-१३ संस्थाओं, मेटरनिटी होम, राजस्थान श्वे० स्था० जैन एशोसियेसन आदि आपकी प्रेरणा एवं गौरवमय सहयोग के ज्वलंत उदाहरण हैं। इसी प्रकार से इस शहर के बाहर भी अनेकश: सार्वजनिक संस्थाओं को जो आपका सक्रिय सहयोग एवं कुशल संचालन मिलता है, यह समाज के लिए एक शाश्वत गौरव की बात है।

मद्रास संघ ने जो आपका सार्वजनिक अभिनन्दन किया है, तथा थैली भेंट करने का प्रस्ताव पारित किया है, यह संघ की गुणग्राही सांस्कृतिक भावना का परिचायक है।

★

वीरायतन : एक आदर्श योजना

वीरायतन योजना भगवान् महावीर के विचारों एवं संदेशों के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार एवं कार्यान्वियन में सफल हो, यह मेरी हार्दिक कामना है।

—**हजारीलाल जैन, 'काका बुंदेलखंडी'**, सकरार (झांसी)

●

वीरायतन की रूपरेखा पढ़ी। बड़ी सुन्दर लगी। यह योजना अवश्य सफल होगी। पूज्य उपाध्याय मुनिश्रीजी को ऐसी योजना प्रस्तुत करने के उपलक्ष में मेरी ओर से साधुवाद निवेदन करें।

—**प्रतापसिंह बैद**, महावीर औटोपार्ट्स, सिल्लीगुड़ी, (प०बं०)

वीरायतन के स्नेही-सहयोगी :

जैसा कि आपने उपरिवर्णित सुधी विचारकों के विचार देखे हैं, इसी प्रकार से अनेकों धर्मप्रेमियों ने 'वीरायतन योजना' की सफलता हेतु अपने अंतरतम से सहयोग देने की दिशा में धनराशि प्रदान करने का वचन दिया है। पिछले अंकों में आपने उन विशिष्ट दानदाताओं के नाम पढ़ ही चुके हैं। अब यहाँ प्रस्तुत है उसकी अगली कड़ी।

५०१) श्रीमान् भगवानदासजी जैन मैसर्स, दौलतराम छोगामल, अबोहर
३११) ,, देशराजजी जैन, मैसर्स, देशराज सुखदेव, अबोहर
२७८) ,, हेमराज कमल किशोर, बरनाला (पंजाब)
२५१) ,, लाला बाबूराम स्वरूपचन्द जैन, मंडी गोविन्दगढ़ (पंजाब)
२५१) ,, यशपाल जैन, मालेर कोटला (पंजाब)
२५१) ,, नौरातारात रामलाल जैन, नाभा (पंजाब)
२५१) ,, मेहरचन्द ओमप्रकाश गोयल, बरनाला (पंजाब)
२५०) ,, जैन सभा, बरनाला (पंजाब)
२५०) ,, शहजादराय शिखरचन्द जैन, बड़ौत
२०१) ,, नरेशकुमार छाजेर, अबोहर
१०१) ,, धर्मचन्द नरेशकुमार, अबोहर
१०१) ,, मुलखराज जैन, लोहटिया, मालेरकोटला (पंजाब)
१००) ,, चिम्मनलालजी मुनीम, आगरा
१००) श्रीमती निर्मला कोचर c/o मोतीलाल ज्वैलर्स, दिल्ली
५१) श्रीमान पालारामजी सब्जीवाला, बरनाला (पंजाब)
२१) ,, जगन्नाथ प्रसाद ओमप्रकाशजी, मालेरकोटला (पंजाब)
११) ,, राकेश कुमार जैन, बिलासपुर (म०प्र०)
७) श्रीमती संतोषजैन, कोरबा (म०प्र०)

प्रगति और भी जारी है। और भी नाम हमारे पास आये हैं, जिन्हें हम क्रमशः अगले अंकों में प्रकाशित करेंगे।....

—**संयोजक, वीरायतन, आगरा-२**

'जिन संदेश' में आपका पूर्व बंगाल सम्बन्धी लेख पढ़ा। आप मेरे अभिमत से पूर्ण सहमत हैं। आपने पाकिस्तान के सदर तानाशाह याह्याखाँ तथा उनके सैनिक अधिकारियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह पूर्ण अध्ययनशील लिखा है। आखिर इस धर्मप्रधान राष्ट्र में सर्वोपरि जिम्मेदारी सिर्फ संतों की ही है। और आपने उनपर उक्त अत्याचारों के प्रतिकार के प्रति उदासीनता रखने के कारण जो हार्दिक एकता से प्रहार किया है, वह बिल्कुल ही योग्य है।

—**मुनि संतबालजी**, महावीर नगर (महाराष्ट्र)

●

मैं पांच साल से अमर भारती पढ़ता हूं और आसपास के अन्य भाइयों को भी पढ़ने को देता हूं। अमर भारती में महाराज श्री की प्रतिपादनशैली भावनाप्रधान सरल भाषा में होने के कारण हर कोई व्यक्ति शीघ्र समझ सकता है। मैं किन शब्दों में महाराजश्री के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करूँ, उनके श्रीचरणों में हमारी हार्दिक वन्दना निवेदन करें।

—**एम. मोतीलाल जैन**, मद्रास

●

राष्ट्रसंत उपाध्याय कविश्री अमरचन्दजी महाराज ने अपने दीर्घ जीवन के चिन्तन, मनन एवं अनुभव के आधार पर वीरायतन की योजना प्रस्तुत की है। यह योजना समग्र जैन समाज के लिए उपयोगी है। अतः उक्त योजना का हर जैन पत्रिकाओं के द्वारा प्रचार अवश्यक है।

कविश्रीजी केवल स्थानकवासी ही नहीं, समग्र जैन समाज की विशिष्ट विभूति हैं। अमर भारती के द्वारा उनके क्रान्तिकारी एवं समाजसुधारक विचारों का काफी प्रचार हुआ है। कुछ लेख तो बहुत ही महत्वपूर्ण रूप में समाज के सामने आए हैं।

—**मोतीलाल जैन**, कलकत्ता

●

वीरायतन के सम्बन्ध में, श्री अमर भारती द्वारा जानकारी बराबर मिल रही है। यह योजना राष्ट्र के महान् संत उपाध्याय श्रीजी के चिन्तनशील उर्वर मस्तिष्क की उपज है। विश्वास है, उक्त योजना के द्वारा भगवान् महावीर के विचारों का जनता में अधिक से अधिक प्रचार एवं प्रसार होगा।

—**कान्तिलाल संघवी**, गंगाशहर (बीकानेर)

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा-२

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी आगरा-२

वर्ष ९ / फरवरी ७२ / अंक २

अ न्त र्ना द

परोपकारः कारुण्यं क्षमा दानं विवेकिता।
समता सत्यमौदार्यमिति धर्मकलाऽष्टधा ॥४॥

परोपकार, करुणा, क्षमा, दान, विवेक, समता, सत्य और उदारता — यह आठ प्रकार की धर्म-कला है।

धर्म से तात्पर्य यहाँ आध्यात्मिक और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवन की स्वच्छता एवं पवित्रता से है।

सततोत्पादना शैली व्यवहारे च कौशलम्।
व्यय आयानुकूलश्च चतुर्धाऽर्थकला स्मृता ॥५॥

निरन्तर उत्पादन का क्रम चालू रखना, व्यवहार-कुशलता, आय के अनुसार ही व्यय रखना—यह चार प्रकार की अर्थकला है।

अर्थ का तात्पर्य लोक जीवन की साधन-संपत्ति से है। परिवार, समाज एवं राष्ट्र के अभ्युदय के लिए साधन संपत्ति आवश्यक है और वह सतत उपार्जन, व्यवहार कुशलता एवं आय व्यय के ठीक अनुपात पर आधारित है।

माधुर्यं चातुरी स्नेहो गुणप्रीतिः प्रसन्नता।
संयमो मृदुता स्वास्थ्यं, कामस्याष्टविधा कला ॥६॥

मधुर-वाणी, चतुरता, स्नेह, सद्‌गुणों के प्रति प्रेम एवं आदर भाव, प्रसन्नता, भोग के क्षेत्र में संयम अर्थात् मर्यादा का अंकुश, मृदुता—कोमलता, अच्छा स्वास्थ्य—यह आठ प्रकार की कामकला है।

काम का अर्थ यहाँ लोक-जीवन में, प्राप्त साधनों का उपभोग है। उपभोग में भी संयम की अपेक्षा है। उपभोग का आनन्द परस्पर में व्यवहार के माधुर्य, गुणप्रीति एवं स्नेह-सद्‌भाव के होने पर ही है।

आत्मज्ञानमनासक्तिर् विवेको विश्वबन्धुता।
सत्यनिष्ठा दमो ध्यानमिति मोक्षकलाऽष्टधा ॥७॥

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध, अनासक्ति, विवेक, विश्व के प्राणियों के साथ बन्धुभाव, सत्य के प्रति अविचल निष्ठा, दम—इन्द्रियों का संयम, और ध्यान—निज स्वरूप में चेतना की एकाग्रतारूप लीनता —यह आठ प्रकार की मोक्षकला है।

मोक्ष का अर्थ बन्धनमुक्ति है। आत्मा के दो ही बन्धन हैं—राग और द्वेष! इसी सन्दर्भ में कहा है—कषायमुक्ति: किल मुक्तिरेव।

तेजो बुद्धिर्बलं धैर्यं दक्षता मित्रसंग्रहः।
आश्रितेषु परा प्रीतिः सप्त वीरकलाः मताः ॥८॥

तेजस्विता = प्रभावकारी व्यक्तित्व, समय पर हिताहित का निर्णय करने वाली बुद्धि, बल-विक्रम, धैर्य—असफल होने पर भी हताश न होना, दक्षता, सच्चे वफादार मित्र जुटाना, और अपने आश्रितों के प्रति आत्मीयता के भाव से निर्मल प्रेम—यह सात प्रकार की वीरकला है।

वीर का अर्थ विजेता है। जीवन संग्राम में विजय पाने के लिए उक्त गुणों की नितान्त आवश्यकता है।

सुखे नैव मदोन्मादो दुःखे नैवावधीरणा।
शिलोच्चय-समोऽकम्पो मनोजयकलाऽमला ॥९॥

सुख में अहंकार से दृप्त न होना, दुःख में धीरता खोकर दीन न होना, तूफानी चक्रवात में भी पर्वत के समान अविचल एवं दृढ़ रहना—यह मनोजय की निर्मल कला है।

जिसका मन अस्थिर है, उसका जीवन अस्थिर है। लौकिक या अध्यात्मक दोनों प्रकार के जीवन में दृढ़ मनोबल की अपेक्षा है। मन का विजेता ही जग का विजेता होता है—'मनोविजेता जगतो विजेता।'

नम्रता प्रियवादित्वं पौरुषं च कृतज्ञता।
सन्तोषः सज्जनैः संगः कला सौख्यस्य षड्विधा ॥१०॥

विनम्रता, प्रियभाषिता—प्रिय वचन बोलना, पौरुष—अपने उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए कठोर संघर्ष करने की क्षमता, कृतज्ञता—समय पर अपने को सहयोग देने वालों के प्रति आदर बुद्धि, सन्तोष, सदाचारी सज्जनों का सम्पर्क—यह छह प्रकार की कला सुख एवं आनन्द की है।

सुख किसी वस्तु में नहीं है। वह अपने ही जीवन के उदात्त विचार एवं व्यवहार में है।★

—उपाध्याय अमरमुनि

वीरायतन :

एक आदर्श ज्योति-केन्द्र

भगवान् महावीर ने तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में पनप रहे पापाचार, भ्रष्टाचार, सम्प्रदायवाद आदि अनेक बुराइयों पर कुठाराघात करके विश्व के जन-समुदाय को जो अन्धकार में प्रकाश की किरण दी थी, वह सर्व विदित है। उन्होंने सम्पूर्ण मानवसमाज के अभ्युदय एवं कल्याण के लिए जो क्रान्ति का सिंहनाद किया था, उसकी प्रतिध्वनि निरन्तर इस संसार में गूँजती रहेगी और मानव जाति को सद्प्रेरणा देती रहेगी। लोक-कल्याण एवं जन-मंगल की उनकी पवित्र भावना ने साकार रूप लेकर मनुष्य-मात्र का जो हितसाधन किया है, वह विश्व के इतिहास में एक अमूल्य निधि है।

भगवान् महावीर के निर्वाण को शीघ्र ही पच्चीस-सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं और निर्वाण-शताब्दी का शुभ अवसर हमारे सम्मुख आ रहा है। इस शुभ अवसर के समागमन से पूर्व प्रत्येक धर्मप्रेमी व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन में विचार करे कि उस महान् विभूति के उपदेशों, आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रचार एवं प्रसार में उसने कब, कितना और कैसा योग-दान अब तक दिया है और भविष्य में देना है। यदि हमारे मन में तनिक भी यह विचार आता है कि हमने अभी तक इस दिशा में करने जैसा कुछ भी नहीं किया है, तो अन्तर्हृदय की सच्ची अनुभूति एवं तड़प के साथ प्रस्तुत मंगल प्रसंग पर अपनी ओर से श्रद्धांजलि के रूप में कुछ न कुछ करने को कमर कस कर तैयार हो जाना चाहिए। सावधान रहिए, इस शुभ अवसर को किसी तरह भी हाथ से न जाने दें, जिससे कि हमारे मन में फिर कभी किसी प्रकार का यह पश्चाताप न हो कि हम समय पर वीर-प्रभु के चरणों में अपने कुछ भी श्रद्धा सुमन अर्पित नहीं कर सके, जबकि ऐसा कुछ कर सकते थे। आप जानते हैं, अवसर हाथ से निकल जाने के बाद फिर पश्चाताप करने से कुछ नहीं होता है।

हमारे लिए यह प्रसन्नता एवं गौरव की बात है कि हमें अपने इस जीवन में ही यह शुभ अवसर मिल रहा है। महाकाल के प्रवाह में बह कर अनेक आत्माएँ हमारे देखते देखते अतीत में समा गई हैं, लेकिन उनको उक्त

आविष्कार किए हैं, जिनके फलस्वरूप मानव आकाश में चीलों की तरह ही नहीं, उनसे भी तीव्र गति से उड़ा है, समुद्र की छाती पर मछलियों की तरह तैरा है, उसके गम्भीर गर्भ में डुबकियाँ लगाई हैं, धरती पर उसने घोड़ों और हाथियों के बल को विद्युत् शक्ति के अन्दर केन्द्रित कर लिया है, प्रकृति पर बहुत अंशों में उसने नियन्त्रण कर दिखाया है, पृथ्वी की परिक्रमाएँ करली हैं, चन्द्रलोक तक पहुँच रहा है। पूछा जाय यह सब किसलिए किया है तो उत्तर मिलेगा शान्ति के लिए, मनुष्य की सुख-शान्ति के लिए आज विज्ञान नितनये चमत्कार पैदा कर रहा है. उसने एक तरह से विश्व को अपनी मुट्ठियों में बन्द कर रखा है, किन्तु फिर भी यह प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा है, बल्कि पहले से और अधिक गम्भीर हो गया है। शान्ति की पुकार आज पुराने युग से भी अधिक तीव्र और अधिक बलशाली हो रही है। आज मनुष्य विनाश के, अशान्ति के ऐसे कगार पर खड़ा है, यदि वहां से वापिस नहीं लौटा, आँखें बन्द किए आगे ही बढ़ता रहा तो सर्वनाश के महागर्त में गिर पड़ेगा, घोर अशान्ति के सघन अन्धकार में डूब जायेगा। आज शान्ति का प्रश्न विकट प्रश्न हो गया है, मनुष्य जब बाहर की ओर दृष्टि घुमाता है, तो उसे जीवन की हर दिशा में मौत के कुत्ते झपटते दिखाई देते हैं, पदे-पदे विनाश के लोमहर्षक खतरों के अजगर मुँह फाड़े बैठे हैं और इस प्रकार उसका जीवन आज अशान्त है, असुरक्षित है। आशंका और विभीषिकाओं से ग्रस्त हो रहा है। पता नहीं, कब कहाँ ऐटम बम गिरे और प्रलय मचा डाले, कोई जहरीली गैस वायुमण्डल में उछल जाये और जो खड़े हैं, चल रहे हैं उन्हें एक ही क्षण में धरती पर सुला दे, चिर निद्रा की गोद में। मनुष्य के जीवन को आज एक क्षण का भी यह विश्वास नहीं कि किस समय किस गली के मोड़ पर, किस आततायी का छुरा, किसके प्राण ले बैठेगा? मूल प्रश्न एक ही है कि किस समय क्या होगा, इसका आज कोई भरोसा नहीं कर सकता। स्वाभाविक और आकस्मिक दोनों ही मृत्यु हर क्षण आज मनुष्य के शिर पर मंडरा रही हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य की अशान्ति और व्यग्रता चरम सीमा पर पहुँच गई है, भय और आशंकाओं से वह कटा जा रहा है। अस्तु शान्ति की खोज, शान्ति की मांग आज तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है

कि कैसे भी हो, शान्ति मिले। पर वह मिले कैसे ? कहाँ है वह शान्ति ? आखिर शान्ति का अधिष्ठान कहाँ है ? यही यक्ष-प्रश्न आज मनुष्य के मन और मस्तिष्क को आन्दोलित कर रहा है।

मनुष्य ने शान्ति के लिए आज तक अनेक प्रयत्न किए, पर उनसे उलटी अशान्ति ही बढ़ी है। शान्ति की खोज में चला, पर दुर्भाग्य-वश अशान्ति लेकर लौटा। संस्कृत में कहावत है— **हिमवद् गन्तु कामस्य गमनं सागरं प्रति।**' गये थे हिमालय की शान्त गुफाओं की ओर, किन्तु पहुँच गये लहरों के कोलाहल से व्याकुल सागर की ओर। तात्पर्य यह है कि मनुष्य शान्ति के लिए जो भी प्रयत्न कर रहा है, उससे शान्ति नहीं, उलटी अशान्ति ही बढ़ रही है। समस्या सुलझी नहीं, और अधिक गहरी उलझ गई है।

मैं सोचता हूँ, मनुष्य यदि पीछे की ओर मुड़कर, अपने प्रयत्नों का सिंहावलोकन करे, तो उसे इस प्रश्न का सही समाधान मिल जाये। मानव ने भौतिक जगत की ऊंची उड़ानें बहुत भरी हैं, अब यदि वह अध्यात्म की गहराई में उतर कर जरा-सा निरीक्षण करें तो उस प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर मिल सकता है।

बात यह है कि बाहर में जो वस्तु थी, वह तो मनुष्य को मिल गई। भौतिक सुविधाएँ, सुख के साधन मनुष्य ने जुटा लिए, पर वास्तविक सुख के स्रोत का, असली शान्ति के भण्डार का अभी तक उसे पता नहीं लगा है। कल्पना कीजिए, भूख लगी है तो खाना बनाने के लिए चूल्हा जला लिया, साथ ही इधर-उधर से तबा, बर्तन हाँडी-कुंडे सब तैयार कर लिए, पर राशन का, आटे-दाल का पता ही नहीं है, तो ये बाहरी साधन भोजन तैयार नहीं कर सकते। इसी प्रकार शान्ति और सुख की बाह्य सामग्रियाँ भी आनन्द नहीं दे सकतीं। मनुष्य ने बाहर में इतने प्रयत्न किए, पर शान्ति नहीं मिली, तो इस प्रश्न के भीतर ही इसका उत्तर छिपा है। यह अन्त-रालापिका का प्रश्न है। संस्कृत साहित्य में अन्तरालापिका एक कूट है, जिसके भीतर प्रश्न और उत्तर छिपे रहते हैं। जैसे प्रश्न है— **'का शीतल वाहिनी गंगा ?"** शीतल अर्थात् मन्थर गति से बहने वाली गंगा कौनसी है ? कहाँ है ? यह प्रश्न है, इसी में उत्तर भी है—**का शीतल वाहिनी गंगा'**। काशी नगरी के किनारे-किनारे वह शीतल वाहिनी

गंगा बह रही है।" तो शान्ति का प्रश्न भी अन्तरालापिका बन रहा है। 'मनुष्य ने बाहर में प्रयत्न किए, मगर शान्ति नहीं मिली।' इसका क्या अभिप्राय हुआ? इसकी ध्वनि क्या है? यही कि बाहर में शान्ति नहीं मिली। बाहर में नहीं मिली, तो भीतर खोजो, कितना सीधा समाधान है। जो वस्तु लाख प्रयत्न करने पर भी बाहर में नहीं मिल रही हैं, उसे बाहर में कब तक खोजते रहोगे? बाहर में होती तो अब तक मिल न जाती? नहीं है, तो मिलेगी कहाँ से? भारतीय दर्शन ने इस प्रश्न का यही उत्तर दिया है कि शान्ति की खोज करनी है, तो भीतर में करो। तुम्हारे अन्दर जो एक चैतन्य प्रकाशित हो रहा है, एक महान् आनन्द स्रोत बह रहा है, वहाँ देखो, पर सचाई के साथ, लगन के साथ देखो। यदि फिर भी शान्ति नहीं मिले, तो जैसा तुलसीदास जी ने कहा है— **'इतने पर हरि ना मिले तो तुलसीदास जमान।"** अन्तरङ्ग में प्रवेश करने के बाद भी यदि शान्ति नहीं मिले तो इसके लिए दर्शन शास्त्र जामिन बनता है। लेकिन इतना दृढ़ विश्वास तुम्हारे मन में जगना चाहिए, इतना स्थिर संकल्प होना चाहिए कि बाहर से आँख मूँद कर पूरी निष्ठा के साथ भीतर की ओर देख सको।

शान्ति स्वभाव है, विभाव नहीं

शान्ति आत्मा का स्वभाव है। पानी का स्वभाव शीतलता है। उसे अग्नि के ऊपर रखकर गर्म किया जाता है, तो कुछ समय के लिए वह गर्म हो जाता है, किन्तु ज्यों ही अग्नि के ऊपर से उतार कर उसे अलग रख दिया जाता है तो वह अपने आप शीतल हो जाता है। आत्मा में जो गर्मी आती है, दुःख द्वन्द्व पैदा होते हैं, वे बाहरी विकारों के कारण हैं। क्रोध का भाव जगा तो आत्मा के भावों में उष्णता छा गई, शरीर कांपने लग गया, आँखें लाल हो गईं। क्रोध की परिणति भावों में होती है, तो भाव क्रोध रूप बन जाते हैं। और जब क्रोध शान्त हुआ तो भावों में पुनः शीतलता आ गई। कोई भी व्यक्ति निरन्तर क्रोधित नहीं रह सकता, क्रोध कुछ समय के लिए ही आता है। जब उसके निमित्त कारण हट जाते हैं, तो क्रोध भी शान्त होजाता है। आप क्रोध करते हैं, तो आपसे पूछा जाता है कि क्रोध क्यों कर रहे हो? इसका कारण क्या

है ? किस बात को लेकर क्रोध आया ? क्रोध की उत्पत्ति के साथ अनेक प्रश्न जुड़े हुए हैं, और वे सब यह प्रकट करते हैं कि क्रोध कोई बाहरी चीज है। वह बाहर से आया है, तो उसका कोई न कोई कारण जरूर होना चाहिए। किन्तु यदि आप क्रोध नहीं करते हैं, क्षमा भाव से ठीक-ठीक चल रहे हैं, तो क्या आपको कोई पूछेगा कि आप क्रोध क्यों नहीं करते हैं ? लड़ाई क्यों नहीं कर रहे हैं ? क्षमा में क्यों है ? यह सब प्रश्न खड़े नहीं हो सकते। मरने वाले के लिए पूछा जा सकता है कि वह क्यों मरा ? पर, जीने वाले के लिए यह नहीं पूछा जाता कि वह क्यों जी रहा है ? जीना एक सहज बात है, मरना विशेष घटना है। क्षमा रखना, क्रोध नहीं करना सहज धर्म है, स्वाभाविक है। किन्तु क्रोध करना एक विशेष दशा है, वह स्वाभाविक नहीं है। अत: जो स्वभाव नहो है, उसके लिए प्रश्न खड़ा होता है। लोभ करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, वह विभाव है। अहंकार, घृणा, वैर, दम्भ, छल, यह सब भी आत्मा के विभाव हैं। इसलिए इनसे अशान्ति पैदा होती है। मन में क्षुब्धता, आकुलता बढ़ती है, वृत्तियाँ अशान्त बनती हैं।

मैं कह रहा था कि शान्ति आत्मा का स्वभाव है, यानी तुम्हारा अपना स्वभाव है। और यह स्वभाव तुम्हारा निजी अंतरंग धन है। जो धन तुम्हारे पास है उसी के लिए तुम बाहर भटक रहे हो ?

प्रश्न यह है कि जब शान्ति हमारे पास है, तो उसे प्राप्त कैसे किया जाये ? बात यह है कि जो चीज पास में है उसे प्राप्त नहीं, प्रकट किया जाता है। घर में धन का खजाना गड़ा है, तो साधारण भाषा में उसे प्राप्त करना कह सकते हैं, पर वास्तव में वह प्राप्त तो आपको था ही, बस, उसे भूमि में से निकाल कर प्रकट कर दिया गया है। यदि आप इसे ही प्राप्ति समझते हैं, तो मैं भाषा की दुविधा खड़ी नहीं करता। आप उसे प्राप्त करना कहते हैं तो उसे प्राप्त कर सकते हैं। मैं उसे प्रगट करना कहता हूँ, अत: आप उसे प्रकट कर सकते हैं। वह आपके भीतर में ही है।

भीतर में जो है वह आध्यात्मिक है। भौतिक नहीं है। उसे आध्यात्मिक साधन से ही प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा से ही आत्मा अर्थात् आत्म भाव प्रकट होता है।

आगम साहित्य में एक शिष्य गुरु से पूछता है—भगवन्, मन के ये विकार अशान्त कर रहे हैं, दुःख और त्रास दे रहे हैं, उन्हें कैसे विजय करें, शान्त कैसे करें ?" उत्तर में गुरु कहते हैं—

"उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।'
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोषओ जिणे ॥"

यदि क्रोध की आग जल रही है, उसकी लपट से सर्वत्र उष्णता और गर्मी छा रही है, तो उस आग पर अन्दर में से उपशम अर्थात् क्षमा का जल छिड़को। क्रोध को क्षमा से जीतो। आत्मा में शीतलता आएगी।

अहङ्कार पर विजय

अहंकार का नाग यदि फुफकार मार रहा है, डसने की वक्र चेष्टाएँ कर रहा है, तो उसे मृदुता—विनम्रता के नागमन्त्र मे कील दो। विनम्रता के समक्ष अहंकार खण्ड-खण्ड हो जाता है।

रामानुज संप्रदाय में श्री बंकटेशनाथ जी एक विद्वान तथा भक्त आचार्य हो गए हैं। उनकी प्रतिष्ठा और ख्याति से कुछ व्यक्ति हमेशा जला करते थे। वे हर मौके पर आचार्य का अपमान करने की खोज में रहते थे। एक दिन उन्हीं द्वेषी लोगों ने मिलकर उनकी कुटिया के द्वार पर जूतों की एक माला बनाकर लटका दी। माला इतनी नीची रखी थी कि आचार्य बाहर निकलें, तो उनके सिर को जूते लगें। जब आचार्य कुटीर से बाहर निकले तो जूते सिर पर लगे। पर, आचार्य जी बिना क्षुब्ध हुए शान्ति पूर्वक बाहर आगए। द्वेषी कुछ दूर खड़े-खड़े आचार्य के सिर पर जूतों का स्पर्श होते देखकर हँस रहे थे। परन्तु आचार्य मुस्कराते हुए उनकी ओर आए और शान्ति से कहने लगे—

"कर्मावलम्बकाः केचिद् केचिज् ज्ञानावलम्बकाः।
वयंतु हरिदासानां, पादरक्षावलम्बकाः ॥"

कुछ व्यक्ति कर्म मार्ग का अनुगमन करते हैं, कर्म का अवलम्बन लिए चलते हैं। कुछ ज्ञान मार्गी जो हैं, वे ज्ञान का अवलम्बन लेकर चल रहे हैं, किन्तु हम तो भगवद्भक्तों के (हरिदासों) के जूतों का सहारा लेकर ही चल रहे हैं।

आचार्य की यह विनम्रता और सहिष्णुता देखकर हँसने वालों की हँसी बन्द हो गई। वे पानी-पानी होगए, आचार्य के चरणों में झुक गए।

अहंकार, अहंकार से कभी नष्ट नहीं होता। क्रोध, क्रोध से नहीं जीता जाता। आग से आग बुझती नहीं, बल्कि और ज्यादा बढ़ती जाती है।

दंभ पर विजय

कपट को आर्जव-अर्थात् सरलता से ही विजय किया जा सकता है। भारतीय अध्यात्म का अमरनाद युग-युग से झंकृत होता आ रहा है—कपट को सरलता से परास्त करो। यहाँ पर दो विचार धाराएँ चलती रही हैं। पहली विचार धारा **'शठे शाठ्य'** के सिद्धान्त पर चलती आई है। धूर्त के साथ धूर्तता से ही पेश आओ। **'कंण्टकेनैव कण्टकं'**—कांटे को कांटे से ही निकालना होता है। यह विचार राजनीति की दृष्टि से मान्य हो सकता है, किन्तु अध्यात्म के साथ इसका कोई मेल नहीं बैठता। राजनीति सामयिक हानि-लाभ देखती है, उसकी परिधि सीमित प्रत्यक्ष से बँधी हुई है, जबकि अध्यात्म हमेशा शाश्वत मूल्यों को देखता रहा है! उसकी दृष्टि में सामयिक लाभ आगे जाकर हानि में बदल सकता है और हानि लाभ में। भौतिक लाभ हानि का वहाँ कोई दृष्टिकोण नहीं है। राजनीति कहती है—धूर्तता करने वाले के साथ धूर्तता करो, किन्तु अध्यात्म कहता है—धूर्तता करने वाला दूसरों को ठगने के पहले अपने आप को ही ठगता है। धूर्त सिर्फ परवञ्चक ही नहीं, किन्तु आत्मवञ्चक भी है। इसलिए आत्मवञ्चना करने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता। ठग के साथ ठग—यह वृत्ति ठगी की परम्परा को खत्म नहीं करती, किन्तु उसे निरन्तर आगे बढ़ाती जाती है। धोखा देने वाले के प्रति आपके मन में धोखा और विद्वेष की भावना प्रबल होगी, फलतः आप उसे धोखा देंगे, और वह फिर धोखे से ही इसका प्रतिशोध लेगा। और इसपर फिर से आपका अहं जाग पड़ेगा कि हम क्या किसी से कम हैं? आप भी धोखा और षड्यन्त्र की योजना बनाएँगे। इस प्रकार धोखा, धोखा और फिर धोखा–इस धोखे का कहीं अन्त नहीं होगा।

यह क्रम चलता ही रहेगा, जन्म-जन्म तक। दुश्मनी, और वैमनस्य की इस विष वेल का मूलोच्छेद तभी हो सकता है, जब एक तरफ धोखा और दूसरी तरफ सरलता होगी। सरलता की टक्कर खाकर धोखा चूर-चूर हो जायेगा। आगे चल नहीं सकेगा, स्वयं लज्जित हो कर हार जायेगा। इसलिए शान्ति और सुख का जिज्ञासु **'शठे शाठ्य'** की नीति पर नहीं चल सकता, उसके लिए 'शठे सत्यं' का मार्ग ही श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। अतः शान्ति और सुख के तीसरे सूत्र की चर्चा में यह बताया गया कि तुम माया और कपट के जाल को सरलता की कैंची से काटकर टुकड़े टुकड़े कर सकते हो। असत्य को सत्य से, और अन्याय को न्याय से ध्वस्त कर सकते हो।

लोभ पर विजय

लोभ मन का सबसे विकट दोष है। इसकी ज्वाला, दावानल से भी भयंकर है। जब मनुष्य के मन में लोभ जगता है, तो वह तिलतिल जलता रहता है। अनेक पापाचार, दुराचार, अत्याचार लोभ के कारण ही जन्म लेते हैं। चोरी, ठगी आदि की घटनाएँ लोभ से प्रेरित होकर ही होती हैं—**'लोभाविले आययइ अदत्तं'** लोभ से मलिन हुआ मन चोरी करता है। अनेक प्रकार के अनर्थ खड़े होते रहते हैं। इसलिए तो बार-बार कहा जाता है—**'अर्थमनर्थं भावय नित्यं।'** अर्थ को जब तक अनर्थ नहीं समझ लेते, तब तक अनर्थ की परम्परा चलती रहेगी।

यह भी एक बात है कि जीवन में अर्थ के बिना सब व्यर्थ है। दरिद्र और कंगाल की इस संसार में कोई कीमत नहीं है। धर्म यदि हमें दरिद्र और भिखारी बनने को कहता है, तो इससे बड़ी दुर्भाग्य की और क्या बात होगी। पर, यह समझ भी गलत है कि धन से कोई सम्पन्न बन जाता है। धन गरीबी का उपचार नहीं है, दरिद्रता धन से दूर नहीं हो सकती। यदि धन से कोई सम्पन्न और सुखी हो जाता तो पुराना इतिहास खोलकर देखिए, बड़े-बड़े सम्राट् अन्ततः भोगों से व्याकुल होकर योग की शरण में आते हैं। चक्रवर्ती राजा भी एक त्यागी के समक्ष शिर झुकाते हैं और उनसे आशीर्वाद पाने को लालायित रहते हैं। पुराने युग के मम्मण जैसे सेठ सुवर्ण और रत्नों के बैल तैयार करके भी वर्षा की भयङ्कर काली रात्रियों में

नदी के प्रवाह में से लकड़ियाँ बीनते नजर आते हैं। क्या धन और अर्थ की कोई कमी थी उसके पास ? नहीं, नहीं, वह धन होते हुए भी दरिद्र था। मानवीय दरिद्रता धन से नहीं मिटती। धन बाहर का समाधान तो कर देता है किसी न किसी तरह। किन्तु अन्दर का सही समाधान नहीं कर सकता।

अमेरिका आज संसार का धन कुबेर है। सबसे ज्यादा सोना चाँदी उसके खजानों में भरा है। किन्तु आज की हालत यह है कि संसार में सबसे ज्यादा मानसिक रोग अमेरिका वालों में है। संसार का सबसे अधिक धनी देश, सबसे अधिक मानसिक रोगों से पीडित है। यदि धन से समाधान हो सकता होता तो लोग मानसिक रोगों की पीड़ा क्यों भोगते ?

धन से भी आगे मनुष्य की आकांक्षाएं जाती हैं। संसार में जितना धन है, वैभव है, वह तो एक मनुष्य की आकाँक्षा की पूर्ति भी नहीं कर सकता। फिर उससे समाधान कैसे होगा ? इसीलिए ऋषियों ने मन के लोभ को शान्त करने का मार्ग बताया है–सन्तोष ! कामनाओं का नियन्त्रण ! इच्छा और लालसा की सीमा ! लोभ का यही एक मात्र उपचार है, जिससे मानसिक समाधान और शान्ति प्राप्त की जा सकती है। वस्तु का सीमा से आगे गलत आकर्षण जबतक आपके मन में है, मन को शान्ति नहीं मिल सकती। वह उसके पीछे पीछे दौड़ेगा। वस्तु की अप्राप्ति से भी व्याकुलता होती है और प्राप्त होकर छूट जाने पर भी व्याकुलता और छटपटाहट होती है। और तो क्या, प्राप्त रहते हुए भी मन पर अशान्ति छायी रहती है। वस्तुनिष्ट शान्ति कभी वास्तविक शान्ति नहीं हो सकती।

वक्तव्य का मूल सारांश यह है कि शान्ति आत्म-निष्ठ वस्तु है, अतः वह आत्मा में ही है और वहीं पर प्राप्त हो सकती है। आत्मा की दृष्टि को बाहर से भीतर की ओर ले जाइए, शान्ति के दर्शन हो सकेंगे, आनन्द का अनन्त-उत्स लहराता मिलेगा।

★

★ उपाध्याय अमर मुनि

आत्मा के दो रूप

आत्मा का जब गहराई से अन्तर्निरीक्षण करते हैं, तो उसके दो रूप अनुभूति में आते हैं। एक ओर क्रोध है तो दूसरी ओर क्षमा है। एक ओर दंभ है, तो दूसरी ओर निश्छलता है, सरलता है। एक ओर राग है तो दूसरी ओर वीतरागता है। ये दो परस्पर विरोधी रूप क्या है और क्यों है, इसके लिए देखिए, कविश्रीजी का प्रस्तुत दीप्तिमान चिन्तन। —संपादक

आत्मा मूलतः एक स्वतन्त्र तत्त्व है, किंतु स्वतंत्र रूप में हम उसे देख नहीं पा रहे हैं। हम देखते हैं; उसके साथ शरीर लगा हुआ है, इन्द्रियाँ लगी हुई हैं, और मन लगा हुआ है। और इन सब के साथ संसार है। सुख दुःख, यश अपयश, संमान अपमान आदि संसार की लीलाएँ उसके साथ चल रही हैं। इन सबके आवरण में आत्मा ढंका हुआ है, और वह इन से भिन्न प्रतीत ही नहीं हो रहा है। तब प्रश्न होता है, यह सब क्या है? क्यों है? आत्मा के साथ यह सब खेल किस लिए चल रहा है?

दूसरी ओर जब हम चैतन्य की बात करते हैं, तो कहते हैं कि वह निर्विकार है, निरंजन है। शुद्ध बुद्ध और मुक्त है। न वहाँ सुख है, न दुःख! न यश और न अपयश! अभिप्राय यह है कि वहाँ पाप पुण्य आदि किसी भी प्रकार की हलचल नहीं है। उत्थान पतन का कोई भी क्रम नहीं है। बस, चैतन्य सूर्य की एक अखण्ड प्रकाश-ज्योति है, जिसमें सुख दुःख आदि दूसरे किसी भी भाव की छाया तक नहीं है।

यह दो प्रकार की बातें हमारे समक्ष आती हैं। तो कुछ भ्रम-सा पैदा हो जाता है। एक अखण्ड तत्त्व के परस्पर विरोधी दो रूप क्यों दिखाई दे रहे हैं? जब तत्त्व एक है, चैतन्य एक है, तो वह

दो अवस्थाओं में किस प्रकार गुजर रहा है। शुद्ध और मलिन, यह दो परस्पर विरोधी रूप उसके क्यों हैं ?

बात यह है कि 'आत्मा' तत्त्व एक ही है। पर वह दो अवस्थाओं में गुजरता है, तो उसके दो प्रतिरूप हमारे सामने आजाते हैं। जब वह तन मन आदि के साथ संसार में रहता है तो वह संसारी जीव कहलाता है, जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है। सुख दुःख यश अपयश आदि उसके साथ जुड़े रहते हैं। वह संसार में कर्म के कारण बंधा है, फलस्वरूप शुभाशुभ प्रवृत्ति करता है। प्रवृत्ति के कारण वह फिर बन्धन में फँसता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और बंध का चक्र चलता रहता है, यही संसार है। और जब उससे मुक्त होता है तो निरंजन निर्विकार अवस्था में पहुँच जाता है। चिद् रूप में, आनन्द रूप में प्रतिष्ठित होकर 'चिदानन्द स्वरूप' बन जाता है। यही आत्मा की मुक्त एवं सिद्ध अवस्था है। इसे ही परमात्म-भाव कहते हैं।

इस प्रकार हमारे विचार में यह एक और बात भी आ जाती है कि आत्मा एक अखण्ड और शाश्वत तत्त्व है। वह कभी नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह कभी पैदा ही नहीं हुआ। जिसका जन्म नहीं उसका मरण कैसा ? उत्पत्ति जहाँ नहीं, वहाँ विनाश का भी कोई प्रश्न नहीं।

आत्मा अजर अमर है :

आत्मा कोई रासायनिक सम्मिश्रण से पैदा होने वाला तत्त्व नहीं है कि दो पदार्थों का संयोग हुआ कि तीसरे नये पदार्थ का जन्म होगया। पुराने चार्वाक और आज के भौतिक वैज्ञानिक उसे एक ऐसी ही कल्पना से देखते हैं कि वह कोई स्वतन्त्र और अखण्ड तत्त्व नहीं है, बल्कि शरीर ही आत्मा है, और वह नितान्त भौतिक है। जिस प्रकार कुछ पदार्थों के मिश्रण से मदिरा तैयार हो जाती है और उसमें मादक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी प्रकार कुछ तत्त्वों का संयोग हुआ, शरीर बना और उसमें एक अनुभूति करने वाला मस्तिष्क एवं मन भी प्रकट हो गया। जब इन तत्त्वों का विनाश हुआ, तो आत्मा कहा जाने वाला तत्त्व भी विनष्ट हो

गया। जब मूल पदार्थ बिखर गए, तो मिश्रित आत्मा भी बिखर गया। इस प्रकार की कल्पना भारतवर्ष में भी काफी समय से चली आ रही है। प्राचीन समय में, जबकि चारों ओर आत्मवाद का बोलबाला था, आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थीं। कोई आत्मा को शाश्वत अखण्ड और कूटस्थ नित्य मानने का नारा लगाते थे, तो कोई दीपक की लौ और समुद्र की लहर की तरह उसे क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली बता रहे थे। कोई उसे परिणामी नित्य मानते थे, अर्थात् तत्त्वतः एक अखण्ड रूप होकर भी पर्याय दृष्टि से बदलने वाला मानते थे। मतलब कि चारों ओर सभी विद्वान् आत्मा के सम्बन्ध में अपना अपना विचार और अनुभव लेकर संसार को आत्मवाद का बोध दे रहे थे। उसी समय में चार्वाक दर्शन ने अपना अलग ही राग अलापा था, उसने कहा था—यह शरीर जो हमें दिखाई पड़ रहा है, उसके आगे और भिन्न कुछ नहीं है।

शरीर पर जब दृष्टि टिक गई तो वह अस्थि, मांस, मज्जा, चर्म और मल मूत्र का एक पुंज मात्र नजर आया। इसके अतिरिक्त तो कुछ भी नहीं दिखाई दिया। तब कहा कि बस इस शरीर से आगे कुछ नहो है, अगर कुछ होता तो दिखाई न पड़ता। जब है ही नहीं, तो कैसे दीखेगा? यह शरीर यहाँ जन्म लेता है और यहीं समाप्त भी हो जाता है। जन्मता है तो फूल की तरह खिलता है, और जब मरता है, तो बस जलकर या गलकर मिट्टी की ढेरी हो जाता है। मिट्टी में मिट्टी मिल जाती है। न कहीं से आये और न कहीं आगे गये। जो कुछ है, बस, वर्तमान है। जो नजर में आरहा है, वही ठीक है, सत्य है, बाकी सब गलत है, मिथ्या है।

जड़वाद बनाम भोगवाद :

मैं आपको चार्वाक दर्शन की बात बता रहा हूँ। भारतवर्ष में जन्म लेकर भी वह यहाँ टिक नहीं सका, फल फूल नहीं सका, क्योंकि यहाँ की नसों में प्रारम्भ से ही आस्तिक वाद और परलोक के विश्वास का रक्त दौड़ता रहा है। पर, उसने पूरे प्रयत्न से अपना विचार फैलाने का प्रयत्न अवश्य किया। वह जड़वाद को भोगवाद की मीठी गोली के रूप में प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयत्नशील

रहा। उसी की चर्चा मैं आप से करने जारहा हूँ। उसने कहा, जब शरीर के आगे पीछे कुछ तत्त्व नजर नहीं आता, तो फिर न पाप है, न पुण्य ? न लोक है, न परलोक ! जब वह वर्तमान शरीर तक ही सीमित हो गया, उसके आगे पीछे चिन्तन का क्षेत्र ही उसके पास नहीं रहा, तो पाप पुण्य की भावना स्वत: ही उठ गई। अन्ततः लोक-परलोक की आस्था भी मिट गई। केवल शरीर पर ही उसका दृष्टि बिन्दु केन्द्रित होगया। शरीर को सब कुछ मानकर चलने लगा, तो अनियंत्रित भोगवाद एवं सुखवाद ने जन्म लिया।

शरीर से आगे जब कल्पना अटक गई भूत भविष्यत् में उसे अन्धकार के सिवाय, कुछ भी नजर नहीं आया, तो वह इस शरीर को ज्यादा से ज्यादा दिन सुरक्षित रखने का प्रयत्न करने लगा। अधिक से अधिक जीने की लालसा उठी। जीने के लिए शरीर को हर किसी तरह सुख और आराम दिया जाने लगा, फलत: जीवन के हर कदम पर दो भावनाएँ प्रतिध्वनित होने लगीं। ज्यादा से ज्यादा दिन जिया जाए, सुख तथा आराम के साथ जिया जाए। इस प्रकार विचारों का जड़वाद जीवन में भोगवाद का रूप लेकर आया।

जीवन में सुख भोग सबको तो सुलभ नहीं थे, इसलिए उसे प्राप्त करने की दौड़ लगी। इच्छाएँ और आकांक्षाएँ पूर्ण करने के लिए मनुष्य अन्धा बन गया। भोग और वासना की पूर्ति के लिए मानव मन पागल हो उठा। सुख सुविधाएँ यदि ठीक रास्ते से प्राप्त होती हैं, तो ठीक है, अन्यथा गलत रास्तों से भी उन्हें प्राप्त किया जाय। प्रयत्न से भी और प्रहार से भी, नीति से भी और अनीति से भी, जैसे भी हो, मन में उभरती हर आकांक्षाएँ पूरी की जाँय, मनचाहा सुख और आनन्द का भोग किया जाय। जब पाप और पुण्य का अस्तित्व ही नहीं, तो फिर नीति का, अनीति का, न्याय का, अन्याय का झगड़ा क्यों ?

जड़वाद ने इस प्रकार जीवन में एक नीति विरोधी दृष्टिकोण पैदा किया। धर्म और नीति मनुष्य को इस बात के लिए ही प्रेरित करते आए थे कि तुम पुरुषार्थ करके सुख प्राप्त करो, किंतु उसमें धर्म, नीति और ईमानदारी का विचार रखो। सुख का लक्ष्य सब का समान है, इसलिए किसी दूसरे के सुख की हत्या करके स्वयं

सुखी होने का प्रयत्न मत करो। किसी के अधिकार छीन कर, उसे त्रास एवं कष्ट देकर प्राप्त किया हुआ सुख, अन्त में दुःख का ही कारण होता है। किंतु चार्वाक का जड़वाद उक्त चिन्तन के विरोध में अग्रसर हुआ। अनियंत्रित भोगवाद का अन्त में क्या परिणाम होगा, इसकी कल्पना ही उसने नहीं की। चार्वाक विवेक की आँख बन्द कर एक यही नारा लगाता रहा—जैसे भी हो जीवन में सुख भोग प्राप्त करो। उनका एक श्लोक है, जिसे आज तक सभी दर्शन वाले पूर्व पक्ष के रूप में दुहराते आये हैं, उसमें कहा है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?

जब तक जीना है सुख से जीओ, ऋण करके भी घी पीते रहो, शरीर जलकर राख की ढेरी हो जाने के बाद तो कहीं आना जाना है नहीं. पुनर्जन्म और परलोक-जैसी कोई स्थिति नहीं है, तो फिर ऋण चुकाने की फिकर ही क्या है? कौन कहाँ किसको ऋण चुकाएगा?

इस प्रकार चार्वाक का यह भोगवादी दृष्टिकोण खुलकर बाहर आ गया। इसने सभ्यता, संस्कृति एवं समाज के बाहरी आवरणों को और नियमों को तोड़ गिराया। मनुष्य, जो विवेक के प्रकाश में अन्दर से स्वयं शासित रहकर समाज में ठीक मनुष्य की तरह ही जीने का प्रयत्न करता था, उसे अनुशासन के सब नियम तोड़कर स्वच्छन्द होने की प्रेरणा मिली। उच्छृंखलता और अनुशासन-हीनता का मधुर निमंत्रण मिल गया उसे।

जीना, सुख से या सुख के लिए?

जहाँ तक श्लोक के पहले चरण का भाव है। **"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्"**—जब तक जीयें, सुख से जीयें, इसमें किसी को कोई विवाद नहीं होना चाहिए। भारत के जैन, बौद्ध और वेदान्त आदि किसी भी आस्तिक दर्शन की सुख से लड़ाई नहीं है। सबका स्वर आज तक एक ही रहा है कि 'जब तक जीओ, सुख से जीओ।' कोई भी दर्शन यह नहीं कहता कि—"जब तक जीओ, दुःख से जीओ, हाय हाय करते जीओ। रोते चिल्लाते जीओ।" जैन दर्शन, जिसकी कि पृष्ठभूमि

त्याग और तपस्या के आधार पर टिकी है, जो प्रसंगवश देह-दमन और कायक्लेश का भी विधान करता है, वह भी यह कभी स्वीकार नहीं करता कि "तुम रोते-रोते जिन्दगी गुजारो। कीड़ों मकोड़ों की तरह दुःखों एवं यातनाओं से गुजरते रहो।" वह मनुष्य की प्रसन्नता, सुख और आनन्द-चेतना की सबसे अधिक चिन्ता करता है। वह कहता है—जीवन में सुख-से-सुख पाते हुए मुक्ति का अक्षय आनन्द प्राप्त करो।

जैन दर्शन कहता है—प्रारब्ध ने मनुष्य को एक ऐसे मोर्चे पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ सुख भी है, दुख भी है। संपत्ति भी है, विपत्ति भी है। हँसी भी है और रुलाई भी है। यह काम तुम्हारा है कि अपने सम्यक् पुरुषार्थ के बल पर विपरीत परिस्थितियों को बदल दो। दुःख और विपत्ति की जंजीरों को तोड़ डालो। यदि तुम ठीक तरह से निष्ठा पूर्वक पुरुषार्थ करते रहोगे, तो अवश्य ही प्रारब्ध तुम्हारे अनुकूल हो जायेगा, नरक की विभीषिका भी स्वर्ग की रमणीयता में बदल जायेगी। प्रारब्ध की कठोर चट्टानों से सुख की धाराएँ फूटेंगी, और एक दिन जीवन के मरुस्थल में आनन्द एवं प्रसन्नता की हरियाली लहलहा उठेगी।

मान लीजिए आपके प्रारब्ध और पुरुषार्थ में किसी प्रकार का सामञ्जस्य नहीं बैठ सका, ताल मेल नहीं जम सका तो, हो सकता है बाहर में आपको कुछ पीड़ाएँ भी रहें। मनुष्य प्रयत्न करता है, किन्तु प्रत्येक प्रयत्न सफल तो नहीं होता। डाक्टर दवा देता है, पर, यह गारंटी तो नहीं कि रोगी दवा लेते ही ठीक हो जायेगा। हो सकता है, किसी दवा से तत्काल लाभ हो और किसी दवा का कुछ असर ही न हो, या ठीक की जगह उलटा ही असर हो जाए। पेन्सिलीन रोग मिटाने के लिए दिया जाता है, पर वह कभी-कभी रोगी के प्राण भी ले लेता है। किन्तु इस पर से 'दवा ही न लें' यह सिद्धान्त तो नहीं बन सकता। प्रयत्न करते हैं, यदि सफल नहीं हुआ तो इसका यह अर्थ नहीं कि प्रयत्न करना ही बन्द करदें। बहुत बार प्रयत्न करने पर भी समाधान नहीं मिलता, पीड़ाएँ और कष्ट कम नहीं होते, किन्तु उस असफलता से दुःखी और विकल होकर अपने कष्ट और पीड़ाओं को और तो नहीं बढ़ाना चाहिए। बाहर समाधान नहीं मिले तो अन्दर में समाधान खोजना चाहिए।

जब अन्दर में समाधान खोजा जायेगा, तो बाहरी पीड़ाएँ त्रास नहीं दे सकेंगी। वे मन की समाधि को विचलित नहीं कर सकेंगी। अन्दर का समाधान है—शूली की नोंक पर चढ़कर भी मुस्कुराना। इधर भी कांटे उधर भी कांटे, कांटों भरी डाली के बीच पुष्प खिलता है, महकता है, मुस्कराता है और वातावरण में सुगन्ध बिखेर देता है। वायुमण्डल को मादकता और उल्लास से भर देता है।

पुष्प के जीवन से जीना सीखना है। जीवन के साथ कांटे भी हैं, कोई खास बात नहीं। जीवन में जो पीड़ाएँ हैं, उन्हें प्रयत्न करके बदलो; यदि नहीं बदली जा सकती हैं, तो फूल की तरह कांटों के बीच भी हँसते रहो, सुगन्ध बिखेरते रहो। पुरुषार्थ के साथ यदि प्रारब्ध का स्वर नहीं मिल रहा है, बाजा ठीक से नहीं बज रहा है, तो भी खिन्नता और झुंझलाहट मत आने दो। सोचलो, ये कांटे भी रहेंगे, हम भी रहेंगे, किन्तु हम रोते नहीं रहेंगे, मुस्कराते रहेंगे।

जीवन में कभी-कभी बड़ी पीड़ाएँ आ जाती हैं। दूसरे आदमी देखें, तो उनको मालूम पड़े कि दुःख का बहुत बड़ा दावानल जल रहा है, पर, हम अन्दर में हिमालय की तरह शान्त रहते हैं। ऊपर ज्वालामुखी और अन्दर में हिम गिरि सी शीतलता ! यह अनुभूतियाँ जीवन में कभी-कभी होती हैं। कुछ क्षणों के लिए आप इनकी गहराई में उतरने की कोशिश करेंगे तो आपको भी कुछ ऐसी अनुभूतियाँ हो सकती हैं। ये ही अनुभूतियां दुःख के क्षणों में भी सुख का सन्धान करने वाली होती है। जब कि बाहर में सुख नहीं मिल रहा है, तब भी अन्दर में सुख से रहा जा सकता है। इसका रहस्य यही है कि सच्चे साधक जीवन में सुख के निर्माण की कला जानते हैं। दुःख में सुख की अनुभूति करने की कला हमारे पास है, उस पर से हम 'सुख से जीओ' के सिद्धान्त की सच्ची कसौटी कर सकते हैं। सुख में तो सुख से जीते ही हैं, पर, दुःख में भी सुख से जीने की कला सिर्फ आत्मवादी दर्शन के पास ही है। एक बात और है, जो मैं इसी सन्दर्भ में आपको कहना चाहता हूँ। वह यह कि आत्मवादी और जड़वादी दर्शन के विचारों में जो मौलिक अन्तर यहाँ है,

वह यह है कि आत्मवादी दर्शन कहता है, जितने दिन जीओ सुख से जीओ, और सुख से जीते हुए अपनी उच्चतम साधना को प्राप्त करो। शुभ संकल्प और लोक कल्याणकारी भावनाओं का जागरण करो। वहां जड़वादी विचार धारा कहती है कि 'सुख के लिए ही जीओ।' सुख से जीओ, और सुख के लिए ही जीओ, दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है। सुख से जीओ, यह एक जीवनपद्धति है, जिसके सहारे हम अपने उच्च आदर्श की ओर बढ़ सकते हैं, उसमें हमारा आदर्श एवं उदात्त ध्येय सुरक्षित रहता है। किन्तु सुख के लिए ही जीओ, इसमें आदर्श खत्म हो जाता है। जीवन में उदात्त ध्येय कुछ भी नहीं रह जाता। सिर्फ जीना और सुख के लिए ही जीना, यहीं तक दृष्टिबिन्दु सिमट कर रह जाता है। जड़वाद के सामने आदर्श की कल्पना नहीं है, क्योंकि उसका दायरा सिर्फ इस देह तक है; आत्मा-की गहराई को वह नहीं छूता, इसलिए—**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्'** की परिधि में दोनों विचार साथ-साथ चलते हुए भी आगे क्षुद्र और असीम की दो धाराओं में बँट जाते हैं। एक के सामने इस जीवन जैसे अनन्त विराट् जीवन हैं, जन्म हैं और उन सबके सुख दुःख का प्रश्न है, वहाँ दूसरे के समक्ष सिर्फ यही एक क्षुद्र जीवन है, इसके न कुछ आगे है, न कुछ पीछे है।

जड़वाद की क्षुद्र परिधि

भारत के समस्त आध्यात्मिक दर्शन इस बात को स्वीकार करते हैं—कि जितने दिन जीना है, सुख से जीओ, बाहर के कष्ट और पीड़ाओ को भी सुख में बदलकर जीओ। यह जीवन रोने के लिए नहीं है, जीवन आनन्द से मुस्कुराने के लिए है। पर, तुम अकेले ही न मुस्कुराओ, दूसरों को भी मुस्कुराते चलो, खुद हंसते चलो और दूसरो को भी हँसाते चलो। खुद जीवन का आनन्द लेते चलो और साथ ही दूसरों को भी वह आनन्द बाँटते चलो। अगर बाहर की परिस्थितियाँ आनन्द लेने में बाधक बन रही हों, तो अन्तर्मुखी बन कर अन्दर से आनन्द का स्रोत बहाओ, फिर बाहर की ज्वाला और पीड़ाएँ भी तुम्हें अशान्त नहीं कर सकेंगी।

परन्तु जड़वाद जब इस क्षेत्र में आगे बढ़ा तो गलत बात कहने लग गया। ठीक है, जब तक जीयें, सुख से जीय। पर, यदि ठीक

ढंग से सुख नहीं मिले, आनन्द नहीं मिले तो क्या करें? तो वह कह उठा—**ऋणं कृत्वा घृतं विबेत्**—"कर्ज करो, और घी पीओ।" शरीर को तो हर हालत में सुख देना है। घी पीकर उसे हृष्ट पुष्ट बनाओ, तुम्हारे पास नहीं है, तो मांग कर लो पड़ोसी से, मांगने पर न मिले तो उधार लो, ऋण करो, पर घी जरूर पीओ। शरीर को मजबूत बनाओ, खाओ पीओ ऐश करो।

जड़वाद ने यहाँ आकर जीवन को विपरीत दिशा में मोड़ दिया। **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'**—का अर्थ हुआ किसी न किसी तरह सुख प्राप्त करो। सुख चाहिए, आराम चाहिए, अपने श्रम और पुरुषार्थ से नहीं मिल पा रहा हो तो उधार के धन पर ही प्राप्त करो। यहाँ अन्दर के समाधान का प्रश्न ही नहीं रहा, केवल बाहर के समाधान में ही भटकना है। परिस्थिति नहीं बदली, तो मन को बदल कर समाधान खोजने की कल्पना वहाँ नहीं उठी, किन्तु परिस्थिति को गलत रूप में हथियार बनाने की बात ही सोची गई। इन्सान के अन्दर में न झांक कर सिर्फ बाहर देह में झांक कर ही रह जाना, शरीर में ही अटक कर रह जाना, कोई दर्शन नहीं है, चिन्तन नहीं है। यह सिर्फ एक हवा में उड़ता हुआ सा विचार है, जिसका कोई मूलाधार नहीं है। जड़वाद इसी उड़ते हुए विचार में भटक रहा है। वह बाहर ही समाधान खोजने की बात करता है, और इसीलिए मानव को ऋण करके घी पीने का सन्देश देता है।

जब उसके सामने यह प्रश्न आया कि अब तो ऋण करके मौज कर रहे हो, पर, जब ऋणदाता मांगने आएगा, तो वापिस कर्ज कैसे चुकाओगे? इस पर चार्वाक और आगे बढ़कर कहता है—वापिस करने की क्या जरूरत है? फिर घी पीकर और डंड पेल कर पहलवान किसलिए बने हो? मांगने आये, तो उसको धता बता दो, नहीं माने तो सिर फोड़ दो।

इतिहास बताता है कि बड़े बड़े सम्राटों ने, चक्रवर्तियों ने, सत्ता के अधिकारियों ने सदा अपनी शक्ति के बल पर ही इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयत्न किया है। वे शरीरबल और सैन्य बल के आधार पर दूसरों को कुचलते रहे हैं, दूसरों की लाशों और

हड्डियों के ढेर पर मौज उड़ाते रहे हैं। किसी की हिम्मत नहीं, जो उनके खिलाफ कुछ बोल सके। तलवार हर समय सबके सिर पर लटकती रहती थी। इस प्रकार जीवन के प्रश्नों को शक्ति के बल पर सुलझाने का प्रयत्न किया गया। संसार को भयभीत और आतंकग्रस्त बनाए रखकर आनन्द करने का उपक्रम चला। पर इस पर भी एक प्रश्न खड़ा रहा कि शक्ति के बल पर दूसरों को भयाक्रान्त रख कर यहाँ तो आनन्द कर लिया, किन्तु आगे? यहाँ पर समाधान प्राप्त कर लिया, किन्तु आगे मरने के बाद परलोक में क्या समाधान होगा? जड़वाद यहाँ आकर फिर भटक गया। वह कहने लगा, आगे क्या? आगे कुछ है हो नहीं—"**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः**? मरने पर शरीर जल कर राख होगया तो शेष में फिर बचता ही क्या है? न कहीं आना और न कहीं जाना! जिनके अधिकारों को तुमने छीना है, त्रास दिया है, जिन के श्रम के बल पर आनन्द का उपभोग किया है, उन सब के शरीर जल कर राख की ढेरी बन जायेंगे, तुम्हारा शरीर भी जल कर राख बन जायेगा। दोनों का अस्तित्व खत्म। अब तुमसे कोई अपने अधिकार की मांग करने के लिए आने वाला नहीं है और न कोई तुम से जुल्मों का बदला लेने के लिए ही आने वाला है।

इस प्रकार नास्तिक विचार एकमात्र शरीर को मान कर जन्म लेता है और शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है। शरीर की क्षुद्र परिधि से आगे नहीं जाता। उसका केन्द्र शरीर ही है। शरीर के सुख भोग के लिए वह सब कुछ करने को कहता है। मजे से खाने पीने का आह्वान करता है। भोगवाद और स्वार्थवाद का विष जो संसार में फैला है वह इसी दृष्टिकोण के आधार पर फैला है। फिर भले हो वह दृष्टिकोण आस्तिक कहे जाने वालों में भी पनपा हो। परन्तु वे आस्तिक भी नाममात्र के ही आस्तिक हैं, सच्चे आस्तिक नहीं। उनके क्रिया कर्म भी सब नास्तिकों जैसी ही परिधियों में चलते हैं। और इस प्रकार के आस्तिक नास्तिकों से भी अधिक खतरनाक होते हैं।

अन्दर में समाधान खोजें :

इस प्रकार की एक भोगवादी चार्वाक-विचार-धारा का उदय

भारतवर्ष में हुआ, जो आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में मात्र ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष पर ही सोचती थी। शरीर पर ही अटकी हुई थी। न शरीर से पीछे सोच सकती थी और न आगे। इस विचार-धारा का न दर्शन के क्षेत्र में कुछ मूल्य रहा और न जीवन के क्षेत्र में। जीवन में अनास्था, भोगवाद और क्षुद्र-चिन्तन—ये सब इसी के परिणाम हैं।

अनास्था और भोगवाद के इस जहर को समाप्त करने के लिए भारतीय चिन्तकों ने आत्म-वाद की दृष्टि से आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में काफी गहरा चिन्तन दिया है। जीवन की उलझनों में, पीड़ाओं में प्रसन्न रहने का मंत्र दिया है। उन्होंने बताया कि तुम सिर्फ शरीर तक ही मत देखो, इसके भीतर एक चैतन्य देव है, उसके भी दर्शन करो। और जिस प्रकार तुम अपने शरीर में चैतन्य के दर्शन करते हो, उसी प्रकार हर प्राणी के शरीर में भी उस चैतन्य को देखो। यह मत समझो कि हम सिर्फ एक मिट्टी के पिंड-मात्र हैं, हड्डी, मांस मज्जा के खोल मात्र हैं बल्कि इसके भीतर एक अनन्त प्रकाश है, एक अनन्त शक्ति है और वह प्रकाश एवं शक्ति, प्रत्येक देहधारी के अन्दर विराजमान है। वह लौ प्रत्येक प्राणी के अन्दर जल रही है। बस, अन्तर है तो यही कि किसी में पूर्ण रूपसे प्रकाश व्यक्त हो चुका है, किसी में अल्प। किंतु उस चैतन्य शक्ति और प्रकाश की सत्ता प्रत्येक देह के अन्दर है। यदि तुम प्राणीमात्र में उस तत्त्व के दर्शन करते चलोगे, तो जीवन में सही समाधान मिलेगा, बाहर में समाधान नहीं मिलने पर भी भीतर में समाधान अवश्य प्राप्त होगा। प्रसन्नता की दिव्य अनुभूति भीतर से प्रकट होगी।

यह एक मनोवैज्ञानिक-सत्य है कि हम किसी को जब अपने समान समझ लेते हैं, अपना बन्धु एवं स्नेही मान लेते हैं, तो उसके प्रति हमारे मन से क्रूरता अपने आप समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर दया, करुणा और सहानुभूति प्रकट होजाती है। बन्धु के प्रति हमारा हाथ संहारक नहीं बन सकता, बल्कि स्नेह का सरस स्पन्दन देने वाला वरदान बन जाता है कि हम उसके सुख को, आनन्द को लूट नहीं सकते, वल्कि अपने को संयमित करके भी, स्वयं

कष्ट सहन करके भी अपने बन्धु को सुखी एवं आनन्दित रखने की दिशा में प्रयत्नशील होते हैं। उक्त स्थिति में मनुष्य शरीर के आवश्यक भोग की पूर्ति भी करेगा, किन्तु पूर्ति करते करते जब वह इस किनारे पर पहुँचेगा कि सीधे तरीके से भोग प्राप्त नहीं किया जा सकता है, इसके लिए छल छन्द, धोखा-फरेब, और अन्याय-अत्याचार ही करना होगा तो वह सहसा रुकेगा, अपने को संभालेगा, विवेक जागृत करेगा, और सुख भोग की इच्छा को ठुकरा कर अपने नैतिक जीवन की रक्षा करेगा, बुराई से अपने को बचाएगा।

और जहाँ एक मानव की अपनी इच्छा पहुँच रही है वहाँ ही संभवत: किसी दूसरे की इच्छा भी पहुंच सकती है और स्पष्ट है कि इस स्थिति में दोनों के बीच सीधी टक्कर हो सकती है, अपने अपने सुख भोग के लिए। उक्त परिस्थिति में भी आपका जो आत्मा का दर्शन है, वह आपको सावधान करेगा, रोकेगा और उक्त टक्कर एवं संघर्ष की ओर नहीं बढ़ने देगा। जहाँ भी और जब भी कभी किसी का सर्वनाश करने की भूमिका पर जाकर आप खड़े होंगे तब आपका चैतन्य-दर्शन झकझोर कर आपकी तन्द्रा भंग करेगा कि—"कहाँ बढ़ रहे हो? जैसा चैतन्य तुम्हारे भीतर है वैसा ही चैतन्य इसमें भी है न? यह केवल मिट्टी का ढेला नहीं है, आपकी ही तरह प्राणवान है, और सुख दु:ख की अनुभूतियों में तुम्हारे ही समान है। तुम जिस नश्वर शरीर के लिए किसी के प्राण लूट रहे हो, वह क्षण भंगुर है। जो शरीर किसी भी क्षण हवा के एक ठंडे या गर्म झोंके में मिट्टी का ढेर हो सकता है, जिस पर प्रत्येक क्षण मृत्यु वारन्ट लिए घूम रही है, उसके लिए अन्याय, अत्याचार क्यों? जीना है भी कितना, यही पचास, साठ, सत्तर, सौ वर्ष! और इतने से काल में भी जीवन में कितने भय हैं? इस संसार में जहाँ प्रत्येक दो मिनट के बाद एक हत्या हो जाती है, प्रत्येक मिनट पर जहाँ आकस्मिक-अपघात (अेक्सीडेण्ट) का सिलसिला चल रहा है, वहाँ जीवन की सुरक्षा ही क्या है? और इतने से क्षण नश्वर जीवन के लिए तुम किसी का सुख लूट रहे हो? किसी के साथ नई शत्रुता पैदा कर रहे हो? नहीं, यह ठीक नहीं है। अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरों का उत्पीडन अधर्म है, पापाचार है। कुछ भी हो, यह मुझ से नहीं होगा।" यह है आत्म-दर्शन का बोधस्वर!

शरीर के धरातल से ऊपर

हमारा आत्म-दर्शन शरीर के कठघरे में कैद नहीं है, वह इस से बाहर निकल कर सोचता है। वह सोचता है कि यह शरीर तो एक न एक दिन साथ छोड़ देगा ही, और आत्मा को तो आगे की अनन्त यात्रा करनी है। कोई भी स्थूल शरीर अनन्त काल तक साथ नहीं रह सकता। इस प्रकार एक अनन्त काल का साथी है और दूसरा कुछ ही दिनों का, तो हमें किस के साथ मैत्री की गांठ जोड़नी चाहिए? शाश्वत-साथी के साथ ही न? शरीर का क्या है? यदि यहाँ छूट गया तो आगे मिल जाएगा। जब तक यह संसार यात्रा चालू है, यह साथी मिलता ही रहेगा पुराना छूट जाएगा, तो नया मिलेगा। पुराना कपड़ा फट गया, तो उसे उतार फेंका, नया ले लिया। इसका दुख दर्द क्या, रोना धोना क्या? मृत्यु आखिर है क्या? आत्मा की तो मृत्यु कभी होती नहीं, शरीर की मृत्यु होती है। एक शरीर की मृत्यु हुई तो दूसरा मिल गया। इस प्रकार मृत्यु शरीरान्तर एवं देहान्तर के अतिरिक्त और क्या है? पुराना वस्त्र त्याग कर नया वस्त्र लेने जैसा रूप ही तो शरीरान्तर है। गीता में कहा है—

> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
> नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
> न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

पुराना वस्त्र छोड़ कर नया वस्त्र धारण करने में हर्ष होता है या शोक? यह हर्ष और खुशी की बात ही तो है? फिर पुराने साठ-सत्तर वर्ष के जीर्ण देह को छोड़ कर नया देह धारण करना है तो उसमें शोक चिन्ता क्यों है? कितनी उल्लास पूर्ण धारणा है जीवन के प्रति? जीवन को दैहिक दृष्टि से क्षण भंगुर मानते हुए भी उसे आत्मा की दृष्टि से अमर और शाश्वत माना गया है। जीवन के प्रति कितना महान दृष्टि कोण है यह। यदि मनुष्य जीवन की इस ऊँचाई को स्पर्श कर जाये तो संसार के बड़े-से-बड़े साम्राज्य और भौतिक वैभव की ऊँचाई भी उसके सामने तुच्छ है। फिर उसे कोई शक्ति, कोई प्रलोभन और कोई भय अपने आपसे (आत्मानंद से)

विचलित नहीं कर सकता। सीता को रावण ले जाता है, सोने की लंका में। अपना अपार ऐश्वर्य और भोग-विलास उसके चरणों में अर्पण करने को प्रस्तुत हो जाता है। किन्तु सीता है कि वह लंका के साम्राज्य, वैभव और भोग विलास को मिट्टी के एक ढेले से भी कम मूल्यवान् समझती है। ऐश्वर्य का मोह उसके मन में एक क्षण के लिए भी प्रवेश नहीं कर सका। नाना प्रकार के प्रलोभन भी उसे चंचल नहीं बना सके।

भारत का इतिहास उठाकर देखेंगे, तो आप जान सकेंगे कि यहाँ के लोगों ने धर्म की रक्षा के लिए फांसी के तख्तों को हँसते-गाते चूमा है। शूली की नोंक पर भी वे मुस्कराए हैं। और दहकती अग्नि में भी छलांगें लगाई हैं उन्होंने।

सेठ सुदर्शन शूली की नोंक पर बैठ कर भी मुस्कराता है। क्यों? कौन सी जीवन-दृष्टि है उसके अन्दर, जो शूली पर भी उसके अन्दर मुस्कुराहट बिखेर रही है। गुरु गोविन्दसिंह के नन्हे बेटे जीवित ही दीवार में चुन कर बलिदान हो गए। कौन सी महाशक्ति उनको प्रेरित कर रही थी, इस महान् उत्सर्ग के लिए? जैन राजा मेघरथ ने और वैदिक राजा शिवि ने अपने शरीर का मांस कांट कर दे दिया, कपोत जैसे एक छोटे से प्राणी की रक्षा के लिए। आप इतिहास के इन सत्यों की गहराई में उतर कर देखेंगे तो वहाँ यही जीवन दृष्टि मिलेगी। भारत का साधक दया, करुणा, सत्य और सदाचार के लिए अपने इस भौतिक देह का कोई मूल्य नहीं समझता रहा है। वह चैतन्य की भूमिका पर चल रहा है, अखण्ड चैतन्य तत्त्व का दर्शन कर रहा है, और उसके आलोक में वह जन्म मरण एवं शारीरिक सुख: दुःख की भूमिका से ऊपर उठकर सोचता रहा है। शरीर के कीचड़ से निकल कर उसने आत्मा की शुद्ध भूमिका का स्पर्श किया है। इसी दृष्टि ने उसे आदर्शों की रक्षा के लिए प्राप्त भोगों को भी लात मार कर दूर फेंक देने की प्रेरणा दी है। जब तक यह उदात्त दृष्टि जीवन में प्राप्त नहीं होती, प्राप्त ऐश्वर्य और भोग को छोड़ देने की शक्ति जागृत नहीं हो सकती। तब तक मनुष्य छोटे छोटे स्वार्थों के लिए मरता चला जायेगा और अपने तुच्छ सुखों के लिए संसार को रुलाता रहेगा।

आत्मवाद की चैतन्य दृष्टि ने मनुष्य को एक रास्ता दिखाया है, अपने सुख का भी और संसार के सुख का भी। मनुष्य जी रहा है, पर, उसका ध्येय सिर्फ जीना ही नहीं है, इससे आगे भी है। जीवन तो एक यात्रा है, सफर है, मंजिल नहीं है। मंजिल उसकी कुछ और है। हम पहले कह चुके हैं कि चार्वाक, जिसकी दृष्टि इस देह पर अटक गई थी, वह जीवन में किस प्रकार भटका है, संसार में किस प्रकार उसने मर्यादाहीन भोगवाद का नारा बुलन्द किया है। पर आध्यात्म दर्शन इस देह से परे चेतन का दर्शन करता है, आत्मा और परमात्मा में आस्था लेकर चलता है। उसके सामने यह संसार ही सब कुछ नहीं है। यह तो एक खेल है। इस भूमिका पर आए हैं तो इसे कुशलता के साथ खेलना है। परन्तु अपना जो वास्तविक रूप है, उसे भूलना नहीं है। वह रूप क्या है? मुक्ति। आप कहेंगे—संसार और मुक्ति के बीच में तो बहुत लम्बी दूरी है। उसे कैसे पार कर सकते हैं। उसकी उंचाई तो हिमालय से भी ज्यादा है, अतः हम उसे कैसे नाप सकते है? मैं कहता हूँ, यह सब रूपक है। वास्तविकता कुछ और है, और वह यह है कि मुक्ति बाहर में नहीं है, वह आत्मा के अन्दर में है। जीवन की संपूर्णता इसी के भीतर में भरी है। आचार्य पूज्य पाद ने कहा है:—"सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः"—अपने शुद्ध चैतन्य भाव की, अपने आप की उपलब्धि ही सिद्धि है, मुक्ति है। हम चैतन्य को पहचान तो रहे हैं, पर, अभी पूर्ण रूप से कहाँ पहचाना है? जब पूर्ण रूप से पहचान लेंगे तो फिर सिद्धि दूर नहीं है। जहाँ आत्म दृष्टि अपने आप में लीन हो जाती है, वहाँ भौतिक दृष्टि शून्यवत् प्रतीत होने लग जाती है। संसार की समस्त कामनाएँ और इच्छाएँ तभी तक रहती हैं, जब तक जीवन में पूर्णता प्राप्त नहीं हो पाती है। जब जीवन में पूर्णता का आनन्द आने लग जाता है, तब संसार का कोई भी विकल्प शेष नहीं रह जाता।

संसार किसे कहते हैं? यह एक सामान्यतः समझने की बात है। यदि इसे समझ लिया तो मुक्ति को भी समझ लिया जाएगा। संसार की भूमिका राग और द्वेष पर चलती है। राग द्वेष का विकल्प ही संसार है। आत्मा जब जब राग द्वेष का विकल्प करता

है, संसार खड़ा हो जाता है। और जब जब राग द्वेष का विकल्प क्षीण होता है, तब तब संसार भी क्षीण होने लगता है। जहाँ सराग भाव है वहाँ संसार है और जहाँ वीतराग भाव है वहाँ मुक्ति है।

आत्म-तत्त्व के जो दो रूप हमारे समक्ष आते हैं, वे इसी आधार पर हैं। जब तक राग का अंश चैतन्य के साथ जुड़ा है, संसार की भूमिका है। वहाँ सुख दुःख, यश अपयश, त्याग-भोग, संयोग वियोग आदि चलते हैं। आत्मा गति आगति करता है, लोक और परलोक में जाता है, अनेक अच्छी बुरी योनियों में चक्कर लगाता है। यह आत्मा की मलिन दशा है। जब राग का अंश क्षीण होता चला जाता है, तो आत्मा विशुद्धता की ओर अग्रसर होता है। संसार भूमिका से मोक्ष की भूमिका की ओर बढ़ता है। और अन्त में चैतन्य का वह निर्विकार स्वरूपसूर्य प्रकट होता है, जो कि उसका अपना मूल रूप है। रागांश की क्षीणता आत्मा की शुद्धि की अवस्था है, वह वीतराग दशा है। वीतराग भाव आत्मा का मूल रूप है, मूल भाव है। वहाँ सुख दुःख आदि का भाव लुप्त हो जाता है। सिर्फ ज्ञान और दर्शन का अखण्ड प्रकाश और अखण्ड सुख रहता है। इसी परम दशा की ओर गति करना, और उसको प्राप्त करना, भारतीय दर्शन का लक्ष्य रहा है। आत्मा से परमात्मा की साधना ही भारतीय धर्म और दर्शन की साधना है।

★

अमर वाणी

- प्रत्येक कार्य आवश्यकतानुसार होना चाहिए। आवश्यकता के बिना किया जाने वाला कार्य कार्य नहीं है। वह केवल पागल की निरुद्देश्य हरकत है, और कुछ नहीं।
- समय की प्रतीक्षा में बैठे रहने वाले हाथ पर हाथ धरे सोचा करते हैं— कभी हमारा भी समय आएगा। समय आता नहीं, लाया जाता है। जीवन का हर क्षण उन्नति का द्वार है, कोई कर्म की दस्तक देकर खट-खटाए तो सही!
- अन्दर में मन बदसूरत है, तो बाहर में तन की सुन्दरता ऐसी ही है, जैसे कि सड़ती लाश पर डाली गयी खूबसूरत रेशम की चादर।

एक पुरानी लोक कथा—

स्वरूपबोध : शक्तिबोध

भारत के जैन, बौद्ध और वेदान्त दर्शन आत्मा के स्वरूपबोध पर काफी बल देते रहे हैं। वस्तुतः स्वरूप बोध में ही शक्ति बोध है। स्वरूप बोध के अभाव में वन का राजा सिंह भी गधा बन जाता है। इस सम्बन्ध में एक बहुत पुरानी लोककथा स्वामी विवेकानन्द ने, अन्य सन्तों ने, कवि श्रीजी ने भी अपने प्रवचनों में उद्धृत की है। श्री रतनलाल जोशी के शब्दों में कथा का रूप इस प्रकार है। —संपादक

एक किसान परिवार पहाड़ की तलहटी में आए अपने खेत के फसल की कटाई का काम कर रहा था। दिन भर काम होता रहा। और जब दिनान्त में ज्यों-ज्यों संध्या नजदीक आती जा रही थी, परिवार का मुखिया जल्दी-जल्दी काम खत्म करने को प्रेरित कर रहा था। आखिर मुखिया की पत्नी ने जब देखा कि परिवार के सब बाल गोपाल, युवा और अधेड़, स्त्री और पुरुष सभी जल्दी से काम खत्म करने में सक्रिय हैं, फिर भी बूढ़ा हल्ला मचाये जा रहा है, तो उससे नहीं रहा गया। वह झुंझला कर बोली—"बड़ा शोर मचा रखा है आपने। संध्या आजाएगी तो क्या कोई शेर आजाएगा, जो तुम इतने परेशान हो रहे हो?" पत्नी की झल्लाहट से मन में उभरते क्षोभ को अन्दर में ही दबाते हुए मुखिया ने कहा—"अरी बावली, तुझे शेर का ज्यादा डर है। किन्तु मुझे शेर का उतना डर नहीं है, जितना कि संध्या का है। संध्या के आने पर भला कौन काम कर सकता है? तू कर सकेगी? मैं कहता हूँ, नहीं कर सकेगी।"

कृषक पति-पत्नी का यह संवाद पास ही झाड़ियों में लेटा हुआ एक शेर सुन रहा था। उसने अपने मुकाबले में संध्या के डर की

बात सुनी, तो सोच में पड़ गया। यह संध्या कौन है? क्या वह मुझ से भी अधिक बलवान् है, जो किसान मुझ से उतना नहीं डरता, जितना संध्या से डरता है।" बस, शेर ज्यों-ज्यों संध्या के बल की बात सोचने लगा, त्यों-त्यों भय से आक्रान्त होता गया। भय के कारण सारा शरीर थर-थर कांपने लगा, पसीने से तर-ब-तर हो गया। चुपके से उठा और पास ही पहाड़ की अपनी गुफा में छिप कर बैठ गया।

संध्या के आते ही अंधेरा गहराने लगा। पास ही घाट पर धोबी कपड़े धो रहा था। वह अपना काम निबटा लेना चाहता था, अतः कपड़े धोते-धोते देर होती गयी, और अँधेरा बढ़ता गया। पूरे कपड़े फिर भी धोये न जा सके। आखिर धोबी ने धुले और अनधुले सभी कपड़े समेटे और एक बड़ा सा गट्ठर बांध कर लादने के लिए गधे की ओर लपका, परन्तु आगे बढ़ कर देखता क्या है कि गधा नदारद। इधर-उधर आस-पास देखा, गधे का कहीं कोई पता नहीं। धोबी ने गट्ठर वहीं छोड़ा और गधे की खोज में चल पड़ा। अंधेरा गहराता जा रहा था, और इस पर आसमान में काले बादल और घुमड़ने लगे। अँधेरा और भी सघन हो गया। थोड़ी देर में हालत यह हो गयी कि हाथ को हाथ सूझना मुश्किल हो गया।

धोबी अपने गधे को खोजता-खोजता दूर निकल गया, शेर की गुफा तक पहुँच गया। अन्दर कुछ आहट सुनी तो धोबी को शक हुआ कि हो न हो, गधा यहीं छिपा बैठा है। वह अंधेरे में अपनी लोह-जड़ित लाठी फटकारता हुआ बेधड़क गुफा के भीतर घुस गया। सहसा उसका पैर किसी सजीवसी-सक्रिय सी वस्तु से टकराया। धोबी ने समझा कि यह उसका अपना गधा ही यहाँ छिपा बैठा है, नालायक कहीं का। धोबी को गुस्सा तो आ ही रहा था, बस, उसने आव देखा न ताव, बड़े जोर के साथ दबादब पांच छह लाठियां शेर के जमा दीं। ऊपर से दो लात और लगा कर बोला कि—"साले, यहाँ छिप कर बैठा है। चल उठ, कपड़ों का गट्ठर तू नहीं, तो क्या तेरा बाप ला देगा?"

शेर लाठियों की मार से तिलमिला गया। पर डर के मारे कुछ भी न बोला। उसने सोचा कि—"संध्या यही है, और यह तो यहाँ पर

भी आ गयी। मरा अब तो मैं। क्या करूँ अब मैं ?" और भय से कांपता वह धोबी के आगे आगे हो लिया। उधर धोबी ने भी अंधेरे में कुछ न देखा। शेर पर कपड़ों का गट्ठर लाद कर जल्दी-जल्दी घर की तरफ चल दिया।

शेर की पीठ कपड़ों के भार से पिरा रही थी। पर बेचारा करे भी तो क्या करे। जरा भी चलने में ढीला पड़ता कि जोर से लाठी का प्रहार होता, और शेर दौड़ने लगता। चलते-चलते रास्ते में एक और शेर नजदीक से गुजरा। उसने अपनी जाति के शेर को धोबी का गधा बना देखा, तो आश्चर्य में डूब गया कि—"अरे यह क्या ? शेर कैसे धोबी का गधा बना हुआ है ? पूछूं तो सही क्या बात है ?"

शेर ने पास आकर धीरे से पूछा—"भैया, यह क्या हो रहा है ? तुम तो शेर हो न ! फिर यह गट्ठर कैसे गधे की तरह ढो रहे हो ?"

गधा बने शेर ने बहुत धीरे से लड़खड़ाती जबान से कहा—"चुप रहो, बोलो मत। अपने प्राण बचाना चाहते हो तो भागो यहाँ से। देखते नहीं, पीछे से संध्या चली आ रही है। वह हम सब से कहीं ज्यादा बलवान है। उसने आज मुझे इतना मारा है कि बस सौभाग्य से प्राण बचे हैं। गट्ठर का क्या है, ढो लूँगा। प्राण तो बचे।"

मुक्त शेर को हँसी आ गयी। पर गम्भीर होकर बोला—"अरे तू तो बिल्कुल पगला गया है। शेर जंगल का राजा है। उसकी एक हुंकार से वन में तहलका मच जाता है, चारों ओर भगदड़ हो जाती है। किस की मजाल है, जो शेर के सामने खड़ा हो सके। संध्या हो या और कोई हो, शेर से बढ़ कर संसार में दूसरा कोई बलवान नहीं है। यह तेरे मन का भ्रम है, जो तू अपने को दुर्बल, दीन, हीन, तुच्छ समझ रहा है। अपने बल विक्रम का कुछ तो अहसास कर। अपने स्वरूप को भूले मत। बोझा फेंक और जरा अपनी असली आवाज में एक गर्जना कर और फिर देख कि तेरी वह महाबली संध्या यहीं ढेर हो जाती है या नहीं।"

शेर गर्जा, प्रतिध्वनि से वन कान्तार और पर्वत कांप उठे ! मस्ती में कुछ दूर पीछे आता धोबी तो चीख मार कर वहीं भूमि पर धराशायी हो गया।

भारत का अध्यात्म दर्शन कहता है—मानव तू महान् है, अनन्त शक्ति का पुंज है। तुझ से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ दूसरा कौन है? यह तेरा भ्रम ही है, जो तू अपने को तुच्छ समझ रहा है। अपने को पहचान, अपनी शक्ति को परख। उक्त लोक कथा के उपसंहार में स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है—"हमारे प्रसंग में भी अक्सर यही भ्रान्ति गजब ढहाती रहती है। हम अपनी शक्ति में खुल कर खड़े नहीं होते हैं। कोई भ्रम भयंकर भय बनकर हमें निकम्मा बनाये रखता है। भारतीयों के साथ तो यह सदियों से चला आ रहा अभिशाप है। किन्तु जब-जब वे ताल ठोक कर खड़े हुए हैं, पर्वतों ने शीश नवाया है, नदियों ने अपने प्रवाह मोड लिए हैं, और आसमान जमीन पर उतर आया है।"

★

अमर वाणी

कहते हैं यूनान का महान् दार्शनिक सुकरात, आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व एथेंस की गलियों, कूंचों और बाजारों में, हर चलते राही से पूछता था: 'क्या तुम अपने को जानते हो? सत्य को पहचानते हो?'

हर चलते राही से तो नहीं, किन्तु पास में आए हर जिज्ञासु से महाश्रमण महावीर भी, आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व यही पूछते थे: 'क्या तुम अपने को जानते हो, तुम कौन हो? सत्य को पहचानते हो, वस्तुतः वह क्या है?'

और यह वह शाश्वत प्रश्न है, जो अनादि अतीत में पूछा जाता रहा है, अनन्त भविष्य में पूछा जाता रहेगा? इसका सही उत्तर ही, वह ज्ञान ज्योति है, जो अनादि अनन्त काल से गहराते आए अन्धकार को एक क्षण में समाप्त कर देता है।

श्री पं० उदय जैन, धर्मशास्त्री,
संस्थापक संचालक–जवाहर विद्यापीठ, कानोड़

वीर का अनेकान्तवाद या अनेकान्त सिद्धान्त

एक विश्लेषण - एक नई दृष्टि

'श्री उदय जैन' शिक्षण, समाज सुधार आदि क्षेत्र के कर्मठ कार्यकर्ता हैं, साथ ही एक अच्छे तर्कप्रधान विचारक भी। अनेकान्त के सम्बन्ध में आपका प्रस्तुत निबंध एक नई दृष्टि देता है, हम मनीषी जनों के विचारार्थ यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। —संपादक

"जैन" शब्द जैसे व्यवहार में आया, वैसे ही "अनेकान्तवाद" का प्रयोग हुआ। "जैन" शब्द स्वयं श्रमणसंस्कृति के संस्थापकों ने नहीं दिया। श्रमण धर्म में श्रमणोपासक या श्रमणोपासिका अथवा श्रमण-श्रमणी शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके साथ ही "निग्गंठ" शब्द का भी वार बार उल्लेख आया है। वीतराग धर्म एवं जिन धर्म का प्रयोग भी कहीं कहीं आता है। परन्तु जिन के अनुयायी जैन कहलाने के अर्थ में बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि की भांति जिन शब्द पर से जैन शब्द का प्रचलन अन्य मतावलंबियों ने ही किया है। भगवान् महावीर ने कभी अपने धर्म का नाम यह नहीं बताया, न ही कहीं जैन धर्म शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों एव आगमों में आता है। पुरानी रचनाओं में इसका प्रयोग नहीं सा है। आर्य धर्म (अज्ज धम्मो) अवश्य प्रस्तुत हुआ है। दूसरे मतावलंबियों ने इस निवृत्ति प्रधान श्रमण धर्म को जिन धर्म और उसके अनुयायियों को जैन कहकर जगह जगह उल्लेख किया है और जैन शब्द रूढ़ बन जाने से जैनियों का धर्म 'जैन धर्म' कहलाया।

इसी प्रकार प्राचीन समय में चलने वाले अनेक विचार परम्पराओं को 'वाद' रूप से पुकारा गया है। हमारे यहाँ भी दृष्टिवाद,

स्याद्वाद, नयवाद, सापेक्षवाद आदि व्यवहार में आये हैं। वैचारिक क्षेत्र के कुछ वाद वास्तव में वाद हैं। लेकिन अनेकान्त अपने आप में एकान्तवाद का प्रतिकार है, विरोधार्थ (उल्टा) है। जो वाद हैं वे चर्चणीय हैं—विवाद युक्त हैं, अतः वे एकान्त का पोषण करने वाले हैं। अनेकान्त का अर्थ है—अनेक में जिसका अन्त है अथवा अनेक का जहाँ अन्त है। अर्थात् एक का अन्त अनेक में और अनेक का अन्त जहाँ होता है वह वाद नहीं रह सकता, वह सिद्धान्त बन जाता है। जब तक एक पक्ष का पोषण होता है, वाद रहता है। लेकिन अनेक—अनन्त का जिसमें समावेश होता है वह वाद कैसे रह सकता है? जैसे छोटे बड़े नालों और नदियों की अनेकता प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है, लेकिन जब वे समुद्र में मिल जाती हैं तो एकता या अनेकता दोनों ही विलीन हो जाती हैं और सागर बन जाता है। सागर के समान ही अनेकान्त है, अतः उसके साथ वाद शब्द का प्रयोग शोभा नहीं पा सकता।

जैसे वीर के आगमों में दृष्टिवाद है वैसे दृष्टिवाद से समिष्टवाद भी प्रादुर्भूत होना है। भिन्न भिन्न दृष्टियों से सिद्धान्त को, आगम को, प्रवचन को और प्राज्ञवाणी को समझा जाता है, लेकिन वाणी अपने आप में अखण्ड और अजस्र भावों को लिए होती है। तीनों कालों और तीनों लोक में जो अबाध्य हो, अकाट्य हो, शाश्वत हो और एक समान व्यवहृत हो, उसे हम वाद नहीं कह सकते। वह तो सिद्धान्त है।

जैसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पंचशील एक अहिंसा, सहयोग, प्रेम तथा शान्ति के ही भिन्न भिन्न रूप हैं, अथवा सम्यक् चारित्र के अंग हैं और पूर्ण चेतन तत्व के प्रकाश को पाने के लिए भिन्न भिन्न चर्या के अंग हैं, उसी तरह भगवान् महावीर के निगण्ठ धर्म को व अन्य तत्वों को भिन्न भिन्न तरीकों से समझने के लिए पूर्ण ज्ञान का द्योतक उनका अनेकान्त सिद्धान्त है। जो सूर्य के समान स्वयं भासित होता है, उसे प्रकाशित करने के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। विश्व के तमाम धर्मों को समझने में भी अनेकान्त सिद्धान्त लागू किया है।

भिन्न भिन्न दृष्टियों और वादों को समझने और निष्कर्ष निकालने के लिए वाद-विवाद अथवा तर्क की प्रतिष्ठा की आवश्यकता

नहीं है। अनेकान्त तो इन सब प्रयोगों और प्रयत्नों में स्वयं वर्तमान है। अनेकान्त के ही अनेक और अनन्त रूप हैं, जो ज्ञान-लाभ के लिए प्रयोग में आ रहे हैं। अनेक ढंग ही अनेक मार्ग हैं और अनेक मार्गों का सम्मिलन ही अनेकान्त है अतः यह पूर्ण है। जहाँ पूर्णता है वहीं अनेकान्त सिद्धान्त है। जिसका अन्त ही सिद्ध है, सफल है, वह सिद्धान्त हैं। जैसे (०) पूर्ण-जीरो स्वयं में पूर्ण है। जितनी भी गिनती की संख्याएँ हैं उनमें (०) पूर्ण ही पूर्णांक है। यह ऐसा बलयाकार पूर्ण है कि इसका आदि और अन्त नहीं जाना जा सकता। जगत का आदि अन्त बताने के लिए इसी वलयाकार (०) पूर्ण का आश्रय लिया जाता है। जैसे इस गोलाकार पूर्णांक में कहीं पर आदि और अन्त का दर्शन नहीं होता उसी तरह जगत् भी अनादि अनन्त है। अन्य अंकों की लाइनों में आदि और अन्त स्पष्ट मालूम पड़ते हैं, लेकिन (०) पूर्ण में आदि अन्त का पता नहीं मिल सकता। इसी तरह अनेकों का अन्त होकर अनंत बनता है वही अनन्त अनेकान्त है, अतः वह पूर्ण है। पूर्ण (०) में से एक या अनेक बार निकालने पर शेष भी पूर्ण रहता है और एक या अनन्त बार योग देने पर भी पूर्ण ही आता है। भाग दो या गुणा करो, सब में एक ही उपलब्धि होती है वह है पूर्ण (०)। अतएव पूर्ण की तरह अनेकान्त को भी पूर्ण रूप मानें, सिद्धान्त मानें। अतः बाद का अन्त है, सिद्धान्त का नहीं।

जितने जगत के तत्व हैं या द्रव्य अथवा पदार्थ हैं, उन सबमें अनेकान्तता है। जगत के जितने धर्म मार्ग हैं, पन्थ हैं, मजहब हैं अथवा बाद हैं उन सबमें अनेकान्त का अस्तित्व है, उन सबमें अनेकान्त वर्तमान है। बिना अनेकान्त को समझे उनके स्वभावों ज्ञान भी नहीं हो सकता। उनकी अनेकान्तता ही उनका स्वरूप है। ये सब तत्व, द्रव्य, पदार्थ, गुण, या धर्ममाग अनेकान्त हैं। यही पूर्ण है। और अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं को समझने के तरीके भी अनन्त हैं। वे सब अनेकान्त सिद्धान्त के अनन्त रूप हैं। अतएव अनेकान्त अनन्त किरणों वाला पूर्ण ज्ञान अथवा केवल ज्ञान रूपी सूर्य है, जो वाद न होकर स्वयंसिद्ध अनेकान्त सिद्धान्त है। और यह केवल ज्ञानियों द्वारा ही प्रशस्त किया हुआ है। अल्पज्ञों द्वारा बनाया हुआ वाद होता है। यह अनन्त वादों का अन्त करने वाला अनेकान्त सिद्धान्त है।

वीर प्रभु ने उस समय के प्रचलित वादों या धर्म मार्गों का विरोध नहीं किया, अपितु उनमें रही हुई सत्यता का विश्लेषण कर समन्वय दृष्टि से सत्य का सही तरीका जगत् के सामने रखा और स्वयं ने काम में लिया।

अद्वैतवादी श्री जगद् गुरु शंकराचार्य ने भारत के सभी धर्मों और वादों को परास्त कर दिया, लेकिन वे अनेकान्तमय वीर-धर्म को परास्त करने में असमर्थ रहे। वे यों कहते थे कि "यह बहुत बिलों वाला चूहा है, इसे पकड़ना बड़ा मुश्किल है। एक बिल की तरफ बढ़ता हूँ तो दूसरे में चला जाता है।" इस तरह जो शंकराचार्य पहले अनेकान्त को संशयवाद कह कर पुकारते थे, उन्होंने ही इसे अनेक बिलों वाला चहा कह कर अनेकान्त की सार्थकता कबूल की। वे समझ गए थे कि यह एकान्त वाद को स्वीकारता नहींहै। अमुक अपेक्षा से यह भी सत्य और वह भी सत्य है, ऐसा मानता है। कोई माग और वाद पूर्णतया असत्य नहीं होते हैं और न अपने आप में पूर्ण होते हैं। जहाँ अनेकान्त सूर्य है वहाँ सब वादों का अन्त हो जाता है।

इस सिद्धान्त का इतना असर हुआ कि इसी अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन में पीछे से चलकर द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, विशिष्टा द्वैतवादी, शुद्धा द्वैतवादी आदि अनेक संप्रदायें बन गईं, जो अभी भी वर्तमान हैं। हमारा अनेकान्त दर्शन दुनियाँ के जितने भी धर्म मार्ग या वाद हैं उनका विरोध नहीं करता, वह तो अपनी समन्वय दृष्टि से इनमें भी सत्य देख कर परस्पर मिला हुआ समझता है या मिलाना बताता है। जो दो या अनेक मार्गों का बताने वाला पथदर्शक बोर्ड होता है वह माग नहीं होता। यह तो मार्गों को बतलाने वाला है। अतएव अनेकान्त को वाद कहना उचित नहीं, यह सिद्धान्त है।

जगत अनन्त है। जगत के तत्व, द्रव्य, गुण और पर्याय अनन्त हैं। विवक्षा करके समझाने के लिए एक, दो, तीन, चार, संख्य, असंख्य और अनन्त भेद कहे जाते हैं। जीव और अजीव दो तत्व कहे हैं, उन्हीं को ७ कहा, उन्हीं को ९ भी कहा। लेकिन ये स्थूल रूप से समझाने के लिए हैं। इनके और भी बहुत भेद बना सकते हैं

और अन्त में अनन्त का नम्बर आ जाता है। तत्वों, द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को जानने के तरीके भी अनन्त हैं। वे सब तरीके अनेकान्त के रूप हैं। कहना होगा कि द्रव्य अनन्त और उनका ज्ञान करने वाले ज्ञाता अनन्त तथा ज्ञान भी अनन्त है। जो एक है वह अनन्तमय है और जो अनन्त है वह एक है। एक का अन्त अनेक में है। एक व्यक्ति है और अनेक से जाति बनती है। व्यक्ति का समावेश जाति में है ही। अनेक का अन्त अनेकान्त में है। अनेकान्त अर्थात् अनन्त। यही अनेकान्त का रूप है। जैसे सिद्ध–'एक मांहि अनेक राजे अनेक मांहि एककं'—अर्थात् एक में अनेक और अनेक में एक है, वैसा ही अनेकान्त सिद्धान्त है।

एक सूक्ति है—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ'—'एको भावो सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।' इसके भाव को, अर्थ को और व्यंजन को जो समझता है वह सर्वज्ञता का उपहास नहीं कर सकता। एक द्रव्य को यदि ज्ञाता सम्पूर्ण रीत्या जान लेता है तो उससे कोई वस्तु छिपी नहीं रह सकती। सर्वकाल और सर्वक्षेत्र को सब प्रकार से जानने वाला अनन्त ज्ञानी—केवल ज्ञानी होता है। चर्म चक्षुओं से या शरीर के अन्य अंग उपांगों से यह ज्ञान सुलभ नहीं है, अतः इस ज्ञान का ज्ञाता अनेकान्त दर्शी होता है। वह एक भाव को अनेक अनन्त दृष्टि से जानता है अतः वह अनेकान्त ज्ञाता होता है। उसके द्वारा कहा हुआ अनेकान्त सिद्धान्त होता है। उसमें कोई भूल या कमी नहीं होती। इस तरह के अनेकान्त को वाद मे सुशोभित करना, सिद्धान्त की हत्या करना है। स्वयंसिद्ध अनेकान्त सिद्धान्त सर्वकाल और सर्वक्षेत्रों में पूर्ण व्याप्त है। समान रूप से व्यवहृत है। अनेकान्त को वाद मानना, मिथ्याज्ञान की परिभाषा में आता है।

अनेकान्त के साथ 'वाद" शब्द जोड़ कर जो अनेकान्त वाद का प्रयोग आज के या पुराने विद्वान कर रहे हैं वे व्यवहार दृष्टि से कर रहे हैं। निश्चय में अनेकान्त के साथ "वाद" शब्द उपयुक्त नहीं है। अतः अनेकान्तवाद की जगह अनेकान्त सिद्धान्त ही वास्तविक प्रयोग हो सकता है और है।

'अनेकान्तवाद' का शब्द प्रयोग जैन धर्म की तरह प्रचलित कर दिया गया है। धर्म जिस तरह सर्वकाल और सर्व लोकों में एक ही है और शाश्वत है। धर्म की दो प्रतिकृतियां नहीं हो सकतीं, न धर्म के अनेक रूप हो सकते हैं। यह निश्चय है कि धर्म को समझने और प्रयोग में लाने के अनेक और अनन्त मार्ग हैं। धर्म को अनेक प्रकार से देखा जा सकता है और देखा जा रहा है। समय और क्षेत्र की दृष्टि से धर्म के भिन्न-भिन्न तरीके बना लिए जाते हैं। इन सबमें धर्म का असली रूप किन्हीं अंशों में कायम अवश्य रहता है। उसी तरह अनेकान्त को अनेक ढग से देखा जाता है और उन सब तरीकों में अनेकान्त का अंश वर्तमान रहता है। हम आज जैन दर्शन और जैन धर्म, ऐसा पुकार कर अपने पूर्ण पुरुषों - सर्वज्ञों और तीर्थङ्करों की अवज्ञा कर रहे हैं। ऐसा बता रहे हैं कि जैसे ईसाई, मुस्लीम, बौद्ध, हिन्दू आदि धर्म हैं उसी तरह महावीर का प्रशस्त धर्म भी उसी मंजिल में हैं। महावीर के अनेकान्त मय दर्शन और अनेकान्त-मय पूर्ण धर्म को हम दूसरे धर्मों की श्रेणियों में गिन रहे हैं। इस तरह जैन धर्म को विश्व धर्म बनाने के स्वप्न देखने वाले व्यक्ति स्वयं कूपमण्डूक बन कर समुद्र को कुएँ के रूप में मान रहे हैं। यही आज के विद्वानों की बुद्धिमता है। दूसरे व्यक्ति या विद्वान भिन्न-भिन्न पंथों को समझने की दृष्टि से वीर के विश्व धर्म को जैन धर्म कहकर पुकारते हैं और हम भी कुछ-कुछ उसे स्वीकार कर धन्य बनते हैं। यही हालत हमारे अनेकान्त सिद्धान्त की बना रखी है। जो सारी दुनियां की उलझनों को सुलझाने का और अनेक वादों और पंथों का समन्वयपूर्वक हल करने का बल रखता है, उसे भी हम 'वाद'' शब्द से सम्बोधित करें—यह कितनी दयाजनक स्थिति है। मैं समझता हूँ मेरे उपर्युक्त विश्लेषण के बाद "जैन" कहलाने वाले वीर धर्म के विद्वान वीर के बताये अनेकान्त सिद्धान्त को "अनेकान्तवाद" न कह कर उसके लिए "अनेकान्त सिद्धान्त" का ही व्यवहार करेंगे।

★

राष्ट्र को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में

गोरक्षण की भूमिका

स्वामी श्री गवानन्दहरिजी का गोरक्षासंबंधी यह लेख काफी गंभीर एवं विचारोत्तेजक है। आंकडों के माध्यम से गोरक्षण की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

—संपादक

आज जब कि 'गोवंश हत्या बन्दी कानून' प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी जी के विचाराधीन है, गोपालन के सम्बन्ध में प्रयास अति आवश्यक है। गोपालन राष्ट्र को आत्म निर्भर बनाने के लिये सुरक्षा का महत्वपूर्ण मोर्चा है। आज कृषि को यंत्रीकरण करने के लिये ४० लाख ट्रेक्टरों की आवश्यकता है, इसके लिये अपार पूंजी चाहिये। इसका प्रभाव विदेशी मुद्रा पर भी पड़ेगा। कृषि कार्य से ५० प्रतिशत से अधिक ६२०० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय होती है। कृषि कार्य में बैलों के श्रम का मूल्य १२०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष है, एवं ४०० करोड़ अश्व शक्ति की प्राप्ति होती है। दूध से ६५६ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष आय है। गोबर का मूल्य २२७ करोड़ रुपया है, जो कि सिन्द्री के ६ फैक्ट्रीयों के बराबर खाद है। गो वन्श उद्योग से ३४०० करोड़ प्राप्त होते हैं। ७० प्रतिशत जीवन इसी पर आधारित है। गोपालन व्यवसाय की कमी से ७ करोड़ लोग बेकार हो गये है। गोबर मूत्र की खाद से ४० प्रतिशत उत्पादन बढ़ता है। भूमि में कृषि करने से गोपालन अधिक लाभकारी है। भैंस का दूध स्वास्थ्य के लिये हानिकारक एवं गाय का दूध ही लाभकारी है। इसलिये विदेशों में केवल गाय का दूध ही पीने के काम में आता है।

आज कृषि के लिये ४०० करोड़ ७० लाख १३ हजार बैलों की कमी है। दूध केवल पौने पांच औंस प्रति व्यक्ति प्राप्त है, जब कि स्वास्थ्य के लिये कम से कम १० औंस प्रति व्यक्ति मिलना चाहिये, इस लिये सरकार ने भी श्वेत क्रान्ति अथवा दुग्ध उपज बढ़ाने की घोषणा की है।

देश में चारे की कमी बतलाई जाती है। वास्तव में चारे की कमी नहीं है। जंगलों में और सड़कों के किनारे उगे घास का सदुपयोग नहीं किया जाता है, यदि फालतू भूमि में उचित घास बिखेर दिया जावे तो चारा बहुत उत्पन्न हो सकता है। गाय के चारे, दाने, गवार और खली आदि का निर्यात बन्द करना होगा। चारे की ५० प्रतिशत शक्ति जो नष्ट हो रही है उसे विज्ञान की सहायता से सुरक्षित करना होगा। गोवंश पालन एवं संरक्षण का कार्य भार उठाना, केवल एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। इसमें तो सभी का सहयोग मिलना चाहिये।

गोपालन का पवित्र कार्य उपनिषदों की परम्परानुसार ब्रह्मर्षियों की कुटियों से प्रारम्भ होकर राज प्रासादों एवं ग्रामीण कृषकों के लिये सुविधा जनक बनाना चाहिये। उसके लिये प्रान्तीय सरकारें, जिला परिषदें, नगर निगम एवं नगर पालिकाएँ तथा ग्राम पंचायतों को अपने अपने क्षेत्र के अनुरूप बनाना चाहिये। समाचार पत्र एवं आकाशवाणी का सहयोग भी इस पवित्र कार्य को मिलना चाहिये। पूंजीपतियों का धर्मादा, जो आज निरर्थक कार्यों में प्रयोग हो रहा है, वह इस पवित्र कार्य में लगाना चाहिये। पूंजीपतियों को उद्योग के रूप में भी गोपालन का व्यवसाय कर भारतीय परम्परा को सजीव रखना होगा।

गो रक्षा आन्दोलन के प्रवर्तक :
—स्वामी गवानन्द हरि

★

वी रा य त न

'वीरायतन' की योजना के सम्बन्ध में कलकत्ता से ६ बन्धुओं का एक शिष्टमण्डल, जिसमें श्री केशव भाई खंडेरिया, श्री नगीन भाई शाह श्री चन्दुभाई कोठारी, श्री छोटूभाई गांधी, श्री रसिक भाई सेठ एवं श्री मनसुख भाई हेमाणी थे, दि० २४-१०-७१ के रोज परम श्रद्धेयराष्ट्रसन्त, उपाध्याय पूज्य गुरुदेव कवि श्री अमरमुनि म० श्री की सेवा में आगरा उपस्थित हुआ। यहाँ पर श्रद्धेय कवि श्री जी महाराज तथा आगरा के प्रमुख उत्साही कार्यकर्ताओं के साथ जो विचार विमर्श हुआ, वह इस प्रकार है :—

(१) 'वीरायतन' की योजना के लिए सब स्थानों की तुलना में 'राजगृही' सबसे उत्तम और आदर्श स्थान है। यहाँ श्रमण भगवान महावीर के १४ चातुर्मास हुए थे, अतः हम जो योजना क्रियान्वित करें वह स्मृति के अनुरूप है।

'राजगृही' और वहाँ की पर्वतीय श्रृङ्खलाएं जैनों के यात्रा का स्थान है।

'राजगृही' का गरम पानी का कुण्ड और वहां को स्वास्थ्यकारक जलवायु, इस योजना के लिए उचित है।

'राजगृही' के सन्निकट भगवान महावीर की निर्वाण भूमि 'पावापुरी' और सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान नालंदा अवस्थित है। जैन इतिहास में 'राजगृही' का स्थान ऊँचा है।

प्रत्येक प्रांत के बन्धुओं को अखिल भारतीय स्तर पर यह पवित्र स्थान अपना महसूस हो सकता है। यहाँ किसी भी प्रकार का प्रांतीय या स्थानीय महत्व नहीं रहता है, अपितु अखिल भारतीय महत्व ही दृष्टिगोचर होता है।

यह स्थान किसी एक का नहीं है, किन्तु सभी का है। वहाँ दूसरे धर्मों के तीर्थों का भी विकास हुआ है, इसलिए 'राजगृही' का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय कक्ष तक पहुँचता है।

पूज्य कवि श्री महाराज के सान्निध्य में आगरा संघ के प्रतिनिधियों एवम् कलकत्ता संघ के कार्यकर्ताओं की मीटिंग हुई। जिसमें ऊपर निर्दिष्ट कारणों को लक्ष्य में लेकर 'वीरायतन' की योजना 'राजगृही' में साकार होनी चाहिए; ऐसा निर्णय लिया गया।

(२) 'वीरायतन' की विशाल योजना के लिए वर्तमान में पूर्व भारत स्था० जैन संघ द्वारा क्रीत आधा एकड़—२३००० घन फीट जगह के अलावा एक और बड़ी जगह की आवश्यकता रहेगी।

(३) विशाल योजना को लक्ष्य में रखते हुए फिलहाल 'राजगृही' में कम से कम १५ एकड़ से ५० एकड़ तक जमीन की आवश्यकता रहेगी।

इसके लिए दिल्ली मे सरकारी स्तर से वार्त्ता चलाकर सरकार के पास से जमीन की मांग करना आवश्यक समझा गया। एतदर्थ श्री सुशील मुनि जी महाराज की प्रेरणा पर कलकत्ता संघ के श्री मनसुख भाई हेमाणी आगरा से दिल्ली गये थे और दिल्ली में भारत सरकार के शिक्षा उपमन्त्री श्री यादव सा० से भेंट की।

(४) आगरा में संघ के बन्धुओं ने 'वीरायतन' संघ की स्थापना के लिए एक रूपरेखा तैयार की है। उसका संशोधन परिवर्तन करके नियमोपनियम रेज्युलेशन एवम् ट्रस्ट डीड की फ़ाइनल कॉपी तैयार करने का काम सर्वश्री केशवभाई खडेरिया को दिया गया है।

इस महत्वपूर्ण विषय में 'वीरायतन संघ' अखिल भारत में व्याप्त स्थानकवासी संघों का मण्डल बने। इस मण्डल के प्रत्येक संघ सदस्य बन सकते हैं और अपने प्रतिनिधि भेज कर जनरल बोडी का प्रतिनिधित्व कर सकेंगे।

इसके उपरान्त २५००) या इससे अधिक रकम प्रदान कर 'वीरायतन संघ' के जनरल बोडी का आजीवन सरस्य बन सकता है।

५०८००) से १ लाख तक का सहयोग देने वाले आजीवन ट्रस्टी बन सकते हैं।

(५) श्री मनसुख भाई दिल्ली गये थे तब पूज्य श्री सुशीलकुमार जी म० तथा भारत सरकार के शिक्षा उपमन्त्री श्री यादव सा० से भेंट कर राजगृही में सरकारी स्तर पर जगह मिलने की सम्भावना हेतु यह निर्णय हुआ था कि श्री यादव सा. दि० ६-११-७१ को 'राजगृही' पहुँचें, तब दिल्ली, आगरा एवं कलकत्ता के प्रतिनिधियों को भी श्री यादव जी के साथ दिल्ली से 'राजगृही' पहुँचना चाहिए।

तदनुसार कलकत्ता के श्री जयन्ति भाई सेठ व श्री रमणिक भाई दोशी, आगरा के प्रतिष्ठित एक्स मेयर सम्माननीय श्री कल्याणदास जी जैन और श्री हरिबाबू दिल्ली पहुँचे।

दिल्ली से श्री विश्व धर्म परिषद् के सेक्रेटरी श्री मदनलाल जी शर्मा, और अपने संघ के उपर्युक्त चारों भाई, डिप्टी एज्युकेशनल मिनिस्टर श्री यादव जी के साथ, दिल्ली से राजगृही आये। उस मीटिंग में उपस्थिति हेतु कलकत्ता से श्री नगीन भाई शाह भी राजगृही पहुँच गये थे।

श्री केशवभाई खडेरिया जाने वाले थे, परन्तु अनिवार्य कार्य-वशात् उपस्थित न हो सके।

'राजगृही' में विहार सरकार के चीफ सेक्रेटरी श्री सोहोनी भी उपस्थित थे। सरकारी प्रतिनिधि एवं अपने प्रतिनिधियों को लेकर २५ भाइयों की मीटिंग में श्री कल्याणदासजी जैन ने अपनी 'वीराय-तन' योजना को विस्तारपूर्वक समझाया, जिसकी उन सभी ने बहुत ही प्रशंसा की थी और 'वीरायतन' की १८ धाराओं के अतिरिक्त अपनी ओर से अन्य ४ धाराओं का समावेश करने हेतु श्री यादव सा. तथा सोहोनो जी ने सुझाव दिया था। हो सके तो इन धाराओं को भी अमल में लाया जाय; ऐसी भी प्रेरणा दी।

मीटिंग के बाद सब भाई सरकारी प्रतिनिधि के साथ भूमि के लिए साइड देखने गये।

पांचवें पहाड़ वैभार गिरि के कुण्ड की तरफ पहुँचने के पहले अर्थात् दांयी तरफ सरकार ने विशेष जमीन एक्वायर करके टाऊन प्लानिंग के लिए निश्चित किया है, वह जमीन मैदानी इलाका है।

वहाँ अभी तक सरकार के हाथ में ४० एकड़ जमीन आई है, और आने को शेष हैं। उसमें 'वीरायतन' के लिए जमीन मिलने की सम्भावना है।

उसके बाद दूसरी जमीन पांचवें तथा पहले पहाड़ के बीच से निकलने वाली सड़क पर आगे आने वाले कुण्ड के पीछे जो तालाब और बाग है, वहाँ सुवर्ण भण्डार के कुण्ड की जमीन फोरेस्ट डिपार्टमेन्ट की हैं, उसमें से ५० एकड़ जमीन की सम्भावना है। जमीन झाड़ी वाली है। ऊँची-नीची भी है।

परन्तु नजदीक में ही सड़क, पानी का नल, बिजली और टेली-फोन लाइन है।

सुवर्ण भण्डार के कुएं के नजदीक से ही सरकार ने "गया" तरफ जाने के लिए एक शार्ट कट सड़क बनाने की योजना शुरू की है।

इस जमीन को देखने के बाद 'वीरायतन' के लिए सरकार की तरफ से यह जमीन मिल सके, इस हेतु सरकारी फाइल शुरू करने में आई है, और 'वीरायतन' के कार्यकर्ताओं के रूप में वहाँ गये हम प्रतिनिधियों के नाम एण्टर हुए हैं।

इसके बाद इस विषय पर निश्चित निर्णय लेकर जगह पसंद करना और उसकी दरखास्त विहार सरकार में दाखिल करना, यह काम है।

दिल्ली और आगरा से आये हुए भाइयों को दिल्ली की व्यवस्था करनी होगी और 'राजगृही' एवं 'पटना' की व्यवस्था कलकत्ता से करनी होगी।

मत्री—श्री पूर्व भारत स्था० जैन संघ, कलकत्ता

★

कलकत्ता में वीरायतन-समारोह

कलकत्ता में विदुषी महासती श्री सुमति कुंवर जी म०,
दर्शनाचार्य श्री चन्दना जी म० के
सान्निध्य में

श्री उत्तराध्ययन सूत्र संपादन का समापन समारोह

वीरायतन बालिका संघ का उद्‌घाटन

श्री सुमति महिला-मण्डल की स्थापना

दिनांक ६।१।७२ को कलकत्ता—भवानीपुर के जैन कामाणी भवन में उक्त समारोहों का कार्यक्रम विधिवत् संपन्न हुआ। व्याख्यान मंडप नर-नारियों से खचाखच भरा था। भाई बहिनों में उत्साह का सागर लहरा रहा था। सर्वप्रथम विदुषी पं० महासती श्री सुमतिकुँवर जी महाराज ने "जिनवर ! आगम की महिमा है" प्रार्थना का अपने गंभीर एवं मधुर कंठ से संगायन किया। पश्चात् अपने विद्वत्तापूर्ण प्रवचन में फरमाया कि "संसार में वीतरागवाणी का प्रचार ही अपने लिए आलम्बन रूप है। जैसे पिता पुत्रों के लिए अन्तिम समय में जो उपदेश दे जाता है, वह एक पवित्र धरोहर समझी जाती है, उसी तरह "उत्तराध्ययन सूत्र" भी वीर प्रभु की अन्तिम देशना है। जो स्थान वैदिक संस्कृति में "गीता" का है, वही स्थान श्रमण संस्कृति में उत्तराध्ययन सूत्र का है। हमारी जानकारी के अनुसार अब तक २६ मुनिवरों एवं विद्वानों ने उत्तराध्ययन सूत्र की टीका, छाया, अनुवाद आदि मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश भाषाओं में किया है, यही इसकी लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण है।

गत दीपावली के अवसर पर कलकत्ता स्था. जैन संघ के तत्त्वावधान में "उत्तराध्ययन" सूत्र की स्वाध्याय-साधना चल रही थी, तब यह विचार स्फुरित हुआ था कि यदि इस महान् ग्रंथ रत्न का सरल एवं सुबोध भाषा में अनुवाद जनता के सम्मुख उपस्थित

किया जाए, तो इसका अत्यधिक प्रचार-प्रसार हो सकता है। कलकत्ता संघ के इस पावन आग्रह को महासती श्री चन्दना जी ने उत्साह के साथ स्वीकार किया और अथक परिश्रम द्वारा केवल ४५ दिनों में ही विशाल ग्रंथराज का महत्व पूर्ण अनुवाद आप महानुभावोंके समक्ष उपस्थित किया है। इस महान् कार्य में सतीजी श्री यशा जी ने भी उल्लेखनीय सहयोग दिया है।

जितने दिनतक लेखन कार्य चला, संघ की तरफ से प्रतिदिन आयंबिल-तप चलता रहा, यह भी उल्लेखनीय है। भवानीपुर का संघ ही नहीं, बल्कि बड़ा बाजार आदि स्थानों के लोगों ने भी इस पवित्र कार्य में जो हार्दिक सहयोग प्रदान किया है, वह चिर स्मरणीय रहेगा। दोनों जगह करीब ६०० आयंबिल हुए हैं। प्रस्तुत अनुवाद की एक विशेषता और है, कि आज तक जितने भी अनुवाद हुए हैं, वे पुरुषों के द्वारा ही हुए हैं। नारियों के द्वारा नहीं। आज श्री चन्दना जी ने प्रस्तुत सुन्दर अनुवाद के द्वारा दिखला दिया कि नारियाँ भी पुरुषों से कम नहीं? वीर प्रभु के शासन में नर नारी की आत्मिक योग्यता में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञान एवं प्रज्ञान का विकास दोनों में ही समान रूप माना गया है। "वीरायतन" योजना से सम्बन्धित यह भी एक विशिष्ट उपलब्धि है, अतः घर घर में इसका पठन-पाठन हो, प्रचार-प्रसार हो, यही हार्दिक शुभेच्छा।"

तत्पश्चात् विदुषी महासती श्री चन्दना जी म० ने अपने प्रभावोत्पादक भाषण में फरमाया कि-"उत्तराध्ययन सूत्र भगवान् महावीर के निर्वाणपूर्व की देशना है। १२॥ वर्ष की कठोर साधना के फलस्वरूप जो ज्ञान ज्योति प्रकट हुई और उपदेशधारा प्रवाहित हुई, उसी का अमुक अंश इस ग्रंथ रत्न में गुम्फित है। शब्दों का अपना कोई महत्व नहीं होता। शब्दों के पीछे जो अनुभूति है, उसका महत्त्व है। शब्दों के अर्थ को ग्रहण करने की योग्यता, क्षमता होनी चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ अध्ययन हैं, जो भगवान् महावीर की निर्मल साधना की गहराई से जनकल्याण की दिशा में प्रवहमान हुए हैं।

आचार्य भद्रबाहु के उत्तराधिकारी श्री स्थूलभद्र ने पाटलीपुत्र में

सर्व प्रथम आगमों का संकलन किया। यह संमेलन महावीर निर्वाण के १६० वर्ष बाद हुआ है।

महावीर निर्वाण के ८२७ अथवा ४० में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगमों का संकलन मथुरा में हुआ।

इसी समय वल्लभी–सौराष्ट्र में भी नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में आगमोद्धार सम्बन्धी सम्मेलन हुआ था।

वीर निर्वाण के ९८०-९३ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र में ही देवर्द्धिगणि के नेतृत्व में तीसरा सम्मेलन हुआ। जैन इतिहास के अनुसार इसी सम्मेलन में सर्व प्रथम आगम साहित्य लिपिबद्ध हुआ, जो अब तक मौखिक चला आ रहा था।

उत्तराध्ययन सूत्र पर सर्व प्रथम प्राकृत पद्य में निर्युक्ति मिलती है, जो श्रुत केवली भद्रबाहु कीं रचना मानी जाती है, जिसका पल्लवित अन्तिम संस्करण लग भग वि० सं० ५०० से ६०० के बीच सम्पन्न हुआ। इसके अनन्तर प्राकृतसंस्कृत-मिश्रित गद्य रचना चूर्णि है। संस्कृत टीआओं में सर्व प्रथम रचना वादिवेतालशान्ति सूरी की टीका है, इसके अनन्तर नेमिचन्द्र की सुखबोधा, जिनभद्रसूरि के शिष्य कमल संयम उपाध्याय की बृत्ति, माणिक्य शेखर शूरि की दीपिका टीका, धर्ममन्दिर उपाध्याय की मकरन्द टीका, शान्तिभद्राचार्य की अवचूरी आदि अनेक टीकाएँ निर्मित हुईं।

वर्तमान युग में आगमोद्धारक पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, जैनागम रत्नाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज, पूज्य श्री घासीलाल जी म०, श्री सन्तबाल जी आदि मुनिराजों ने भी लोकभाषाओं में उक्त परंपरा को आगे बढ़ाया है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान याकोबी और शार्पेंटियर के द्वारा संपादित उत्तराध्ययन के अंग्रेजी संस्करण भी अपनी शैली के महत्वपूर्ण संस्करण हैं।

उक्त उल्लेखों से फलित होता है कि अबतक जो कुछ भी हुआ है, वह साधुओं एवं पुरुषों के द्वारा ही हुआ है, किन्तु भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि नारियाँ भी महान् से महान् कार्य संपादन कर सकती हैं। आज भारत की प्रधान मंत्री इन्दिरा गान्धी का ज्वलन्त एव जीवित उदाहरण सारे विश्व के

समक्ष उपस्थित है। भारत वर्ष ने नारी जाति को आदिकाल से ही सम्मान एवं प्रतिष्ठा से देखा है। फिर भी मध्यकाल की क्या भूल हुई कि साधुओं का तो क्रमबद्ध इतिहास है, लेकिन साध्वियों का नहीं है। साध्वियों की कोई निश्चित परंपरागत ऐतिहासिक धारा नहीं। अतः उनके द्वारा आगम-ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन, जैसा कि पूर्व श्रद्धेय महासती जी महाराज ने कहा है, नहीं हो सका। परम श्रद्धेय कवि जी महाराज की प्ररणा, बड़े म० की सद्भावना, महासती जी म० की इच्छा, श्री यशा जी की व्यवस्थित संकलना—इन सभी के सहयोग से यह गुरुतर कार्य इतने अल्पसमय में हो सका है। संघ एवं समाज पर प्राचोन आगमों के संरक्षण की बड़ी भारी जिम्मेदारी है। दिगम्बर परम्परा में तो शास्त्र वाचन की अक्षुण्ण परिपाटी आज भी चली आ रही है, श्वेताम्बर परंपरा में यह स्थिति नहीं है। भगवान महावीर के जीवन स्पर्शी तत्त्वों का हमें यदि प्रचार प्रसार करना है, और वह निश्चित करना ही है, तो शास्त्राध्ययन की परम्परा का अनुगमन करना आवश्यक है।

आज जैन समाज विभिन्न परम्पराओं एवं विचारों में बटा हुआ है। एकसूत्रता जैसी कोई चीज नहीं दीख रही है। अस्तु, हम सब परस्पर प्रेम से, आत्मीयता से रहेंगे, तो हमारा जीवन प्रगतिशील होगा। परंपरा के गौरव की रक्षा के लिए संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है।

व्यर्थ की बातों में उलझे रहने से कोई लाभ नहीं है। यदि हम इधर उधर की निन्दा, घृणा एवं कटुता को दूर कर संघटित हों, तो भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी से सम्बन्धित सभी कार्यक्रम शानदार ढंग से सम्पन्न हो सकते हैं। आपके यहाँ "वीरायतन" की योजना भी इसी संदर्भ में प्रचलित है, उसमें भी बिना किसी भेद भाव के सब का सहयोग होना चाहिये। भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा प्रगट करने का यह स्वर्णावसर है।

आज "वीरायतन बालिका संघ" का उद्घाटन होने जा रहा है। प्रत्येक परिवार में से कम से कम एक बालिका को तो इसका सदस्य होना ही चाहिए। परम श्रद्धेय राष्ट्रसंत पू० कवि श्री जी म० की हार्दिक मनीषा है कि "वीरायतन सेवा समिति" के लाखों

सदस्य बनें और निर्वाण शताब्दी के प्रस्तावित कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए पूरी लगन एवं हार्दिक निष्ठा से जुट जाएँ। संघ के तरुण भाई बहन सजग एवं सशक्त हों, तो बड़ा से बड़ा कार्य भी बड़ी आसानी से हो सकता है।

कम से कम एक ऐसा केन्द्र होना चाहिए, जहाँ हम अपने सारे भेदों को भुला कर वीर प्रभु की दिव्य ज्योति सर्वत्र प्रसारित कर सकें, भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि मैं क्षत्रिय हूँ, राजा हूँ, राजकुमार या ऐसा ही कुछ और हूँ। भगवान् ने जब भी कहा, यही कहा कि मैं एक श्रमण हूँ, साधु हूँ। यह है जातीय भेद भावना से मुक्त शुद्ध जैनत्व की दृष्टि। आज हम भी राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती के भेदों को दूर कर एक स्वर से कहें कि हम भगवान् महावीर के भक्त हैं, हम सिर्फ जैन हैं। "वीरायतन" के बारे में भी हम जितना ही अधिक सुसंगठित हो सकेंगे, उतना ही यह महान कार्य गतिशील होगा। नदियाँ जैसे समुद्र में एकाकार हो जाती हैं, उसी तरह हम भी भगवान वीर की पुण्य स्मृति में किये जानें वाले कार्यक्रमों में एकाकार हो जाएँ। हमारा मन एक हो, वाणी एक हो और कर्म एक हो। संगच्छध्वं, संवदध्वम्।"

'वीरायतन बालिका संघ' का उद्घाटन

"वीरायतन बालिका संघ" के उद्घाटक थे, एस्० एस्० जैन सभा के अध्यक्ष श्री जगदीशराय जी जैन। जैन का परिचय देते हुए प्रमुख प्रवक्ता श्री चारु देसाई ने कहा कि "भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में जो कार्य होगा, उसमें यह संघ उत्साह पूर्वक हाथ बँटाएगा। बड़ों के शुभाशीर्वाद से निश्चित ही यह कार्य आगे बढ़ेगा, यह विश्वास है। प्रस्तुत बालिका संघ का सौभाग्य है कि श्री जगदीशराय जी जैन जैसे उत्साही एवं कर्मठ महानुभाव उद्घाटक के रूप में हमें प्राप्त हुए हैं।"

इस अवसर पर श्री गीता लाठिया ने स्वागत-गीत गाकर उपस्थित जनसमूह को मुग्ध कर दिया।

अनन्तर श्री ऊषा शाह ने अपने भाषण में कहा कि "वीरायतन योजना को विकसित करने हेतु ही इस बालिका संघ का निर्माण हो रहा है। उस महान् ध्येय को सफल बनाने के हेतु १००० स्वयं-सेविकाओं की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति प्रस्तुत संघ द्वारा होगी।

भगवान् महावीर की जन-कल्याण भावना को नगर नगर और ग्राम ग्राम में पहुंचाने का प्रयत्न किया जायगा। जिस तरह बौद्ध धर्म सारे विश्व में फैला हुआ है, उसी तरह जैन धर्म को भी जन-जन में फैलाने का सामूहिक एवं संगठित प्रयत्न अपेक्षित है। "राजगृही" में परम श्रद्धेय कवि जी महाराज की प्रेरणा से जो महान् कार्य होने जा रहा है, उसके लिए यह बालिका संघ तन, मन, धन से पूर्णरूपेण कटिबद्ध रहेगा।"

अन्त में उद्घाटनकर्ता श्री जगदीशरायजी जैन ने "वीरायतन बालिका संघ" का उद्घाटन करते हुए कहा कि "बालिका संघ के उद्घाटन हेतु कुछ बालिकाएँ मेरे पास आईं। मैंने इसके लिए एक दूसरे महानुभाव का नाम सुझाया। परन्तु बालिकाओं का आग्रह मेरे लिए ही रहा। अतः उनके असीम उत्साह को देखकर उनका आग्रह टाल नहीं सका।

श्रद्धेय राष्ट्रसंत कवि श्री अमरचंद जी महाराज के शुभ नाम से आप लोग पूर्णरूपेण परिचित हैं ही, "वीरायतन" योजना उन्हीं के द्वारा प्ररूपित है। उन्होंने इसके लिए इस प्रकार के उत्साही संघों की स्थापना के लिए प्रेरणा दी है। विश्वधर्म-प्रेरक पं० श्री सुशीलमुनि जी म० ने भी इसका समर्थन किया है। भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में संस्था के अधिक से अधिक सहयोगी सदस्य बनाने हैं, इस दिशा में संघ अपनी महत्त्व पूर्ण सेवाएँ अर्पण करेगा। इसके लिए खुले मन से सभी गुजराती, राजस्थानी एवं पंजाबी भाइयों एवं बहनों से संपर्क स्थापित करना जरूरी है। और मुझे विश्वास है—यह संपर्क स्थापित होगा, और हम सब सच्चे मन से उन्हें इस पवित्र कार्य में सहयोग करेंगे। योजना अपने लक्ष्य में एक बहुत ही सुन्दर योजना है।

हम कलकत्ता वासियों का सौभाग्य है कि विदुषी महासती जी यहाँ पधारी हैं, उनके द्वारा समाज को उल्लेखनीय धर्म प्रेरणा मिली है एक अच्छी जागृति की लहर पैदा हुई है। उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलना हमारा कर्त्तव्य है।

जैन धर्म के साधु-साध्वी हमें एक महान कल्याणकारी मार्ग पर चलने का उपदेश करते हैं। अमेरिका में मैंने देखा कि जैन धर्म के प्रति काफी रुचि है। आज आवश्यकता है, भगवान् महावीर के

प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा अनेकान्तवाद को सारे विश्व में फैलाने की।

आज जैनधर्म के साधु-साध्वियों को विदेश में जाकर धर्म प्रचार करने की महती आवश्यकता है। लेकिन हमारे आदरणीय सन्त-सती सीमाओं से बंधे हुए हैं, इसलिए वे सुदूर परदेशों में भ्रमण नहीं कर सकते हैं। अतः भारत एवं भारत के बाहर सुदूर प्रदेशों में धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए हम पर ही बड़ी भारी जवाबदारी आ जाती है। यदि हम इन उत्साही बालिकाओं की पूरी सहायता करें तो वे भविष्य में बहुत कुछ कर सकती हैं।

राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती आदि हम सब एक हैं। जिस कौम की सभ्यता एवं संस्कृति जितनी ही विकसित तथा विशाल होगी, वह समाज उतना ही उन्नतिशील बन सकेगा। अतः हम सब भेद-भाव भुलाकर संघठित रूप से "वीरायतन" की योजना को कार्यरूप में परिणत करने हेतु अग्रसर हों। "वीरायतन" भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणा-स्तम्भ है। इस प्रकार यथावसर हमारे साधु-साध्वी हमें ठीक रास्ते पर चलने की प्रेरणा देते हैं, एतदर्थ हम उनके ऋणी हैं। ऐसे संघ सब जगह स्थापित हों, यह मेरी और आप सब की हार्दिक अभिलाषा है।"

प्रमुख अतिथि उद्घाटक महोदय ने अपनी तरफ से उत्साह वर्धन हेतु बालिका संघ को भेंट प्रदान की। उपस्थित अन्य अनेक महानुभावों ने भी योग्य सहायता प्रदान कर बालिकाओं का उत्साह बढ़ाया। 'वीरायतन बालिका संघ' ने वीरायतन योजना के लिए अपनी ओर से तत्काल २५०१) प्रदान किये। 'जयश्री' कामाणो ने उद्घाटक महोदय एवं उपस्थित जनों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित किया।

श्री रसिक भाई शेठ ने "वीरायतन" की अद्यावधि प्रगति पर प्रकाश डाला, एवं जिन महानुभावों ने अबतक सहायता प्रदान की है, उनका नामोल्लेख किया तथा भविष्य में यथोचित सहायता एवं सहयोग देते रहने के लिए अनुरोध किया। तेरह हजार, ११०००) एवं ५०००) प्रदान करने वाले कई महानुभाव अग्रसर हुए। संघ में उत्साह है। 'वीरायतन' का संविधान तैयार हो चुका है। बिहार सरकार से रजिस्ट्रेशन हेतु सम्पर्क साधा जा रहा है।

'श्री सुमति महिला-मण्डल' की स्थापना

आज के दिन ही ठीक २ बजे "सुमति महिला मण्डल" की स्थापना-विधि की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। बड़ा बाजार, भवानीपुर की महिलाओं से व्याख्यान हॉल भरा हुआ था।

सर्व प्रथम दर्शनाचार्य विदुषी पं० श्री चन्दना जी म० ने अपने मंगल-प्रवचन में फरमाया कि "मनुष्य को प्रेम की आवश्यकता है। आत्मिक शांति की आवश्यकता है। जिसके हृदय में सेवा की भावना है, मानवता की जागृति है उसी का जीवन सरस एवं सुन्दर है ?

समाज-रचना पुरुष एवं नारी के रूप में दो भागों में विभक्त है। नारी की सजल आंखों में जो सहज स्नेह सद्भाव एवं करुणा है, वह अन्यत्र कम मिलेगी। स्नेह एवं करुणा की अमृत धारा में लोग अपने दुःखों को भूल जाते हैं। नारी ममता की प्रतीक है, नारी में गृहस्थी को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने की अद्भुत क्षमता है। नारी स्नेह, करुणा की प्रतिमूर्त्ति है। आज भारत की प्रधान मन्त्री श्री इन्दिरा गांधी जवानों के बीच जाती हैं, उनके दुख दर्द की बात पूछती हैं, उनकी योग्य व्यवस्था करती हैं. तो घायल जवान अपने दुःखों को भूल जाते हैं, उनके मन की प्रसन्नता सहसा फिर लौट आती है। आज नारी समाज पर बड़ी भारी जिम्मेवारी आ गई है। एक प्रकार से समाज रक्षा तथा राष्ट्ररक्षा, धर्म रक्षा का बहुत बड़ा दायित्त्व उन्हीं पर है। किन्तु जबाबदारी को वहन करने के लिए संगठन की बड़ी भारी आवश्यकता है। **"संघे शक्तिः कलौ युगे"**। आज जितनी जातियाँ हैं, जितने समाज हैं, जितने धर्म-सम्प्रदाय हैं, प्रायः वे सब अपने संगठन बना रहे हैं।

दस-बीस, पचास-सौ व्यक्ति एक साथ मिलकर जो काम करेंगे, उसकी कीमत होगी। अतः सब बहनें मण्डल के रूप में संगठित होकर समाज सेवा, शिक्षण, कुरीति निवारण आदि जो भी कार्य करेंगी, वह सब बहुत सुन्दर, ठोस एवं रचनात्मक कार्य होगा।

आज भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के हेतु आध्यात्मिक शिक्षण की नितान्त आवश्यकता है। सप्ताह में १ दिन भी स्वाध्याय करने का यदि आप नियम ले लें. तो इस दिशा में आप अपनी भावी पीढ़ी को भी गौरवान्वित एवं समुज्वल

बना सकती हैं। हम अपने जीवन के शतांश भाग का ही उपयोग करते हैं, शेष जीवन के अमूल्य क्षणों को यों ही खो देते हैं। पैसा चला जाता है तो उसके लिए दु:ख होता है, लेकिन पैसा फिर भी मिल सकता है, परन्तु जीवन के बीते क्षण तो दुबारा लौटकर नहीं आते। अत: जीवन को समुज्ज्वल बनाने हेतु आध्यात्मिक गुणों का विकास आवश्यक है और इस के लिए स्वाध्याय की बड़ी ही आवश्यकता है। स्वाध्याय के द्वारा आप स्वयं ज्ञानलाभ कर सकती हैं, साथ ही सर्व साधारण जनता में धर्म का उद्द्योत भी कर सकती हैं। अष्टमी-पक्खी के दिन व्रत, नियम आदि के साथ आत्म-चिन्तन करना भी बहुत जरूरी है।

आपका दूसरा कार्य है जन-सेवा। आपको साहस के साथ समाज में आना होगा और सेवा के द्वार खोलने होंगे। आप अपनी विशिष्ट सेवाओं से जनता के मानस-पटल पर अपना सही चित्र अङ्कित कर सकेंगी, आपकी कार्य शक्ति और उत्साह लोगों के लिए प्रेरणा के प्रतीक होंगे।

युवकों को वीरायतन सेवा समिति में, बालिकाओं को बालिका संघ में, एवं महिलाओं को महिला-मण्डल में प्रविष्ट कराना, आपका प्रधान कर्त्तव्य है। शरीर जीर्ण हो सकता है, लेकिन मन तो प्रतिक्षण नित नया होना चाहिए। आपसे बहुत सी आशाएँ हैं। भगवान् महावीर का २५०० वां निर्वाण पर्व जो शीघ्र ही आ रहा है, उससे सम्बन्धित रचनात्मक कार्यक्रमों में भी आप बहुत कुछ योगदान कर सकती हैं।"

सती जी का उद्बोधक प्रवचन होने के पश्चात् श्री कुसुम बेन ने एक गीत उपस्थित किया। श्री हीराबेन गांधी ने मण्डल का उद्घाटन करते हुए यह आशा व्यक्त की कि महासती जी के शुभाशीर्वाद से यह मण्डल निरन्तर विकासमान होगा।

ललित मण्डल की संचालिका श्री ज्योति बेन ने शुभ कामना व्यक्त की। अन्त में पदाधिकारियों का निर्वाचन होकर महासती जी के मुखारविन्द से मांगलिक श्रवण के साथ कार्यक्रम परिपूर्ण हुआ।

— छोटू भाई जैन
सेक्रेटरी जैन कामानी भवन, भवानीपुर

★

समाज दर्शन

● जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला और हरियाना सरकार

पंजाब में चंडीगढ़ के पास जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला, जैन समाज का एक महत्त्वपूर्ण संस्थान है। आज से ४०–४५ वर्ष पहले गुरुकुल की स्थापना हुई थी। गुरुकुल के पास करीब ६४ बीघा का एक भूखंड है, जिसमें शान्ति-विहार के नाम से गुरुकुल के संस्थापकों के स्मारक एवं समाधियां भी है। हरियाणा सरकार ने इस भूमि को एक्वायर करने का नोटिस दिया है। पवित्र शिक्षा संस्थानों में किसी सरकार का इस प्रकार हस्तक्षेप अनुचित एवं अन्यायपूर्ण है। भारत के समग्र जैन संघों को मुख्यमंत्री हरियाणा सरकार को विरोधपत्र भेजकर सरकार के उक्त अनुचित कदम का प्रतिरोध करना चाहिए।

● लेख प्रतियोगिता के पुरस्कार विजेता

स्थानकवासी जैन युवक संघ–इन्दौर की ओर से एक महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय लेख प्रतियोगिता प्रस्तुत की गई थी, उसमें निम्नांकित महानुभाव विजेता के रूप में पुरस्कृत हुए हैं।

१. श्रीमती कमल वेद, १७ नेमीनगर इन्दौर, प्रथम पुरस्कार ५०१ रु० नगद
२. कुमारी कुसुमलता जैन, २६ नेताजी सुभाष मार्ग इन्दौर,
द्वितीय पुरस्कार ३०१ रु० नगद
३. श्री प्रकाशचन्द्र जैन, ६ उषा नगर इन्दौर, २
तृतीय पुरस्कार १५१ रु० नगद
५. कु० लीला मेहेर, डालमन्डई-अहमदनगर प्रोत्साहन पुरस्कार ५१ रु० नगद
६. श्री राकेशकुमार जैन, टी० नगर मद्रास १७ ,, ,, ,, ,,
७. सौ० श्री हेमलता जोहरापुरकर
दहीपुरा नागपुर ,, ,, ,, ,,
८. श्री बी०के० कोठारी, अहमदनगर ,, ,, ,, ,,
९. श्री धरमचन्द जैन, आजाद मार्ग इन्दौर ,, ,, ,, ,,

१०. प्रो० श्री उदय जैन, इन्दौर „ „ „ „
११. श्रीमती शांता भानावत जयपुर ४ „ „ „ „

● कानपुर में गोपालक सम्मेलन

श्री स्वामी गवानन्दहरि सूचित करते हैं कि कानपुर में अखिल भारतीय द्वितीय गोपालक सम्मेलन, भारत साधु समाज के मानद महामंत्री श्री अनन्त स्वामी जी की अध्यक्षता में, बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ। श्री अनन्त स्वामी जी ने अपने उपसंहार प्रवचन में कहा—गोपालन का कार्य गंगा की तरह से पावन है। समाज एवं सरकार को इस कार्य में पूरी निष्ठा के साथ एक होकर लगना चाहिए।

सम्मेलन में गोपालन के कार्यक्रम को गति देने के लिए संयोजक समिति का गठन हुआ। गोसंरक्षण एवं गो संवर्धन आदि से सम्बन्धित अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित हुए।

प्रस्तुत सम्मेल से पूर्व अ० भा० गोरक्षा सम्मेलन के द्वारा प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को गोरक्षार्थ एक स्मरण पत्र भी दिया गया था। उस में वैज्ञानिक एवं आर्थिक दृष्टि से गोरक्षा पर प्रकाश डाला गया है।

● जैन ट्रस्ट पुरस्कार योजना

ट्रस्ट द्वारा आयोजित "भगवान् महावीर और उनके सिद्धान्त" सम्बन्धी पुरस्कार योजना के प्रति विद्वानों ने रुचि दिखाई है और उन्होंने कुछ सुझाव दिये हैं। उन सुझावों के अनुसार योजना में निम्न परिवर्तन किये जाते हैं:

१—प्रबन्ध की संक्षिप्त विषय सूची भेजने की अंतिम तिथि ३०।११।७१ के बजाय ३१ मार्च १९७२ रहेगी।

२—प्रबन्ध प्रस्तुत करने की अंतिम तिथि ३० अगस्त १९७२ के स्थान पर ३१ दिसम्बर, १९७२ रहेगी।

लेखकों से अनुरोध है कि वे इसमें भाग लें, ताकि भगवान् महावीर का चरित्र श्रेष्ठ रूप में प्रस्तुत किया जावे।

बंशीधर शास्त्री,
२४।४८४२ दरियागंज
दिल्ली—६

जुगमन्दिरदास जैन
ट्रस्टी, जैन ट्रस्ट
१५७, नेताजी सुभाष रोड,
कमरा नं० १६१, कलकत्ता—१

वीरायतन : प्रज्ञप्ति एवं प्रगति

'वीरायतन' योजना की सर्वांगीण चिंतना से स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि यह मात्र अंतर्देशीय रूप में ही नहीं, वरन मैं इसे "अन्तर्राष्ट्रीय समाज केन्द्र" भी बनता हुआ देख रहा हूँ। साथ ही इसे मैं 'आध्यात्मिक विश्वकेन्द्र' भी कह दूँ तो अतिशयोक्ति न होगी, जैसा कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्रसंघ है।

यह व्यापक क्षेत्रीय समस्याओं के निदान की सर्वप्रथम जीवन-प्रयोगशाला स्थापित होगी। —**अजितमुनि 'निर्मल'**

●

वीरायतन योजना पढ़कर लगा, मानो महावीर की वाणी मूर्त रूप प्राप्त करने जा रही है। मैं भी इस योजना को कार्यान्वित करने में सहयोग देने की आकांक्षिणी हूँ। तन, मन और मस्तिष्क से किसी भी प्रकार की सेवा करने को सदैव तत्पर हूँ। —**कुमारी प्रतिभा**, एम० ए०, दिल्ली

●

वीरायतन योजना प्रगति की राह पार कर रही है, यह अति प्रसन्नता का विषय है। यह योजना अवश्य महान है। समस्त साधु समाज को प्राणपण से इसे सहयोग देकर साकार बनाना चाहिए। —**मनोहर मुनि 'कुमुद'**

●

वीरायतन योजना एक महान् योजना है। इसमें जीवन-निर्माण के सभी भौतिक तथा आध्यात्मिक अंगों का परिष्कार प्रतिबिम्बित है। मैं जैसा भी हूँ, इस योजना के लिए अपनी सेवाएँ अर्पण करने के लिए सदा प्रस्तुत हूँ।

—**प्रमोद कुमार**, इंजीनीयर, हरिद्वार

●

महावीर निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में अनेक योजनाएँ प्रस्तुत हुई हैं, किन्तु वीरायतन योजना इन सबमें श्रेष्ठ है। यह योजना भगवान् महावीर के जीवन दर्शन को बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के जन-कल्याण की दिशा में प्रस्तुत करती है। जहाँ भी चर्चा चली है, उक्त योजना ने समाज के प्रबुद्ध वर्ग को प्रभावित किया है। मैं इस योजना की सफलता के लिए सर्वतोभावेन समर्पित हूँ।

—**नेमिचन्द गांधी**

●

एक विद्वान् की अन्तर्वेदना

श्री अमर भारती में 'धर्मयुद्ध का आदर्श' और 'साधना की तेजस्विता' नामक निबन्ध बड़ी तन्मयता से पढ़े । उक्त निबन्धों में राष्ट्रसन्त उपाध्याय अमर मुनि ने जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे भगवान् महावीर की उदात्त परम्परा की पुष्टि करते हैं । मैं देखता हूं, इस प्रकार एक ओर जैनत्व का सही मार्ग दर्शन हो रहा है, तो दूसरी ओर हमारी समाज में दकियानूसी विचारधारा का प्रचार भी चल रहा है । समझ नहीं पड़ता है कि समाज बहुश्रुत एवं श्रुतधर आदि की उपाधियाँ योंही किसी को कैसे दे डालता हैं ? वीर के सिद्धान्तों की हत्या करने वालों को आगमज्ञानी कहा जाता है, यह महान् आश्चर्य की बात है । मैं किसी के प्रति निन्दा एवं घृणा की दृष्टि नहीं रखता, लेकिन हृदय में दुःख होता है, उसे मात्र प्रकट करता हूँ । हमारे साधु लोग अभी तक वीर-वाणी को सही रूप में समझ नहीं पा रहे हैं । रूढ़ता उन्हें भा रही है । प्रबुद्ध विचक्षण बुद्धि वाले तो भ्रमित नहीं होते, लेकिन जिनका सूत्र सिद्धान्तों में प्रवेश नहीं है, वे मात्र बाह्याडम्बर, क्रियाकाण्ड तथा सिद्धान्त के नाम पर गड़बड़ा जाते हैं ।

मुझे उपाध्यायजी के स्पष्ट, जागरूक तथा हृदय में प्रवेश करने वाले विचारों के प्रति बड़ा लगाव है । मेरा उनके प्रति कोई वैयक्तिक राग-भाव नहीं है, अपितु एक सहज बौद्धिक आकर्षण है । जो भी विद्वान् महावीर के सिद्धान्तों के विशद रूप को समझते हैं, और उनका खुले मन से प्रचार-प्रसार करते हैं उनके प्रति लगाव एवं सम्मान का भाव बिना किसी पक्षपात के सहज ही जागृत होता है ।

प्रभु महावीर को एक क्षुद्र साम्प्रदायिक बाड़े में बांधने वालों और उनके अनेकान्त के सिद्धान्तों को अपनी दृष्टि से सही मानने वालों को विज्ञजन कभी महत्त्व नहीं देते हैं । मुझे उपाध्याय श्रीजी के प्रत्येक तर्क एवं सिद्धान्तसम्मत स्पष्ट विचारों पर गौरव है । मैं ही नहीं, प्रत्येक विचारक को गौरव का अनुभव होता है । विश्व मानव का विराट् रूप वही देख सकता है, जिसकी दृष्टि विशाल हो । उपाध्यायजी एक युग द्रष्टा एवं युगप्रवर्तक राष्ट्रसंत हैं । रूढ़िवादियों की ओर से कितनी ही अनर्गल आलोचना की जाए, परन्तु समाज का प्रबुद्ध वर्ग आज भी उनकी कद्र करता है, और भविष्य में तो और भी अधिक विशाल रूप में कद्र की जाएगी ।

समाज के महान् श्रुत एवं चारित्र के धनी राष्ट्रसन्त उपाध्याय अमरमुनि का सदा अभिनन्दन है ।

—उदय जैन, संस्थापक एवं संचालक
श्री जैन शिक्षण संघ, कानोड़ (राज०)

●

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित ।

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री
'साहित्यरत्न'

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०
साहित्यरत्न, प्रभाकर

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन · एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष · इकतीस रुपये
तीन वर्ष · इक्कीस रुपये
वार्षिक · आठ रुपये
एक प्रति · पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ६ | मार्च ७२ | अंक ३

अ न्त र्ना द

—उपाध्याय अमरमुनि

आनन्दो ब्रह्मणो रूपं श्रुतिरेषा चिरन्तनी ।
सर्वात्मना ततः कार्यः सर्वदाऽऽनन्दसंस्तवः ॥११॥

यह बहुत पुरानी श्रुति है, कि आनन्द साक्षात् ब्रह्म का—ईश्वर परमात्मा का रूप है। अतएव पूर्ण निष्ठा के साथ सदा सर्वत्र आनन्द का संस्तव करना चाहिए।

'सच्चिदानन्द' ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का एक नाम है। सत्य, चित् के अन्त में आनन्द है, अतः आनन्द में ही ईश्वरत्व की पूर्णता है। अस्तु, ईश्वर की पूजा यही पूजा है कि व्यक्ति स्वयं शुद्ध आनन्द रस की अनुभूति करे, और संसार के अन्य सब प्राणियों को भी सदैव आनन्द अर्पण करता रहे।

कथं रोदिषि रे वत्स ! कथं ते शोकविभ्रमः ?
त्वमस्यानन्दपीयूष - निस्तलानन्तसागरः ॥१२॥

अरे भाई, रोता क्यों है ? तुझे यह शोक, यह दुःखविभ्रम कैसा ? तू तो आनन्द के अमृत का अनन्त अतल सागर है।

हर प्राणी मूलतः आनन्दरूप है। उसके आनन्द की कोई सीमा नहीं है। उसके अन्तर् में आनन्द का अनन्त अमृत सागर लहरा रहा है। यदि मानव-आत्मा को अपना यह स्वरूप बोध हो जाए तो फिर कैसा शोक, कैसी पीड़ा ? यह दुःखों एवं कष्टों का रोना धोना तभी तक है, जबतक कि अपने अन्तर् के इस आनन्द का स्वरूपबोध होता नहीं है।

अनन्तज्ञानसौख्यादि - गुणपिण्डोऽसि तत्त्वतः ।
भवाब्धौ तृणवत् तृष्णातरंगैराकुलः कथम् ॥१३॥

मानव ! तू तो वस्तुत अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख—आनन्द आदि

गुणों का पुंज है। आश्चर्य है फिर भी तू संसारसागर में तृष्णा की तरंगों से तृण के समान आकुल अर्थात् प्रताड़ित कैसे हो रहा है ?

स्वरूपबोध के अभाव में मानव-व्यक्ति सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है। सब से बड़ी बात वस्तुस्थिति की नहीं है, अपितु वस्तुस्थिति के स्वरूपबोध की है। अपने को भूल कर वन का राजा सिंह भी गीदड़ से भी बदतर स्थिति में पहुँच जाता है।

त्रिषु लोकेषु संकल्पशक्तिरेव गरीयसी।
संकल्पादेव संप्राप्तिः स्वर्गस्य नरकस्य च ॥१४॥

त्रिभुवन में अर्थात् समग्र विश्व में संकल्प शक्ति ही सब से महान् है। स्वर्ग और नरक संकल्प से ही तो प्राप्त होते हैं।

मनुष्य के अन्तर्मन में अच्छे या बुरे जैसे भी संकल्प—भाव होंगे, वैसा ही उसके भविष्य का निर्माण होगा। स्वर्ग नरक क्या हैं ? यह सब अपने अच्छे-बुरे संकल्प की ही तो एक अच्छी-बुरी सृष्टि है।

भावनाप्रभवं दुःखं भावनाप्रभवं सुखम्।
भावनाप्रभवो मोक्षो भावनाप्रभवो भवः ॥१५॥

दुःख भावना से पैदा होता है, और सुख भी भावना से ही जन्म लेता है। और तो क्या, संसार और मोक्ष भी भावना से ही आविर्भूत होते हैं।

भावना अर्थात् विचार, चिन्तन, संकल्प। आत्मा भावरूप है, अतः उसकी अच्छी-बुरी समग्र स्थितियों का मूल हेतु उसकी अपनी भावना ही है। मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा बनता है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।"

धर्मार्थकाममोक्षाणा-मारोग्यं मूलमुत्तमम्।
आरोग्य-मूलं संसारे, सदाचारे प्रवर्तनम् ॥१६॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल श्रेष्ठ आरोग्य है—स्वस्थता है। और संसार में आरोग्य का एकमात्र मूल है—सदाचार में प्रवृत्ति।

जीवन में सुख और शान्ति के लिए तन और मन दोनों का ही स्वस्थ होना आवश्यक है। सच्चे अर्थों में स्वस्थता ही तो सुख है और वह मिलता है सदाचार, संयम एवं अनासक्ति मूलक प्रवृत्ति के द्वारा।

दृढं शरीरं बलवद् चित्तं चौदार्यसंभृतम्।
बुद्धिः सुनिर्मला तीक्ष्णा प्रगतेः कारणत्रयम् ॥१७॥

संसार में प्रगति—विकास के तीन ही मुख्य हेतु हैं—शरीर का बल, मन की उदारता और अत्यन्त निर्मल एवं तीक्ष्ण (पैनी) बुद्धि। ★

निर्वाण शताब्दी और हमारा कर्त्तव्य

भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाण शताब्दी का शुभ अवसर प्रतिदिन निकट से निकटतर होता आ रहा है। और भारतवर्ष ही नहीं, विश्व के कोने-कोने में, इस अवसर पर अपनी-अपनी योजनाओं के अनुसार उत्सव मनाने की चर्चाएं भी चल रही हैं। भगवान् महावीर के चरणों में श्रद्धा के सुमन चढ़ाने की भावना जन-जन में व्याप्त है। वीर प्रभु के प्रति श्रद्धा एवं आस्था रखने वाले अनेक जैन-अजैन संगठन किसी न किसी रूप में शताब्दी पर अपनी भाव भीनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित करने के लिए लालायित हैं और इस शुभ अवसर की अपलक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण इतिहास हमें बतलाता है कि अपने महान् पूर्वजों के सिद्धान्तों एवं आदर्शों का हम उत्साह के साथ अनुगमन करें, उनका सच्ची श्रद्धा के साथ पालन करें और यथासम्भव सर्वसाधारण जनता में उनका प्रचार एवं प्रसार करें। जब तक उन महान् आत्माओं के सिद्धान्तों एवं आदर्शों का हम स्वयं पालन एवं प्रचार नहीं करते हैं, तब तक हम सच्चे अनुयायी कहलाने के हकदार नहीं हैं। हमारी यह ऐतिहासिक परम्परा रही है कि हम मानव-सभ्यता के आदिकाल से ही अपने पूर्वजों एवं महान् आत्माओं का गुण-गान एवं उनकी जनमंगलकारी शिक्षाओं का प्रचार प्रसार जन-जन में करते रहे हैं। यदि हम ऐसे ऐतिहासिक अवसर पर भी केवल स्तुतिपाठ, भाषण, जयजयकार एवं हुल्ला-गुल्ला मचाकर ही बैठ गये और इतने भर में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री कर दी, तो यह हमारी एक बहुत बड़ी भूल होगी, फलस्वरूप आगे आने वाली पीढ़ियां हमारा उपहास ही करेंगीं।

कुछ व्यक्ति निर्वाण शताब्दी के विरोध में निराधार प्रचार कर रहे हैं, शताब्दी के युगानुकूल महत्त्व को न समझते हुए अनेक प्रकार से इधर-उधर की बेसिर पैर की बातें कहकर जनता की भावना को ठेस पहुँचा रहे हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम ऐसे व्यक्तियों की बातों पर ध्यान न दें, उन्हें सुनी-अनसुनी करदें और शताब्दी पर होने वाले कार्यक्रमों को सम्पन्न बनाने के लिए तन मन धन से जुट जाएँ। कुछ विघ्नसंतोषी व्यक्तियों का कार्य ही यह होता है कि उनमें स्वयं तो कुछ करने की शक्ति एवं सामर्थ्य होता नहीं है और जो अन्य श्रद्धालु व्यक्तियों को कुछ करते हुए देखते हैं, तो उन्हें सहन नहीं होता, अत वे अच्छे से अच्छे मंगल कार्यों का भी निरर्थक विरोध करने लगते हैं। ऐसे व्यक्तियों की हमेशा उपेक्षा ही की जानी चाहिए, जो शुभ में भी अशुभ की परिकल्पना करते हैं।

भारत के धर्म-प्रिय जन-जन में वीर-प्रभु के प्रति श्रद्धासुमन प्रस्तुत करने की प्रबल भावना जाग उठी है, बस, केवल आवश्यकता इस बात की है कि उनके सम्मुख क्षुद्र एवं संकुचित दायरे से ऊपर उठी हुई, सार्वभौम कल्याण-हेतु एक सुगठित एवं सुन्दर योजना हो, जिसमें जनसाधारण बिना किसी हिचकिचाहट के अपना सहर्ष योगदान कर सके। केवल इधर-उधर अव्यवस्थित रूप से छितरे-बिखरे हुए क्षुद्र आयोजन करने, भाषण व लेख प्रतियोगिताएँ करने, जुलूस व जन-सभाओं के रूप में विशाल भीड़ एकत्रित करने एवं उक्त कार्यक्रमों की आड़ में अपनी नेता-गिरी का सस्ता प्रचार करने मात्र से कोई लाभ होने वाला नहीं है। वीर भक्त जनता की भावनानुसार एक ऐसा भव्य, विराट एवं ज्योतिर्मय केन्द्र होना चाहिए, जो आगे आने वाली पीढ़ी के लिए एक ऐसा उज्ज्वल आदर्श हो, जिसके द्वारा सुदूर भविष्य तक भगवान्-महावीर स्वामी के सर्व हितंकर सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं का जन-जन में प्रचार हो सके तथा उनकी इस निर्वाण शताब्दी स्मृति को चिर काल तक जनमानस में जागृत रखा जा सके। बिना ठोस एवं रचनात्मक योजना के यह कार्य कठिन है। इसे पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि हम छोटी-छोटी इकाइयों के रूप में जो योजनाएँ बना रहे हैं, उनसे ऊपर उठकर और सब मिलकर एक ऐसी विशाल एवं सुगठित तथा मंगलकारी योजना में सहर्ष सहयोग दें, जो कि संकुचित मनोवृत्ति से

सर्वथा दूर धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक रूप से सर्वविध सम्पन्न हो, जिसमें वीर प्रभु के सिद्धान्तों एवं उपदेशों का स्वच्छ रूप स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो।

अब तक जितनी भी योजनाएँ बनी हैं, उनमें वीरायतन योजना प्रमुख है। इस योजना को अनेक विद्वानों, विचारकों एवं वीरशासन के प्रेमियों की ओर से सहर्ष स्वागत हुआ है। भारत के जैन-अजैन मनीषी वर्ग में इस योजना को श्रेष्ठता की चर्चा है। अनेक विद्वान् मुनियों, धर्म-संघों एवं अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स आदि संगठनों ने योजना का सहर्ष समर्थन किया है। योजना की सफलताहेतु कार्यालय में अनेक पत्र आते रहते हैं। पत्र ही नहीं, आर्थिक सहयोग के भी महत्त्वपूर्ण वचन मिले हैं। आगरा, कलकत्ता और कानपुर संघ काफी उत्साह के साथ आगे आए हैं, अन्य संघ भी सहयोग दे रहे हैं। जैन जगत में सुप्रसिद्ध स्व० श्री दुर्लभजी भाई के सुपुत्र श्री खेलशंकर भाई वीरायतन के संस्थापक बने हैं। और भी कितने ही महानुभाव हैं, जो संस्थापक तथा स्तंभ, उपस्तंभ आदि बनने के लिए कृतसंकल्प हैं। और तो क्या, अनेक छात्रों ने सरकार से प्राप्त अपनी छात्रवृत्तियां भी वीरायतन को अर्पण क हैं। इससे स्पष्ट है कि वीरायतन योजना को जन-जन का समर्थन एवं सहयोग मिला है, मिल रहा है, जो योजना के सफल होने का शुभ संकेत है। आइए, हम भी अपने सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार वीरायतन योजना को साकार रूप देने की दिशा में कुछ-न-कुछ योगदान करने का शुभ संकल्प करें, भगवान् महावीर के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित कर अपने को गौरवान्वित अनुभव करें।

जय वीर ! जय वीरायतन !!

—सम्पादक

★

भगवान् महावीर के चरणों में

हे ज्योति पुंज जय वीर ! सत्य का ज्ञाता द्रष्टा तू,
हे महा प्राण ! मूर्च्छित जनमन का जीवनस्रष्टा तू ।
हे जिन ! प्रभात तू सघन तमस् से घिरती संसृति का,
हे निर्विकार ! परिशोधक मानवता की संस्कृति का ॥

●

तूने अपने अन्तर्तम का सोया देव जगाया,
तूने नर से नारायण तक अपने को पहुँचाया ।
सीमित नर-तन में असीम की ज्ञानचेतना जागी,
जन्म जन्म की धूमिल कलुषित मोहचेतना भागी ॥

●

तेरी वाणी जगकल्याणी, प्रखर सत्य की धारा,
खण्ड खण्ड हो गयी दंभ की, अन्धाग्रह की कारा ।
'सत्य एक है, उस पर 'तेरे-मेरे' का क्या अंकन'—
विश्व समन्वय कर देता है, तेरा यह उद्बोधन ॥

●

तू उन अन्धों की आँख भटकते ठोकर खाते जो,
तू उन अबलों की हँसी, प्रताड़ित अश्रु बहाते जो ।
मानवता के महामन्त्र का दाता तू गुरुवर है ।
अस्तंगत जो कभी न होगा, ऐसा तू दिनकर है ॥

●

जाति, पंथ-भेदों से ऊपर तू सबका सब तेरे,
देश काल वह कौन, तुझे जो सीमाओं में घेरे ।
तू अनन्त है, अजर अमर है तेरा जीवन दर्शन,
अखिल विश्व का तव चरणों में वन्दन, वन्दन, वन्दन ॥

—उपाध्याय अमरमुनि

●

★ उपाध्याय अमरमुनि

भगवान् महावीर का सामाजिक कर्तृत्व

भगवान् महावीर का दर्शन निवृत्तिरूप है या प्रवृत्ति रूप? निषेधात्मक है या विधानात्मक? यह एक गंभीर प्रश्न है जो बहुत समय से चलता आ रहा है। और कुछ व्यक्ति इसका सही समाधान किए बिना ही यह भ्रान्त धारणा भी बना बैठे हैं कि महावीर का जीवन-दर्शन एकान्त निवृत्तिपरक दर्शन है। वह कहता है कि हिंसा न करो, झूठ न बोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, अन्याय और अत्याचार न करो। जीवन के व्यवहार क्षेत्र से आगे बढ़ कर जब वह अन्दर के भाव जगत् को छूता है, तो क्रोध न करने को कहता है, माया और लोभ न करने का उपदेश करता है। अहंकार और मात्सर्य से भी निवृत्त होने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार जहाँ तहाँ नकार ही नकार खड़े हैं, निषेध की ही घोषणा सुनाई देती है, इन्कार की ही आवाज़ उठ रही है। यह सब निवृत्ति का उपदेश है। इस प्रकार जिसकी आधारशिला निवृत्ति है, 'वह न करने के लिए' तो कहता है, किन्तु 'करने के लिए' कुछ नहीं कहता। मनुष्य के समक्ष परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है, सेवा का कर्मक्षेत्र है, किन्तु निवृत्ति परक धर्म इस ओर से उदासीन है। आज के निवृत्तिमार्गी कहते भी हैं कि समाज से हमें क्या लेना देना है? वह सुधरे या बिगड़े, हमें इससे क्या? ये सब भ्रान्तियाँ जैन दर्शन के केवल एक रूप को, एक पहलू को ही लेकर हैं। यदि दूसरे पहलू को भी देखा होता, तो यह सब कुछ भी न होतीं।

यह सत्य है कि महावीर ने निवृत्ति का उच्चतम आदर्श उपस्थित किया है। उनके प्रत्येक चिन्तन-चित्र में निवृत्ति का स्वर्णिम रंग भरा हुआ है। किन्तु दृष्टि जरा साफ हो, स्वच्छ हो और भावग्राही हो तो रंगों का ठीक विश्लेषण करने पर यह समझा जा सकता है कि निषेधसूत्रों को कहां क्या उपयोगिता है? निवृत्ति के स्वर में क्या मूल भावनाएँ ध्वनित हैं? जब तक यह नहीं समझा जाएगा, तबतक निवृत्ति का वास्तविक हार्द समझ में नहीं आ सकेगा।

महावीर एकान्तवाद की अति में नहीं जाते, वे जीवन की समग्र गति-स्थिति को अनेकान्त से सन्तुलित रखते हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति जीवन के दो चरण हैं। पहला चरण गति करता है तो समय पर दूसरे स्थिर चरण को भी आगे गति मिलती है।

निवृत्ति, प्रवृत्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। वह प्रवृत्ति के अगले चरण को गन्तव्य दिशा देती है। तात्पर्य इसका यह हुआ कि प्रवृत्ति से पहले जो निवृत्ति की उपदेशधारा है, वह मानवीय भावों के अध्ययन के आधार पर प्रकटित हुई है। सामाजिक चेतना के अभ्युदय के लिए आप प्रवृत्त होते हैं लोक कल्याण के निमित्त प्रयत्नशील होते हैं, यह ठीक है, ऐसा करना ही चाहिए। किन्तु उससे पहले महावीर एक बात कहते हैं कि "यह देखो कि तुम्हारी प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक है या नहीं? तुम दान कर रहे हो, दीनदुखियों की सेवा के लिए कुछ कर रहे हो, किन्तु दूसरी ओर यदि शोषण का कुचक्र भी चल रहा है, तो इस दान और सेवा का क्या अर्थ?" किसी का एक बोतल रक्त निकालकर बदले में दो बूंद अपने रक्त का दान देना, महावीर की दृष्टि में दान नहीं है। सौ-सौ घाव करके एक दो घावों पर मलहम पट्टी करना, सेवा का कौनसा आदर्श है?

अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत जीवन में जब तक निवृत्ति नहीं आती, तब तक समाज सेवा की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने मर्यादाहीन व्यक्तिगत भोग और आकांक्षाओं से निवृत्ति लेकर समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्त होना, जैन दर्शन का पहला नीतिधर्म है। व्यक्तिगत जीवन का परिशोधन करने के लिए

असत्कर्मों से पहले निवृत्ति करनी होती है। जब जीवन में निवृत्ति आएगी तो जीवन स्वतः पवित्र और निर्मल होगा, अन्तःकरण विशुद्ध होगा और तब जो भी प्रवृत्ति होगी, वह लोकहिताय एवं लोकसुखाय होगी। जैन दर्शन की निवृत्ति का हार्द यही है कि व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति, और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं द्वन्द्वों से दूर रहे, यह जैन दर्शन की आचार संहिता का पहला पाठ है। यही उसके निवृत्ति मार्ग का मर्म है।

प्रवृत्ति की सीमाएं

प्रवृत्ति की भी अपनी कुछ सीमाएँ हैं। समाज कल्याण के लिए प्रवृत्ति करना ठीक है, किन्तु उसके पीछे भी आदर्श का आधार होता है, चरित्र शुद्धि की सीमाएँ होती हैं। विचार कीजिए, एक व्यक्ति किसी दीन दुःखी की सेवा कर रहा है, परन्तु उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ ऐसी बातें जरूरी हो रही हैं, जो सामाजिक चरित्र की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं, अवांछनीय हैं। यहां यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाए?

कबीर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार उनके घर पर कुछ अतिथि आ गए। घर में आटा, दाल का जयगोपाल था। कबीर ने अपनी पत्नी 'लोई' से कहा—"कुछ व्यवस्था करो। अतिथि भूखे नहीं रहने चाहिएँ।" घर में तो कुछ था नहीं, किसी दूसरे से लाएँ तो किससे लाएँ, कैसे लाएँ? आखिर लोई ने कहा—"एक उपाय है, पर वह है गलत। एक सेठ का लड़का मुझ पर बहुत दिनों से मोहित हो रहा है, अभी तक मैंने उसे मुँह नहीं लगाया है, अपितु फटकारा है, कहो तो मैं उससे कुछ पैसा माँग कर ला सकती हूँ।"

"बहुत अच्छा उपाय बताया तुमने। अभी जाओ, झटपट ले आओ"—कबीर ने कहा। लोई श्रेष्ठिपुत्र के पास गई तो वह बहुत खुश हुआ और बोला—"मैं कितने दिनों से तुम्हारे इन्तजार में आँखें बिछाए बैठा हूँ। अच्छा हुआ, आज तुम आ गई!" लोई ने कहा—"आई तो हूँ, किन्तु अभी मुझे पैसे की बहुत आवश्यकता है, कुछ दोगे?"

सेठ के लड़के ने सहर्ष अपेक्षित पैसा दे दिया। और फिर आने का वादा करके लोई चली आई। प्राप्त पैसे से समागत अतिथियों की कबीर ने खूब सेवा भक्ति की। अतिथि लौट गए, अब वादा पूरा करने का सवाल था। कहते हैं—वर्षा हो रही थी, फिर भी कबीर खुद अपनी पत्नी को लेकर उसके घर पहुँचे। वचन पालन करने का दायित्व जो ठहरा। श्रेष्ठीपुत्र के मन पर इसका अच्छा प्रभाव हुआ, उसे सद्बुद्धि आगई, और उसने लोई को माता का सम्मान देकर विदा कर दिया। परन्तु प्रश्न है, सदबुद्धि न आती तो ?

कहानी की सत्यता और असत्यता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। कहना केवल यही है कि यह भी एक मनःस्थिति है सेवा और प्रवृत्ति के क्षेत्र की।

महावीर का दर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता, यहाँ वह एक अलग चिन्तन पर जा खड़ा होता है। वह कहता है कि आपका कर्त्तव्य है, आप समाज की सेवा करें, किसी दीन दुखी का दुख दर्द मिटाने के लिए अपनी सुख सुविधाओं का बलिदान करें। अपने अधिकार का भोजन और वस्त्र तक भी अर्पण कर दें, और स्वयं भूखे और फटेहाल रहकर भी प्रसन्न रहें। पर, समाज सेवा के नाम पर अपना जो चरित्र है, जीवन की जो अच्छाइयाँ हैं, उन्हें दाव पर न रखें।

अपने चरित्र और जीवन को निर्मल रखते हुए जो कुछ दिया जाय, जो कुछ किया जाय, वह सेवा है, शुद्ध प्रवृत्ति है। इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज के अभ्युदय की स्वर्णिम सोपान पंक्ति है। किन्तु जहाँ जीवन की पवित्रता का, चरित्र का त्याग करके धर्म एवं समाज के नाम पर कुछ अनर्गल जैसा करने का प्रश्न आता है, वहाँ जैन दर्शन स्पष्ट कहता है कि यह मार्ग गलत है। जीवन का कोई भी कर्म यदि स्वयं अपवित्र और दूषित होकर किसी के लिए कुछ उत्सर्ग करने को प्रस्तुत होता है, तो उस उत्सर्ग से अच्छाइयाँ जन्म नहीं ले सकतीं, पवित्रता की भावना का उदय नहीं हो सकता। और जिस सेवा या प्रवृत्ति में पवित्रता और श्रेष्ठता की आधारभूमि नहीं रहती, वह सेवा और प्रवृत्ति जीवन में अवांछनीय है, समाज के लिए अशुभ है। इस प्रकार आप देखेंगे कि महावीर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति का एक रूप निश्चित किया है, उनकी कुछ सीमाएँ बाँधी हैं।

विचार कीजिए—एक व्यक्ति को प्यास लगी है, गला-सूख रहा है, वह ठंडा पानी पी लेता है, प्यास शान्त हो जाती है। क्या इसमें कुछ पुण्य हुआ? कल्याण का कुछ कार्य हुआ? साता वेदनीय का कुछ बंध हुआ? कुछ भी तो नहीं। अब आप किसी दूसरे व्यक्ति को प्यास से तड़पता देखते हैं और आपका हृदय करुणा से भर आता है। आप उसे पानी पिला देते हैं। उसकी आत्मा शान्त होती है, प्रसन्न होती है और इधर आपके हृदय में भी एक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति जगती है। यह पुण्य है, सत्कर्म है।

अब उक्त घटना की गहराई में जाकर जरा देखिए कि यह करुणा क्या है? यह निवृत्ति है या प्रवृत्ति? और पुण्य क्या है? व्यक्तिगत सुख भोग या अन्य के प्रति उनका सद्बुद्धि से अर्पण? महावीर ने व्यक्तिगत भोगों को पुण्य नहीं माना है। किसी महत्त्व-पूर्ण उदात्त ध्येय के अभाव में केवल अपनी सुखैषणाओं की पूर्ति के लिए जो आप प्रवृत्ति करते हैं, वह न करुणा है, न पुण्य है। किन्तु जब वह करुणा समाज के हित के लिए जागृत होती है, समाज की भलाई के लिए प्रवृत्त होती है, तब वह पुण्य कर्म एवं धर्म का रूप ले लेती है। महावीर की प्रवृत्ति का यही रहस्य है। समाज के लिए अर्पण, बलिदान और उत्सर्ग की भावना उनके प्रत्येक तत्त्वचिंतन पर छाई हुई है। उनके हर चरण पर समष्टि के हित का दर्शन होता है।

भगवान् महावीर ने एक बार अपने शिष्य समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा था—'**मेत्तिं भूएसु कप्पए**"—प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना लेकर चलो।" जब साधक के मन में मैत्री और करुणा का उदय होगा, तभी स्वार्थान्धता के गहन अन्धकार में पर-मार्थ का प्रकाश झलकेगा। मैत्री की यह भावना क्या है? निवृत्ति है या प्रवृत्ति? आचार्य हरिभद्र ने मैत्री की व्याख्या करते हुए कहा है—"**परहित चिन्ता मैत्री**"—दूसरों के हित, सुख और आनन्द की चिन्ता करना मैत्री है। जिस प्रकार आपका अपना मन अपने लिए प्रसन्नता चाहता है, उसी प्रकार दूसरों के लिए भी प्रसन्नता की भावना करना,—इसी का नाम मैत्री है। मैत्री का यह स्वरूप, निषेध रूप नहीं, किन्तु विधायक है। निवृत्तिमार्गी नहीं, किन्तु

प्रवृत्तिमार्गी है। जब हम अपने समान ही दूसरों के जीवन का मूल्य और महत्त्व समझते हैं, अपनी ही तरह उससे भी स्नेह करते हैं, तो इसका यही उदात्त परिणाम आता है कि वह जब कष्ट में होता है, तब उसको सहयोग देना, उसके दुःख में भागीदार बनना और उसकी पीड़ाएँ बाँटकर उसे शान्त और सन्तुष्ट करना—यह जो सहज प्रवृत्ति जगती है, मन में सद्भावों की स्फुरणा होती है, बस यही है मैत्री का उज्ज्वल रूप।

संविभागो दानम्

भगवान् महावीर ने सातावेदनीय कर्म के बन्ध हेतुओं की व्याख्या करते हुए बताया है कि संसार में जो प्राणी हैं, वे चाहे तुम्हारी जाति के हों, कुल के हों या देश के हों, अथवा किसी भिन्न जाति, कुल या देश के हों, उन सबके प्रति करुणा का भाव जागृत करना, उनके दुःख के प्रति संवेदना और सुख के लिए कामना करना, यह साता-वेदनीय के बन्ध का प्रथम कारण है।

दूसरा कारण बताया गया है—व्रती-संयमी और सदाचारी पुरुषों के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना, गुणश्रेष्ठ व्यक्तियों का आदर सम्मान करना, उनकी सेवा भक्ति करना, उनकी यथोचित आवश्य-कताओं की पूर्ति का समय पर ध्यान रखना।

और तीसरा कारण है—दान! यहाँ आकर सामाजिक चेतना पूर्ण रूप से जागृत हो उठती है। आप अपने पास अधिक संग्रह न रखें, यह एक निषेधात्मक रूप है, किन्तु जो पास में है, उसका क्या करें? उसकी ममता किस प्रकार कम करें? इसके लिए कहा है कि 'दान करें'। मनुष्य ने जो अपनी सुख-सुविधा के लिए साधन जुटाए हैं, उन्हें अकेला ही उपयोग में न ले, बल्कि उनका समाज के अभाव-ग्रस्त और जरूरतमन्द व्यक्तियों में यथोचित वितरण करे।

दान का अर्थ यह नहीं है कि किसी को यों ही एक-आध टुकड़ा दे डाला कि दान हो गया। दान अपने में एक बहुत उच्च और पवित्र कर्त्तव्य है। दान करने से पहले पात्र की आवश्यकता का मन में अनुभव करना, पात्र के पीडाजन्य कम्पन के प्रति अपने विचारों में भी अनुकम्पन होना और सेवा की प्रबुद्ध लहर उठना, दान का पूर्व रूप है। "जैसा मैं चेतन हूं, वैसा ही चेतन यह भी है, चेतनता के

नाते दोनों में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए अखण्ड एवं व्यापक चैतन्य-सम्बन्ध के रूप में हम दोनों सगे बन्धु हैं, और इस प्रकार एक दो ही क्यों, सृष्टि का प्रत्येक चेतन मेरा आत्म-बन्धु है, मेरी बिरादरी का है"—यह उदात्त कल्पना-पवन आपके मानस-मानसरोवर को तरंगित करे और आप सहज स्नेहार्द्र बन्धु भाव से दान करें—दान अर्थात् संविभाग करें, बँटवारा करें, यह है दान की उच्चतम विधि। दान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—"संविभागो दानम्"—सम वितरण अर्थात् समान बँटवारा दान है। भाई-भाई के बीच जो बँटवारा होता है, एक दूसरे को प्रेमपूर्वक जो दिया-लिया जाता है, उससे न किसी के मन में अहं जगता है और न दीनता। चूँकि भाई बराबर का एक साझीदार एवं अपने समान ही सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता है, फलत. देने वाले को अहंकार का और लेने वाले को दीनता का शिकार होना पड़े, ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार आप जब किसी को कुछ अर्पण करें तो उसे "समविभागो" अर्थात् बराबर का बन्धु समझकर जो उसके उपयुक्त हो, और जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हो, वह प्रसन्नता के साथ अर्पण करें। बराबरी की भावना से जो दिया जाता है, उससे देने वाले के मन में लेने वाले को तुच्छ मानने की भावना नहीं उठती और न लेने वाले के मन में अपने प्रति दीनता का संकल्प ही जगता है।

दान निवृत्ति रूप भी है, और प्रवृत्ति रूप भी। वस्तु पर से अपने ममत्व का त्याग कर देना, निवृत्ति है। और जो प्रेमपूर्वक अर्पण किया जाता है, वह प्रवृत्ति है। इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का ही समन्वय दान में हो जाता है। लोभ की निवृत्ति हुए बिना दान का संकल्प नहीं जगता, इसलिए वह निवृत्ति रूप है। और उसमें जो दूसरे के सुख की भावना जागृत हुई है, करुणा और प्रेम की जो धारा उमड़ी है, वह प्रवृत्ति रूप है। उसमें सामाजिक चेतना का पवित्र स्रोत बहता दिखाई देता है।

समर्पण का उच्चतम आदर्श

भगवान् महावीर के उक्त चिन्तन में सामाजिक भावना के उच्चतम आदर्श के दर्शन होते हैं। व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ही नहीं, किन्तु समष्टि रूप में भी देखा गया है। समाज के हृदय के

साथ व्यक्ति का हृदय जुड़ा है, उसके संकल्पों के साथ उसके संकल्प बँधे हैं, और उसके सुख दुःख के साथ उसके सुख दुःख भी एकाकार होते प्रतीत होते हैं।

महावीर की धर्म परम्परा का एक उज्ज्वल आदर्श है कि जब एक साधु भोजन लाता है, तो यह नहीं कि बस लाया और स्वयं ही खा पीकर साफ कर दिया। वह अपने से बड़े और छोटे सभी साथियों को पूछता है, प्रार्थना करता है कि मेरे इस लाए हुए भोजन में से आप कुछ स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत करें—**"साहु हुज्जामि तारिओ"**[1]

कितना ऊँचा आदर्श है यह, समर्पण का? देखिए, निवृत्तिमार्ग के यात्रियों में भी इससे सामाजिक सम्बन्धों की कितनी मधुर भावना विकसित हुई है? इससे भी आगे कहा गया है कि जो साधु ऐसा नहीं करता, भोजन लाकर साथियों को निमंत्रित नहीं करता, अकेला ही खाने बैठ जाता है, वह असंविभागी है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। **"असंविभागी नहु तस्स मोक्खो"**।[2]

कल्पना कीजिए—जो धर्म इतनी बड़ी प्रेरणा देता है, जिसके कण-कण में मानवता का अमृत छलक रहा है, उसके लिए यह कहना कि उसमें सामाजिकता का अंश नहीं है, सामूहिक चेतना का अभाव है, अपने में कितनी बड़ी बौद्धिक विडम्बना है।

श्रावक भी जब गृहीत तप का पारणा करने बैठता है तो उसकी भी यही परम्परा है कि उस समय आस-पास में जो भी उपस्थित हों, उन्हें भी भोजन के लिए सादर एवं साग्रह आमंत्रित करे। यदि वह विना पूछे, बिना निमंत्रण दिए ही खाना शुरू कर देता है तो वह स्वार्थ परायण अपने व्रत की पवित्रता को दूषित करता है। इस परम्परा में भी समर्पण की एक उच्च भावना झलक रही है, और सामाजिक जीवन के मधुर सम्बन्धों की महान् कल्पना।

सहृदयता का देवता

भगवान महावीर का जीवन निवृत्ति का एक उत्कृष्टतम प्रतीक माना जाता है। उन्होंने जीवन में जो उग्र और निरपेक्ष साधना

१—दशवैकालिक
२— ,, ,,

की, वह साधना के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट आदर्श रूप है। बारह वर्ष के छद्मस्थ जीवन-काल में उनका आदर्श था—'एगो चरे खग्ग विसाण कप्पो' अर्थात् अकेले और सिर्फ अकेले ही साधना के महापथ पर बढ़ते जाना। महावीर साधना काल में अन्तर की गहराइयों में उतरकर आत्मशोधन में लीन रहते थे। किन्तु उनके इस महान निवृत्तिमय जीवन में भी हम उनकी सामाजिक चेतना को स्फुरित होते हुए देखते हैं।

एक बार भगवान महावीर, जब कि गोशालक उनके साथ था, विहार करते हुए कहीं जा रहे थे, उस समय वहां एक तपस्वी बड़ी घोर साधना कर रहा था। तापस की विशाल जटाओं से जूएँ भूमि पर गिर रही थीं और वह उन्हें सुरक्षा के लिए उठाकर फिर अपनी जटाओं में डाल रहा था। गोशालक ने यह देखा, तो खूब जोर से हँसा, और तापस को कुछ का कुछ कहने लगा, इस पर तापस क्रुद्ध हो उठा, उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजो-लेश्या छोड़ी, किन्तु करुणामूर्त्ति भगवान् महावीर ने तत्काल शीतल लेश्या का प्रयोग कर उसे बचा लिया।

महावीर के जीवन में सामाजिक भावना की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। जब कोई उनके अपने शरीर पर क्रूर से क्रूर प्रहार करता है, तो वे उसे शान्त-भाव से चुपचाप सह जाते हैं। किन्तु जब कभी किसी दूसरे की आपत्ति उनकी नजरों से गुजरती है, तो उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठता है और उसकी रक्षा के लिए तत्पर हो जाते हैं।

भगवान् महावीर का जीवन जैन धर्म की उदात्त परम्परा का महान् प्रतीक है। उनके जीवन के अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें उनकी सामाजिक और सार्वजनीन जन चेतना के दर्शन किए जा सकते हैं। समाज परिवार और व्यक्तिगत जीवन के कटु संघर्षों में पारस्परिक द्वन्द्वों एवं उलझनों में पड़े हुए व्यक्तियों को वे समय पर मार्गदर्शन करते हैं, उन्हें प्रबुद्ध करते हैं, उनकी समस्याओं को सुलझाते हैं और यथोचित पावन प्रेरणाएँ देते हैं।

आपने सुना ही होगा, राजगृह निवासी महाशतक श्रावक अन्तिम धर्म साधना में संलग्न थे। उस समय उनकी पत्नी, जो कि आचार

---

१. भगवतीसूत्र १५ वाँ शतक

से हीन एवं पतित थी, महाशतक के साथ दुर्व्यवहार करने पर उतारू हो गई। महाशतक ने क्रुद्ध होकर उसे दुर्वचन कहा; जिससे उस के हृदय को गहरी चोट लगी और वह भयाकुल हो उठी। भगवान् महावीर ने गणधर गौतम को बुलाकर कहा कि—"गौतम महाशतक से जाकर कहो कि वह श्रावक है, अन्तिम धर्मसाधना की स्थिति में है। उसे इस प्रकार दुर्वचन नहीं कहने चाहिएँ, जिससे किसी के हृदय को चोट लगे। इसकी शुद्धि के लिए वह आलोचना करे और यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण करे।"[1]

इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में भी जब कहीं कटुता पैदा होती है तो महावीर उसे शान्त करने की प्रेरणा देते हैं।

विचार कीजिए, प्रभु को ऐसी क्या आवश्यकता थी कि किसी के व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं में हस्तक्षेप करें। गौतम जैसे अपने प्रमुख शिष्य को समाधान के लिए भेजें। यदि वे नहीं भेजते तो उनको क्या दोष लगता था? और भेजा तो उन्हें क्या कुछ प्राप्त हो गया? वे तो कृतकृत्य हो गए थे। इस प्रकार के प्रयत्नो में उनका अपना स्वयं का तो कोई हानि-लाभ नहीं था। किन्तु सत्य यह है कि धर्म, समाज एवं संघ की बागडोर वही महापुरुष सँभाल सकता है, जो स्वयं निष्काम और निर्मल हो, साधना के उच्च शिखर पर पहुँच चुका हो। परन्तु जब भी और जहाँ भी कहीं कोई त्रुटि देखे, भूल देखे, किसी को कर्तव्य-पथ से भटकते हुए देखे तो उसे यथावसर योग्य सूचनाएँ देता रहे, अन्धकार के क्षणों में प्रकाश देता रहे और मार्गदर्शन करता रहे।

विग्रह और व्यामोह का शमन

भगवान् महावीर के हृदय में विराट् मानवीय चेतना की धारा सहस्र रूपों में प्रवाहित थी। संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों के प्रति उनके मन में एक समान सहृदयता और करुणा भरी थी। जब राष्ट्र एवं समाज में कहीं भी, किसी पर भी विग्रह एवं द्वन्द्व के बादल मंडराते, तो उनका करुण-मानस उसे शान्त करने के लिए सक्रिय हो उठता था। अवन्ती के सम्राट् चण्ड-प्रद्योत ने कौशाम्बी पर घेरा डाल रखा था, सम्राट् शतानीक की मृत्यु होने पर वह

१—उपासक दशा अंग सूत्र

उनकी पत्नी महारानी मृगावती को अपने अधिकार में ले लेना चाहता था, वह उसके रूप पर पागल हो उठा था और इसी व्यामोह में अंधा होकर उसने कौशाम्बी पर आक्रमण किया था। इसी प्रसंग में भगवान् महावीर कौशाम्बी में पधारते हैं, समवसरण में ही उनकी धर्मदेशना के फलस्वरूप चण्डप्रद्योत से रानी मृगावती छुटकारा पा लेती है।

मान लीजिए, चण्डप्रद्योत के इस आक्रमण काल में भगवान् वहां नहीं गए होते, तो क्या उन्हें कोई दोष लगता था? क्यों वे साधु के लिए निषिद्ध युद्ध-क्षेत्र में[1] उग्र विहार करते हुए पहुँचते हैं और समाधान का पथ प्रशस्त करते हैं?

प्रश्न दोष का नहीं है। प्रश्न है मानव हृदय की सामाजिक चेतना का। जब हृदय में समाज के हित की बलवती प्रेरणा उठती है, उसके कल्याण की उदात्त भावना जगती है, तब अपने व्यक्तिगत दुःख या सुख का प्रश्न वहां नहीं अटकता। यह तो एक सहज मानवीय भाव है, जो मनुष्य की आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। मानव आत्मा जितनी ही ऊँचाई पर पहुँचता है, यह मानवीय भाव उतना ही उच्चतम होता जाता है। भगवान् महावीर की आत्मा जीवन की समस्त ऊंचाइयों को पार कर चुकी थी, इसलिए यह मानवीय भाव भी वहां उच्चतम और परिपूर्ण रूप में विकसित हो चुका था। अस्तु, यह कौशाम्बी का प्रसंग इस बात का साक्षी है कि भगवान् महावीर की प्रबुद्ध करुणा और सामाजिक भावना कितनी महान् थी और कितनी सक्रिय!

संदेह का निराकरण

भगवान् के निवृत्ति प्रधान जीवन में भी हम लोक कल्याण की प्रवृत्ति और सामाजिक चेतना की बहुत बड़ी निर्मल झलक पाते हैं। एक ओर इतने बड़े धर्मसंघ का नेतृत्व, उसकी जिम्मेदारियाँ, और साथ ही दूसरी ओर समाज के प्रत्येक अंग का निरीक्षण, उसकी उलझनों का समाधान, शंका और वहम का निराकरण, भूलों का शोधन और पारस्परिक विग्रह एवं द्वन्द्वों का उपशमन!

१—"संखिमं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए"

—दशवैकालिक

विश्वजनहिताय प्रवृत्ति की हजारों हजार तरंगें उनके जीवन—महासागर में एक साथ लहराती दिखाई दे रही हैं।

समाज की उलझनों और समस्याओं का कितनी दूर तक उन्होंने स्पर्श किया था, इसका एक उदाहरण जैन कथाओं में मिलता है। एकबार सम्राट श्रेणिक के मन में अपनी पत्नी चेलना रानी के प्रति सन्देह हो गया कि वह सती नहीं है। किसी अन्य पुरुष के प्रति आकर्षण है, उसके मन में। बस, सम्राट् समग्र नारी जाति के प्रति ही अपवित्रता के बहम के शिकार हो गए, और आदेश दे दिया कि चेलना और अन्य सब रानियों को जलाकर भस्म कर दिया जाए।

एक निराधार बहम के कारण कितनी भयंकर दुर्घटना होने जा रही थी। समूचे अन्तःपुर को अग्नि की दहकती ज्वालाओं में भस्मसात् करने का कितना भयंकर हत्याकांड हो रहा था, किन्तु भगवान् महावीर ने भटकते सम्राट को सम्बोधित किया—"राजन्! तुम भ्रान्ति में हो, व्यर्थ ही संदेहों के भँवर में फंस गए हो। महाराज चेटक की सातों ही पुत्रियां सती हैं। रानी चेलना का जीवन पवित्र और निर्मल है। बहम अज्ञान के कारण होता है। सत्य को जानोगे तो बहम को दूर होते देर न लगेगी। तुम बहम के झंझावात में मत भटको। बहम भयंकर अनर्थ और विपदाओं का जनक है।"

सम्राट् घटना की वास्तविकता समझ गए, और एक भयंकर अनर्थ होते-होते रह गया।

झूठे बहम के कारण आज समाज में कितने विग्रह और कलह चल रहे हैं, कितनी गृहस्थियां उजड़ रही हैं, कितने परिवार इसकी चपेट में आकर बर्बाद हो रहे हैं। समाज में एक सिरे से दूसरे सिरे तक यह भयानक रोग महामारी की तरह फैला हुआ है। पति-पत्नी एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, पिता-पुत्र में बहम के कारण अनबन है, भाई-भाई में परस्पर अविश्वास है। बहम और संदेह के कारण समाज का जीवन नीरस हो रहा है, प्रेम के तार टूट रहे हैं, परस्पर अविश्वास और कलह का वातावरण छाया हुआ है। आज आवश्यकता है, प्रभु महावीर जैसे तत्त्वज्ञानियों की, जो अपने पवित्र हस्तक्षेप से समाज की भ्रान्त चेतना को समय पर सत्य का प्रकाश दे सकें!

भगवान् महावीर के जीवन का यह सामाजिक पक्ष कितना—महत्त्वपूर्ण और कितना विराट् है। समाज के हर अंग को वे छूते हैं। पारस्परिक कलह और विग्रह जब भी जो भी उनके सामने आते हैं, वे उन्हें सुलझाते हैं। पारिवारिक उलझनों का यथोचित कल्याणकारी समाधान उनके द्वारा होता है। राजकीय विग्रह के नाजुक प्रसंगों पर भी उनकी प्रज्ञामयी वाणी मुखर होती है और वहां भी शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित हो जाती है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति का मर्म

मैं समझता हूं, महावीर के निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म को समझने के लिए ये उदाहरण काफी हैं। जिन्हें शिकायत है कि जैन धर्म निवृत्ति प्रधान है, उसमें लोक हितकर प्रवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है, सामाजिक भाव का कोई रूप नहीं है, वे भगवान् महावीर के इन प्रवृत्तिमय जीवन प्रसंगों पर से उनके जीवन दर्शन की वास्तविकता समझ सकते हैं।

जैन धर्म ने सामाजिक जीवन से कभी इन्कार नहीं किया, वह तो सदा ही सामाजिक जीवन के साथ इकरार करता आ रहा है। उसने ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म[1] आदि के रूप में समाज के प्रत्येक वर्ग का कर्त्तव्य सूचित किया है, प्राप्त उत्तरदायित्वों को स्वीकार करके उन्हें उचित और सुन्दर ढंग से निबाहने का संदेश दिया है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति की इस चर्चा में मैं पुनः एक बात दुहरा देता हूं कि इन दोनों की अपनी जो सीमाएँ हैं, जो अपने क्षेत्र हैं, उन्हें भी यथार्थ दृष्टि से समझना है। जीवन में निवृत्ति का भी उतना ही महत्त्व है, जितना प्रवृत्ति का। बिना निवृत्ति के एकान्त प्रवृत्ति एक आधारहीन अन्ध हलचल है, उसमें निर्माण जैसा पवित्र आदर्श नहीं रहता। और प्रवृत्तिशून्य निवृत्ति भी सिर्फ एक निष्क्रिय उदासीन व्यक्तिवादिता है। जब व्यक्ति केवल अपने ही ऐहिक सुख दुःख में बँधा रहे, अपने ही व्यक्तिगत स्वर्ग और अपवर्ग

१—स्थानांगसूत्र १० वां स्थान

के सुखों की कल्पना में दौड़ता रहे, तो यह एक प्रकार का स्वार्थीपन ही है, व्यक्तिगत सुख का राग है। अतः वह बन्धन है, फिर चाहे वह धार्मिक जीवन में हो या सामाजिक जीवन में। इससे व्यक्ति और समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता। जैन दर्शन जीवन में दोनों का समन्वय करता है। जैसा कि मैंने पहले कहा था—मर्यादाहीन व्यक्तिगत सुखों और स्वार्थों से निवृत्ति तथा सामाजिक हितों के लिए यथाप्रसंग यथोचित प्रवृत्ति अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भोगेच्छा से निवृत्ति और विश्व कल्याण के लिए उदात्त प्रवृत्ति—बस यही महावीर की निवृत्ति और प्रवृत्ति का मर्म है, यही महावीर का जीवन दर्शन है।

*

महावीर वाणी

अहिंसा तसथावर-सव्वभूयखेमंकरी !

—अहिंसा त्रस-स्थावर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।

अभओ सव्वस्स वि।

—अहिंसा सब के प्रति अभय है।

एसा अहिंसा भगवई।

—यह अहिंसा भगवती है।

न भीइयव्वं !

—डरना नहीं चाहिए।

भीओ भूएहिं घिप्पेज्जा।

—भयभीत व्यक्ति ही भूत प्रेतादि से डरता है।

भीओ अन्नंपि हु भेसिज्जा।

—डरपोक दूसरे साथियों को भी डरपोक बनाता है।

—प्रश्न व्याकरण

शोषण मुक्त समाज रचना के संदर्भ में

★ उपाध्याय अमरमुनि

भगवान महावीर का अपरिग्रह दर्शन

भगवान् महावीर के चिंतन में जितना महत्व अहिंसा को मिला, उतना ही अपरिग्रह को भी मिला। उन्होंने अपने प्रवचनों में जहां-जहां आरम्भ—(हिंसा) का निषेध किया, वहां-वहां परिग्रह का भी निषेध किया है। चूंकि मुख्य रूपेण परिग्रह के लिए ही हिंसा की जाती है, अतः अपरिग्रह अहिंसा की पूरक साधना है।

परिग्रह क्या है ?

प्रश्न खड़ा होता है, परिग्रह क्या है ? उत्तर आया होगा—धन-धान्य, वस्त्र-भवन, पुत्र-परिवार और अपना शरीर यह सब परिग्रह है। इस पर एक प्रश्न खड़ा हुआ होगा—कि यदि ये ही परिग्रह हैं तो इनका सर्वथा त्यागकर कोई कैसे जी सकता है ? जब शरीर भी परिग्रह है, तो कोई अशरीर बनकर जिए, क्या यह संभव है ? फिर तो अपरिग्रह का आचरण असंभव है। असंभव और अशक्य धर्म का उपदेश भी निरर्थक है !

भगवान् महावीर ने हर प्रश्न का अनेकांत दृष्टि से समाधान दिया है। परिग्रह की बात भी उन्होंने अनेकांत दृष्टि से निश्चित की और कहा—वस्तु, परिवार, और शरीर परिग्रह है भी और नहीं भी। मूलतः ये परिग्रह नहीं हैं, क्योंकि ये तो बाहर में केवल वस्तु रूप हैं। परिग्रह एक वृत्ति है, जो प्राणी के अन्तरंग चेतना की एक अशुद्ध स्थिति है, अतः जब चेतना बाह्य वस्तुओं में आसक्ति,

मूर्च्छा, ममत्व (मेरापन) का आरोप करती है तभी वे परिग्रह होते हैं, अन्यथा नहीं।

इसका अर्थ है—वस्तु में परिग्रह नहीं, भावना में ही परिग्रह है। ग्रह एक चीज है, परिग्रह दूसरी चीज है। ग्रह का अर्थ उचित आवश्यकता के लिए किसी वस्तु को उचित रूप में लेना एवं उसका उचित रूप में ही उपयोग करना। और परिग्रह का अर्थ है—उचित अनुचित का विवेक किए बिना आसक्ति-रूप में वस्तुओं को सब ओर से पकड़ लेना, जमा करना, और उनका मर्यादाहीन गलत असामाजिक रूप में उपयोग करना।

वस्तु न भी हो, यदि उसकी आसक्तिमूलक मर्यादाहीन अभीप्सा है तो वह भी परिग्रह है। इसीलिए महावीर ने कहा था—'मुच्छा परिग्गहो'—मूर्च्छा, मन की ममत्व दशा ही वास्तव में परिग्रह है। जो साधक ममत्व से मुक्त हो जाता है, वह सोने चांदी के पहाड़ों पर बैठा हुआ भी अपरिग्रही कहा जा सकता है।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने परिग्रह की, एकान्त जड़वादी परिभाषा को तोड़कर उसे भाववादी, चैतन्यवादी परिभाषा दी।

अपरिग्रह का मौलिक अर्थ

भगवान् महावीर ने बताया, अपरिग्रह का सीधा-सादा अर्थ है—निस्पृहता, निरीहता। इच्छा ही सबसे बड़ा बंधन है, दुःख है। जिसने इच्छा का निरोध कर दिया उसे मुक्ति मिल गई। इच्छा-मुक्ति ही वास्तव में संसारमुक्ति है। इसलिए सबसे प्रथम इच्छाओं पर, आकांक्षाओं पर संयम करने का उपदेश महावीर ने दिया। बहुत से साधक, जिनकी चेतना इतनी प्रबुद्ध होती है कि वे अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, महाव्रती-संयमी के रूप में पूर्ण अपरिग्रह के पथ पर बढ़ते हैं। किन्तु इससे अपरिग्रह केवल संन्यास क्षेत्र की ही साधना मात्र बनकर रह जाता है, अतः सामाजिक क्षेत्र में अपरिग्रह की अवतारणा के लिए उसे गृहस्थ-धर्म के रूप में भी एक परिभाषा दी गई।

महावीर ने कहा—सामाजिक प्राणी के लिए इच्छाओं का संपूर्ण निरोध, आसक्ति का समूल विलय—यदि संभव न हो, तो वह आसक्ति

को क्रमशः कम करने की साधना कर सकता है, इच्छाओं को सीमित करके ही वह अपरिग्रह का साधक बन सकता है।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, उनका जितना विस्तार करते जाओ, वे उतनी ही व्यापक, असीम बनती जाएँगी और उतनी ही चिन्ताएँ, कष्ट, अशान्ति बढ़ती जाएँगी।

इच्छाएँ सीमित होंगी, तो चिंता और अशान्ति भी कम होंगीं। इच्छाओं को नियंत्रित करने के लिए महावीर ने 'इच्छापरिमाणव्रत' का उपदेश किया। यह अपरिग्रह का सामाजिक रूप भी था। बड़े-बड़े धनकुवेर श्रीमंत एवं सम्राट भी अपनी इच्छाओं को सीमित-नियंत्रित कर मन को शांत एवं प्रसन्न रख सकते हैं। और साधनहीन साधारण लोग, जिनके पास सर्वग्राही लम्बे चौड़े साधन तो नहीं होते, पर इच्छाएँ असीम दौड़ लगाती रहती हैं, वे भी इच्छा-परिमाण के द्वारा समाजोपयोगी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी अपने अनियंत्रित इच्छाप्रवाह के सामने अपरिग्रह का एक आन्तरिक अवरोध खड़ा कर उसे रोक सकते हैं।

इच्छापरिमाण—एक प्रकार से स्वामित्व-विसर्जन की प्रक्रिया थी। महावीर के समक्ष जब वैशाली का आनन्द श्रेष्ठी इच्छापरिमाण व्रत का संकल्प लेने उपस्थित हुआ, तो महावीर ने बताया—"तुम अपनी आवश्यकताओं को सीमित करो। जो अपार-साधन सामग्री तुम्हारे पास है, उसका पूर्ण रूप में नहीं तो, उचित सीमा में विसर्जन करो। एक सीमा से अधिक अर्थ-धन पर अपना अधिकार मत रखो, आवश्यक क्षेत्र, वास्तु रूप भूमि से अधिक भूमि पर अपना स्वामित्व मत रखो। इसी प्रकार पशु, दास-दासी, आदि को भी अपने सीमाहीन अधिकार से मुक्त करो।

स्वामित्व विसर्जन की यह सात्विक प्रेरणा थी, जो समाज में संपत्ति के आधार पर फैली अनर्गल विषमताओं का प्रतिकार करने में सफल सिद्ध हुई। मनुष्य जब आवश्यकता से अधिक संपत्ति व वस्तु के संग्रह पर से अपना अधिकार हटा लेता है, तो वह समाज और राष्ट्र के लिए उन्मुक्त हो जाती हैं, इस प्रकार अपने आप ही एक सहज समाजवादी अन्तर् प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

भोगोपभोग एवं दिशा-परिमाण

मानव सुखाभिलाषी प्राणी है। वह अपने सुख के लिए नाना प्रकार के भोगोपभोगों की परिकल्पना के माया जाल में उलझा रहता है। यह भोगबुद्धि ही अनर्थ की जड़ है। इसके लिए ही मानव अर्थ संग्रह एवं परिग्रह के पीछे पागल की तरह दौड़ रहा है। जब तक भोगबुद्धि पर अंकुश नहीं लगेगा, तबतक परिग्रह-बुद्धि से मुक्ति नहीं मिलेगी।

यह ठीक है कि मानव जीवन भोगोपभोग से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। शरीर है, उसकी कुछ अपेक्षाएं। उन्हें सर्वथा कैसे ठुकराया जा सकता है। अतः महावीर आवश्यक भोगोपभोग से नहीं, अपितु अमर्यादित—भोगोपभोग से मानव की मुक्ति चाहते थे।

उन्होंने इसके लिए भोग के सर्वथा त्याग का व्रत न बताकर 'भोगोपभोग परिमाण' का व्रत बताया है।

भोग परिग्रह का मूल है। ज्यों ही भोग यथोचित आवश्यकता की सीमा में आबद्ध होता है, परिग्रह भी अपने आप सीमित हो जाता है। इस प्रकार महावीर द्वारा उपदिष्ट 'भोगोपभोगपरिमाण' व्रत में से अपरिग्रह स्वतः फलित हो जाता है।

महावीर ने अपरिग्रह के लिए दिशा परिमाण और देशावकासिक व्रत भी निश्चित किए थे। इन व्रतों का उद्देश्य भी आसपास के देशों एवं प्रदेशों पर होने वाले अनुचित व्यापारिक, राजकीय एवं अन्य शोषण प्रधान आक्रमणों से मानव समाज को मुक्त करना था। दूसरे देशों की सीमाओं, अपेक्षाओं एवं स्थितियों का योग्य विवेक रखे बिना भोग-वासना पूर्ति के चक्र में इधर उधर अनियंत्रित भाग-दौड़ करना महावीर के साधना क्षेत्र में निषिद्ध था। आज के शोषणमुक्त समाज की स्थापना के विश्व मंगल उद्घोष में, इस प्रकार महावीर का चिन्तन-स्वर पहले से ही मुखरित होता आ रहा है।

परिग्रह का परिष्कार, दान

पहले के संचित परिग्रह की चिकित्सा उसका उचित वितरण है। प्राप्त साधनों का जनहित में विनियोग दान है, जो भारत की विश्व मानव को एक बहुत बड़ी देन है, किन्तु स्वामित्व विसर्जन

की उक्त दान-प्रक्रिया में कुछ विकृतियां आ गई थीं, अतः महावीर ने चालू दान प्रणाली में भी संशोधन प्रस्तुत किया। महावीर ने देखा, लोग दान तो करते हैं, किन्तु दान के साथ उनके मन में आसक्ति एवं अहंकार की भावनाएं भी पनपती हैं। वे दान का प्रतिफल चाहते हैं, यश, कीर्ति, बड़प्पन, स्वर्ग और देवताओं की प्रसन्नता।

आदमी दान तो देता था, पर वह याचक की विवशता या गरीबी के साथ प्रतिष्ठा और स्वर्ग का सौदा भी कर लेना चाहता था। इस प्रकार का दान समाज में गरीबी को बढ़ावा देता था, दाताओं के अहंकार को प्रोत्साहित करता था। महावीर ने इस गलत दान-भावना का परिष्कार किया। उन्होंने कहा—किसी को कुछ देना मात्र ही दान-धर्म नहीं है, अपितु निष्कामबुद्धि से[1], जन-हित में संविभाग करना, सहोदर बन्धु के भाव से उचित हिस्सा देना, दान-धर्म है। दाता बिना किसी प्रकार के अहंकार व भौतिक प्रलोभन से ग्रस्त हुए, सहज सहयोग की पवित्र बुद्धि से दान करे—वही दान वास्तव में दान है।

इसीलिए भगवान् महावीर दान को संविभाग कहते थे। संविभाग—अर्थात् सम्यक्—उचित विभाजन-बँटवारा और इसके लिए भगवान् का गुरु गम्भीर घोष था कि—संविभागी को ही मोक्ष है, असंविभागी को नहीं—'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।'

वैचारिक अपरिग्रह

भगवान् महावीर ने परिग्रह के मूल मानव मन की बहुत गहराई में देखे। उनकी दृष्टि में मानव-मन की वैचारिक अहंता एवं आसक्ति की हर प्रतिबद्धता परिग्रह है। जातीय श्रेष्ठता, भाषागत पवित्रता, स्त्री-पुरुषों का शरीराश्रित अच्छा बुरापन, परम्पराओं का दुराग्रह आदि समग्र वैचारिक आग्रहों, मान्यताओं एवं प्रतिबद्धताओं को महावीर ने आन्तरिक परिग्रह बताया और उससे मुक्त होने की प्रेरणा दी। महावीर ने स्पष्ट कहा कि विश्व

1—मुहादाई मुहाजीवी, दोवि गच्छंति सुग्गइं।

—दशवैकालिक

की मानव जाति एक है। उसमें राष्ट्र, समाज एवं जातिगत उच्चता-नीचता जैसी कोई चीज नहीं। कोई भी भाषा शाश्वत एवं पवित्र नहीं है। स्त्री और पुरुष आत्मदृष्टि से एक हैं, कोई ऊँचा या नीचा नहीं है। इसी तरह के अन्य सब सामाजिक तथा सांप्रदायिक आदि भेद विकल्पों को महावीर ने औपाधिक बताया, स्वाभाविक नहीं।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मानव-चेतना को वैचारिक परिग्रह से भी मुक्त कर उसे विशुद्ध अपरिग्रह भाव पर प्रतिष्ठित किया।

भगवान् महावीर के अपरिग्रहवादी चिन्तन की पांच फलश्रुतियां आज हमारे समक्ष हैं :—

१—इच्छाओं का नियमन

२—समाजोपयोगी साधनों के स्वामित्व का विसर्जन।

३—शोषणमुक्त समाज की स्थापना।

४—निष्कामबुद्धि से अपने साधनों का जनहित में संविभाग-दान।

५—आध्यात्मिक-शुद्धि।

★

महावीर-वाणी

से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी—

—विवेकी साधक लार-थूक चाटने वाला न बने, अर्थात् परित्यक्त भोगों की पुनः कामना न करे। —"आचारांग" १।२।५

जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं।

—जो ममत्व बुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुतः ममत्व-परिग्रह का त्याग कर सकता है।

वही मुनि वास्तव में पथ (मोक्षमार्ग) का द्रष्टा है—जो किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नहीं रखता है। —"आचारांग" १।२।६

जहा कुम्मे सअंगाइं. सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

—कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता हैं, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पापवृत्तियों से सुरक्षित रखे। —"सूत्रकृतांग" १।८।१६

★

★ उपाध्याय अमरमुनि

भगवान् महावीर का अनेकान्त दर्शन

भगवान् महावीर ने जितनी गहराई के साथ अहिंसा और अपरिग्रह का विवेचन किया, अनेकान्त दर्शन के चिंतन में भी वे उतने ही गहरे उतरे। अनेकांत को न केवल एक दर्शन के रूप में, अपितु सर्वमान्य जीवन धर्म के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महावीर को ही है। अहिंसा और अपरिग्रह के चिंतन में भी उन्होंने अनेकांत दृष्टि का प्रयोग किया। प्रयोग ही क्यों, यहाँ तक कहा जा सकता है कि अनेकांत-रहित अहिंसा और अपरिग्रह भी महावीर को मान्य नहीं थे।

आप शायद चौकेंगे, यह कैसे ? किन्तु वस्तुस्थिति यही है। चूंकि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक विचार अनन्त धर्मात्मक है। उसके विभिन्न पहलू, विभिन्नपक्ष होते हैं। उन पहलुओं और पक्षों पर विचार किए बिना यदि हम कुछ निर्णय करते हैं, तो यह उस वस्तुतत्त्व के प्रति स्वरूपघात होगा, वस्तुविज्ञान के साथ अन्याय होगा और स्वयं अपनी ज्ञान-चेतना के साथ भी एक धोखा होगा। किसी भी वस्तु के तत्वस्वरूप पर चिन्तन करने से पहले हमें अपनी दृष्टि को पूर्वाग्रहों से मुक्त, स्वतन्त्र और व्यापक बनाना होगा, उसके प्रत्येक पहलू को अस्ति, नास्ति आदि विभिन्न विकल्पों द्वारा परखना होगा, तभी तो हम उसके यथार्थस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

अहिंसा और अपरिग्रह के विषय में भी यही बात है, इसलिए मैंने कहा—महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह भी अनेकांतात्मक थे।

अहिंसात्मक अनेकान्तवाद का एक उदाहरण लीजिए। भगवान् महावीर ने साधक के लिए सर्वथा हिंसा का निषेध किया।[1] किसी भी प्रकार की हिंसा का समर्थन उन्होंने नहीं किया। किन्तु जन-कल्याण की भावना से, किसी उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए, तथा वीतराग जीवन चर्या में भी कभी-कहीं परिस्थितिवश अनचाहे भी जो सूक्ष्म या स्थूल प्राणिघात हो जाता है, उस विषय में उन्होंने कभी एकान्त निवृत्ति का आग्रह नहीं किया, अपितु व्यवहार में उस प्राणि हिंसा को हिंसा स्वीकार करके भी उसे निश्चय में हिंसा की परिधि से मुक्त माना। क्योंकि उन्होंने अहिंसा को मौलिक तत्त्व-दृष्टि से बाहर में दृश्यमान प्राणिवध को नहीं, किन्तु रागद्वेषात्मक अन्तर्वृत्ति को, प्रमत्तयोग[2] को ही हिंसा बताया, कर्मबन्धन का हेतु कहा। यही उनका अहिंसा के क्षेत्र में अनेकान्तवादी चिन्तन था।

परिग्रह और अपरिग्रह के विषय में भी महावीर बहुत उदार और स्पष्ट थे। यद्यपि जहाँ परिग्रह की गणना की गई वहाँ वस्त्र, पात्र, भोजन, भवन आदि बाह्य वस्तुओं को, यहाँ तक कि शरीर को भी परिग्रह की परिगणना में लिया गया, किन्तु जहाँ परिग्रह का तात्त्विक प्रश्न आया, वहाँ उन्होंने मूर्च्छा भाव के रूप में परि-ग्रह की एक स्वतन्त्र एवं व्यापक व्याख्या की। महावीर वस्तुवादी नहीं, भाववादी थे। अत: उनका अपरिग्रह का सिद्धान्त बाह्य जड़ वस्तुवाद में कैसे उलझ जाता? उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—वस्तु परिग्रह नहीं, भाव ही (ममता) परिग्रह है। मनकी मूर्च्छा,[3] आसक्ति और रागात्मक विकल्प—यही परिग्रह है, बन्धन है।

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चिन्तन के हर नये मोड़ पर महावीर 'हां और-ना' के साथ चले। उनका उत्तर 'अस्ति-नास्ति' के साथ अपेक्षापूर्वक होता था। एकान्त अस्ति या एकांत नास्ति - जैसा निरपेक्ष कुछ भी उनके तत्त्व-दर्शन में न था।

१—सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं। —स्थानांग सूत्र

२—पमायं कम्ममाहंसु। —सूत्र कृतांग १।८।३

३—मुच्छा परिग्गहो। —दशवैकालिक

अपने शिष्यों से महावीर ने स्पष्ट कहा था—"सत्य अनन्त है, विराट है। कोई भी अल्पज्ञानी सत्य को सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकता। जो जानता है वह उसका केवल एक पहलू होता है, एक अंश होता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी, जो सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है, वह भी उस ज्ञात सत्य को वाणी द्वारा पूर्ण रूप से अविकल व्यक्त नहीं कर सकता।"

इस स्थिति में सत्य को संपूर्ण रूप से जानने का, और समग्र रूप से कथन करने का दावा कौन कर सकता है? हम जो कुछ देखते हैं, वह एकपक्षीय होता है। और जो कुछ कथन करते हैं वह भी एकपक्षीय ही है।

वस्तु सत्य के सम्पूर्ण स्वरूप को न हम एक साथ पूर्ण रूप से देख सकते हैं, न व्यक्त कर सकते हैं, फिर अपने दर्शन को एकांत रूप से पूर्ण, यथार्थ और अपने कथन को एकांत सत्य करार देकर दूसरों के दर्शन और कथन को असत्य घोषित करना, क्या सत्य के साथ अन्याय नहीं है?

इस तथ्य को हम एक अन्य उदाहरण से भी समझ सकते हैं। एक विशाल एवं उत्तुंग सुरम्य पर्वत है, समझ लीजिए, हिमालय है। अनेक पर्वतारोही विभिन्न मार्गों से उस पर चढ़ते हैं, और भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर से उसके चित्र लेते हैं। कोई पूरब से तो कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से तो कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि विभिन्न दिशाओं से लिए गए चित्र परस्पर एक दूसरे से कुछ भिन्न ही होंगे, फलस्वरूप देखने में वे एक दूसरे से विपरीत ही दिखाई देंगे। इस पर यदि कोई हिमालय की एक दिशा के चित्र को ही सही बता कर अन्य दिशाओं के चित्रों को झूठा बताये, या उन्हें हिमालय के चित्र मानने से ही इन्कार कर दे, तो उसे आप क्या कहेंगे?

वस्तुतः सभी चित्र एकपक्षीय हैं। हिमालय की एकदेशीय प्रतिच्छवि ही उनमें अंकित है। किन्तु हम उन्हें असत्य और अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाइए, तो हिमालय का एक पूर्ण रूप आपके सामने उपस्थित हो जायेगा। खण्ड-खण्ड हिमालय एक अखण्ड आकृति ले लेगा, और इसके साथ

हिमालय के दृश्यों का खण्ड-खण्ड सत्य एक अखण्ड सत्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देगा।

यही बात विश्व के समग्र सत्यों के संबन्ध में है। कोई भी सत्य हो, उसके एकपक्षीय दृष्टिकोणों को लेकर अन्य दृष्टिकोणों का अपलाप या विरोध नहीं होना चाहिए, किन्तु उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दृष्टिकोणों के यथार्थ समन्वय का प्रयत्न होना चाहिए।

दूसरों को असत्य घोषित कर स्वयं को ही सत्य का एक मात्र ठेकेदार बताना, एक प्रकार का अज्ञान-भरा अन्ध अहं है, दम्भ है, छलना है। भगवान् महावीर ने कहा है—सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिए सत्य के समस्त अंगों का अनाग्रहपूर्वक अवलोकन करो और फिर उनका अपेक्षा पूर्वक कथन करो।

अनेकांतवाद और स्याद्वाद

भगवान् महावीर की यह चिंतनशैली अपेक्षावादी, अनेकांतवादी शैली थी, और उनकी कथनशैली स्याद्वाद या विभज्यवाद के नाम से प्रचलित हुई। अनेकांत वस्तु में अनन्त-धर्म की तत्त्व-दृष्टि रखता है, अतः वह वस्तुपरक होता है. और स्याद्वाद अनन्त धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप का अपेक्षाप्रधान वर्णन है, अतः वह शब्दपरक होता है। जन साधारण इतना सूक्ष्म भेद लेकर नहीं चलता, अतः वह दोनों को पर्यायवाची मान लेता है। वैसे दोनों में ही अनेकान्त का स्वर है।

जन सुलभ भाषा में एक उदाहरण के द्वारा महावीर के अनेकांत एवं स्याद्वाद का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है— आप जब एक कच्चे आम को देखते हैं, तो सहसा कह उठते हैं— आम हरा है, उसको चखते हैं, तो कहते हैं—आम खट्टा है। इस कथन में आम में रहे हुए अन्य गन्ध, स्पर्श आदि वर्तमान गुण-धर्मों की, तथा भविष्य में परिवर्तित होने वाले पीत एवम् माधुर्य आदि परिणमन-पर्यायों की सहज उपेक्षा-सी हो गई है। निषेध नहीं, उन्हें गौण कर दिया गया है। और वर्तमान में जिस वर्ण एवं रस का विशिष्ट अनुभव हो रहा है, उसी की अपेक्षा से आम को हरा

और खट्टा कहा गया है। आम के सम्बन्ध में यह कथन सत्य कथन है, क्योंकि उसमें अनेकांत मूलक स्वर है। किन्तु यदि कोई कहे कि आम हरा ही है, खट्टा ही है, तो यह एकान्त आग्रहवादी कथन होगा। ही' के प्रयोग में वर्तमान एवं भविष्यंकालीन अन्य गुण धर्मों का सर्वथा निषेध है। इतर सत्य का सर्वथा अपलाप है, एक ही प्रतिभासित आंशिक सत्य का आग्रह है। और जहाँ इस तरह का आग्रह होता है, वहाँ आंशिक सत्य भी सत्य न रहकर असत्य का चोला पहन लेता है। इसलिए महावीर ने प्रतिभासित सत्य को स्वीकृति देकर भी, अन्य सत्यांशों को लक्ष्य में रखते हुए आग्रह का नहीं, अनाग्रह का उदार दृष्टिकोण दिया है।

लोक-जीवन के व्यवहार क्षेत्र में भी हम 'ही' का प्रयोग करके नहीं, किन्तु 'भी' का प्रयोग करके ही अधिक सफल और संतुलित रह सकते हैं।

कल्पना करिए, आपके पास एक प्रौढ़ व्यक्ति खड़ा है, तभी कोई एक युवक आता है और उससे पूछता है—'भैया! किधर जा रहे हो?' दूसरे ही क्षण एक बालक दौड़ा-दौड़ा आता है और पुकारता है—'पिता जी! मेरे लिए मिठाई लाना'। तभी कोई वृद्ध पुरुष उधर आ जाता है और वह उस प्रौढ़ व्यक्ति को पूछता है—'बेटा! इस धूप में कहाँ चले........?' इस प्रकार अनेक व्यक्ति आते हैं, और कोई उसे चाचा कहता है, कोई मामा, कोई मित्र और कोई भतीजा।

आप आश्चर्य में तो नहीं पड़ेंगे! यह क्या बात है? एक ही व्यक्ति किसी का भाई है, किसी का भतीजा है, किसी का बेटा है, और किसी का बाप है। बाप है तो बेटा कैसे? और बेटा है तो बाप कैसे? इसी प्रकार चाचा और भतीजा भी एक ही व्यक्ति एक साथ कैसे हो सकता है? ये सब रिश्ते-नाते परस्पर विरोधी हैं, और दो विरोधी तत्त्व एक में कैसे घटित हो सकते हैं? उक्त शंका एवं भ्रम का समाधान अपेक्षावाद में है। अपेक्षावाद वस्तु को विभिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिविन्दुओं से देखता है। इसके लिए वह 'ही' का नहीं, 'भी' का प्रयोग करता है। जो बेटा है, वह सिर्फ किसी का बेटा ही नहीं, किसी का बाप भी है। वह सिर्फ किसी का चाचा ही नहीं,

किसी का भतीजा भी है। यही बात 'मामा' आदि के सम्बन्ध में है। यदि हम 'ही' को ही पकड़ कर बैठ जाएंगे तो सत्य की रक्षा नहीं कर सकेंगे। एकान्त 'ही' का प्रयोग अपने से भिन्न समस्त सत्यों को झुठला देता है, जबकि 'भी' का प्रयोग अपने द्वारा प्रस्तुत सत्य को अभिव्यक्ति देता हुआ भी दूसरे सत्यों को भी बगल में मूक एवं गौण स्वीकृति दिये रहता है। अतः किसी एक पक्ष एवं एक सत्यांश के प्रति एकान्त अन्ध आग्रह न रखकर उदारतापूर्वक अन्य पक्षों एवं सत्यांशों को भी सोचना-समझना और अपेक्षापूर्वक उन्हें स्वीकार करना, यही है महावीर का एकान्त दर्शन।

भगवान् महावीर ने कहा—किसी एक पक्ष की सत्ता स्वीकार भले ही करो, किन्तु उसके विरोधी जैसे प्रतिभासित होने वाले (सर्वथा विरोधी नहीं) दूसरे पक्ष की भी जो सत्ता है, उसे झुठलाओ मत! विपक्षी सत्य को भी जीने दो, चूँकि देशकाल के परिवतन के साथ आज का प्रच्छन्न सत्यांश कल प्रकट हो सकता है, उसकी सत्ता, उसका अस्तित्व व्यापक एवं उपादेय बन सकता है—अतः हमें दोनों सत्यों के प्रति जागरूक रहना है, व्यक्त सत्य को स्वीकार करना है, साथ ही अव्यक्त सत्य को भी। हाँ, देश, काल, व्यक्ति एवं स्थिति के अनुसार उसकी कथंचित् गौणता, सामयिक उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु सर्वथा निषेध नहीं।

भगवान् महावीर का यह दार्शनिक चिन्तन, सिर्फ दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला चिन्तन है। इसी अनेकान्त दर्शन के आधार पर हम गरीबों को, दुर्बलों को और अल्पसंख्यकों को न्याय दे सकते हैं, उनके अस्तित्व को स्वीकार कर उन्हें भी विकसित होने का अवसर दे सकते हैं। आज विभिन्न वर्गों में, राष्ट्र-जाति-धर्मों में जो विग्रह, कलह एवं संघर्ष है, उसका मूल कारण भी एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना है, वैयक्तिक आग्रह एवं हठ है। अनेकान्त ही इन सब में समन्वय स्थापित कर सकता है।

अनेकान्त संकुचित एवं अनुदारदृष्टि को विशाल बनाता है, और यह विशालता, उदारता ही परस्पर के सौहार्द, सहयोग, सद्भावना एवं समन्वय का मूल प्राण है।

अनेकांतवाद वस्तुतः मानव का जीवन-धर्म है, समग्र मानव जाति का जीवन-दर्शन है।

आज के युग में इसकी और भी आवश्यकता है। समानता और सह अस्तित्व का सिद्धांत अनेकांत के बिना चल ही नहीं सकेगा। उदारता और सहयोग की भावना तभी बलवती होगी, जब हमारा चिंतन अनेकांतवादी होगा। भगवान् महावीर के व्यापक चिंतन की यह समन्वयात्मक देन धार्मिक और सामाजिक जगत में, बाह्य और अन्तर् जीवन में सदा सर्वदा के लिए एक अद्भुत देन मानी जा सकती है। अस्तु हम अनेकान्त को समग्र मानवता के सहज विकास की, विश्व-जन मंगल की धुरी भी कह सकते हैं।

★

महावीर वाणी

अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

—अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओं का जागते रहना। —भगवती सूत्र—१२।२

अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू।

—धर्मनिष्ठ आत्माओं का बलवान होना अच्छा है और धर्महीन आत्माओं का दुर्बल रहना। —भगवती सूत्र—१२।२

एगं अण्णयरं तसं पाणं हणमाणे,
अणेगे जीवे हणइ।

—एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा तत्संबंधित अनेक जीवों की हिंसा करता है। —भगवती सूत्र—९।३४

एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ।

एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनंत जीवों की हिंसा करने वाला होता है। —भगवती सूत्र—९।३४

★ उपाध्याय अमरमुनि

भगवान् महावीर का विराट व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आज से ढाई हजार वर्ष पहले के युग को हमारी आँखें प्रश्नवाचक दृष्टि से देख रही हैं। नाना जातियों और वर्गों में समाज टुकड़े-टुकड़े होता जा रहा था उस युग में। जनमानस पर घोर अन्धकार छाया हुआ था। सभी लोग यह महसूस कर रहे थे कि इस घोर अन्धकार को दूर करने के लिए कोई महान् ज्योति अवतरित हो। प्रकाश जगमगाए और यह अंधेरा दूर हो, इस शोध में थे सभी। साधारण जनता ही नहीं, बड़-बड़े उच्च मनीषी साधक भी प्रकाश की तलाश में थे। भ० पार्श्वनाथ की शिष्य—परम्परा के तत्कालीन संघनायक केशीश्रमण भी पूछ बैठते हैं, इन्द्रभूति गौतम से—

> अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू।
> को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगंमि पाणिणं॥

—जनता भयंकर अंधकार में भटक रही है। कौन है वह जो इस जगत् में फैले हुए घोर अन्धकार को दूर कर प्रकाश करे?

इसका अर्थ यह है कि साधारण जन ही नहीं, बड़े-बड़े मनीषी भी उस समय प्रकाश की शोध में थे।

वैशाली की गरिमा

भगवान् महावीर का जन्म विदेहगणराज्य की राजधानी वैशाली में हुआ था। वैशाली महान् समृद्ध नगरी थी उस समय। वैभव और ऐश्वर्य

से परिपूर्ण। यथा नाम तथा गुण। तथागत बुद्ध ने इसी वैशाली के सम्बन्ध में एक बार कहा था—"अगर किसीने देव और देवियाँ न देखे हों तो वे वैशाली के इन लोगों को देख लें। वैशाली के ये नर-नारी सचमुच देवों के समान सुन्दर और समृद्ध हैं।"

इसका अर्थ यह है कि वैशाली उस युग में वैभव और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँची हुई थी, जिससे तथागत बुद्ध के श्री मुख से भी वैशाली की प्रशंसा में बरबस यह उद्गार निकल पड़े। भगवान् महावीर का जन्म इसी वैशाली गणतन्त्र राज्य की ज्ञातृशाखा के राजा सिद्धार्थ के यहाँ होता है। आप कल्पना कीजिए, जहाँ की साधारण जनता भी इतनी सुखी तथा समृद्ध हो, तो उस गणतन्त्रीय राजघराने में पैदा होने वाले को कितना ऐश्वर्य और वैभव प्राप्त हुआ होगा, इसका अन्दाजा आप सहज ही लगा सकते हैं! फिर भी तीस वर्ष की मदभरी जवानी में बाहर के उस वैभव और ऐश्वर्य को ठुकरा कर वह चल पड़ते हैं, अन्दर के उस अनन्त ऐश्वर्य और अनुपम वैभव की शोध में।

विवेक का प्रकाश

आप कल्पना कीजिए, यौवन के सिंहद्वार पर पहुँचने पर अपने चारों ओर मंडराते हुए अपार वैभव और ऐश्वर्य को लात मार कर चल पड़ना कितना कठिन होता है। एक आचार्य ने कहा है—

> यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
> एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्?

पहले तो जवानी ही दीवानी है, फिर उसमें वैभव का अम्बार सामने लगा हो, और इस पर सिंहासन का गौरव भी मिल जाए। यह सब कुछ प्राप्त होने के साथ, दुर्भाग्य से यदि विवेक की आँखों का प्रकाश धूमिल हो जाए तो उसका पतन होते क्या देर लगती है? यौवन, धनप्राप्ति, सत्ता और अविवेकिता ये चारों ही नहीं, चारों में से प्रत्येक अनर्थकारी है और जब ये चारों ही मिल जायें तो अनर्थकारिता का कहना ही क्या? लेकिन इसी वातावरण में, इसी यौवन की तूफान भरी हुई आंधी में और उसी धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य और लक्ष्मी के अम्बार पर एवं प्रभुत्व के सिंहासन पर बैठ कर भी भगवान् महावीर का भोग-विलास में मन रमा नहीं, अन्धकार से आच्छन्न नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? इसलिए कि उनका विवेक जागृत था। अतः वे सत्य की खोज में अबाधगति से चल पड़े।

आप सुनते हैं, पढ़ते हैं, कोई छिपी हुई बात तो नहीं है आप से। वह महान् साधक महलों को छोड़ कर उन घोर वनों में पहुँचा, जहाँ हर कदम पर मौत का सन्नाटा छाया रहता था। उन घोर जंगलों में पहले तो जाना ही मुश्किल ! अगर कोई चला भी जाय तो उसका वापिस सुरक्षित लौट कर आना मुश्किल। लेकिन भगवान् महावीर निरन्तर आगे से आगे बढ़ते चले गए। पर्वतों और गुफाओं में और नदी की बहती हुई धाराओं के तट पर अन्दर की खोज शुरु हो गई। अन्दर के सत्य को पाने के लिए उनका पुरुषार्थ प्रारम्भ हो गया। कहते हैं, सागर का मन्थन करने पर उसमें से लक्ष्मी निकली थी, इसी प्रकार भगवान् महावीर अपने अन्तःसागर का मन्थन करते हैं, अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी की प्राप्त के लिए। सन्दर्भ में वेदकाल के इसी एक ऋषि ने कहा था—

उपह्वरे गिरीणां, संगमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत :

पहाड़ों की उन गहरी गुफाओं में, नदियों के उन विशाल कल-कल करते हुए संगमों पर, साधक के अन्दर में ज्ञान का प्रकाश जगमगाता है। उसे अन्दर के सत्य का पता लगता है। भगवान् महावीर भी बाहर के कोलाहल से दूर हट कर अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होते हैं और अनन्त सत्य की खोज में जंगल के एकान्त वातावरण की ओर चल पड़ते हैं।

गुरु कोई क्यों नहीं बनाया ?

एक बात मैं कहना चाहता हूँ आपसे, वह नई सी लगेगी आपको। घिसी-पिटी बातों को सुनने-सुनाने का आज का युग नहीं है, वास्तव में भारतीय दर्शन और खासकर जैन-दर्शन में घिसी-पिटी बातें हैं भी नहीं। जो भी बातें हैं, सत्य से प्राणवान् हैं, तरो-ताजा फूल की तरह। बात यह है कि भगवान् महावीर ने दीक्षा ली, यहाँ प्रश्न खड़ा होता है, जब पहले से भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा चली आ रही थी, तो भगवान् महावीर ने उस परम्परा में दीक्षा क्यों नहीं ली ? क्या बात थी ? क्या वह परम्परा शुद्ध नहीं थी, दूषित थी ? क्या बात थी पार्श्वनाथपरम्परा में, जिसके कारण भगवान् महावीर उसमें दीक्षित नहीं हुए और अपने आप दीक्षित होकर नये संघ (तीर्थ) का निर्माण किया ? क्या नये पंथ बनाने के पीछे कोई अहंकार काम कर रहा था या गुरु बनने की कामना थी ? आपका

मन इन्कार करेगा इस बात से ? पर साथ ही एक प्रश्न और खड़ा होता है, यहाँ कि भगवान् महावीर ने कोई गुरु क्यों नहीं बनाया ? किसी गुरु के चरणों में उन्होंने दीक्षा क्यों नहीं ली ? मैं इसका समाधान प्रस्तुत किया करता हूँ। और वह समाधान मेरा अपना परिकल्पित नहीं, प्राचीन ग्रन्थों एवं आचार्यों के उल्लेखों पर भी आधारित है। उसी को दुहरा दिया करता हूँ। वह यह है कि भगवान् महावीर तीर्थंकर हैं, और तीर्थंकर हैं, इसका अर्थ है—वे तीर्थ के कर्ता हैं, वे बने-बनाए किसी पुराने तीर्थ के अनुयायी नहीं हैं। अनुयायी अनुचर होता है, वह पीछे-पीछे चलता है। जो अनुयायी होते हैं, वे पहले से चली आई हुई जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं के पीछे लग जाते हैं। अभी वर्माजी[1] भगवान् महावीर के लिए 'क्रान्तिकारी' विशेषण का प्रयोग कर रहे थे। जो क्रान्ति का स्रष्टा होता है, वह अनुयायी कभी नहीं होता। क्योंकि अनुयायी अनुसरण करने वाला होता है, पिछ-लग्गू होता है। वह क्रांति का स्रष्टा तो क्या, द्रष्टा भी नहीं होता, स्वयं की आँख नेता को होती है, अनुयायी की अपनी आँख होती नहीं। वह दूसरों की आँखों के भरोसे चलता है, वह कुछ भी नया संस्कार एवं सृजन नहीं करता। जो कुछ भी प्राप्त होता है, उसे वह ज्यों का त्यों लेकर झोली में डाल कर चल पड़ता है। परन्तु जो कर्त्ता होता है, वह परम्परा से प्राप्त जो कुछ भी जिस रूप में मिलता है, उसे उसी रूप में ज्यों का त्यों सारा का सारा लेकर नहीं चलता। वह इधर-उधर से बटोर कर उसकी मरम्मत करने वाला नहीं होता। उसका सत्य उधार नहीं, अर्जित होता है। अतः वह परम्परा के तीर्थों से भिन्न नये तीर्थ की स्थापना करता है। व्याकरण के आचार्यों ने कर्ता की व्याख्या करते हुए कहा है—'स्वतंत्रः कर्त्ता'। 'जो कर्ता होता है, वह स्वतन्त्र होता है। इसीलिए हमारे तीर्थंकर सहस्रनाम में तीर्थंकर का एक स्वयंभू नाम भी आता है, अन्य अनेक आचार्यों ने भी तीर्थंकरों के लिए 'स्वयम्भू' विशेषण लगाया है। 'बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र' में महान् आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले।
समंजसज्ञानविभूतिचक्षुषा ॥

स्वयम्भू किसे कहते हैं ? स्वयम्भू का अर्थ है—स्वयं भवतीति स्वयम्भूः। अर्थात्—जो स्वयं होता है। उसका बनाने वाला निर्माता दूसरा कोई नहीं होता। वह स्वयं ही स्वयं का निर्माता होता है। वह अन्दर से अपने आपको विकसित करता हुआ बाहर आता है। जैसे कि बीज में से

[1]—आगरा के मेयर श्री रामकुमार वर्मा

महाकाय वृक्ष विकसित होता है, बाहर आता है। वह स्वयं का भी निर्माण करता है और जगत् के जीवों के हितनि:श्रेयस् के लिए नये धर्म पथ का निर्माण करता है। इसलिए भगवान महावीर को अपने से पूर्व तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ की परम्परा की सारी बातें ग्राह्य नहीं थीं। इसी कारण उन्होंने नया धर्मतीर्थ, नया धर्मसंघ बनाया। परम्परागत व्यवहारसत्य से सम्बन्धित पुरानी बातें, जो उनकी दृष्टि में युगसत्य जँची उन्हें अपनाया और जो युग बाह्य जँची उन्हें छोड़ दिया। इस प्रकार परिहार और स्वीकार के अन्तर् मन्थनपूर्वक उन्होंने नये तीर्थ को सुगठित किया।

एक सत्य युगसापेक्ष होता है, एक होता है—शाश्वतसत्य। जो शाश्वत-सत्य होता है, वह तो अनन्त-अनन्त अर्हन्तों का एक ही होता है। जगतीतल पर जितने भी सत्यद्रष्टा महापुरुष होते हैं, उनका शाश्वत-सत्य एक ही होता है। वह देश और काल की सीमाओं से परे होता है। अत: देशातीत और कालातीत होता है, वह। लेकिन जो सामयिक सत्य होते हैं, युग-सत्य होते हैं, वे सापेक्ष होते हैं। वे बदलते रहते हैं। शाश्वतसत्य तो जिस रूप में होता है, उसी रूप में तीर्थंकर उसकी अवतारणा कर देते हैं। शाश्वत-सत्य बनाया नहीं जाता। वह तो जिस रूप में होता है, उसी रूप में प्रचारित किया जाता है। लेकिन जो युगसापेक्ष सत्य होता है, उसका देश, काल और परिस्थिति के अनुसार नवनिर्माण किया जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ-परम्परा में दीक्षा नहीं ली। पहले किसी मान्यता को स्वीकृति देना और फिर उसे छोड़ना, उन्हें ठीक नहीं लगा। वे पहले से ही अनुभूति के स्वतन्त्र पथ के राही बने। उन्होंने किसी को गुरु नहीं बनाया; स्वयं गुरु बनने के लिए चले। यह ठीक है कि गुरु बनने की उनकी कोई कामना नहीं थी, लेकिन प्रश्न कामना का नहीं; होने का है। जो अपने अन्दर के सुप्त अनन्त सत्य को ज्योतिर्मय कर लेता है, वह स्वयं ही सहज गुरुत्व की भूमिका को पा लेता है।

सत्य की उपलब्धि के बाद जनसमाज में

हम देखते हैं कि वह महापुरुष उस अनन्त कैवल्य को, उस अनन्त सत्य को प्राप्त कर लेने के बाद फिर वनों, जंगलों या गुफाओं में नहीं रहा। साधक से जब वह महापुरुष सिद्ध[1] हो गया तो अब उनके लिए किसी नई

१—अनुयोग द्वार सूत्र में अर्हन्तों को भी सिद्ध कहा है। ठीक भी है, अर्हन्त जीवन्मुक्त होते ही हैं।

उपलब्धि की अपेक्षा नहीं रही। इसलिए जो कुछ उन्हें प्राप्त था उसे जगत् को वितीर्ण कर देने के लिए वे पुनः जन समाज की ओर लौट पड़े। जो पाया वह गाँठ गठिया कर नहीं रखा गया। व्यक्ति की उपलब्धि समाज की उपलब्धि बन गयी।

महावीर का दर्शन: 'एगे आया'

प्रश्न होता है, भगवान् महावीर ने कौन-से सत्य के दर्शन किए? भ० महावीर का दर्शन कौन-सा दर्शन है? वास्तव में देखा जाय तो भ० महावीर का जीवनदर्शन प्राणिमात्र का जीवनदर्शन है। भ० महावीर ने उद्घोषणा की—'एगे आया'। अर्थात्—सारे विश्व का चैतन्य एक है! एक है!! एक है!!! यह जो भेद दिखाई देते हैं, स्त्रियों के, पुरुषों के; ये सब बाहर में मिट्टी के इस शरीर रूपी खिलौने के भेद हैं। अंतर में आत्मा-आत्मा में कोई भेद नहीं है। ये जातपांत के भेद, ये वर्ण के भेद, ये वर्ग के भेद, ये देश और काल के भेद, ये काले गोरे के रूप रंग के भेद, ये धनी और निर्धन के भेद सब झूठे भेद हैं। ये सब भेद शाश्वत सत्य के आधार पर स्थिर नहीं हैं। पंथों और सम्प्रदायों के भेद भी इसी प्रकार के भेद हैं। इन भेदों के आधार पर जो मानवता का मूल्यांकन किया जा रहा है, वह गलत है। भ० महावीर के द्वारा किया गया मूल्यांकन मानवमात्र का ही नहीं, प्राणिमात्र का मूल्यांकन है, और वह एक ही कसौटी पर है कि ये सब चैतन्य आत्मा है, आत्मा ही नहीं, मूलतः परमात्मा हैं। भगवान् महावीर ने प्राणि-मात्र का मूल्यांकन आत्मा के रूप में तो किया ही, परन्तु आत्मा से भी आगे बढ़ कर परमात्मा के रूप में भी किया। यही मूल्यांकन उनके उत्तराधिकारी आचार्यों ने किया है—'सव्वे सुद्धाहु सुद्ध नया' 'शुद्ध नय (निश्चय नय) की दृष्टि से सभी आत्मा शुद्ध हैं, निर्मल हैं, ज्योतिर्मय परमात्मरूप हैं।' ये जो आवरण हैं, वे सब बाहर से आये हुए हैं, अतः उनको बाहर धकेला जा सकता है, उन्हें तोड़ा जा सकता है। और अगर इन बन्धनों को तोड़ दिया जाय तो आगे की ओर देखने पर परमात्मा रूप में एक और अनन्त ज्योतिर्मय चिन्मय भावतत्व आपको दिखाई देगा।

महावीर का परमात्मा कहाँ है?

इस दृष्टि से भगवान् महावीर का 'एगे आया—आत्मा एक है' का वह अमर उद्घोष, जो कि स्थानांग सूत्र का पहला ही सूत्र है, शाश्वत सत्य के

रूप में उभर कर आया है। उन्होंने सारे जगत् को जागृत किया—"आत्मा एक है। आत्मतत्व की दृष्टि से सारा चिद्-विश्व एक है, संसार का समस्त चैतन्य एक है। इसमें परस्पर अन्तर या भेद किसी बाहर की भिन्नता से न करो। उसका मूल्यांकन आत्मा के रूप में करो, परमात्मा के रूप में करो। इसलिए भगवान् महावीर का परमात्मा या ईश्वर कहाँ है? इसका उत्तर इस सूत्र में मिल जाता है। भगवान् महावीर का ईश्वर या परमात्मा कोई बाहर में नहीं है। वह तो हर आत्मा के अपने आपके अन्दर में ही स्थित है। भले ही इस स्पष्ट सत्य के कहने के कारण उन्हें नास्तिक कहा गया। और आश्चर्य है कि ढाई हजार वर्ष के बाद भी अब तक वह आवाज बंद नहीं हुई है, जबकि इन्सान की आँखें काफी खुल चुकी हैं और परम्पराओं के बन्धन टूट रहे हैं। फिर भी कभी-कभी वह आवाज उठ खड़ी होती है। ढाई हजार वर्ष से उन्हें 'नास्तिक' कहा जाता रहा है। वह इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने ईश्वर को—परमात्मा को—नहीं माना। परन्तु मैं कहता हूँ—'महावीर ने परमात्मा को तो माना, परन्तु उनका जो परमात्मा था, वह बाहर में नहीं था।' इसलिए उन्होंने स्पष्ट कहा था कि—'मेरा परमात्मा बाहर में नहीं है।' बाहर में नहीं, इसका अर्थ है, वह अन्दर में है और हर आत्मा में है। जरा गहराई से दर्शन की भाषा में आए तो 'अन्दर में' शब्द भी जरा अधूरा पड़ जाता है। क्योंकि अन्दर में रहने का मतलब यह है कि आत्मा कोई और है, और परमात्मा उसके अन्दर घुसा रहता है, वह कोई और है। इसमें द्वैत टूटता नहीं, वह बना रहता है। ऐसा मालूम पड़ता है, मानो आत्मा के अन्दर परमात्मा प्रविष्ट है। इसमें आधार—आधेयभाव मालूम पड़ने लगता है। इसलिए भगवान् महावीर का दर्शन है—'अप्पा सो परमप्पा'—आत्मा ही परमात्मा है।'

ये राग और द्वेष के बन्धन, ये मोह और वैर के बन्धन यदि टूटें, ये जातीयता आदि के अमुक भेद एवं विकल्प यदि टूटें, और इन्सान, जो कि आत्मा के रूप में है, अपने आवरणों को तोड़ कर अपने असली आत्मरूप में उभर आये तो वह परमात्मा है। कहा भी है—'यः परमात्मा स एवाऽहम्।' 'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ।'

बहुत बड़ी फिलासॉफी है यह, बहुत बड़ा दर्शन है यह। क्योंकि आत्मा पर अगर बाहर के किसी कर्ता धर्ता संहर्ता विजातीय परमात्मा का नियन्त्रण

रहे, तो इसका अर्थ यह होता है कि आत्मा परमात्मा के हाथ की कठ-पुतली हो जाता है। जब खुद का नियन्त्रण किसी दूसरे के हाथ में हो तो फिर स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रहता। स्वतन्त्रता का नारा फिर धूमिल हो जाता है। आत्मा से ऊपर कोई परमात्मा है, अगर यह बात स्वीकार की जाय तो सारी प्रभुसत्ता परमात्मा के हाथ में रहेगी, आत्मा के हाथ में कुछ नहीं रहेगा। फिर तो उसकी हालत गीता के अनुसार बड़ी दयनीय हो जाती है—'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया।' अर्थात्—सूत्रधार जिस तरह कठपुतली को नचाता है, वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार परमात्मा भी आत्मा को नचाता है। इस स्थिति से आत्मा की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही नहीं रहता। इसलिए भगवान् महावीर ने ईश्वर को न बाहर में देखा और न अन्दर में देखा। उन्होंने अन्दर और बाहर के द्वैत से सम्बन्धित दोनों विकल्पों को तोड़ कर देखा कि आत्मा ही परमात्मा है। यह है महावीर के जीवन दर्शन का दिव्य प्रकाश। यह कितनी महान् ज्योतिर्मय प्रेरणा है, अन्धकार में भटकती आत्माओं के लिए!

महावीर के दर्शन क्या हैं?

ऐसा दिव्य दर्शन जिस परम्परा को मिला हो, फिर भी उसकी घृणा ना टूटे, फिर भी उसके विद्वेष न मिटें, यह कितने आश्चर्य की बात है। प्राणिमात्र के प्रति तो क्या, मानव-मानव के प्रति भी भेदबुद्धि लेकर चले, अलगाव की भावना को लेकर चले, तो क्या आप कह सकते हैं कि उसने भ० महावीर के दर्शन किए हैं? मैं कहता हूं, नहीं किए! बिलकुल स्पष्ट है, नहीं किए। महापुरुषों के दर्शन केवल उनके शरीर या मूर्ति के दर्शन नहीं हैं, उनके सच्चे दर्शन उनकी आत्मा के, उनकी विचारधारा के दर्शन हैं। स्पष्ट है, भगवान् महावीर की प्रतिकृतियों के दर्शन से ही उनके दर्शन नहीं होते, केवल उनकी पोथियों के दर्शन से ही दर्शन नहीं होते। उनके दर्शन उनके उदात्त सिद्धान्तों के दर्शन हैं। और उनके उन सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, आत्मार्पण और आत्मा में उन्हें अवतरित करने की जो आन्तरिक प्रक्रिया है, वह है उनका दर्शन!

उक्त दृष्टि से भ० महावीर का मैत्री एवं करुणा का दर्शन ही उनका दर्शन है। क्योंकि सारे जगत् का चैतन्य जब एक है तब उसमें तेरे-मेरे का भेद रह नहीं सकता। 'मैं' कोई और हूं, 'दूसरा' कोई और है, मैं किसी

और धातु का बना है दूसरा किसी और धातु का बना है, यह सब भेद बिलकुल गलत हैं। एक चैतन्य की दृष्टि से सारे विश्व की पीड़ा एक हो जाती है। और इस प्रकार महावीर का जगत् की पीड़ामुक्ति का ज्योतिर्मय दर्शन जनकल्याण की दिशा में अग्रसर होता है।

समग्र चैतन्य एक कैसे ?

कई बुद्धिजीवियों ने सवाल उठाया है कि—जब सब एक हैं तो एक की पीड़ा की अनुभूति दूसरे की अनुभूति में क्यों नहीं होती ? प्राणियों के दुःखों और सुखों का फिर यह पृथक-पृथक् विभाजन कैसा ? यहाँ जब प्रत्यक्ष में शरीर के अंगों के लिए अलग-अलग रूप में यह नहीं कहा जाता कि इस अंग को सुख दो, उसको न दो, इस अंग को दुःख दो, उसको न दो, तो फिर सारे जगत् का चैतन्य जब 'एगे आया' में है, तो फिर यह विविधता और अनेक रूपता क्यों ? इसका सुख-दुःख अलग, उसका सुख-दुःख अलग; ऐसा क्यों ? भगवान् महावीर ने इसका समाधान करते हुए कहा—'एगे आया' का अर्थ यह नहीं कि सारे संसार की आत्मा एक ही हैं। अगर ऐसा होता तो यह धर्माचरण और कर्मक्षय करने की जरूरत ही नहीं रहती। एक के मुक्त हो जाने से संसार के सभी प्राणियों की मुक्ति हो जाती। परन्तु 'एगे आया' के 'एक' शब्द का अर्थ 'समान' है। संसार के समस्त छोटे-बड़े, एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय प्राणी तक का आत्मा चैतन्यतत्त्व की दृष्टि से समान है। इस दृष्टि से सबका चैतन्य समान होने के कारण सुख-दुःख की अनुभूति सबको एकजैसी होती है। ऐसा नहीं होता कि आपको कांटा चुभने पर तो दर्द हो और दूसरों को दर्द न हो। इसीलिए भ० महावीर ने अहिंसा की भाषा में कहा कि—**'सव्वे जीवा सुहसाया दुहपडिकूला।'** 'समस्त जीव सुख के अभिलाषी हैं, दुःख के खिलाफ हैं।'

करुणा से भी परे मैत्री का अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। करुणा बहुत पवित्र शब्द था, किसी युग में। दया भी महत्त्वपूर्ण शब्द था किसी जमाने में। लेकिन मुनि जी (मुनि विद्यानन्दजी) यह कहने के लिए क्षमा करें कि आज करुणा शब्द ने अपना मूल्य खो दिया है। वह शब्द अब बहुत घिस गया है। करुणा शब्द अपना मूल्य गंवा बैठा है। क्योंकि जब-जब करुणा की बात आती है तो करुणा करने वाला ऊँचा हो जाता है और जिसके प्रति करुणा की जाती है, वह बेचारा अर्थात् नीचा बन जाता है। इस करुणा से एक तरफ अहं का पोषण होने लगता है; और दूसरी तरफ दीनता घर करने

लगती है। और ऐसा हुआ है, दान की गलत प्रक्रिया के कारण। समाज में इस प्रकार की हीनभावना और अहंभावना की स्थितियां पैदा हुई हैं। वे गलत मूल्य हमें बदलने होंगे। करुणा के पीछे लगी हुई ये विकृतियाँ हमें दूर करनी होंगी।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि भ० महावीर ने करुणा के साथ मैत्री को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने कहा—**'मित्ति भूएसु कप्पए।'**

प्राणिमात्र के साथ मैत्री का भाव रखो। मैत्री बराबरी में होती है, सखापन बराबर का होता है। वहाँ कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। मैत्री में एक दूसरे की सेवा भी होती है, परस्पर एक दूसरे को सहयोग भी दिया जाता है, एक दूसरे के प्रति सद्भावना के साथ अपनी साधन-सामग्री अर्पण करने की वृत्ति-प्रवृत्ति भी होती है। लेकिन ये सब मिल कर उपयोग करने के लिए होती हैं। यों ही बेचारा समझ कर किसी भिखारी की झोली में फेंक देने को नहीं होतीं। इसलिए भ० महावीर ने करुणा के साथ 'मैत्री' का आदर्श संसार को दिया था। **'मित्ति भूएसु कप्पए'** कह कर जगत् के प्राणिमात्र के प्रति आत्मैकत्व की भावना से देखने, सोचने और व्यवहार करने की बात बताई थी। करुणा बहुत बड़ी चीज है। मैं उसका खण्डन नहीं कर रहा हूँ। लेकिन उसने आज अपना मूल्य कितना खो दिया है, यह बता रहा हूँ। आप भी महसूस करते होंगे न यह !

आप अपने दिल में झांक कर देखेंगे तो स्वयं अनुभव करेंगे कि करुणा ने बेचारों को जन्म दिया है। संसार में एक तरफ अहंता और दूसरी तरफ दीनता को उसने फैलाया है। इसलिए आज के परिवेश में मैत्री ही सबसे बड़ी है। भगवान् महावीर ने अपने अनुगामी साधकों को प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय जीवन के इस आदर्शसूत्र को दोहराने की बात कही थी—

'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।'

'मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है। मेरा किसी के साथ वैर नहीं है।' मैत्री को पुष्ट करने और तदनुकूल परस्पर के सहयोग को चिरस्थायी बनाने के लिए उन्होंने इससे आगे बढ़कर एक बात और कही थी—

'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'

ढाई हजार वर्ष पहले की अर्धमागधी भाषा की यह गाथा आपके सामने दुहरा रहा हूँ और आप सुन रहे हैं। आपको इसका अर्थ भी समझाना पड़ेगा।

हाँ तो, इसका अर्थ स्पष्ट है 'कि जो असंविभागी है, उसे मोक्ष नहीं होता, असंविभागी किसे कहते हैं ? जो अपने साधनों का, अपनी प्राप्त सामग्री का, जो कुछ इंसान ने पाया है उसका, अपने साथियों में, यानी अपने आसपास के जगत् में अगर संविभाग नहीं कर रहा है, अर्थात् सम्यक् वितरण नहीं कर रहा है, तो वह बन्धनमुक्त नहीं हो सकता, अनन्त आत्मानन्द का अधिकारी नहीं हो सकता। कोरा वितरण ही नहीं, वितरण में तो सिर्फ बांटने का ही सवाल है। यहाँ विभाग शब्द है, उसका स्पष्ट अर्थ होता है, विशिष्ट भाग —हिस्सा। मतलब यह है कि जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, उसमें जनता का भी हिस्सा है, तुम्हारे साथियों का भी हिस्सा है, तुम जैसे ही चैतन्य जो दूसरे हैं, उनका भी भाग है। इसलिए उस भाग—हिस्से को देते समय—ठीक तरह से उचित विभाग करना—संविभाग कहलाता है। ठीक तरह का मतलब है—प्रसन्न मन से, आनन्द से अर्पण करना। किसी लज्जा या भय से नहीं, किसी प्रकार के आतंक से नहीं, अहं से भी नहीं, बिलकुल सहजभाव में विभाग करना, जैसे एक स्नेही भाई दूसरे भाई के लिए करता है। इसे ही संविभाग कहते हैं। इस तरह जो संविभाग करता है, उसको ही मोक्ष होता है। जो इस तरह संविभाग नहीं करता, उसको मोक्ष नहीं होता। भगवान् महावीर ने संविभाग की बात इसलिए कही कि 'संसार में जितने द्वन्द्व, जितनी पीड़ाएँ, जितने संघर्ष खड़े होते हैं—इन्सान के मन में, वे प्रायः इसी असंविभाग के कारण होते हैं। जहाँ संविभाग ठीक तरह से नहीं होता, वहाँ संघर्ष अनिवार्य है। मैत्री वहाँ से विदा हो जाती है। जहाँ भी द्वन्द्व खड़े हों, समझ लीजिए, वहाँ जीवन के आधारभूत साधनों का संविभाग ठीक तरह से नहीं हो पाया है। यह प्रश्न आज का ही नहीं है, हजारों-लाखों वर्षों पहले का है। आप कहेंगे कि आप समाजवाद की भाषा में बोल रहे हैं। मैं समाजवाद की भाषा में नहीं बोल रहा हूँ, समाजवाद की जो मूल आत्मा है, उसी की बात कर रहा हूँ। और भारत का जो सात्विक समाजवाद रहा है, उसी को बताने जा रहा हूँ। समष्टि-चेतना के लिए व्यक्ति अपने आप में क्या करे ? यह सनातन सवाल रहा है। भगवान् महावीर का दर्शन उत्तर में कहता है—व्यक्ति अपने आपको समष्टि का एक अंग मान कर चले और आस-पास के जगत् से उसे जो कुछ भी प्राप्त है, वह जगत् का है, यह मानकर समष्टि के लिए अर्पण करके ही उसका उपभोग करे। जैसाकि 'ईशा-वास्योपनिषद्' में भी कहा है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ?

इस चराचर जगत् में जो कुछ भी है, वह सब ईश से व्याप्त है । यानी जैन दृष्टि से समष्टि में समाविष्ट है । उसका त्याग (संविभाग) करके उपभोग करो । किसी भी पदार्थ पर ललचाओ मत । यह धन, यह ऐश्वर्य किसका है ? अर्थात् किसी एक का नहीं, समाज का है । ईशावास्योपनिषद् भगवान् महावीर के संविभाग-दर्शन की ही साक्षी दे रहा है । यहाँ जैनदर्शन और वैदिक दर्शन एक हैं ।

भगवान् महावीर ने देखा था कि उस युग में कितना उत्पीड़न था, मनुष्यों का ? पशुओं की तरह से वे खरीदे जाते थे और बेचे जाते थे ! जब जरूरत पड़ी, खरीद लिए १०-२० दासी और दास, जैसे पशु खरीदे जाते हैं । जरा पैसे की जरूरत पड़ी, मुट्ठी तंग होने लगी तो बेच दिए कुछ दासी और दास । यहाँ तक कि बेटे को अलग और उसकी माँ को अलग बेचा जाता था । इस प्रकार दास-दासियों का क्रय-विक्रय सरेआम भरे बाजार होता था । इस तरह की भयंकर दासप्रथा थी, जिसकी कि शिकार एक दिन चंदना राजकुमारी भी हो गई थी । आप सुन कर हैरान होंगे, जब राजकुमारियाँ जैसी भी लूट का माल बनकर दासी के रूप में खरीदी-बेची जाती थीं, तब साधारण जनता की तो स्थिति ही क्या रही होगी ? एक चन्दना क्या, हजारों चन्दनाएँ बेची गई होंगी ? चंदना तो इतिहास के पन्ने पर चढ़ गई, भगवान् महावीर से सम्बन्धित होने के कारण । अन्यथा, कितनी हजार चंदनाएँ बेची जाती होंगी आयेदिन । कितने हजार पुरुष बेचे जाते होंगे ! भाई बेचे जाते होंगे ? बच्चे बेचे जाते होंगे गोद के ! कितनी भयंकर सामाजिक विकृतियाँ थीं उस समय !

भगवान् महावीर ने कहा—'ये सब अन्याय है, अत्याचार है, मानवता का अपमान है । मानव मानव एक हैं । कोई किसी का दास नहीं, कोई किसी का स्वामी नहीं । बन्धुता का जीवन ही सच्चा जीवन है । बन्धुभाव से ही जीवन गुजारना चाहिये । स्त्री और पुरुषो में भी कोई ऊँचा या नीचा नहीं, सबकी आत्मा समान है । पुरुष का दुःख ही दुःख नहीं, स्त्री का दुःख भी दुःख है । मगर आप देखते हैं, उस युग में नारीजाति का कितना उत्पीड़न हो रहा था ! कितनी असह्य बुरी हालत थी ! परिस्थितियाँ कितनी विकट थीं उसकी ! 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्' के स्वर में स्त्री और शूद्र, और तो क्या, शिक्षा तक के अधिकार से वंचित कर दिये गये थे । और जब शिक्षा ही नहीं तो फिर क्या शेष रह जाता है जीवन की महत्ता के लिए । भगवान् महावीर

ने मानवजाति के छोटे-बड़े सभी वर्गों के अधिकार का प्रश्न भी संविभाग से हल किया। वास्तव में अभाव जो है, वही दुनियाँ में सबसे बड़ा पाप है। और जब अभाव होता है तो पीड़ित मानव कुछ का कुछ कर गुजरता है। अतः अभाव की समस्या का हल होने में ही मानवजाति का कल्याण है, और अभाव का हल संविभाग है। संविभाग के सिवाय और किसी उपाय से वह हल हो नहीं सकता। जगत् जगत् है अपने आप में। आध्यात्मिक जगत् अन्दर में है और बाह्य जगत है बाहर में। बाहर में भी रहता है इन्सान! ऐसा नहीं वह सब कुछ अन्दर में ही रह रहा है। आत्मा शरीर के साधनों की पूर्ति बाह्य जगत से करता है। तो ऐसी स्थिति में आप विचार कीजिए कि इंसान की क्या भूमिका है ? ये जो कुछ लोगों ने जगत् के भौतिक और आध्यात्मिक दो टुकड़े अलग-अलग कर रखे हैं, जीवन के ये दो रूप पृथक्-पृथक् बना रखे हैं सब गलत है, और निरन्तर आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता को ठुकराने की जो बात कही जाती है वह भी आधारहीन है। ठुकराने की बात कहते-कहते लाखों-करोड़ों वर्ष हो गए, पर वह कहाँ ठुकराई गई है। इसलिए यथार्थवाद कहता है—ठुकराने की बात को छोड़ो, परिष्कार करो उसका। पानी गंदा है तो गंदा होने से उसे फैंक मत दो। प्यास तो लगेगी ही, तब पानी की मांग भी होगी। अतः जैसा भी पानी है उसको शुद्ध करो, उसे छानो, उसका परिष्कार करो और उसका उपयोग कर प्यास मिटाओ।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि जीवन के दो टुकड़े न करो। टुकड़े करने से समस्या का हल नहीं है। और न आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता को ठुकराने से ही कुछ होगा, भौतिक जीवन को परिष्कृत करो, शुद्ध करो और उसका उपयोग करके आवश्यकता की प्यास बुझाओ। कोई भी धर्म जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं को ठुकरा नहीं सका है। जगत् में धन, सम्पत्ति या ऐश्वर्य के जितने भी जीवनोपयोगी रूप हैं, क्या जैनधर्म उनका कोई द्वेषी है? क्या जैनधर्म यह चाहता है कि सारा संसार दरिद्र, कंगाल या भिखमंगा बन जाए? क्या उसका मकसद यह है कि सारा संसार आज ही मुनि बन जाए और संथारा करके बैठ जाए? क्या इससे समस्याएँ हल हो जाएँगी? क्या फिर किसी से किसी को कोई अपेक्षा ही नहीं रहेगी? क्या फिर इस जीवन में कोई दूषण ही नहीं आने पाएगा?

अगर हम अन्तर की गहराई में उतर कर देखें तो हमारे सामने यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि ऐसा न कभी हुआ है, और न कभी होगा।

इसका अर्थ यह है कि विश्व जगत् में जो हमारा व्यावहारिक जीवन दूषित हो गया है, दूषित मनोवृत्ति के कारण से समाज का धन दूषित हो गया है, ऐश्वर्य दूषित हो गया है, सिंहासन दूषित हो गए हैं, राजनीति दूषित हो गई है, परिवार दूषित हो गए हैं, इन सब के परिष्कार के लिए हमारी मनोवृत्ति का संस्कार करना होगा। उसे शुद्ध करके उसका सही रूप में उपयोग करना होगा।

ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर का कहना है कि तुम अंदर के जगत् में भी रह रहे हो और बाह्य जगत् में भी रह रहे हो। तुम विराट् हो। तुम्हारा जीवन उभयमुखी है। जब तक जगत् में रह रहे हो, तब तक दोनों तरफ परिष्कार की आवश्यकता है। अंदर को भी मांजो, अंदर को भी निखारो। अंदर भी बहुत से भूत-प्रेत, शैतान और हैवान हैं। वहां भी बहुत से सांप और अजगर फुंकार मार रहे हैं। इनको भी साफ करो। और बाह्य जीवन में भी—परिवार, राष्ट्र, समाज और जगत् में भी जो विग्रह, कलह, द्वन्द्व खड़े हैं, संघर्ष के अजगर फुंकार रहे हैं, दूषित वातावरण हैं, उनका भी परिष्कार करो, परिमार्जन करो। जीवन में शान्ति इकतरफा नहीं हुआ करती। यह जीवन उभयमुखी है। इसलिए शान्ति भी उभयमुखी ही होगी।

इस दृष्टिकोण से अगर हम सोचेंगे और समझेंगे तो भगवान् महावीर की बात आज भी हमारे ध्यान में आ जायगी और हमारे जीवन में क्रियान्वित होने से वह जीवित एवं ज्योतिर्मय रूप लेगी। उन्होंने कहा था कि जीवन के सत्य का ठीक यथार्थ सत्य के रूप में दर्शन करो, भावुकता के रूप में नहीं। केवल भावुकता समस्या को हल नहीं कर सकती। सत्य के पीछे गहरा विवेक जागृत होना चाहिए, चिन्तन-मनन की बुद्धि होनी चाहिए। चिन्तन के बिना सत्य का यथार्थ मृत रहता है, सचेतन नहीं होता। अतः देश, काल, व्यक्ति एवं परिस्थिति आदि के समग्रता प्रधान चिन्तन से सत्य के मूल को पकड़ो। मूल को पकड़ोगे तभी जाकर जीवन का परिष्कार हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

प्रभु महावीर ने जीवन के इसी यथार्थ सत्य को अनावृत करते हुए कहा था—**'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'** अर्थात् तुम्हें जो कुछ प्राप्त है, उसे बांट कर चलो, जगत् को देकर चलो। केवल लेना ही लेना ठीक नहीं है, देना भी सीखो। देने के साथ लेना सीखो। यानी ठीक तरह से देना और ठीक तरह से लेना सीखो। और इस प्रकार संयुक्त जीवन की जो व्यवस्था है, उसे परिष्कृत एवं गतिशील करो।

ढाई हजार वर्ष का संसार हमारे समक्ष है। इतिहासकी आँखों से उससे पहले के संघर्षरत जगत् का भी हम अवलोकन कर रहे हैं। महाभारत और रामायण का युद्ध भी हम देखते हैं, इतिहास के पन्नो पर। भ० महावीर के युग का वह चेटक—कोणिक का भयंकर संग्राम भी हमने पढ़ा और सुना है। आज भी हम कई युद्ध देख रहे हैं। इन सबके मूल में मानव का अन्धा स्वार्थ है और है असंविभाग के कारण भड़की हुई आग। अगर कोई एक जाति या धर्म के नाम पर इस समस्या को हल करना चाहे, इस आग को बुझाना चाहे, तो वह असफल होगा। एक जाति या धर्म के नाम पर किया गया समाधान कुछ दूर तक तो चल सकता है, लेकिन आगे चल कर किसी न किसी रूप में वह असन्तोष की आग भड़के बिना नहीं रहेगी। आखिर जो अभाव है, वह एक न एक दिन उभर कर ऊपर आएगा ही। इसलिए एक जाति के और एक धर्म के लोग भी लड़ते हैं। और तो क्या, एक परिवार के लोग भी झगड़ते हैं, विभक्त होते हैं। दो भाई—जो एक ही रक्त के होते हैं, उनका भी बंटवारा होता है। धर्म के नाम पर, जाति और परिवार के नाम पर कब तक एकता रखेगा मनुष्य? कब तक किसी को भुलावे में डाले रखेगा वह? अभी उदाहरण दिया जा रहा था—पूर्वी बंगाल का। अखबार की सूर्खी जब पढ़ते हैं, तो रोम-रोम कांप उठता है। यह अत्याचार, यह भीषण नर संहार जो हो रहा है, वह कौन कर रहा है? अब तक तो यही कहा जाता था—हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं, एक दूसरे पर अत्याचार करते हैं। काफी देर तक इस प्रश्न पर लोगों को भुलावे में डाले रखा। और इस समस्या का हल यही बताया जाता रहा कि हिन्दू और मुसलमान यदि अलग हो जाएँ तो यह प्रश्न हल हो सकता है। इसी अलग होने की भावना से बंटवारे के रूप में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के नाम से भारत के दो खंड किए गए थे, एक राष्ट्र के दो राष्ट्र बन गए थे, लेकिन अब आकर असलियत प्रगट हो गई है। सत्य छिपा नहीं रहता। हिन्दू राष्ट्र या मुस्लिम राष्ट्र के नारे से ये समस्याएँ हल होने वाली नहीं थीं। पाकिस्तान बन जाने पर भी मजहब एक नहीं बना सका मुसलमानों को। सत्य के आवरण दूर हो गए। आपने देख लिया कि पूर्वी बंगाल में मुसलमान ही मुसलमान पर कहर बरपा कर रहा है, मुसलमान ही मुसलमान के खून का प्यासा बना हुआ है। हजारों-लाखों निरीह लोगों को मौत के घाट उतारा जा रहा है, बहनों की इज्जत लूटी जा रही है, औरतों, बच्चों और बूढ़ों तक को भी नहीं छोड़ा जा रहा है। कितनी बर्बादी की जा रही है। भाई का रक्त भाई बहा रहा है।

चालाक लोग वास्तविक सत्य को दबाने के लिए जाति और धर्म आदि के झूठे नारे खड़े कर देते हैं। साधारण लोग उनके भुलावे में आ जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि मूल प्रश्न कुछ और होते हैं, जनता को भुलावे में डालने के लिए बताए जाते हैं कुछ और! लेकिन यह भुलावा अधिक देर तक नहीं टिक सकता। एक बार भले ही कोई किसी को धोखे में डाल दे। मगर सत्य आखिर एक न एक दिन खुल कर रहता है।

हाँ तो, मैं कह रहा था कि भ० महावीर का जो दर्शन है, वह केवल भावुकता के आधार पर भौतिकता से अन्ध घृणा करके नहीं चलता; वह इन्सान की समस्या की जड़ पर पहुँचता है। जो संघर्ष या द्वन्द्व होते हैं, या अभाव पैदा होते हैं, वे साधनों का ठीक तरह से वितरण न करने से होते हैं, और इसके समाधान का विशुद्ध उपाय है भगवान् महावीर का संविभाग।

अनेकान्तः समन्वय सूत्र

आज हम स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद की बातें करते हैं। स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद केवल वादविवाद की, जबानी जमाखर्च की चीज नहीं है। एक तरह से स्याद्वाद भी संविभाग है। वैचारिक संविभाग स्याद्वाद है, अर्थात् एक-दूसरे के विचारों का लेन-देन भी सम्यक् रूप से करो; दूसरों की बात को भी सम्यक् रूप में आदर से ग्रहण करो और अपनी बात भी सम्यक्रूप से समझाओ। स्याद्वाद और है क्या चीज? अगर यह स्याद्वाद हमारे सम्प्रदायों, समाजों और राष्ट्रों के आपसी विग्रह की गुत्थी को न सुलझा सके तो वह किस काम का है आखिर? आप किसी भी जाति एवं धर्म परंपरा के हों, दूसरे की बात को मैत्रीभाव से सुनिए और फिर उसमें से दूसरे को अपेक्षा हो तो दीजिए और खुद को अपेक्षा हो तो उसमें से लीजिए। यानी विचारों में भी संविभाग होना चाहिए। हमने तो विचारों के मामले में अपनी बौद्धिक कुटिया के दरवाजे बन्द कर लिये हैं। बड़ी सावधानी है कि रोशनी कहीं, किधर से आ न जाय। किसी भी पक्ष, किसी भी सम्प्रदाय एवं पन्थ का वैचारिक प्रकाश हम तक पहुँचे नहीं। हमने अनन्त सत्य को पा लिया है, यह जो हमारा दावा है, बिल्कुल झूठा है। जो धर्म, मजहब, पंथ या सम्प्रदाय ऐसा कहता है, वह गलत राह पर है। जो सत्य को—अनन्त सत्य को—पोथी में बन्द करने की बात कहता है, उससे बढ़कर मूर्ख दुनिया में कोई नहीं है। अनन्त सत्य अनुभूति की चीज है, अनन्त सत्य आत्मा की चीज है। शब्द उसकी गति को पकड़ नहीं सकते।

शब्दों में उसकी गति को वहन करने की क्षमता नहीं है। अनन्त सत्य शब्दातीत है। शब्द तो सत्य के अमुक अंश के लिए केवल संकेत भर कर सकते हैं। अनन्त ज्ञानी तीर्थंकर की वाणी भी उद्‌बोधन के द्वारा अन्दर में परिज्ञात अनन्त सत्य के अमुक अंश के दर्शन का ही संकेत दे सकती है। इसलिए अनन्त सत्य के अपेक्षित आंशिक सत्यों को भी परस्पर दो और लो। अमुक अंश में तुमने सत्य के दर्शन किये हैं, तो अमुक अंश में किसी दूसरे ने भी दर्शन किए हैं, उन सत्यों को जोड़ने की कोशिश करो। बुद्धि के दरवाजे बन्द मत करो विचार के लिए। विचारों का भी संविभाग करो।

हाँ तो, मैंने यह कहा आपसे कि प्रभु महावीर की वाणी के रूप में जो अनन्त दर्शन की ज्योतिर्मय धारा हम सब को प्राप्त हुई है, उससे हम सब अपने जीवन में प्रकाश प्राप्त करें, उस रोशनी को हम अपने अन्दर और बाहर में फैलाएँ, विश्व के जनजीवन को जगमगाएँ।

दूर की बात जाने दीजिए, आज हम कम से कम एक ऐसी भूमिका में हैं कि उस परम प्रभु के अनन्त सत्य के प्रकाश को प्राप्त करने और उसे सही रूप में जगत् को देने के लिए यथोचित पुरुषार्थ कर सकते हैं। हम सब एक ही महान् जैन वृक्ष की शाखाएँ हैं। श्वेताम्बर दिगम्बर आदि शाखा-प्रशाखाओं के रूप में हम भले ही अलग-अलग दिखते हों, वास्तव में तो हम वृक्ष रूप से एक ही हैं। मैं तो कहना चाहूँगा कि आज श्वेताम्बर दिगम्बर आदि के रूप में जो शाखा-प्रशाखाएँ हैं, वे अब अपने में थोड़ा-सा संशोधन करलें तो अच्छा रहेगा। जो श्वेताम्बर हैं, वे अमुक अंश में जरा दिगम्बर हो जायें तो अच्छा है। और जो दिगम्बर हैं, वे अमुक अंश में जरा श्वेताम्बर हो जायँ तो अच्छा रहेगा। इससे हम परस्पर एक दूसरे को ठीक तरह से देख सकेंगे। इसके अतिरिक्त जो अन्य अजैन परम्पराएँ हैं, उनके लिए भी यही बात ठीक है। आचार्य सिद्धसेन के मतानुसार सारी नदियां सागर में है—**'उदधाविव सर्व सिन्धवः।'** अनन्त सत्य के सागर में सभी आंशिक सत्यों की धाराएँ समाविष्ट हैं। प्रारम्भ में भले ही धाराओं में भेद हो, परन्तु अन्त में जाकर तो एक अखण्ड अभेद हो जाता है,। अतः जो आज अनन्त सत्य टुकड़े-टुकड़े हो रहा है, उसे अखण्ड होना चाहिए। जो अखण्ड होता है, वही जीवन के परम सत्य की उपलब्धि कर सकता है।[1]

१—विगत महावीर जयन्ती, १९७१ के अवसर पर एम० डी० जैन कालेज आगरा में दिया गया प्रवचन। —संपादक पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी

★

★ उपाध्याय अमरमुनि

कुछ प्रश्न हैं जो उत्तर चाहते हैं

भारत और पाकिस्तान के मध्य अभी विगत में जो युद्ध के रूप में संघर्ष हुआ है, वह अपने में एक विलक्षण स्थिति रखता है। उसने अनेक विचारकों को ही नहीं, सर्व साधारण जनता को भी प्रभावित किया है, और यह सोचने के लिए बाध्य किया है कि यह वस्तुतः है क्या ? इस युद्ध को किस कोटि में रखा जाए ? क्या सभी युद्ध एक जैसे होते हैं, या परिस्थिति एवं भावनाविशेष में उनमें अन्तर भी होता है ? प्रस्तुत युद्ध का नेतृत्व करने वाले पाकिस्तानी राष्ट्रपति याह्या खां और उनके सहयोगी तथा इधर भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनके सहयोगी सब एक ही कोटि में आते हैं, या उनमें कुछ अन्तर है ? और वह अन्तर है तो क्या है, कैसा है, कितना है ? और उस अन्तर का आधार क्या है ? कुछ विद्वान् मनीषियों ने इस पर अपने विचार प्रकट किए हैं। मेरे समक्ष भी जब ऐसी ही कुछ प्रश्नचर्चा उपस्थित हुई, खास कर जैन धर्म की दृष्टि से, तो मैंने उस समय अपने एक प्रवचन में प्रकाश डाला था, और भारत एवं इन्दिराजी के पक्ष को न्यायोचित एवं धर्मसंगत प्रमाणित किया था, जो जनवरी, १९७२ की 'अमर भारती' में प्रकाशित हुआ है। प्रतिपाद्य विषय—चूंकि एक नये आयाम को लिए हुए था, अतः मैं जानता था इस पर अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही तरह की प्रतिक्रियाएँ होंगी ? और

वे हुईं भी। कुछ सज्जनों ने उक्त प्रवचन को काफी गम्भीरता से लिया है। उस पर काफी उथल-पुथल और हल-चल हुई है। मैं इस पर प्रसन्न हूँ। वह चिन्तन और विचार ही क्या, जो मुर्दे के समान हो, जिस पर कुछ भी सोचने-विचारने जैसे बौद्धिक संघर्षण न हों। मैं उन प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का समाधान करने की सोच रहा हूँ, जो अन्य सब उदात्त आदर्शों एवं अहिंसा की दूरगामी व्यापकदृष्टि को भुला कर केवल वर्तमान की स्थूल हिंसा के आधार पर की गई हैं। ऐसा मैं इसलिए कर रहा हूँ कि मेरे प्रतिपाद्य चिन्तन को और अधिक चमक मिले, ताकि पूर्वाग्रहों की धूल से धुंधलाये हुए सत्य का वास्तविक रूप उजागर हो सके।

यथावकाश उक्त स्पष्टीकरण करने से पहले मैं चाहता हूँ कि, प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित एक संक्षिप्त, तथापि सारग्राही प्रश्नावली उपस्थित करूँ। प्रश्नों का उत्तर मुझे विद्वान् मुनिराजों से अपेक्षित है! वह भी कोरे भावावेश के उथले रूप में नहीं, अपितु जैनतत्त्व चिन्तन की गहराई में से होना चाहिए। गृहस्थ भी उत्तर दे सकते हैं, परन्तु उसके साथ यह स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए कि वह उत्तर किसी मुनिवर से विचार विमर्श करके दिया जा रहा है। यह मैं इसलिए चाहता हूँ कि जैनतत्त्व चिन्तन का मुख्य दायित्व जिस मुनिसंघ पर है, उसके प्रमुख प्रतिनिधि प्रस्तुत नाजुक चर्चा पर अपना उचित और विवेकपूर्ण प्रकाश डाल सकें। यों ही ले भागू पण्डित कुछ-का-कुछ आधारहीन लिख कर व्यर्थ की बातों में चर्चा को दिशाहीन न कर दें, जैसा कि वे प्रायः करते रहते हैं। मैं अनर्गल एवं अभद्र शब्दों की अंधेरी गलियों में अपना और पाठकों का मूल्यवान् समय नष्ट नहीं करना चाहता। प्रथम तो प्रश्नावली ही ऐसी है, कि उसके ऊपर से तटस्थ वृत्ति के जिज्ञासुओं का बहुत कुछ समाधान हो जाएगा। यदि फिर भी कुछ सन्देह रहा और वह मेरी जानकारी में आया, तथा प्राप्त उत्तरों से भी ऐसा कुछ प्रतिभासित हुआ तो उस पर यथावसर व्यापक एवं विस्तृत चिन्तन उपस्थित किया जा सकेगा।

मानव समाज के समक्ष कभी-कभी कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ उपस्थित हो जाती हैं, जिनके अच्छे बुरे का मूल्यांकन हर धर्म और दर्शन को करना ही होता है। ऐसे समय पर मूक बन कर नहीं बैठा

जा सकता। एक ओर जिज्ञासु जनता समाधान मांगे कि 'यह क्या है, कैसा है? यह पाप है या पुण्य है? यह धर्मसंगत है या अधर्मसंगत? एक धार्मिक व्यक्ति का ऐसे समय क्या कर्तव्य हो जाता है?' इस प्रकार जन-मानस में एक के बाद एक प्रश्न खड़े होते रहें, और दूसरी ओर धर्म दर्शन गूंगे-बहरे बनकर गुम-सुम बैठे रहें, यह कितनी विचित्र विडंबना है धर्म और दर्शन के चिन्तन की। प्रस्तुत युद्ध भी यही प्रश्न खड़े कर रहा है क्या जैनधर्म और उसका अहिंसा दर्शन इस पर मुँह बन्द किए गूंगा बना रहे? कुछ भी 'हाँ' या ना' न करे? राम और रावण दोनों का ही स्वस्तिवाचन करता रहे? उचित और अनुचित का, न्याय और अन्याय का कुछ भी विवेक प्रस्तुत न करे। जनता को यों ही असमाधान के अंधकार में भटकता छोड़दे? नहीं, यह नहीं हो सकता? ऐसा धर्म जीवन के लिए कुछ उपयोगिता नहीं रखता। जैनधर्म ऐसा अनुपयोगी धर्म नहीं है। वह मूकधर्म नहीं है। वह सत्य की वास्तविक स्थिति को उद्घाटित करने के लिए सदा मुखर रहा है। उसके समाधान जीवन्त समाधान हैं, जिन पर प्रस्तुत प्रश्नावली भी प्रश्नों के रूप में बहुत कुछ प्रकाश विकीर्ण करती है।

प्रश्नावली

१—एक गुण्डा किसी सच्चरित्र महिला या कन्या पर बलात्कार कर उसका शीलभंग करने पर उतारू है। दूसरा एक सज्जन उसकी चीख पुकार पर बीच में आ जाता है, गुण्डे को समझाता है, पर वह नहीं समझता है। आखिर संघर्ष हो जाता है, संघर्ष में दोनों ही एक दूसरे की चोट से मर जाते हैं।

प्रश्न है—संघर्षरत दोनों व्यक्ति एक जैसे ही स्तर पर हैं क्या? दोनों की सद्गति या दुर्गति एक है क्या? क्या गुण्डे के समान ही शीलरक्षा का प्रयत्न करने वाला सज्जन भी दुर्गति का ही अधिकारी है? यदि दोनों में अन्तर है, तो वह किस आधार पर है? बाहर में हिंसा की दृष्टि से तो कोई अन्तर नहीं है।

२—एक व्यक्ति जल में डूब रहा है। तट पर खड़ा अन्य व्यक्ति देखता है, और करुणा से द्रवित होकर उसकी प्राणरक्षा के लिए गहरे जल में छलांग देता है। जल में दूर तक तैर कर उसे बचाने का प्रयत्न करता है। किन्तु बचा नहीं पाता, अपितु बचाने के प्रयत्न

में खुद भी डूब जाता है। प्रस्तुत कर्म में जल-काय के असंख्य जीवों की हिंसा हो गयी। निगोद के अनन्त जीव भी मारे गए। मैंढक, मछली और अन्य अनेक प्राणी भी आघात से घायल हो गए, मर गए। और डूबते की रक्षा फिर भी न हुई।

प्रश्न है—प्राणरक्षा के प्रयत्न में डूब कर मरने वाले की कौन-सी गति हुई, सद्‌गति या दुर्गति? वह पापी है, या पुण्यात्मा? उसका यह कर्म किस कोटि में आता है, धर्म में या अधर्म में? यदि हिंसा होने से पाप है तो प्राणरक्षा का भाव होने से पुण्य भी है या नहीं? क्या उस समय उसके हिंसा करने के भाव हैं या रक्षा करने के? शुभा-शुभ के रूप भाव से होते हैं, या बिना भाव के भी हो जाते हैं? यदि बिना भाव के केवल बाह्य क्रियाओं के आधार पर ही होते हैं तो उक्त घटना में बाहर में प्राण रक्षा तो बिल्कुल नहीं हुई, और भाव का आपके विचार में कुछ मूल्य नहीं, तो डूबते को बचाने वाला एकान्त हिंसक और पापी ही आप के अभिमत में ठहरता है? यदि पाप और पुण्य दोनों मिश्रित हैं तो दोनों में से किस का अंश अधिक है और वह किस शास्त्रीय आधार पर है?

३—एक युवक विवाह करता है और दूसरा वेश्या के यहाँ चन्द पैसे देकर अपनी वासना-पूर्ति कर लेता है। विवाह में कितना अधिक आरम्भ और परिग्रह होता है। जीवनभर कमाना, पत्नी का दायित्व निभाना. होने वाले बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना, फिर उनके विवाह आदि की व्यवस्था करना। कितना बड़ा हिंसा और परिग्रह का जाल है? वेश्या के यहाँ यह सब कुछ नहीं है।

प्रश्न है—आप का धर्म इस पर क्या कहता है? वह विवाह के पक्ष में है या वेश्या-गमन के पक्ष में? दोनों में कौन धर्मसंगत है? हिंसा और अहिंसा ही सर्वत्र निर्णय के आधार हैं या इनसे ऊपर भी कोई और निर्णय की कसौटी है? भगवान् ऋषभदेव ने विवाह प्रथा का प्रचलन कर जन-समाज में पापाचार, दुराचार को बढ़ावा दिया या सदाचार को? यह उनका पाप कर्म था या पुण्य कर्म? यदि पाप कर्म था तो क्यों किया? क्या जरूरत थी, इस पापाचार की प्रथा को दीर्घकाल के लिए चालू कर देने की।

४—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि परिग्रह हैं। किन्तु साधु जब इन्हें

ग्रहण करता है, तो ये परिग्रह न रहकर अपरिग्रह हो जाते हैं ? इनके अधिग्रहण से अपरिग्रह महाव्रत में कोई दोष नहीं लगता ? क्योंकि तब ये पापोपकरण से धर्मोपकरण हो जाते हैं।

प्रश्न है—ऐसा क्यों होता है ? वस्तु के मूल रूप में तो कोई परिवर्तन होता नहीं। परिवर्तन होता है केवल भाव में ! धर्मक्रिया की, या उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपरिग्रह भाव से ग्रहण किया गया वह परिग्रह अपरिग्रह हो जाता है या अपरिग्रह होने में और कोई जादू है ? यदि अपरिग्रह भाव से आवश्यकतापूर्ति करने के कारण परिग्रह रूप बाह्य वस्त्रादि अपरिग्रह रूप हो जाते हैं, तो क्या इसी प्रकार बाह्यहिंसा आदि में भी आन्तरिक अहिंसा भावना के कारण कोई परिवर्तन हो सकता है या नहीं ? यदि नहीं हो सकता तो उसका मूलाधार क्या है ?

५—साधु मुनिराजों के दर्शनार्थ यात्री जन रेलवे, बस, तांगा आदि के माध्यम से आते है। दीक्षाओं के प्रसंग पर भी काफी अच्छी भीड़-भाड़ होती है। प्रवचन आदि में भी लोग आते जाते हैं, और मंडप आदि की विशाल व्यवस्थाएँ भी की जाती हैं। उक्त सब स्थितियों में हिंसा भी होती है और परिग्रह का भी खुलकर उपयोग होता है। हजारों आदमियों के लिए भोजन पान का विपुल आरम्भ समारंभ भी होता है।

प्रश्न है, उक्त क्रियाओं में जनता को पुण्य या धर्म भी कुछ होता है या नहीं ? यदि नहीं होता तो साधुजन इनका निषेध क्यों नहीं करते हैं ? क्यों दीक्षाओं और प्रवचनसभाओं में पधारते है ? क्यों व्याख्यान देते हैं ? न दीक्षा समारोहों में उपस्थित होंगे, न व्याख्यान देंगे, न लोग आएँगे, और न फिर आने जाने में हिंसा और परिग्रह ही होगा ? न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। यदि पाप पुण्य दोनों हैं तो किसका अंश अधिक है ? यदि पाप का अंश अधिक है तो फिर वही उसके निषेध की, न करने की स्थिति आ जाती है ? यदि पुण्य अधिक है तो वह किस आधार पर है ? हिंसा की पृष्ठभूमि पर पुण्य कैसे अधिक हो गया ? अधर्म में से धर्मक्रिया कैसे अंकुरित हो गयी ?

६—कुछ लोग कहते हैं चेटक युद्धप्रसंग में नहीं मरा। वह युद्ध के बाद काफी समय तक जीवित रहा और धर्माचरण करता रहा,

उसके फलस्वरूप ही वह स्वर्ग में गया। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि चेटक युद्ध में मरते तो स्वर्ग में न जाते।

प्रश्न है. मानलो चेटक युद्ध करते हुए मारे जाते, तो कहाँ जाते ? क्या नरक में जाते ? नरक में जाते तो किस आधार पर जाते ? युद्ध उन पर थोपा गया था। उन्होंने स्वयं आक्रमण नहीं किया, अपितु आक्रमण का जवाब दिया था। उनका उद्देश्य केवल शरणागत की रक्षा करना था। उनकी आक्रमणकारी कोणिक के मगध देश की एक इंच भूमि भी लेने की इच्छा नहीं थी। और न इस युद्ध के पीछे किसी सुन्दर स्त्री को प्राप्ति का ही कोई हेतु था ! कोई भी तो भौतिक प्रलोभन नहीं था। तो, क्या फिर भी चेटक अत्याचारी कोणिक के समान ही युद्ध के दोषी थे ? दोनों एक ही तराजू के पल्ले में तुलते हैं क्या ? यदि जैनधर्म दोनों को एक जैसा ही मानता है, केवल बाहरी स्थूल हिंसा के आधार पर, तो फिर जैन धर्म में न्याय और अन्याय के विवेक का क्या मूल्य रह जाता है ? केवल पशु होने के नाते गधे और घोड़े एक ही मूल्य कैसे पा सकते हैं ? जो धर्म न्याय और अन्याय में अन्तर नहीं करता, वह धर्म धर्म होने का कोई कैसे दावा कर सकता है ? अत्याचार और अत्याचार का न्यायसंगत विरोध करने वाले एक स्तर पर कैसे हो सकते हैं ?

७—गोशालक ने भगवान् महावीर के समवसरण में निर्दोष शुद्धाचारी मुनियों की मिथ्या अहंकारवश अकारण ही हत्या की थी। उसकी तुलना कुछ लोग चेटक के साथ, जिसने कि शरणागत की रक्षा के लिए न्यायसंगत संघर्ष किया था, तुलना करते हैं, दोनों को एक कोटि में रखते हैं।

प्रश्न है, उक्त तुलना का क्या आधार है ? जैनधर्म क्या सचमुच ही ऐसी धारणा रखता है ?

८—धर्म पत्नी, धर्म बहन, धर्मशाला, धर्मग्रन्थ, धर्म स्थान और धर्मोपकरण आदि शब्दों का प्रचलन प्रायः जैन अजैन सभी सम्प्रदायों में है ! साधु भी उक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं।

प्रश्न है, उक्त शब्दों में धर्म विशेषण किस आधार पर लगाया जाता है ? स्वयं तो ये सब चीजें धर्म नहीं हैं। धर्म के लिए यदि

ये सब हैं, या इनसे धर्म की रक्षा होती है, तो अन्यत्र भी ऐसी ही स्थिति में धर्म-विशेषण का उपयोग असंगत कैसे हो सकता है? परिग्रह तो ये भी हैं, इनके भी उत्पादन एवं उपार्जन में हिंसा होती है, फिर भी यदि ये धर्मानुकूल हैं, तो और क्यों नहीं हैं?

९—शास्त्रों में किसी एक बात के लिए, विधिनिषेध रूप सामान्य-वचन होते हैं, अन्यत्र उसी के प्रतिपक्ष में विशेष वचन भी कहे गए हैं। विशेष परिस्थितियों के लिए विशेष विधि-निषेध-वचन होने ही चाहिएँ! सामान्य से विशेष बलवान होता है। अतः वह सामान्य विधि-निषेध को अपदस्थ कर उसके स्थान में विशेष विधि-निषेध की स्थापना करता है। ऐसी स्थिति में जो लोग विशेष स्थिति के विरोध में सामान्य वचनों के उद्धरण दे कर भ्रान्ति फैलाते हैं, यह कैसे संगत हो सकता है? ऐसा करना, क्या शास्त्र एवं शास्त्रकर्ता आचार्यों की अवहेलना नहीं है? शास्त्र में कहा गया है कि किसी को मरण की सूचना देना कि तू अमुक दिन मर जाएगा, या तुम्हारा पुत्रादि मर गया है, साधुचर्या के विरुद्ध है। परन्तु भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है। पुत्रमरण की बात सुन कर अनेक माताएँ भगवान् के समवसरण में ही मूर्छित एवं शोकसंतप्त होकर भूमि पर गिर पड़ती हैं। प्रश्न है भगवान् ने ऐसा क्यों किया? आप उन्हें कल्पातीत कहकर वस्तुस्थिति को नहीं टाल सकते हैं? क्या कल्पातीत के लिए अधर्म भी धर्म हो जाता है? अनाचार भी आचार हो जाता है? यदि हो जाता है, तो कैसे हो जाता है? क्या यहाँ विशिष्ट उद्देश्य से किया गया विशिष्ट कर्म सामान्य कर्म की बात को बाध नहीं देता है? क्या यहाँ साध्वाचार के सामान्य वचनों को उद्धृत कर भगवान् महावीर को मर्यादाहीन एवं अधर्माचारी घोषित किया जा सकता है?

१०—जीवन में कभी ऐसे प्रसंग आते हैं कि व्यापक एवं क्रूर हिंसा की निवृत्ति के लिए अल्प एवं मन्द हिंसा का पथ अपनाया जाता है। अल्पहिंसा की प्रवृत्ति के समय अधिक हिंसा के परिहार का भाव होता है। ऐसी स्थिति में जैनधर्म क्या अभिमत रखता है? उदाहरण देखिए, एक डाक्टर रोगी के फोड़े का आपरेशन करता है। मवाद की एक बूँद में असंख्य संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्य

होते हैं। उन सबका संहार हो जाता है। साधु भी इस प्रकार के आपरेशन करवाते हैं, स्वयं भी फोड़े की मवाद साफ करते हैं। प्रश्न है, पूर्ण अहिंसावादी साधु क्यों यह हिंसा करते हैं? यदि भविष्य में विशिष्ट धर्माराधन के लिए ऐसा करते हैं तो भविष्य के जीवन का ऐसा कोई निश्चय है क्या? यदि भविष्य के लिए ऐसी विशिष्ट भावना है, तो यहाँ विशेष स्थिति में प्राणिहिंसा के सामान्य निषेध को अपदस्थ किया गया या नहीं? लाचारी और मजबूरी का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है सत्य की वास्तविकता का! भगवान् महावीर को पित्तज्वर, दाह और रक्तातिसार (खून के दस्त) की व्याधि हो गई थी। उसका औषधोपचार किया गया, तो उस क्रिया में असंख्य कीटाणु, जैन परिभाषा के अनुसार संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्यों तक का संहार हुआ। क्या भगवान् महावीर को भी कोई खास लाचारी या मजबूरी थी? क्या उन्हें भी प्राणों का मोह था? क्या उन्हें भी पीड़ा के कारण आकुलता का भाव था? जैन सिद्धान्तानुसार यह कुछ भी नहीं था, तो फिर उक्त औषधोपचार से होने वाली हिंसा का विशिष्ट हेतु क्या था?

उक्त प्रश्नों का सही उत्तर हमारी हिंसा और अहिंसा की प्रचलित धारणाओं में बहुत कुछ संशोधन कर सकता है। सत्य के दर्शन पूर्वाग्रहों के अन्धकार में नहीं होते। सत्य का प्रकाश अनाग्रह-मूलक चिन्तन में से ही प्रस्फुरित होता है। मैं चाहता हूँ, हम सत्य-दर्शन की इस तटस्थ भावना को लेकर ही चिन्तन की, विचार-चर्चा की गति को आगे बढ़ाएँ।

★

सच्चस्स आणाए उवट्ठिए
मेहावी मारं तरइ —आचारांग

—सत्य के शासन में उपस्थित रहने वाला मेधावी साधक मृत्यु को पार कर जाता है।

★

निर्वाण शताब्दी और हमारा दायित्व

सर्वधर्मसमन्वयी श्री जनकविजय जी महाराज

मैं काफी लम्बे अर्से से समाज के बीच विचार-चर्चाएँ करता आ रहा हूँ। समाज के विचार-चिंतन पर जिसमें कि मुख्यतः श्रावकवर्ग है, उसके साथ ही श्रमण-वर्ग के बीच से भी विचार-चर्चाएँ योजनाओं-परियोजनाओं के रूप में प्रस्तुत होकर सामने आ रही हैं। किसी में राष्ट्रीयस्तर पर शानदार उत्सव का आयोजन करने की बात आ रही है, तो किसी में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थात् विश्व के व्यापक स्तर पर उक्त समारोह के समायोजन की बात आ रही है। कहीं पर बड़ी-बड़ी योजनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं, तो कहीं उक्त समारोह के नाम पर कतिपय ग्रंथों के सम्पादन-प्रकाशन की बात उभर कर आ रही है।

इस अवसर पर, जैसा कि मैंने अनुभव किया है, अभी तक कोई भी ऐसी योजना सामने नहीं आई, जिससे भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के महान सिद्धान्त में कोई ठोस प्रचार-प्रसार किया जा सके। यह जानी हुई बात है कि अहिंसा जीवन की, जीवन की साधना की कितनी बड़ी महत्वपूर्ण निधि है। मेरा तो स्पष्ट मत है कि जब तक अहिंसाधर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार पर तथा उसे जीवन में सहजभाव से अपनाने के प्रति व्यावहारिक प्रक्रिया नहीं अपनाई जाएगी, इस निर्वाण-शताब्दी का सारा आयोजन विशेष प्रभावशाली सिद्ध नहीं होगा। मैं स्पष्टरूप से अहिंसामहाव्रतधारी श्रमणसंघ से यह पूछना चाहूँगा कि यदि ऐसे गौरव-पूर्ण पावन प्रसंग पर सामूहिक रूप से अहिंसा के लिए वह कार्य नहीं करेगा तो फिर कब करेगा ? वर्तमान पीढ़ी के समक्ष यह स्वर्ण अवसर बड़े भाग्य से आया है, शुभकर्मों के प्रताप से वर्तमान पीढ़ी इस गौरव को प्राप्त कर रही है। मेरे कहने का आशय यह है कि वर्तमान पीढ़ी पर ही यह सबसे बड़ा दायित्व है कि वह इस ऐतिहासिक अवसर को इस भाव एवं भंगिमा से सम्पन्न करे कि अगली पीढ़ियाँ इसे युगों-युगों गौरव के साथ याद करें।

इस सम्बन्ध में मैं दूसरी बात जो कहना चाहता हूँ, और जिसका भी बहुत बड़ा मूल्य है—श्रमणवर्ग के लिए भी, श्रावकवर्ग के हित की दृष्टि से भी; वह यह कि संघ के आचार्य, व उपाध्याय और अन्यान्य पदवीधारी साधुओं में जो बड़े-बड़े शहरों में स्थायीरूप से जम कर बैठ जाने की प्रवृत्ति घर कर गई है—इसे वे त्याग दें। उन्हें इस मोह का संवरण कर देश के प्रत्येक भाग में योजना-बद्ध ढंग से विचरण करते हुए अहिंसाधर्म की दिव्यज्योति प्रज्वलित करनी चाहिए। आज प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश संत बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली आदि बड़े-बड़े शहरों को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाये रखना चाहते हैं, कारण चाहे जो भी कुछ हो। इस प्रसंग में मुझे प्रतिभावान विचारक सुश्रावक सेठ कस्तूरभाई लालभाईजी का एक महत्वपूर्ण सुझाव याद आ रहा है। उनका कहना था कि बम्बई में अथवा

इस तरह के अन्य बड़े शहरों में जो भी आचार्य व साधु जाएँ, वे ती ते अधिक न रुकें। इस दिशा में शान्तमूर्ति आचार्यश्री विजयसमुद्रसूरिजी महाराज ने बम्बई में एक चौमासा पूर्ण होते ही अन्य स्थानों के लिए विहार कर दिया। यह एक अनुकरणीय आदर्श है। जिसका सभी संतों एवं विचारक मुनिराजों को हृदय से पालन करना चाहिए।

यदि समस्त श्रमणवर्ग इस सुझाव को हृदय से अपना कर उपेक्षित क्षेत्रों में विचरण करें और भगवान् महावीर के उपदेशों का प्रचार करें तो यह उनकी शासन के प्रति महान् सेवा होगी। यह आज के युग की सबसे बड़ी माँग है। और जिसका मुख्य रूप से प्रतिपादन मेरे अभियान का प्रधान विषय है। आज भगवान् महावीर की जन्मभूमि के क्षेत्र (बिहार व बंगाल) उनकी वाणी के भारी प्यासे हैं। इसकी पुष्टि पिछले दिनों स्थानकवासी समाज के महान् संत उपाध्याय अमरमुनिजी के द्वारा उनके साथ हुई मेरी विभिन्न विषयों पर विचार-चर्चा के दौरान भी हुई। निर्वाणशताब्दी के सम्बन्ध में पूर्वाञ्चल का प्रसंग आया तो आपने बताया कि नालंदा, राजगृही, वैशाली आदि स्थानों में आज भी जनसाधारण भगवान् महावीर में असीम श्रद्धा रखता है। वहाँ आज भी कई स्थानों पर तीर्थंकर महावीर के नाम पर स्कूल हैं। वहाँ की जनता महावीर के सन्देश को जानना चाहती है और यदि उस क्षेत्र में परिश्रम किया जाये तो भगवान महावीर के अहिंसा का सन्देश जन-जन तक प्रसारित कर ठोस कार्य किया जा सकता है। किन्तु सबसे बड़ी विचारणीय बात यह है कि उधर किसी साधु-साध्वी का चातुर्मास प्रायः होता ही नहीं, जिससे कि वहाँ की जनता को सही पथ-दिशा मिल सके, नई ज्योति मिल सके, दूसरों की तो बात ही जाने दें, हमारे जो भी मन्दिरमार्गी साधु-साध्वी सम्मेतशिखर आदि तीर्थों की यात्रा के लिए जाते हैं, उनके समक्ष भी भगवान् के द्वारा पवित्र किए गये उन तीर्थस्थानों का दर्शन करने के सिवा यह कभी भी ध्यान में नहीं आया कि उन पूर्वीय प्रदेशों में, जहाँ की भूमि में भगवान ने मानवतन पाया था, अपने जीवन की अखण्ड साधना की थी और अनेकों चातुर्मासों के द्वारा जहाँ की मिट्टी में जीवन की जीवंत चेतना भरी थी, ऐसे पावन-स्थलों पर चातुर्मास करके काल के चट्टान की तह में दबी उस गरिमा-गाथा को फिर से प्रकाश में लाया जाये, वहाँ की धर्मप्रेमी जनता एवं समाज के सामने उसके दिव्यरूप को प्रस्तुत किया जाय। फलस्वरूप यहाँ की जनता महावीर में श्रद्धा रखते हुए भी भगवान् महावीर अथवा जैन धर्म के विषय में इतिहास की पुस्तकों में वर्णित १-२ पृष्ठों के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती। कितने बड़े खेद की बात है कि जिस अंचल में भगवान् का आविर्भाव हुआ हो, वहीं की जनता उनके ही विषय में अनभिज्ञ हो?

इसके मूल में जा कर देखने पर इन सभी बातों का उत्तरदायित्व साधु-संस्था पर ही आता है, जो बड़े-बड़े वैभव से पूर्ण शहरों को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाये रखना चाहते हैं। किन्तु यह नहीं भूलना होगा कि धर्म अथवा

संस्कृति का व्यापक एवं स्थायी प्रचार-प्रसार चन्द गिने चुने शहरों में बैठने मात्र से नहीं हो सकता। धर्म एवं संस्कृति जनजीवन में प्रवेश करके ही सामान्य जनों की सांस-सांस में रम सकती है, अथवा अपना स्थायी महत्व प्राप्त कर सकती है। और जब सामान्य जनजीवन अर्थात् लोकजीवन को उपेक्षित करके किसी धर्म को आगे बढ़ाने का हठ मात्र शहरी प्रकोष्ठ में बन्द हो कर किया जाता है, स्पष्ट है, धर्म की आत्मा उन्मुक्त साँस नहीं ले पाती। फलतः वह ज्यादा दूर तक एवं ज्यादा दिन तक जीवित नहीं रह पाता, उसके उद्देश्यों में सफलता की बात तो दूर ही रही।

आज की ऐसी स्थिति में, जैसा कि मैंने पहले कहा है, धर्म का सच्चा एवं व्यापक प्रसार जन-जन के जीवन में प्रवेश करके ही हो सकता है। राजप्रासादों को झोंपड़ियों से मिलाना होगा—एक ही ज्योति से दोनों में एक प्रकार का प्रकाश देना होगा और वह ज्योति अहिंसा ही है। जिसका अर्थ—प्रेम और दया है। साधुसमाज का आज सबसे बड़ा उत्तर-दायित्व है कि एक निश्चित् संकल्प को लेकर, अपने में दृढ़ मनोबल धारण कर तीन या पांच वर्ष का कार्यक्रम बना कर श्रमण-श्रमणी उन पूर्वीय प्रदेशों (उत्तरप्रदेश का पूर्वी-भाग बिहार एवं बंगाल) तथा उन समस्त प्रदेशों में जहाँ की जनता धर्मश्रवण के लिए लालयित रहती है, विचरण करके धर्म का लाभ प्राप्त करावें। मैं और भी ज्यादा स्पष्ट शब्दों में कहूँ तो तिथि-चर्चा जैसे दीर्घकाल से विवाद-ग्रस्त प्रश्नों में अनेकान्तवादियों के लिए अपनी शक्ति और समय का अपव्यय करना सुसंगत नहीं कहा जा सकता और न अब उन स्थानों से चिपके रहना उन मुनिराजों के लिए कोई औचित्य ही रखता है, जहाँ का समाज लगातार का बोझ उठाते-उठाते थक-सा गया है। यही कारण है कि उन मुनिराजों के दर्शनार्थ जब बाहर के भाई आते हैं, वहाँ का स्थानीय समाज उस प्रेम से मिल नहीं पाता, जो कि वांछित था। बल्कि समाज प्रेम की जगह उदासीनता एवं उपेक्षा का भाव ही अपनाता देखा जाता है। तो वह कहाँ का समतावाद है, यह कौन-सी समन्वयभावना रही कि, एक स्थान की जनता दर्शन तक के लिए प्रतीक्षा करते करते थक जाय और दूसरे स्थान की जनता बोझ ढोते ढोते थक जाय ?

मेरा जो व्यक्तिगतरूप से अभियान है, वह इसी असमानता को दूर करने के लिए है। और इसके साथ ही मैं समस्त साधु-संत एवं साध्वीवर्ग से भी आह्वान करता हूँ कि सभी शहर आदि के किसी खास मोह को छोड़ कर, आग्रह-विशेष का त्याग करके इस दिशा में आगे बढ़ें। भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी मनाने का मेरे विचार से इससे बड़ा कार्य और क्या कुछ हो सकता है ? मैं तो यहाँ तक समझता हूँ कि यदि ऐसा नहीं हुआ तो किसी भी समारोह अथवा रंगीन आयोजनों की शृंखला खड़ी करने का सारा का सारा प्रयास विशेष सफलीभूत नहीं होगा। मुझे विश्वास है कि श्रावकवर्ग और श्रमणवर्ग इस बात पर गहराई से विचार करेगा और अपने दायित्व-निर्वाह-हेतु संकल्पशील हो कर सामने आयेगा, आगे बढ़ेगा।

साहित्य-समीक्षा

समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ अवश्य भेजें :

जैनधर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम भाग (तीर्थंकर खण्ड)

लेखक व निर्देशक :—आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज तथा

प्रकाशक :—जैन इतिहास समिति, जयपुर, मूल्य २५) रुपये

जैनधर्म विश्व का एक प्रमुख तथा प्राचीनतम धर्म है। यद्यपि इतिहासकारों की पकड़ अभी भी ३ से ५ हजार वर्ष तक की कालावधि के भीतर ही चल रही है, किंतु फिर भी यह निश्चित तथ्य है कि जैनधर्म का मूल बहुत गहरा है। हजारों ग्रंथों के प्रमाण सिर्फ पुरातत्त्व सामग्री के अभाव में झुठलाये नहीं जा सकते। उपलब्ध प्राचीन साहित्य के आधार पर उसके मूलपुरुष भगवान् ऋषभदेव थे, जो आर्य-संस्कृति के भी मूलपुरुष माने गये हैं।

जैनधर्म के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाले अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ इधर में प्रकाशित हुए हैं। कुछ भारतीय विद्वानों ने लिखे हैं, कुछ विदेशी शोधकर्त्ताओं ने। सभी शोध-खोज के आधार पर यह निश्चय हुआ है कि भगवान् ऋषभदेव जैनधर्म के आदिपुरुष थे और भगवान् महावीर चौबीसवें अंतिम तीर्थंकर। भगवान् ऋषभदेव के सिवाय भगवान् नेमिनाथ, भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में भी काफी ग्रंथों में प्रमाण मिलते हैं और उनकी ऐतिहासिकता भी प्रायः निर्विवाद ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैनधर्म के प्राचीन इतिहास पर अच्छी सामग्री एकत्र की गयी है, यद्यपि पूरा ग्रन्थ पढ़ लेने के बाद भी कुछ नवीन स्थापना या नई खोज जैसा भले ही न लगे, किन्तु प्राचीन जैन इतिहास की बिखरी हुई सामग्री, प्रमाण व घटनाओं को बड़े संतुलित ढंग से प्रस्तुत कर लेखक व संपादक महोदय ने सचमुच ही सुन्दर ऐतिहासिक उपक्रम किया है। चौबीस तीर्थंकरों का संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण जीवनपरिचय दे कर जैन-परम्परागत इतिहास की पौराणिक कड़ी को व्यवस्थित रखा गया है।

आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज जैन इतिहास के अनुसंधान व लेखन की दिशा में जो स्तुत्य प्रयत्न कर रहे हैं वह सचमुच श्लाघनीय है, उसका ऐतिहासिक मूल्य भी होगा। इतिहास की दृष्टि से ग्रन्थ—माला का दूसरा भाग इससे भी अधिक नये तथ्यों का उद्घाटन करेगा—ऐसी आशा की जा सकती है। ग्रन्थ उपयोगी व संग्रहणीय है। —'सरस'

★

विजय तपोधन (मुनि श्री वेणीचंद्रजी)

लेखक :—मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'कमल'

आशीर्वचन :—उपाध्याय श्री अमरमुनि जी, **प्राक्कथन** :—मुनि श्री सुशीलकुमारजी, **संपादक** :—श्रीचन्द सुराना 'सरस' **प्रकाशक** :—कमल जैन साहित्य सदन, मांडलगढ़ (राजस्थान), **मूल्य** :—पांच रुपये मात्र

प्रस्तुत पुस्तक में उन्नीसवीं शताब्दी के एक महान तपोधन साधक श्री वेणीचन्द्रजी महाराज की तपोमय जीवनगाथा अंकित की गई है। मुनिश्री एक सच्चे साधक थे, तपस्वी थे, ध्यानयोगी थे और कठोर अभिग्रहधारी वाचंयम थे। जीवन के अंतिम सत्ताईस वर्षों में उन्होंने अन्न-ग्रहण भी नहीं किया। वे जंगलों में, खंडहरों में तीन-तीन दिन तक खड़े रह कर ध्यान करते रहते थे। उनका जीवन कठोर तपोमय था।

प्रस्तुत पुस्तक में मुनिश्री के जीवन की रोमांचक घटनाओं का बड़ी भावपूर्ण भाषा में अंकन किया गया है। प्रथमखण्ड में तप के विषय पर काफी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत है, जो सामान्य पाठक को भी तप के विविध अंगों की सुन्दर जानकारी देती है।

प्रस्तुत पुस्तक चार खण्डों में विभक्त है। प्रथमखंड में तपविषयक रोचक सामग्री है। द्वितीय खंड में तपस्वी जी की जीवन—साधना, तृतीय खंड में उनकी गुरु परम्परा का संक्षिप्त परिचय व चतुर्थ खंड में अनेक मुनिवरों व श्रद्धालुओं की भावपूर्ण श्रद्धांजलियां।

भाव, भाषा व शैली आदि की दृष्टि से पुस्तक सुन्दर व उपयोगी बनी है। श्री महेन्द्रमुनिजी निश्चय ही अपने प्रयास में सफल सिद्ध हुए हैं। श्रद्धेय कविश्रीजी के शब्दों में—"मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि उदीयमान लेखक मुनि 'कमल' जी निरन्तर अपनी गति-प्रगति में आगे बढ़ रहे हैं। तपस्वी जी के जीवनचरित्र में सचमुच उन्होंने अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया है। लगता है, लेखनक्षेत्र में मुनिश्री का भविष्य उज्ज्वल है।"

साधारण पाठकों व पुस्तकालयों के लिए पुस्तक संग्रहणीय है।

—मुनि नेमिचन्द्र

सुख के स्रोत

प्रवचनकार :—प्रियवक्ता पं० मुनिश्री विनयचंद्रजी महाराज। सम्पादक :—श्री रतनकुमारजी जैन 'रत्नेश'। प्रकाशक :—श्री बनासकांठा स्थानकवासी जैनसंघ नवसारी (गुजरात) पृष्ठ संख्या—२३५, मूल्य नाममात्र एक रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन विद्वान् मुनिश्री के प्रवचनों का संग्रह है। वे स्था० जैन समाज के ख्यातिप्राप्त विद्वान् प्रवचनकार एवं लेखक हैं। मुनि श्री की अनुपम कृति 'जीवन वैभव' जैन-अजैन समाज में काफी लोकप्रिय रही है। जिसका मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है।

प्रस्तुत "सुख के स्रोत" नामक प्रवचन पुस्तक में मुनिश्री ने आज की भूली-भटकी जनता को सरल एवं सुबोध भाषा में योग्य मार्ग-दर्शन किया है, जिससे मनुष्य सत्यं शिवं सुन्दरम् की सही दिशा प्राप्त कर मानव जीवन को सफल व समुज्ज्वल बना सके। क्या वैभव सुख का प्रतीक है? सुख-दुःख का जनक आत्मा, आत्मविश्वास आदि प्रवचन पाठक पर अपनी अमिट छाप डालने वाले हैं। कर्म सिद्धांत का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। छपाई सुन्दर, मुखपृष्ठ आकर्षक है।

★

सुखना झरणां

प्रवचनकार, सम्पादक, प्रकाशक—उपर्युक्त

"सुख के स्रोत" नामक हिन्दी पुस्तक का गुजराती भाषा में अनुवाद है। अनुवादक हैं, सौराष्ट्र हाईकोर्ट के एडवोकेट एवं भू० पू० सौराष्ट्रराज्य के डिप्टीस्पीकर श्री हरिलाल दुर्लभजी भाई उकाणी। अनुवाद अतीव सुन्दर है, भाषा में प्रवाह है, गुजराती-भाषा-भाषियों के लिए पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। पुस्तक के अन्त में प्रियवक्ता पं० मुनि श्री विनयचंद्रजी म० के जीवन-दर्शन की गद्य से पद्य में अवतरणा कवि श्री जमनादास पी० महेता प्रोलनिवासी ने की है, जिससे पुस्तक की महत्ता और भी बढ़ गई है।

मूल्य—नाममात्र डेढ़ रुपया, छपाई स्वच्छ एवं सुन्दर।

—पं० चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी

★

वीरायतन : एक जनकल्याणी योजना

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण-शताब्दी समारोह के पावन अवसर पर परमश्रद्धेय राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज ने 'वीरायतन' के नाम से एक आदर्श ज्योतिकेन्द्र की जो विराट् योजना प्रस्तुत की है, वह निर्वाण-शताब्दी से संबंधित जनभावना के लिए एक नया दिशा-निर्देशन है।

श्री अमर भारती के जनवरी '७२ के अंक में 'वीरायतन' : एक समीक्षा : एक चिन्तन' के शीर्षक से वीरायतन की जो व्याख्या प्रकाशित हुई है, इससे जैन, जनेतर दोनों ही समाजों को चिन्तन-मनन का सुअवसर मिला है। कविश्रीजी अध्ययन की गहराई में पहुँच कर ही समाज के सामने अपने विचार प्रदर्शित करते हैं। इस योजना में भी उनका जनकल्याण के प्रति सुदूर भविष्य का सूक्ष्म-चिन्तन झलक रहा है।

मुझे सारनाथ और नालन्दा जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वहाँ आज भी थाईलैंड, जापान, वर्मा, लंका एवं चीन आदि विदेशों से आए हुए बौद्ध भिक्षु बौद्ध-धर्म का अध्ययन करते हैं। इन सजीव धर्मतीर्थों को देख लेने के बाद जब मैं अपने प्राचीन क्षेत्रों को देखता हूँ तो वहाँ की शून्यता खटकती है। राजगृह में अन्तर्देशीय केन्द्र के रूप में 'वीरायतन' उक्त अभाव की पूर्ति कर सकेगा।

वीरायतन की अन्तरंग स्थिति एवं कार्य-नीति निश्चित करने का दायित्व एक केन्द्रीय संघ पर होगा, जिसमें समग्र भारत के विभिन्न स्थानों के प्रमुख व्यक्ति होंगे, अतः मेरी दृष्टि में भारत के हर एक प्रान्त से चार-चार प्रगतिशील विद्वानों एवं सक्रिय कार्यकर्त्ताओं को चुनकर केन्द्रीयसंघ का गठन किया जाए तो ठीक रहेगा। इस प्रकार वीरायतन की प्रान्तीय शाखाओं पर नियंत्रण, निरीक्षण, निर्देशन एवं आर्थिक प्रबन्ध आदि का कार्य बड़ी सुगमता से हो सकेगा। ऐसे ज्योतिकेन्द्र की समाज को पहले भी जरूरत थी, अब है और भविष्य में भी रहेगी। इससे देश एवं समाज का बड़ा कल्याण होगा।

मेरी शुभकामना है, ज्योतिकेन्द्र वीरायतन का पथ प्रशस्त हो।

—डॉ० उम्मेदमल मुनोत
चौक, लखनऊ

अभिनन्दन !



[डा० आचार्य कुसुम, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त ज्योतिर्विद हैं। हस्तरेखा विज्ञान में आपकी महत्ता प्रसिद्धि के शिखर पर है। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं पर आप साधिकार लेखन एवं भाषण कर सकते हैं। कविश्रीजी के प्रति भावभीनी श्रद्धासुमनांजलि में आपके गुणग्राहक हृदय का यथार्थ प्रतिबिम्ब है—संपादक]

मैं राष्ट्रसंत उपाध्याय कविश्री अमरमुनिजी से मिला। प्रथम साक्षात्कार में ही मैं उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से अत्यधिक प्रभावित हुआ।

आप अनन्य साधक, चिन्तक एवं साहित्य मनीषी हैं। आपकी साहित्य-साधना के रसास्वादन से विशेष अमर आनन्द की अनुभूति हुई।

प्रथम साक्षात्कार में ही उनका अनूठा व्यक्तित्व जैसे मेरे हृदय में मूर्ति की भाँति विजड़ित हो गया। अब तो मुझे ऐसे लगता है कि हृदय से देखकर ही जैसे मैं लिख रहा हूँ।

साहित्य मानव का प्रेरणा स्रोत है। आज के वैज्ञानिक युग में जो दुःखवाद है, यत्र-तत्र जो अनैतिकता व्याप्त है, उसको दूर करने में मुनिजी के साहित्य से जहाँ आध्यात्मिक दृष्टि मिलती है, वहाँ मिलता है, समुचित मार्गदर्शन भी।

ऐसे सद्प्रयत्न एवं सत्यं शिवम् सुन्दरम् की भावना से अनुप्राणित अनन्य साधक एवं चिन्तक मुनिश्री को कोटिशः प्रणाम।

—प्रो० आचार्य कुसुम
एम०ए०, पी-एच० डी०
हेड ऑफिस : २११ सेक्टर २०-ए, चण्डीगढ़

●

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री
'साहित्यरत्न'

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०,
साहित्यरत्न, प्रभाकर

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन • एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष • इकतीस रुपये
तीन वर्ष • इक्कीस रुपये
वार्षिक • आठ रुपये
एक प्रति • पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ९ | अप्रैल ७२ | अंक ४

अन्तर्नाद

● उपाध्याय अमर मुनि

भ्रमोत्पन्नो ह्ययं क्लेशो भ्रमनाशे विनश्यति ।
अतो निजात्मनः सत्य-स्वरूपमवलोकय ।।१८।।

—यह सब क्लेश, दुःख-द्वन्द्व, भ्रान्ति से ही पैदा होते हैं, और भ्रान्ति के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं। अतएव हे आत्मन्! तू भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप का अवलोकन कर!

सुख, दुःख और लाभ, हानि आदि के सब विकल्प, जो अन्तर् में आकुलता का वातावरण बनाये रखते हैं, आत्मा की अपनी स्वरूप-भ्रान्ति के ही कारण हैं। यदि यह भ्रान्ति न रहे, तो आकुलता के द्वन्द्व भी न रहें। कारण का नाश होने पर कार्य का नाश स्वतः हो जाता है। अंधकार में टेढ़ी-तिरछी बल खाई रस्सी से सर्प की भ्रान्ति हो जाती है। कितना भय! कितना त्रास! कितनी भागदौड़! परन्तु ज्यों ही प्रकाश हुआ, भ्रान्ति समाप्त! वास्तविकता का बोध होते ही भय और त्रास की जगह हंसी के ठहाके गूंज उठे।

यावन्न दृष्टो गाम्भीर्यं व्यापकत्वं च सूक्ष्मता ।
तावदानन्द-संप्राप्तिर्जायते न कदाचन ।।१९।।

—जब तक मानव की दृष्टि में—बुद्धि में गंभीरता, व्यापकता एवं सूक्ष्मता नहीं होती है, तब तक जीवन में कभी भी आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

यस्तः स्नेहो न कस्मैचित् प्राप्तो नापि कुतश्चन :
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥२०॥

—जिसने न किसी को स्नेह दिया और न किसी से स्नेह लिया, उसका जन्म अर्थात् जीवन बकरी के गले में पैदा हुए स्तन के समान निरर्थक है। बकरी के गले का स्तन केवल देखने भर का स्तन है, वह दूध नहीं देता है।

गुरवो यत्र नो पूज्याः स्त्रियो यत्रापमानिताः।
यत्र बन्धुषु संघर्षस्तत्र पातः सुनिश्चितः ॥२१॥

—जहाँ गुरुजनों की पूजा-प्रतिष्ठा नहीं होती है, जहाँ महिलाएँ अपमानित एवं तिरस्कृत रहती हैं, और जहाँ बन्धुजनों में—भाइयों में संघर्ष—लड़ाई-झगड़ा होता है, उस परिवार एवं समाज का पतन सुनिश्चित है।

उदारहृदयः शश्वज्जीवत्यानन्दनिर्भरः।
संकीर्णहृदयो यावज्जीवनं दुःखभाग् भवेत् ॥२२॥

—जो व्यक्ति हृदय से उदार है, उसकी जीवन यात्रा निरंतर आनन्द से भरपूर रहती है। इसके विपरीत संकीर्ण—क्षुद्र हृदय वाला व्यक्ति जीवन भर दुःख ही दुःख पाता रहता है।

मृत्योर्बिभेषि किं भद्र !, सदाचारपरो भव।
इदं सत्कर्मनिष्ठानां, स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥२३॥

—हे भद्र ! मृत्यु से क्यों डरता है ? तू अपने को सदाचार-परायण बना ले, फिर तुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है।

जो मानव सत्कर्म में निष्ठा रखते हैं, उनके लिए तो यह (मृत्यु) खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है।

लौकिकख्यातिपूजार्थं, यस्त्यागं कर्तुमुद्यतः।
स चन्दनवनं छित्वा भस्मसात्कुरुतेऽनले ॥२४॥

—जो व्यक्ति लौकिक ख्याति (यश) और पूजा प्रतिष्ठा के लिए विषय-भोगों का त्याग करता है, वह चन्दन के वन को काट कर अग्नि में भस्म कर रहा है !

★

श्री अमर भारती, अप्रैल १९७२

वीरायतन : प्रगति के बढ़ते चरण

पश्चिम के एक मनीषी ने कहा है—'व्यक्तियों से समाज बनता है, और संस्थाओं से राष्ट्र।' मैं इससे कुछ आगे की बात कहना चाहता हूं कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी संस्थाओं से बनते हैं। परिवार, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि धर्म परम्पराएँ भी तो मूल में संस्थाएँ ही हैं। विभिन्न रूपाकारों में संस्था ही जन-जीवन में सर्वत्र व्याप्त है।

संस्थाओं का आदि निर्माता :

भगवान् ऋषभदेव से पूर्व हर मानव एक स्वतंत्र इकाई के रूप में था। यहाँ तक कि स्त्री और पुरुष दंपती के रूप में साथ रहकर भी एक दूसरे से अलग थे। उनमें परस्पर सहयोग एवं सहकार—जैसा कोई सामाजिक सम्बन्ध न था। सर्व प्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही तत्कालीन स्त्री पुरुषों को शारीरिक सम्बन्ध से ऊपर उठाकर भावना के स्तर पर पहुंचाया, और इसके परिणाम स्वरूप परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म के रूप में विभिन्न संस्थाएँ अस्तित्व में आईं। संस्थाओं के बिना तो मानव प्रगति के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं रख सकता था। इसीलिए विभिन्न अपेक्षाओं को लेकर समय समय पर संस्थाएँ बनी हैं, बन रही हैं और बनती रहेंगीं।

वीरायतन एक महाप्राण संस्था :

भगवान् महावीर का २५ सौ वाँ निर्वाण दिवस निकट से निकटतर आता जा रहा है। सब ओर चर्चा है, विचारणा है कि इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर क्या होना चाहिए ? विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न रूपों में सोचा जा रहा है, परन्तु इस बात में सब एक मत हैं कि ऐसा कुछ होना चाहिए, जो निर्वाण महापर्व के गौरव के अनुरूप हो, जो महाश्रमण महावीर की

सर्वोज्ज्वल ज्ञान गरिमा को जन-जन के चेतना क्षितिज पर ज्योतिर्मय कर सके। वीरायतन योजना इसी लक्ष्य की पूर्ति में अग्रसर है। निर्वाण शताब्दी की स्मृति में विराट उत्सव तो होंगे ही, जुलूस और सभाओं के मोहक आयोजन तो होंगे ही, ग्रन्थों, पुस्तकों और समाचार पत्रों के प्रकाशन तथा विचारगोष्ठियों के अभिभाषण भी जनता तक पहुँचेंगे ही, परन्तु इन सबके ऊपर एक महती अपेक्षा प्रबुद्ध जन मानस के विचार गगन में मंडराती रही है कि कुछ ऐसा भी होना चाहिए, जो शताब्दियों तक भविष्य की प्रजा को प्रेरणा देता रहे, विश्व जन-मंगल की भावना को, बिना किसी इधर उधर के क्षुद्र व्यामोहों के, उद्दीप्त कर सके। जिसके द्वारा भगवान् महावीर के विश्व हितंकर दिव्य संदेश सही दिशा में रूपायित हों! वीरायतन योजना इन्हीं सभी संभावनाओं को मूर्तरूप देने के लिए एक विराट आदर्श संस्था का आकार ले रही है। विचारकों की दृष्टि में यह संस्था काफी दूर तक जन-भावना को स्पर्श करती है, और जन जागरण के युगानुकूल नये क्षितिज खोलती है। वीरायतन संस्था के संभावित कार्यक्रमों में अतीत, वर्तमान और भविष्य के स्वर्णिम स्वप्न साकार होते दीखते हैं।

वीरायतन : विचारकों की दृष्टि में :

अमर भारती में जब से यह योजना, अपने संभावित कार्यक्रमों का उद्घोष लेकर जनता के समक्ष आई है, जैन अजैन सभी समाजों के विचारकों को इसने चमत्कृत किया है। इस सम्बन्ध में कार्यालय में आये दिन आने वाले पत्र साक्षी हैं। पत्र देने वालों में बालक हैं, वृद्ध हैं, तरुण हैं, भाई हैं, मुनि हैं, गृहस्थ हैं, नागरिक हैं, ग्रामीण हैं, जैन हैं, अजैन हैं। ऐसा लगता है, जैसे सभी सहृदयों के अन्तर्मन में वीरायतन के प्रति सहज श्रद्धा एवं सद्भावना की धारा तरंगायित है। प्रस्तुत में उदाहरणस्वरूप हम सुप्रसिद्ध प्रवक्ता, वाणी भूषण पं० श्री विमल मुनि जी के विचारों का कुछ अंश दे रहे हैं :

—"श्रद्धेय राष्ट्र सन्त कवि श्री जी का समाज की सामयिक समस्याओं के प्रति कृतसंकल्प होना, अपने में एक महत्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि है। सन्मति महा प्रभु के विश्व कल्याणकारी मौलिक सिद्धान्तों को जीवन निर्माण में कार्यान्वित करने का व्यापक दृष्टिकोण न केवल सराहनीय है, अपितु अविलंब अनुकरणीय है।

कवि श्री जी के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मैं यथा शक्य प्रयत्नशील हूं। २५ सौ वीं निर्वाण-शताब्दी स्मृति प्रसंग पर मैं क्या योग दे सकूंगा, यह समय ही बतायेगा।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि कवि श्री जी जैसे कर्मठ व्यक्तित्व से अक्षय उत्साह वर्द्धक प्रेरणा यथावसर मिलती रहेगी, और मैं गन्तव्य पर उत्तरोत्तर बढ़ता जाऊँगा····।"

सहयोग की धारा विराट होती जा रही है :

जिस प्रकार नदी अपने उद्गम में एक क्षीणकाय जलधारा होती है, किन्तु जैसे-जैसे वह आगे बढ़ती है, विराट होती जाती है, उसी प्रकार वीरायतन योजना भी निरंतर विशाल एवं विराट होती जा रही है। विचारसहमति का सहयोग तो मिल ही रहा है, साथ ही अर्थसहयोग भी प्रचुर मात्रा में मिलता जा रहा है। ऊपर एक लाख से लेकर हजारों, सैंकड़ों के सहर्ष दानस्वरूप वचन पर वचन मिल रहे हैं। सैंकड़ों ही भाई बहन अपने नाम दानदाताओं में लिखा रहे हैं। यहां तक कि कितने ही भाई-बहनों ने तो अपने एक-एक मास का वेतन संस्था को अर्पण किया है। छात्र-छात्राओं ने अपनी प्राप्त छात्र वृत्ति—स्कालर-शिप दान में दी है। हँसते-खिलते छोटे बच्चे भी अपनी गुल्लकों का पैसा वीरायतन को दे रहे हैं। यदि यही उत्साह की वेगवती धारा सही दिशा में बहती रही तो वीरायतन को पल्लवित एवं पुष्पित होने में देर नहीं लगेगी।

वीरायतन का निबन्धीकरण :

'वीरायतन' का निबंधीकरण, अर्थात् रजिस्ट्रेशन कराना आवश्यक था। इसके लिए भगवान् महावीर की जन्म-भूमि, तपोभूमि, केवल भूमि और निर्वाण भूमि, बिहार प्रदेश ही उचित समझा गया। वहाँ सरकार और सर्व साधारण जनता में, आज अजैन होते हुए भी महती श्रद्धा भावना है। पर्व दिनों में, आज भी उनके जन्म और निर्वाण स्थान पर, लाखों की संख्या में जैन-अजैन जनता उपस्थित होती है। अतः बिहार सरकार से संपर्क स्थापित किया गया, और हर्षद सूचना है कि बिहार सरकार की ओर से वीरायतन का रजिस्ट्रेसन स्वीकृत हो चुका है। जानकारी के लिए वह नीचे प्रस्तुत हैं :

संस्थाओं के निबन्धन का प्रमाण-पत्र

(ऐक्ट २१, १८६०)

संख्या—८० वर्ष १९७१-७२

मैं इसके द्वारा प्रमाणित करता हूँ कि वीरायतन सोसाईटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट २१, १८६० के अधीन आज यथावत् निबन्धित हुआ।

आज तारीख दो, मास मार्च, वर्ष उन्नीस सौ बहत्तर को पटना में मेरे हस्ताक्षर के साथ दिया गया।

वि० द० मिश्र

बा० महा निरीक्षक निबन्धन बिहार।

२।३।७२

समय अल्प है, कार्य महान् है

समय के रथ का पहिया, तीव्र गति से दौड़ रहा है। निर्वाण महापर्व का निर्धारित तिथि काल अब दूर नहीं रहा है। समय अल्प है, कार्य महान् है, महत्तर है। अतः आप सबको प्रान्त, क्षेत्र, पंथ, जाति और वर्ग भेद को एक ओर छोड़ कर भगवान् महावीर के श्री चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पण करने चाहिएँ, और उनकी ऐतिहासिक निर्वाण शताब्दी महापर्व पर संयोजित 'वीरायतन' संस्था को रूपायित करने के पवित्र कर्तव्य कर्म में एक जुट होकर सर्वात्मभावेन लग जाना चाहिए।

—संपादक

★

'समयं गोयम मा पमायए।'

—सत्कर्म का उचित प्रसंग आते एक क्षण के लिए भी प्रमाद न करो, आलस्य में न पड़े रहो।

—भगवान् महावीर

★ उपाध्याय अमरमुनि

भारतीय दर्शनों का समष्टिवादी चिन्तन

भारतीय-दर्शन में चिन्तन की धाराएँ दो रही हैं—एक चिन्तन यह है, कि व्यक्ति को अपनी ही चिन्ता करनी चाहिए। अपना सुख, अपना हित और अपना कल्याण जिस मार्ग पर चलने से होता हो, उसी पथ पर व्यक्ति को बढ़ना चाहिए। संसार से हमें कोई मतलब नहीं। वह डूबे या तरे, हमें इससे क्या है ? हमें तो केवल अपनी ही आत्मा का उद्धार और कल्याण करना है। संसार स्वार्थमय है, इसमें कोई किसी का नहीं। अपने से भिन्न दूसरे प्राणी जो दुःख भोग रहे हैं या सुख भोग रहे हैं, वे सब अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं, हम किसी का न कुछ बुरा कर सकते हैं, न किसी का कुछ भला ! यह एक दृष्टि है, जो अध्यात्म-दर्शन के नाम से समाज में आई है। इस विचार को व्यक्तिवादी दृष्टि कहा जाता है। क्योंकि इसमें व्यक्ति अपनी उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन आदि सब कुछ अपने व्यक्तिगत मान कर ही चलता है। अतः वह अन्य किसी पीड़ित के श्रेय एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील नहीं होना चाहता। दूसरे की सुख-सुविधा में निमित्त बनने में उसे कोई प्रेरणा एवं आनन्दानुभूति नहीं होती।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी दृष्टि भी है, जो भारतीय-दर्शन एवं साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई है। वह है समष्टिवादी दृष्टि। उसका कहना है, कि हमारी जीवन-यात्रा समाज के मध्य चलती है, समाज के सहयोग और सहकार पर चलती है। समाज ही व्यक्ति का एकमात्र आधार है। अपने पड़ोसी के हानि एवं लाभ, सुख एवं

दुःख हमारी चेतना को प्रभावित करते हैं और हमारे स्वयं के हानि एवं लाभ, सुख एवं दुःख हमारे पड़ोसी के जीवन को प्रभावित करते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति सामाजिक जीवन से उदासीन होकर कैसे चल सकता है ? निश्चय ही व्यक्ति 'एकला चलो रे' का स्वर नहीं आलाप सकता। व्यक्ति की साधन-सम्पत्ति और उसके जीवन की उपलब्धि मात्र उसके वैयक्तिक कल्याण के लिए नहीं, अपितु वह विश्व-कल्याण के लिए है, अतः व्यक्ति को समाज में रह कर अपनी विश्व-व्यापी दृष्टि बनानी ही होगी। इस विचारधारा के अनुसार व्यक्ति अपने आप में कुछ नहीं, समाज ही सब कुछ है। समाज का सुख उसका सुख है, समाज का दुःख उसका दुःख है, समाज का कल्याण उसका कल्याण है, और समाज का हित उसका हित है।

भारतीय चिन्तनधारा की उक्त दोनों ही दृष्टियां महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों का ही मानव जीवन के विकास में महत्वपूर्ण योग दान है। परन्तु दोनों दृष्टियां जब एकांगी हो जाती हैं, एक दूसरे को काट कर चलती हैं, तो काफी गड़बड़ हो जाती है, और यह गड़बड़ हुई भी है। भारत का चिन्तन दोनों में योग्य एवं सन्तुलित समन्वय का था, खेद है कि मध्यकाल में वह भुला दिया गया। पिछली कुछ शताब्दियों में तो वह वैराग्य के उथले नारों की भीड़ में भटक ही गया। धीरे-धीरे हमारा चिन्तन एकान्त व्यक्तिवादी होता चला गया। एक तरह से सामाजिक चेतना भारतीय मस्तिष्क एवं हृदय से लुप्त-सी ही हो गई। और इसका यह दुष्परिणाम हुआ कि न हमारा व्यक्तिगत जीवन ही सुन्दर एवं समृद्ध हो सका, न सामाजिक जीवन ही। व्यक्ति का स्वयं निर्माण अपेक्षित है, आवश्यक है, किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि व्यक्ति अपने हितसाधन की धुन में समाज के हित साधन की उपेक्षा ही कर दे। अतएव मैं प्रस्तुत में भारतीय चिन्तन धारा के उपेक्षित सामाजिक चिन्तन पर प्रकाश डालना चाहूँगा, और बताना चाहूँगा कि हमारे यहाँ सामाजिक जीवन का, समष्टि चेतना का भी कितना अधिक व्यापक महत्त्व है।

वैदिक-परम्परा का समष्टिवाद

भारत के प्राचीन से प्राचीन साहित्य में समष्टि विचारधारा के बीज हमें यत्र-तत्र-सर्वत्र बड़ी आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं।

वैदिक परम्परा, जो भारत की एक महान् परम्परा है, उसमें भी जहाँ कहीं आप नजर डालेंगे, सर्वत्र आपको मुख्य रूप में समष्टि-वादी दृष्टिकोण उपलब्ध होगा। एक आचार्य ने कहा है—

> **शिवमस्तु सर्व जगतः,**
> **परहितनिरताः भवन्तु भूतगणाः।**
> **दोषाः प्रयान्तु नाशं,**
> **सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥**

कहा गया है कि केवल अपना ही नहीं, समग्र विश्व का कल्याण हो, प्रत्येक प्राणी अपने ही हित में न लगा रहे. उसे सभी के हित में सदा संलग्न रहना चाहिए। अपने ही दोषों का, विकारों का शमन नहीं, किन्तु सभी के दोषों का उपशमन होना चाहिए। यदि हमारे दोषों का शमन-उपशमन हो भी जाय और हमारे पड़ोसी के जीवन में दोष बने रहें, तो हमारे जीवन में सच्ची शान्ति नहीं आ सकती। आचार्य का कहना है—एकमात्र मैं ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व ही सुखी होना चाहिए, क्योंकि विश्व के सुख में ही मेरा अपना सुख है। विश्व हित एवं विश्व मंगल की इसी उदात्त दृष्टि को समग्रतावादी दर्शन कहा जाता है। यह अन्तर्मन की एक विशुद्ध सामाजिक भावना है।

एक दूसरा आचार्य भी इसी प्रकार की समग्र चेतना को अभिव्यक्त करते हुए कहता है—

> **सर्वे भवन्तु सुखिनः,**
> **सर्वे सन्तु निरामयाः।**
> **सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,**
> **मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥**

कितनी निर्मल और कितनी पवित्र भावना है, यह। यही है भारत का सच्चा समाजवाद। इसी को कहते हैं—विश्व व्यापी दृष्टि। जब तक मनुष्य के अन्तर् में इस प्रकार का समग्रतावाद न उतरे, तब तक न उसका अपना कल्याण है और न समाज का ही। आचार्य का कहना है कि—सभी सुखी हों, सभी स्वस्थ रहें, सभी कल्याण भागी हों, और सभी दुःख, द्वन्द्व, पीड़ाओं से मुक्त रहें। एक वैदिक ऋषि ने तो बड़े ही कमाल की परिकल्पना की है।

वह इस सम्पूर्ण विश्व को एक नीड मानता है, एक घोंसला कहता है, जिसमें विश्व की समग्र चेतन सृष्टि एक पक्षी के रूप में रहती है—"यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्"—कितनी भव्य और कितनी उदात्त भावना है यह! इसी प्रकार भारत के प्रसिद्ध संत तुलसीदासजी ने भी अपने रामचरित मानस में एक बड़ी ही सुन्दर बात कही है। उसमें कहा गया है कि—मैं इस सम्पूर्ण विश्व में जितने भी नर एवं नारी हैं, उन सबको राम और सीता के रूप में प्रणाम करता हूँ।

वैदिक परम्परा में देवी के आविर्भाव की एक पौराणिक गाथा है। असुरों का बहुत भयंकर उपद्रव हो रहा था। देव-जाति उनके आतंक से पीड़ित थी। किन्तु कोई प्रतिकार हो नहीं पा रहा था। अतः सब देवताओं ने मिलकर अपनी शक्ति का अमुक-अमुक अंश प्रदान कर महाशक्ति के रूप में एक देवी का आविर्भाव किया और उसने उपद्रवी असुरों का संहार कर देवजाति को संकट से मुक्त किया। इसका फलितार्थ यह है, कि जब तक संघशक्ति विकसित न होगी, बिखरी हुई शक्तियां एक जुट होकर संघबद्ध न होंगी, तब तक किसी भी देश, जाति एवं समाज का संकट से त्राण नहीं है।

वैदिक-परम्परा में अन्य तीर्थ सब तीर्थ हैं. किन्तु प्रयाग तीर्थ-राज है। वह इसलिए कि वहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती का त्रिवेणी संगम है। वस्तुतः संगम ही जीवन की श्रेष्ठता है। वही तीर्थ को तीर्थराज का पद प्रदान करता है। इसी प्रकार सागर में समग्र तीर्थों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। सागर में समग्र जल धाराओं का संगम है। सागर 'समष्टि' का एक महान् उदात्त उदाहरण है। अतः कहा गया है—**'सागरे सर्व-तीर्थानि।'**

गीता में कर्म योगी श्री कृष्ण कहते हैं—'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।' एक दूसरे को भावित करो, सहयोग दो, तभी तुम परम श्रेय को प्राप्त कर सकोगे। व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में, समाज के कल्याण में ही निहित है।

जैन परम्परा का समष्टिवाद

आइए, अब जरा आप जैन-परम्परा के सन्दर्भ में भगवान् महावीर के दृष्टिकोण को भी समझने का प्रयत्न करें। आप देखें

कि उनका प्रस्तुत सन्दर्भ में क्या दृष्टि-बिन्दु है ? यह सर्वविदित है, कि भगवान् महावीर एकान्तवादी नहीं हैं। उनका दर्शन अनेकांत दर्शन है। वह एक सत्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। सत्य अनन्त है, अनन्त धर्मात्मक है। उसे किसी एक दृष्टिकोण से देखकर किसी एक पहलू को ही एकान्त 'ही' के प्रयोगस्वरूप प्रचारित करना, उन्हें अभीष्ट नहीं है। अतएव महावीर व्यष्टि-वादी भी हैं और समष्टिवादी भी। वे व्यक्ति के पक्ष में समाज को और समाज के पक्ष में व्यक्ति को बलिदान नहीं करते। उनकी दृष्टि दोनों ओर है। वे व्यक्ति और समाज दोनों के ही सन्तुलित विकास के पक्ष में।

भगवान् महावीर का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तो सर्वत्र उजागर है, आज के प्रायः अधिकांश शिक्षित जानते हैं और कहते हैं, कि भगवान् महावीर वैयक्तिक जीवन को महत्त्व देते थे। व्यक्ति का उत्थान एवं विकास ही उनके जीवन का परम और चरम ध्येय था। उन्होंने व्यक्ति के हित में ही कहा है, समाज के हित में नहीं। इस प्रकार भगवान् महावीर के दर्शन को व्यक्तिवादी दर्शन करार दे दिया गया है। यह ठीक है, कि महावीर व्यक्ति के अपने स्वयं के वैयक्तिक हित को महत्त्व देते थे। परन्तु यह महत्त्व 'भी' के साथ है, 'ही' के साथ नहीं। व्यक्ति और समाज परस्पर विरुद्ध दो इकाइयां नहीं है। व्यक्ति समाज में सन्निविष्ट है, और समाज व्यक्ति में। अतः महावीर जब व्यक्ति के हित की बात करते हैं, तो उसका यह अर्थ नहीं कि वे समाज के हित की उपेक्षा एवं अपलाप करते हैं। किन्तु आगे चलकर हो गया कुछ ऐसा ही है। जैन चिन्तन धीरे-धीरे व्यक्तिवादी बनता चला गया, और उसका यह परिणाम आया कि विचारकों की दृष्टि में महावीर भी व्यक्तिवादी हो गए। अतः मैं प्रस्तुत में भगवान् महावीर के समष्टिवादी चिन्तन पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ।

भगवान् महावीर की सामाजिक दृष्टि

भगवान् महावीर ने अपने जीवन में कठोर साधना के बाद केवल ज्ञान प्राप्त किया था। जो कुछ उन्हें पाना था, वह उन्हें मिल चुका था। आध्यात्मिक विशुद्धि के चरम शिखर पर वे पहुँच चुके

थे, फिर भी वे संघ को, सामान्य जन समाज को उपदेश देते रहे हैं, और इसके लिए नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम में विहार करते रहे हैं। विकट-बन कान्तारों को एवं सिन्धु देश जैसे रेगिस्तानी मैदानों को पार करते रहे हैं। इतना ही नहीं, भूख एव प्यास आदि के तथा शीत एवं ऊष्णता आदि के घोर-अतिघोर परिषह एवं उपसर्गों को सहन करते रहे हैं। विश्व जनमगल की दृष्टि से एक नवीन तीर्थ की स्थापना करते हैं, और उसके व्यापक प्रचारार्थ अपने शिष्यों को दूर-सुदूर प्रदेशों तक जनता को प्रतिबोध देने के लिए भेजते हैं। उनकी तत्कालीन जीवनचर्या को देखते हुए उनका स्वयं का जीवन अत्यधिक सक्रिय था। एक मात्र निवृत्तिवाद को ही लेकर वे नहीं बैठे रहे, प्रवृत्ति को भी उन्होने अपने जीवन का अग बनाया था।

इस स्थिति पर विचार करने से मानस में एक प्रश्न उठता है, कि जब भगवान् वीतराग हो चुके थे, फिर उन्होंने यह सब कुछ क्यों किया ? यदि वे किसी को उपदेश नहीं देते, तो इससे उनकी कोई व्यक्तिगत हानि नहीं थी। और यदि उपदेश दिया तो उस से उनका अपना व्यक्तिगत क्या अतिरिक्त लाभ था ? फिर उन्होंने तीर्थ की स्थापना ही क्यों की ? क्यों उन्होंने संघ रचना को महत्त्व दिया ? और क्यों उन्होंने इस के लिए भिक्षु एवं भिक्षुणियों को तैयार किया ? यदि वे अपने वीतराग अर्हन्त जीवन में किसी को दीक्षा नहीं देते, तो इससे भगवान की क्या धर्महानि थी ? उनके अपने विशुद्ध स्वरूप में क्या दोष लगता था ? बहुत कुछ संभव है कि भगवान् महावीर के समक्ष इसी प्रकार के प्रश्न आए हों, कि आप तो शुद्ध-बुद्ध बन चुके हैं, और आप तो पूर्णतः ज्ञाता एवं द्रष्टा हो चुके हैं, जो कुछ पाना था वह पा लिया, जो कुछ होना था वह आप हो चुके, फिर संघ का यह प्रपंच क्यों ? यह दौड़-धूप किस लिए ? कोई बद्ध है तो क्या ? और कोई मुक्त होता है तो क्या ? इस प्रकार के तथा इस से सम्बन्धित अन्य समस्त प्रश्नों का उत्तर उन्होने जन-चेतना के समक्ष एक ही वाक्य में रख दिया था—

"सव्व जगजीवरक्खण दयट्ठाए।'

कितना सुन्दर एवं अर्थगर्भित कथन है—यह। मानवीय इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टि डालता हूँ तो लगता है, कि भगवान् महावीर से

पूर्व शायद ही किसी विश्व पुरुष ने इस प्रकार का वचन कहा हो ? उक्त सूत्र को व्याख्या के विस्तार में कहा जाए तो भगवान् महावीर ने कहा था कि मैंने जो कुछ पाया है उसे अपने तक ही सीमित रक्खूँ, यह मेरे लिए संभव नहीं है। मैंने जो कुछ पाया, वह सभी का हो। यही मेरी भावना है। अनन्त सत्य जो मुझे प्राप्त हुआ है, उसे मैं अपने तक ही सीमित कैसे रख सकता हूँ। क्योंकि जब सभी का मैं हूँ और सभी मेरे हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है, कि मैंने जो कुछ पाया, उस विभूति को सभी में बाँट दूँ। संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए मेरा उपदेश है। भगवान् महावीर की विश्व-कल्याण की भावना ने विश्व की चेतना को, जो एक भव्य एवं दिव्य विचार दिया है, वह यही है कि महापुरुष अपने हित के लिए नहीं, जन-हित के लिए कष्ट उठाते हैं। और सर्वोपरि अद्भुत बात तो यह है, कि वे उसे कष्ट मानते ही नहीं। जो विश्वात्मा बन चुका हो, उसके लिए कष्ट, कष्ट नहीं रह जाता, ताप, ताप नहीं रह जाता। उसे तो कष्ट और ताप तभी होता है, जबकि स्वयं भले ही वह सुखी हो, किन्तु उसके आस-पास का वातावरण दुःखमय एवं कष्टमय हो। लोक कल्याण की यह भावना और जन-हित की यह दृष्टि भगवान् महावीर के जीवन की सर्वतो महती साधना थी। समष्टि के कल्याण के लिए ही भगवान् महावीर ने तीर्थ की स्थापना की थी। गंगा जैसी विराट जल धाराओं और सुदीर्घ वन-कांतारों को पार करते हुए जनपदों की अनेक लम्बी पद-यात्राएँ की थीं, और प्रवचनों को धारा प्रवाहित की थी। इसका अर्थ यही है, कि भगवान् महावीर का समग्र जीवन-दर्शन व्यक्तिवाद के साथ-साथ समष्टिवाद की भी परिपुष्टि करता है।

अब मैं आपको दार्शनिक चिन्तन की भूमि से सामाजिक चिन्तन की भूमि पर लाना चाहता हूँ। कल्पना कीजिए, एक परिवार है। उसमें कुछ बूढ़े हैं, उसमें कुछ रोगी हैं, उसमें कुछ अपंग हैं, उनसे कुछ करते नहीं बनता, कुछ उपार्जन नहीं कर सकते। अपने जीवन को भारभूत बना कर बैठे हैं, इस स्थिति पर यदि अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो बड़ी विचित्र स्थिति होगी। जवान बेटा कहे, कि आप तो बेकार हो चुके हैं, अब आप किसी भी प्रकार का उत्पादन नहीं कर सकते, आप तो मेरे लिए और समस्त

परिवार के लिए अब भारभूत बन चुके हैं, अब आपका जीवन अर्थहीन और निष्प्रयोजन बन चुका है। यदि आप जीवित भी रहे तो नया उपार्जन तो कुछ होना नहीं है। पर मैं कहता हूँ, कि क्या इस प्रकार के बूढ़ों का भरण-पोषण समाज में नहीं होता? उनका आदर सम्मान नहीं होता? उनकी चिकित्सा नहीं होती? उनकी सेवा-सुश्रूषा नहीं होती? होती है, अवश्य ही होती है और सदा से ही होती आई है। भगवान् महावीर ने उक्त स्थिति के सम्बन्ध में एक बार अपने प्रवचन में कहा था—जीवन भर सेवा करने पर भी माता-पिता एवं गुरुजनों के ऋण से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। यह भगवान् महावीर की सामाजिक दृष्टि नहीं है? क्या इस से भी बढ़ करके कोई दूसरा समाजवाद, समग्रतावाद और समष्टिवाद हो सकता है? यदि आप इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो आपको मालूम होगा, कि उक्त वृद्ध-सेवा का आधार क्या है? अर्थ-लाभ जैसा तो यहाँ कुछ भी नहीं है? इस प्रकार के लोगों से भविष्य की क्या अपेक्षाएँ हो सकती हैं? कुछ भी तो नहीं। वस्तुत: यह गणित का प्रश्न नहीं है, कि कितना दिया, कितना लिया? यह तो एक विशुद्ध सामाजिक प्रश्न है, जो मानव-हृदय की भावना के आधार पर हल होता है।

भगवान् ऋषभदेव और समाज

मैं समझता हूँ, कि भारतीय समाज के इतिहास में और विशेषत: श्रमण-परम्परा के इतिहास में मानव जीवन में प्रसुप्त सामाजिक चेतनाओं को प्रबुद्ध एवं जागृत करने का महान् श्रेय भगवान् महावीर को है। उनकी सामाजिक चेतना क्षुद्र एवं सीमित नहीं थी, वह विराट् एवं विशाल थी, जन-जन के जीवन में परिव्याप्त थी। इसीको मैं भगवान् महावीर का समष्टिवादी दृष्टिकोण कहता हूँ। भगवान् महावीर से पूर्व भी जैन-परम्परा के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने मानव-सभ्यता के आदिकाल में, बिना किसी अपनी वैयक्तिक अपेक्षा के तत्कालीन मानव समाज को क्षुद्र एवं सीमित वैयक्तिक चेतना के स्तर से ऊपर उठाकर विराट् सामाजिक चेतना में प्रवेश कराया था।[1] ऋषभदेव से पूर्व उस युग के

---

१. स्थानांग सूत्र

मानव में न पारिवारिक भावना थी, न सामाजिक भावना थी और न किसी प्रकार की राष्ट्रीय भावना ही थी। यह सब भगवान् ऋषभदेव ने ही प्रस्तुत किया था। मानव-जाति के इतिहास में ऋषभदेव वह पहले व्यक्ति थे, जो सर्व प्रथम शासनकर्त्ता राजा हुए, सर्व प्रथम कर्म योगी जन नेता हुए और सर्व प्रथम धर्मयोगी, केवल ज्ञानी और सर्व प्रथम तीर्थंकर हुए। धर्म-योग की साधना के लिए शुद्ध कर्मयोग की साधना भी आवश्यक है। यदि भगवान् ऋषभदेव के द्वारा यह कर्मयोग का उपदेश न दिया गया होता, तो मानव-जाति का इतिहास इस रूप में नहीं होता, जिस रूप में कि उसे आज हम देख रहे हैं। मानव की इस धरती पर न होती दया, न होता दान और न होता त्याग। ऋषभदेव के द्वारा सामाजिक चेतना जिस स्तर पर उभर कर आई, वह अपने आप में अद्‌भुत एव अनुपम थी। किन्तु याद रखिए, सेवा और समर्पण की यह सामाजिक भावना ऊँचे आकाश से उत्तर कर नहीं आती, वह मनुष्य के अन्तर में से ही अभिव्यक्ति पाती है। यह सामाजिक भावना का ही प्रतिफल है, कि एक व्यक्ति अपने सुख और हित का बलिदान दूसरे के सुख और हित में कर डालता है। मैं नहीं समझता, कि इस सामाजिक भावना से बढ़कर मानव-जाति के इतिहास में अन्य कोई मानसिक सुख हो सकता है। यदि सामाजिक भावना न होती मानव के जीवन में तो मानव मानव को ही खा जाता। यदि इस धरती का केन्द्रबिंदु मानव ही न रहता, तो फिर यह कला कहाँ से आती? यह साहित्य कहाँ से आता? ये धर्म और दर्शन कहाँ से आते? ये समाज और इतिहास कैसे लिखे जाते? संत तुलसीदास ने मानव-जीवन को परिभाषित करते हुए कहा है—जो अपने दु:ख में नहीं, परदु:ख में तापित हो कर द्रवित होता है वही सच्चा सन्त है और वही सच्चा मानव है। सन्त तुलसीदास के इस कथन में एक बहुत गहरी सामाजिक भावना रही हुई है। व्यष्टिवादी मनुष्य की अपेक्षा समष्टिवादी व्यक्ति के जीवन की यही विशेषता है, कि वह अपने दु:ख में तो हिमालय की चट्टान के समान कठोर बन जाता है, परन्तु पर दु:ख में वह नवनीत के समान पिघल जाता है। संत तुलसीदास ने तो नवनीत (मक्खन) से भी बढ़ कर संत हृदय को बताया है। नवनीत केवल अपने को लगे ताप

से ही पिघलता है, दूसरों के ताप से नहीं। जबकि संत (सज्जन) अपने ताप से नहीं, दूसरों के ताप (दु:ख) से पिघलता है, कितना सुन्दर सत्य है—यह सामाजिक जीवन का। सामाजिक जीवन वह जीवन है, जो अपने में बद्ध रहकर भी समग्र में मिलने को व्यग्र हो उठता है।

आचार्य उमास्वाति और समाजवाद

जैन-परम्परा के महान् दार्शनिक और महान् विचारक आचार्य उमास्वाति ने स्वरचित तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में एक बड़ी ही विलक्षण और सुन्दर बात कही है—**'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'**। निश्चय ही सामाजिक जीवन का यह सर्वाधिक सबल एवं मजबूत आधार है। आचार्य उमास्वाति कहते हैं—चैतन्यमय जीवात्मा का लक्षण ही यह है, कि वह एक दूसरे के जीवन में एक दूसरे का सहयोग करे। प्रबुद्ध चेतना वाले मानव के लिए, तो यह मानवता का महान् सन्देश है, कि उसे एक दूसरे का सहयोगी होना ही चाहिये। यदि वह एक दूसरे के सुख-दु:ख में सहयोग, सहकार नहीं कर सकता, तो वह मानव कैसा? एक पशु में और एक मनुष्य में फिर भेद-रेखा ही क्या रहेगी? दो पशुओं को आप कितना भी समीप रक्खें, वे साथ रह कर भी, एक स्थान में स्थित होकर भी एक दूसरे के सुख-दु:ख में भागीदार नहीं हो सकते? किन्तु मनुष्य के जीवन की यह विशेषता है, कि वह दूर रह कर भी, भिन्न स्थान में रहकर भी, एक दूसरे के सुख-दु:ख में भागीदार बन सकता है। मनुष्य में यह सहयोग की भावना विशेष रूप में है। प्रस्तुत सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने इसी सामाजिक भावना का प्रतिबोध कराया है। माता-पिता का उपकार यदि पुत्र पर है, तो पुत्र का उपकार भी माता-पिता के ऊपर क्यों नहीं? बाल्यकाल की अबोध दशा में यदि माता-पिता शिशु का पालन-पोषण करते हैं, तो वृद्ध अवस्था में पुत्र भी अपने माता-पिता की सेवा करता ही है। मनुष्य का पारिवारिक और सामाजिक जीवन समग्रता की इसी भावना पर टिका हुआ है। यदि मानव अपने जीवन में एक-दूसरे का सहयोग नहीं करता, तो वह निश्चय ही एक भयंकर भेड़िया ही सिद्ध होता। तब न होते माता-पिता, न होते भाई-बहन, न होते पति-पत्नी। क्या स्थिति

होतो उस समय मानव जाति की ? क्या कभी विचार किया है आपने ? यदि इस प्रकार की सामाजिक भावना मानव में जागृत न की जाती, तो विश्व खण्ड-खण्ड हो जाता। राष्ट्र टुकड़े-टुकड़े हो जाते।

तीर्थ और तीर्थङ्कर

मनुष्य का जो यह व्यक्तिवादी एवं स्वार्थमय दृष्टिकोण है, वह बहुत ही खतरनाक है। व्यष्टिवाद मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है, वह व्यक्ति को अपने में ही कैद करके रख छोड़ता है। समष्टिवाद ही एकमात्र उत्थान का मार्ग हो सकता है। यही कारण है, कि जैन-परम्परा में संघ का स्थान ऊँचा माना गया है। व्यक्ति को प्रसंग आने पर समाज के लाभ के लिए अपने बड़े से बड़े स्वार्थों की बलि देनी पड़ेगी। एक बार पूछा गया था, कि व्यक्ति बड़ा है या संघ ? उत्तर स्पष्ट था, कि संघ बड़ा है। आचार्य और उपाध्याय के पद से ही नहीं, तीर्थंकर के पद से भी संघ का पद अधिक महान् और अधिक पूज्य है। जैन-परम्परा में तीर्थ की रचना करने वाले तीर्थंकर भी 'नमो तित्थस्स' कह कर संघ का सम्मान करते रहे हैं। तीर्थ तीर्थंकर से भी बड़ा है। क्योंकि जब तीर्थ होगा तभी तो तीर्थंकर होंगे। जब किसी के पुत्र हो तभी तो वह पिता बन सकता है ? प्राचीन ग्रन्थों में यहाँ तक कहा गया है, कि प्रत्येक साधु एवं साध्वी प्रतिक्रमण की समाप्ति पर यह घोषणा करें, कि मेरे पास जो कुछ भी भंडोप-करण हैं, वे मेरे अपने नहीं हैं, वे सब संघ के हैं। मेरी अपनी कोई सम्पत्ति नहीं, मेरी तो मात्र निश्राय है।

दशवैकालिक सूत्र, जो जैन-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण आचार ग्रन्थ है, उसमें कहा गया है, कि जब साधु भिक्षा लेकर उपाश्रय में आए तब वह अन्य साधुओं के समक्ष अपना भिक्षा-पात्र रखकर कहे कि—'साहू हुज्जामि तारिओ' 'आप मेरी इस भिक्षा में से कुछ अंश ग्रहण करके मुझे कृतार्थ करें।' एक स्थान पर यह भी कहा है—अपने पास के सब साथियों को निमंत्रित करके खाए, पीए, अकेला नहीं। जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसमें सभी को भागीदार समझे। यदि वह अकेला ही उसे खाता-पीता है, तो उसे भगवान् महावीर की भाषा में 'पाप-श्रमण' कहा जाता है। भगवान् महावीर

ने स्पष्ट घोषणा की थी, कि मेरे संघ में मोक्ष उसी को उपलब्ध होगा, जो संविभागी होगा।

जो असंविभागी है वह कभी मुक्त नहीं हो सकता—"असंविभागी नहु तस्स मोक्खो"। समष्टिवादो दृष्टिकोण जैन-परम्परा का एक विशिष्ट दृष्टिकाण माना जाता है, इसमें समर्पण की कितनी उज्ज्वल भावना है, हृदय की कितनी विशाल भावना है। इससे बढ़कर दूसरा क्या कोई समाजवाद हो सकता है ? निश्चय ही नहीं।

बौद्ध-परम्परा का समष्टिवाद

बौद्ध-परम्परा में भी व्यक्ति की अपेक्षा संघ को अधिक महत्त्व मिला है। बौद्ध-परम्परा का जो मूल मंत्र है, उसमें यह कहा जाता है—'संघं सरणं गच्छामि'—मैं संघ की शरण स्वीकार करता हूं। क्योंकि संघ, धर्म और धर्म उपदेष्टा बुद्ध से भी बढ़कर है। कहा जाता है—एक बार श्रावस्तो के राजा प्रसेनजित ने तथागत बुद्ध को अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र दान में अर्पित किए, तो बुद्ध ने कहा—राजन् ! जो कुछ तुम मुझे दे रहे हो, उसका कम मूल्य चाहते हो अथवा अधिक मूल्य ? राजा ने नतमस्तक होते हुए कहा कि भंते ! मैं तो वह व्यापारी हूँ, जो अपने माल का अधिक से अधिक मूल्य चाहता है। तब तथागत ने कहा, कि यदि तुम अपने दान का अधिक से अधिक लाभ चाहते हो, तो यह वस्त्र मुझे अर्पित न करके संघ को अर्पित कर दो। मैं समझता हूँ, कि व्यक्ति की महत्ता की अपेक्षा संघ की महत्ता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है ? कितनी विशाल एवं उदात्त समष्टिवादी भावना है तथागत के इस कथन में ? बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक प्रसंग उपलब्ध हो सकते हैं। जिनमें व्यक्ति की अपेक्षा संघ को अधिक महान् माना गया है।

बौद्ध-धर्म की महायान सम्प्रदाय में एक बड़ी अद्भुत बात कही गई है, कि मुझे निर्वाण की, परम सुख की, और परम समाधि की तब तक इच्छा नहीं है, जब तक कि संसार की प्रत्येक आत्मा का, संसार के प्रत्येक पीड़ित प्राणी का दुःख दूर न हो जाय, उसका कल्याण न हो जाय, उसका निर्वाण न हो जाय।

महायान सम्प्रदाय का यह कथन वस्तुतः समष्टिवादी दृष्टिकोण का एक ज्वलंत प्रमाण है। बौद्ध-परम्परा भी भारतीय-दर्शन की एक महान् परम्परा है। उसमें भी वैदिक एवं जैन-परम्परा के समान ही व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि को, व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक सम्मान और अधिक गौरव दिया गया है। वस्तुतः व्यक्ति के विकास का और उसकी प्रगति का मूल आधार ही समाज रहा है।

उपसंहार

मैं समझता हूँ, कि मेरे प्रेमी श्रोताओं ने मेरी उस भावना को भली-भाँति समझा होगा, जिसका प्रतिपादन और प्रवचन मैंने अभी किया है। भारतीय-धर्म, भारतीय-दर्शन और भारतीय-संस्कृति अपने मूल स्वरूप में व्यष्टिवादी नहीं, समष्टिवादी है, व्यक्तिवादी नहीं, समाजवादी है। इसके प्रमाण ईश्वर की वाणी वेदों में, महावीर की वाणी आगमों में और बुद्ध की वाणी पिटकों में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं।

आज के इस धर्मनिरपेक्ष भौतिक विज्ञानवादी युग में, जबकि मानव की चेतना अपने मानस के क्षुद्र स्वार्थमय घेरों में अवरुद्ध होती जा रही है, उपर्युक्त सामाजिक चेतना को प्रबुद्ध करने की बड़ी आवश्यकता है। वैदिक ऋषि के शब्दों में "संगच्छध्वं, संवदध्वं," के जयघोषों से जब तक हमारा जीवन गुंजरित नहीं होगा, तब तक हमारी समष्टि चेतना के द्वार अनावृत नहीं हो सकेंगे। हम सब मिलकर एक साथ चलें, एक साथ बोलें और एक साथ ही अपने कर्त्तव्यों को पूरा करें, यही हमारी सामाजिक भावना और सामाजिक चेतना होनी चाहिए।★

बहुत पहले कभी किसी मनीषी ने कहा था—'संघे शक्तिः कलौ युगे'—कलियुग में संघ में शक्ति है। और मैं उक्त उक्ति को संशोधन के साथ इस रूप में उपस्थित करता हूँ—'संघे शक्तिर् युगे-युगे'—युग-युग में अर्थात् हर युग में संघ में शक्ति है। कोई युग ऐसा नहीं, जबकि संघ में शक्ति न रही हो, न रहेगी।

—उपाध्याय अमरमुनि

★ उपाध्याय अमरमुनि

साधना का मूल : विवेक दृष्टि

विश्व में अनेक धर्म हैं। प्रत्येक धर्म साधना के विषय में अपने-अपने ढंग से प्रकाश डालता है। लेकिन साधना का स्वरूप क्या है? वह एक ही प्रकार की है, या अनेक प्रकार की? वह शाश्वत है या परिवर्तनशील? इन्हीं समस्याओं को सुलझाने में नाना प्रकार के भेद खड़े हो जाते हैं, साधना का मार्ग पेचीदा बना दिया जाता है। और इस प्रकार मानव की दुर्बलताओं को मिटाने के लिए जिस साधना का निर्माण होता है, वही मन को कलुषित बनाने का कारण बन जाती है। साधना के नाम पर अनेक प्रकार के अर्थहीन बेतुके द्वन्द्व पनपने लगते हैं। मेरी साधना सच्ची, अच्छी और पुरानी है, दूसरों की साधना झूठी, खराब और नयी है, इन बातों को लेकर आध्यात्मिकता के दावेदार कहलाने वाले तथाकथित गुरु भी परस्पर वाग्युद्ध करते हैं। कभी-कभी तो उन्हें साधना के मद का इतना अधिक नशा चढ़ जाता है कि वे गाली-गलौज, हाथापाई और दण्ड-प्रहार तक उतर आते हैं। साधना के नाम पर यह आत्मिक पतन नहीं तो क्या है? इसे साधना कहा जाता है, यही आश्चर्य है!

आखिर ये द्वन्द्व क्यों? :

जब सभी का लक्ष्य साधना के द्वारा आत्म-शुद्धि है, तब फिर ये द्वन्द्व क्यों उठ खड़े होते हैं? समस्त धर्मों के सामने आज यह सबसे बड़ा ज्वलन्त प्रश्न है। इसे यों ही कह कर टाला नहीं जा सकता। इस युग का शिक्षित-वर्ग इस प्रश्न के प्रति आंख-मिचौनी नहीं कर सकता। वास्तव में, यदि इस पर गहराई से विश्लेषण

किया जाय, तो साधना के बारे में व्यर्थ के द्वन्द्वों के मूल कारण ये हो सकते हैं—

१. परम्परा के प्रति अन्ध-श्रद्धा,

२. पूर्वाग्रहों की मजबूत पकड़,

३. लौकिक सुखों (यश, धन आदि) की कामना,

४. अविद्या, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से मन का घिर जाना।

ये और इस प्रकार के कई कारण हैं, जो साधना के बारे में द्वन्द्व, कलह, मनो-मालिन्य या आपा-धापी पैदा करते हैं। मनुष्य इन कारणों से घिर कर मन, वचन और काया तीनों को अपवित्र-अशुद्ध बना डालता है। जिसके मन, वाणी और काया अशुद्ध होंगे, उसकी साधना भी अशुद्ध ही होगी। मन, वचन और काया—ये तीनों साधना करने के लिए साधन हैं। इन अशुद्ध साधनों से साधना भी दूषित होगी, साधक भी और साध्य भी दूषित होगा। जब कोई अपनी साधना को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना डालता है, और उसके लिए वह दम्भ, दिखावा, छल, आडम्बर एवं प्रदर्शन करके अपनी साधना को ऊँची और स्वयं को पहुँचा हुआ साधक सिद्ध करना चाहता है, तब वह साधना साधना न रहकर प्रसाधना या दुराग्रह की स्थली बन जाती है।

शुद्ध साधना के लिए साधन शुद्धि जरूरी :

यही कारण है, कि साधना के अनुभवी आचार्यों ने शुद्ध साधना के लिए मन, वाणी और आचरण तीनों की शुद्धता बताई है :—

'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्,
वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूतां वदेद् वाचम्,
मनःपूतं समाचरेत्॥'

अर्थात्—"दृष्टि से भली-भांति मार्ग को छान कर अर्थात् देख-भाल कर कदम रखे, वस्त्र से छान कर शुद्ध जल पीए, शास्त्र से (व्याकरण व आचार से) छान कर धर्मसम्मत वाणी का प्रयोग करे और मन से छान कर, मनन के द्वारा अच्छी तरह मांज कर

योग्य कर्तव्य का आचरण करे।" इस छोटे से श्लोक में मन, वाणी और कर्म की शुद्धता का रहस्य एवं शुद्ध साधना का मूलमंत्र भर दिया है।

वास्तव में साधना ही वह है, जहाँ मन को अहंकार, काम, क्रोध, लोभ आदि से दूर रख कर चिन्तन किया जाय, वाणी को दम्भ, दिखावा, छल तथा कामोत्तेजक ग्रन्थों के प्रभाव से दूर रख कर धर्मप्रेरक शास्त्रों के अनुकूल बोला जाय, और शरीर को विकार-वर्द्धक चेष्टाओं से दूर रख कर ही प्रवृत्ति की जाय।

साधनशुद्धि का मूल दृष्टिशुद्धि :

साधनों में सबसे पहले जिसकी शुद्धि आवश्यक है, वह है दृष्टि-शुद्धि। दृष्टि का अर्थ सिर्फ आँखें ही नहीं, अपितु वस्तुस्थिति का व्यापक दर्शन है। हमारी दृष्टि—प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखने—विश्लेषण करने की एक वह विशिष्ट चिन्तनशक्ति है, जिसे सूक्ष्म बुद्धि भी कहा जा सकता है। यदि दृष्टि शुद्ध होगी तो वाणी और कर्म भी शुद्ध होंगे। परन्तु साधना के पीछे अगर दृष्टि ही स्पष्ट, व्यापक, उदार, धर्मपुनीत और विवेकमयी नहीं है, तो वाणी में भी वे ही विचार उतर कर आएँगे और कार्यों में भी उसी की झलक होगी। अशुद्ध दृष्टि अशुद्ध कार्य को जन्म देगी, अशुद्ध वाणी ही व्यक्त करेगी। दृष्टि के शुद्ध होने पर वाणी और कर्म स्वभावतः ही सत्य से कोसों दूर हो जायेंगे। इसीलिए सर्व-प्रथम दृष्टि शुद्धि पर जोर दिया गया है। कहा भी है—

'सततं मंथयितव्यं,
मनसा मन्थानभूतेन।'

अर्थात्—'मन से निरन्तर विचारों का मंथन करते रहो।' जैसे दूध एवं दही के निरन्तर मन्थन से मक्खन की प्राप्ति होती है, वैसे ही विचारों के सतत मन्थन से सम्यग्दर्शन रूपी नवनीत प्राप्त होता है, तथा अहंकार, अन्ध-श्रद्धा, यशोलिप्सा, लोभ, मोह एवं पूर्वाग्रहों की छाछ पृथक् हो जाती है।

इसीलिए आचरण से पूर्व दृष्टि का शुद्ध होना परम आवश्यक बताया गया है। जैन-दर्शन तो स्पष्ट कहता है, कि दर्शन-मोह पहले क्षीण होता है, तब कहीं चारित्र-मोह की क्षीणता आदि बाद

में होती है। जिसकी दृष्टि ही सम्यक् नहीं है, उसकी सृष्टि सम्यक् (सत्य) नहीं हो सकती। इसीलिए गौतम गणधर ने संसार को चेतावनी देते हुए कहा था—

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं'

अर्थात्—'धर्म तत्त्व की समीक्षा (निरीक्षण-परीक्षण) प्रज्ञा (सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि) से करे।'

जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, उसी का कर्म और वचन शुद्ध होता है। वह जो भी कार्य या प्रवृत्ति करता है, शुद्ध धर्म के छन्ने से छान कर करता है। इसीलिए भगवद्-गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की महिमा बताई गई है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग तीनों के लिए स्थितप्रज्ञा का होना अनिवार्य बताया गया है। इस प्रकार की बुद्धि को ही दृष्टि कहा गया है।

स्मृति और बुद्धि में अन्तर :

सामान्यतः पण्डितवर्ग में यह आम धारणा बन गई है, कि शास्त्रों और ग्रन्थों को अथवा परम्परागत धारणाओं को रट लेना, याद कर लेना और समय आने पर उन्हें ज्यों के त्यों सुना देना ही बुद्धि के कार्य की इतिश्री है। मगर गम्भीरता से सोचा जाय तो यह एक प्रकार की स्मृति या स्मरण शक्ति है। स्मृति और स्थिर बुद्धि में आकाश-पाताल का अन्तर है। स्मृति से तात्पर्य है—पिछली बातों को याद कर लेना, शास्त्रों आदि को रट कर दिमाग में ठूँस लेना। चाहे उसे उन शास्त्रों, शब्दों, श्लोकों के अर्थ और पूर्वापर सम्बन्ध का ज्ञान न हो, लेकिन जिसे ये शीघ्र याद हो जाएँ अथवा देर तक याद रहें, उसकी स्मृति अच्छी मानी जाती है। लेकिन यहाँ जिस बुद्धि से तात्पर्य है और दृष्टि के अर्थ में जिस बुद्धि का प्रयोग होता है, वह स्थिर बुद्धि है। उस बुद्धि का कार्य है—चिन्तन, मनन, और विश्लेषण करके सत्यार्थ का यथोचित निश्चय करना। अर्थात् पुराने लब्ध ज्ञान को नई परिस्थिति के अनुसार संयोजित करना। इसलिए इस बुद्धि का कार्य केवल रटना और याद करना व दिमाग में जमाए रखना ही नहीं है, अपितु तत्त्व का यथार्थ चिन्तन मनन और विश्लेषण करके

उसे वर्तमान जीवन के निर्माण की दिशा में उपयुक्त रूप देना है। भारतीय मनीषियों ने एक स्वर से इसे स्वीकार किया है—

'बुद्धेः फलं तत्त्वविचारणं च'

अर्थात्—'बुद्धि का फल तत्त्व का विचार करना है।' वर्तमान मनोविज्ञान-शास्त्र में बुद्धि के परीक्षण (Intellegence Test) के लिए अनेक विधियाँ प्रचलित हो चुकी हैं। किसी भी विद्यार्थी या बौद्धिक परीक्षार्थी के सामने किसी बिलकुल नई समस्या को रख कर देखा जाता है, कि वह अपने पूर्वानुभव से कैसे और कितनी शीघ्रता से, कितने अच्छे तरीके से नवीन परिस्थिति के साथ अपने प्राचीन अनुभवों का समायोजन करके किसी समस्या का हल ढूंढ लेता है, उसे उतना ही बुद्धिमान समझा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्र में स्मृति (Memory) को मन की याद करने और उसे धारण करके रखने की शक्ति बताया गया है। तथा उसके अनेक प्रकार भी बताए गये है। किसी को शीघ्र याद होता है, किसी को देर से। किसी की धारणा शक्ति तीव्र होती है, किसी की मन्द। कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त बुद्धि और स्मृति को एक समझना भयंकर भूल है, जो इस सम्बन्ध में अपना परिष्कार चाहती है।

प्राचीन शास्त्रों और आचार्यों ने जो नियम बनाये थे, वे उस देश, काल, पात्र और भाव को ध्यान में रख कर बनाए थे, उन्होंने वे नियम उस देश-काल आदि के साथ समायोजन करके बनाए थे। लेकिन देश, काल, पात्र और परिस्थितियों के बदल जाने पर भी उन नियमों और परम्पराओं को ज्यों के त्यों ढोए जाना, किसी भी प्रकार उचित नहीं होता। और न ऐसा करना प्रगति और लक्ष्य की सिद्धि में सहायक ही है, युगवाह्य नियम कुछ दूर चल कर विकासघातक एवं दंभवर्द्धक बन जाते हैं। कभी-कभी तो ये युगबाह्य रूढ़ियाँ और परम्पराएँ समाज के लिए भयंकर अभिशाप ही बन जाती हैं। परन्तु स्मृतिजीवी शास्त्रों की दुहाई देने वाले रूढ़िवादी लोग प्राचीनता का ढिंढोरा पीट कर उन पुरानी गली-सड़ी विकासरोधक परम्पराओं, रूढ़ मर्यादाओं एवं घातक नियमों की महिमा गाते रहते हैं। ऐसे लोग स्थिर बुद्धि नहीं कहे जा सकते। चाहे वे धर्म और नियमों या परम्पराओं के रक्षक होने

का कितना ही बढ़ा चढ़ा कर दावा करते हों। लेकिन यह भूल जाते हैं कि वे स्वयं ही अपने दिमाग में जड़ या विकृत युगबाह्य नियमों का भार ढोकर धर्म के सच्चे स्वरूप के भक्षक बन रहे हैं। ऐसे समय में स्थिरप्रज्ञ व्यक्ति ही पुरातन की नवीन परिस्थितियों के साथ संगति बिठा कर धर्म के सच्चे स्वरूप की रक्षा करते हैं।

इस सम्बन्ध में प्राचीन आगम का एक ज्वलन्त उदाहरण आपके सामने रख रहा हूँ। एक बार भगवान् महावीर स्वामी के पट्ट-शिष्य गणधर गौतम और भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशीस्वामी परस्पर मिले। अभिनन्दन और कुशलप्रश्न के पश्चात् केशीस्वामी ने इन्द्रभूति गौतम से पूछा "क्या आपके मन में कभी यह असमंजस नहीं होता कि भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर दोनों ही तीर्थंकर होते हुए भी उनकी साधना और चर्या में परस्पर भेद क्यों उत्पन्न हो गया?" इस पर गौतम गणधर ने उत्तर दिया कि "युग विशेष की परिस्थितियों के कारण ही उनमें छोटे-मोटे भेद हो गए, जो युग-धर्म के बदलते परिवेश में आवश्यक एवं उपयोगी थे, लेकिन मूल दर्शन में कोई भेद नहीं है।" गौतम गणधर का यह प्रज्ञामूलक समाधान वर्तमान युग के साधकों को चेतावनी दे रहा है। लेकिन आश्चर्य है, कि स्वयं को शास्त्रज्ञ और श्रुतधर मानने वाले तथाकथित शास्त्रवादी लोग इसे मानने और सुनने को तैयार नहीं। वे तो सिर्फ परम्पराओं की स्मृति को ही सब कुछ मान बैठे हैं, शान्त और तटस्थ चित्त से बुद्धि स्थिर करके कुछ भी युगसंगत, प्रगतिगामी चिन्तन करने को तैयार नहीं। मानो उनकी बुद्धि को इस विषय में पक्षाघात (लकवा) हो गया है।

स्मृति और बुद्धि का अन्तर समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है, ज्ञानवर्धक भी, साथ ही मनोरंजक भी।

एक बार एक अल्पबुद्धि जिज्ञासु ने किसी वैद्य के पास आकर सविनय निवेदन किया—"गुरुदेव! कोई ऐसा गुर बता दीजिए, जिससे मेरी जीविका सुख से चल सके और मैं आराम से रह सकूँ।" वैद्यराज ने उसे वैद्यक सिखाना शुरू किया। एक दिन वैद्यराज उसे साथ लेकर एक रोगी को देखने के लिए गए। निदान किया, औषध तजबीज की, और उपचार शुरू हो गया। एक दिन रोगी की तबी-यत बहुत ज्यादा खराब हो गयी। वह चारपाई पर पड़ा-पड़ा

कराह रहा था। वैद्यजी ने रोगी को इस बुरी हालत में देखा तो कहा—"तुमने अवश्य ही कोई-न-कोई कुपथ्य किया है।" रोगी ने अपना बचाव करते हुए कहा—"वैद्यजी ! मैंने कोई कुपथ्य नहीं किया।" वैद्यजी बोले—"तुम झूठ बोल रहे हो ! सच-सच बताओ, क्या तुमने मूली नहीं खाई ?" रोगी ने तुरंत स्वीकार कर लिया कि उसने मूली खाई थी। वैद्यजी ने उसे दूसरी दवा दी और चले आए। रास्ते में उस नये शिष्य ने पूछा—"गुरुजी ! आपको यह रहस्य कैसे मालूम हो गया कि रोगी ने मूली खाई थी ?" वैद्यजी ने कहा—"अरे पगले ! केवल वैद्यक के ग्रन्थों को पढ़ लेने से ही कोई वैद्य नहीं बन जाता। नामी वैद्य बनने के लिए रोगी के आसपास की परिस्थितियों का भी सूक्ष्म निरीक्षण करना पड़ता है। क्या तुमने नहीं देखा कि उसकी खाट के नीचे मूली के पत्ते पड़े हुए थे। ! उन्हें देख कर ही मैंने जान लिया कि रोगी ने मूली खाई है !" शिष्य ने वैद्यजी की बात गांठ बांध ली कि वैद्यक के साथ परिस्थिति का अध्ययन करना भी जरूरी होता है। कुछ अर्से के बाद उसने वैद्यजी से छुट्टी ले ली और एक गाँव में जा कर अपनी स्वतन्त्र वैद्यक की दूकान खोल ली। यह कहावत प्रसिद्ध है—'नीम हकीम खतरे जान'। वैद्य नौसिखिया था। उसे इलाज का कोई ज्यादा अनुभव नहीं था। अपनी बुद्धि से भी सोचने का माद्दा उसमें नहीं था। उसके गुरु ने उसे जो सूत्र बता दिया था, उसी पर चल रहा था। एक दिन वह एक बीमार को देखने गया। उसे कई दिनों तक नये वैद्य ने दवा तो दी, पर वह ठीक होने के बजाय ज्यादा बीमार होता जा रहा था। इस पर नये वैद्यजी उस रोगी के घर पर जाकर उसकी खाट के आसपास व नीचे बारीकी से देखने लगे। देख कर उसने रोगी से कहा—"तुमने अवश्य ही कोई कुपथ्य किया है नहीं तो मेरी दवा से अब तक अवश्य ठीक होगये होते।" बेचारे रोगी ने कसम खाकर कहा कि उसने कोई कुपथ्य नहीं किया है। लेकिन उस नीम हकीम ने झल्ला कर कहा—"झूठ, बिल्कुल झूठ बोल रहे हो तुम ! क्या तुमने एक समूचे ऊँट को नहीं खाया है ?" बात ऐसी थी कि रोगी की खाट के नीचे ऊँट की एक काठी रखी हुई थी; उसे देखकर अधकचरे वैद्य ने समझा कि—"रोगी ने समूचा ऊँट खाकर अवश्य ही कुपथ्य किया है !" वैद्य की बात सुन कर रोगी के सम्बन्धियों ने उसे धक्का दे कर बाहर निकाल दिया।

कितना बेहूदा चित्र है, अधकचरे वैद्य का। ठीक ऐसी ही हालत हमारे उन धर्म-धुरन्धरों की है, जो पुरानी बातों को रट कर दिमाग में ठूंस लेते हैं और भोलीभाली जनता के सामने ज्यों की त्यों उगल भी देते हैं, लेकिन अपनी बुद्धि स्थिर करके देश, काल, परिस्थिति और पात्रता का चिन्तन-मनन नहीं करते, युग के अनुसार पुरानी बातों का विश्लेषण करके नई परिस्थितियों के साथ उनका सुमेल नहीं बिठाते। इसीलिए उनकी साधना आगे चल कर ठप्प हो जाती है, उसमें दम्भ, दिखावा, वंचना और आडम्बर घुस जाते हैं। वे पुरानी परम्परा को भी ठीक तरह निभा नहीं पाते, केवल निभाने का दिखावा करते हैं और दूसरों की निगाहों में उत्कृष्ट बनने के लिए, झूठी प्रतिष्ठा पाने के लिए एवं अपनी साम्प्रदायिक गद्दी जमाए रखने के लिए हठपूर्वक चलते हैं। नयी परम्परा को अपनाने या पुरातन परम्परा में संशोधन करने का साहस नहीं करते। उनके मन में प्रायः प्रतिष्ठा चली जाने का भय, भक्तों के बिछुड़ जाने का खतरा घुसा हुआ होता है। क्या इसे सच्ची साधना कहा जा सकता है ?

इसीलिए तो मैंने कहा, कि सच्ची साधना के लिए पहले बुद्धि को शुद्ध, स्थिर और चिन्तनशील बनाया जाय, तभी दृष्टि स्पष्ट एवं पवित्र हो सकती है। और दृष्टि स्पष्ट हो गई तो आगे की सृष्टि स्वयं गतिशील हो जाती है। वाणी और आचरण की शुद्धता होने में फिर देर नहीं लगती।

★

बलं थामं च पेहाए सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निउंजए॥

—दशवैकालिक सूत्र

साधक अपनी शक्ति, अपने उत्साह, अपनी श्रद्धा, अपने स्वास्थ्य तथा क्षेत्र और काल का विवेकदृष्टि से सम्यक् विचार करके अपनी आत्मा को साधना में लगाए।

★ उपाध्याय अमरमुनि

अहिंसा और सत्य

पक्षी अनन्त गगन में ऊँची उड़ान भरता है। यदि पक्षी के दो पाँखें न हों तो उड़ने की शक्ति होने पर भी वह गगन में उड़ान नहीं भर सकता। मनुष्य भी अपने दो पाँखों के बल पर ही अपने जीवन-रूपी गगन में ऊँची उड़ान भर सकता है। आप जानते हैं मनुष्य की वे दो पाँखें क्या हैं—सत्य और अहिंसा। सत्य और अहिंसा के बल पर ही मनुष्य ऊँचा उठ सकता है, उसका जीवन महान् बन सकता है।

अहिंसा की पूर्णता करुणा में :

अहिंसा एक व्यापक और विराट तत्त्व है। किसी की हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है, यह तो अहिंसा का एक प्राथमिक निषेध रूप है। अहिंसा की धारा इतने में ही अवरुद्ध नहीं है। वह निषेध की भूमि पर विधि का रूप लेकर आगे बढ़ती है। और इस विधि में ही उसकी सार्थकता है। अतः अहिंसा तभी सच्ची अहिंसा होगी, जब किसी दुःखी को देख कर आपका अन्तःकरण करुणा से भर उठे। दया तभी सच्ची दया होगी, जबकि किसी के कष्ट को देख कर आपकी आंखों में अश्रु की धारा प्रवाहित हो जाय। जिसके हृदय में करुणा न हो, जिसके मन में दूसरों के प्रति सहानुभूति न हो, उस मनुष्य में और एक पशु में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। अहिंसा ही पशु और मनुष्य के मध्य में एक भेद-रेखा है, जिससे दोनों की पहचान होती है।

तप के मूल में करुणा :

आपने दुर्वासा ऋषि का नाम तो सुना ही होगा? वह एक महान् तपस्वी था, एक महान योगी था। उसकी तपस्या और योग-साधना से स्वर्ग का राजा इन्द्र भी भयभीत रहता था। तब क्या दुर्वासा ऋषि अहिंसक थे? क्या उनका तप और योग अहिंसक था? क्या ऋषि-मुनियों

का यही कर्त्तव्य होता है कि अपनी तपस्या के बल पर वे दूसरों को पीड़ित करें एवं भयभीत करें ? निश्चय ही नहीं, क्योंकि क्रोध स्वयं अपने आप में एक महती हिंसा है। आपने सुना होगा कि किस प्रकार निर्दोष शकुन्तला को दुर्वासा ने अभिशाप दे डाला था। गीता में कहा गया है कि जो स्वयं किसी से न भयभीत हो, और न जो दूसरे को भयभीत करे, वही व्यक्ति सच्चा अहिंसक है।

भगवान् महावीर की अहिंसा :

भगवान् महावीर की अहिंसा, वह अहिंसा, है—जो प्राणि-मात्र के प्रति दया, करुणा एवं क्षमा सिखाती है। संसार का कोई भी प्राणी दुःख की कामना नहीं करता। जिस प्रकार तुमको स्वयं मृत्यु की गोद में जाना अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार मृत्यु की गोद में जाना अन्य कोई प्राणी भी नहीं चाहता। जिस प्रकार तुम स्वयं अपना जीवन मुस्कान में व्यतीत करना चाहते हो, उसी प्रकार संसार का प्रत्येक प्राणी मुस्कान में ही अपनी जीवन-यात्रा चालू रखना चाहता है। किसी से वैर न रक्खो, किसी को कठोर वचन न बोलो, और किसी के विषय में अपने मन में अशुभ चिन्तन भी न करो। साथ ही पीड़ित जनों की पीड़ा को दूर करो, उन्हें उचित सहयोग एवं सहकार दो, अपने प्राप्त साधन उन्हें अर्पण करो। खुद हँसो, साथ ही दूसरे रोतों को भी हँसाओ। खुद जीओ, दूसरों को जिलाओ। यही अहिंसा है, यही करुणा है, और यही दया की वह पावन नदी है, जो दयाशील मानवों के जीवन की धरती पर सतत प्रवाहित रहती है।

स्वयं का उत्पीडन भी हिंसा है :

प्राचीन युग में कुछ साधक इस प्रकार की साधना किया करते थे, जिससे देह का दमन हो, और इन्द्रियों का उत्पीड़न हो, पर वस्तुतः यह धर्म की साधना नहीं थी। शरीर और इन्द्रिय ये तो साधन हैं। इनसे पाप भी किया जा सकता है और पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकता है। शरीर और इन्द्रियों की क्रियाओं में पुण्य-पाप नहीं रहते। वे रहते हैं मनुष्य के मन की सही और गलत वृत्तियों में। अतः इन्द्रिय और शरीर को मारना नहीं है, बल्कि उन्हें साधना है। जरा विचार तो कीजिए कि मानव का जो शरीर, इन्द्रिय और मन अनन्त पुण्य के उदय से प्राप्त हुए हैं, वे पाप-रूप कैसे हो सकते हैं ? जब अन्य प्राणी का पीड़न पाप है, तब स्वयं का उत्पीड़न भी पाप क्यों नहीं ? हिंसा क्यों नहीं ? जैन धर्म शरीर और इन्द्रिय के उद्देश्य-

हीन तपन को धर्म नहीं मानता, वह तो मन के तपन को, परिमार्जन को ही धर्म मानता है।

तप से सेवा महान है :

पुराण की एक कथा के अनुसार एक बार स्वर्ग लोक में एक आश्रम के वासी ऋषि मुनियों का देवत्व रूप में एक साथ जन्म हुआ। साथ ही उस आश्रम में रहने वाला एक अनपढ़ किन्तु सच्चे मन से दीन दुखियो की सेवा करने वाला एक सेवक भी मर कर वहीं देवता बना। नये आगन्तुक देवताओं के स्वागत सम्मान हेतु पहले के देवताओं ने एक विराट उत्सव का आयोजन किया। देवताओं ने तपस्वी ऋषि मुनियों को तो सादे स्वर्ण मुकुट भेंट किए किन्तु सेवक को रत्नजटित स्वर्ण मुकुट भेंट में दिया। इस पर तपस्वी ऋषि क्रुद्ध होकर कहने लगे कि "इस बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्ण मुकुट के अधिकारी तो हम थे, किन्तु आप लोगों ने वह हमें न देकर इस सेवक को कैसे दे दिया? क्योंकि यह तो कभी व्रत उपवास आदि कुछ करता ही नहीं था, हमारी भांति कठिन तपस्या इसने कहाँ की?" देवों ने ऋषि मुनियों से कहा—"आप तपस्या करते थे, यह सत्य है। यह व्यक्ति तपस्या तो नहीं करता था, पर दीन दुखियों की सेवा में तो सदा रत रहता था। जिस किसी को कष्ट में देखता, उसे यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करता। उसके जीवन का उद्देश्य निष्कामभाव से दूसरों को सेवा करना था। योग, ध्यान और तप करना आसान है, पर किसी की सेवा करना उतना आसान नहीं है। अत: सेवा अपने आप में एक बड़ा तप है, एक बड़ी साधना है। तपस्या की अपेक्षा भी सेवा बड़ी है।"

भगवान् महावीर ने भी सेवा को बड़ा महत्त्व दिया है। सेवा व्रती सबसे ऊँचा व्यक्ति माना जाता है। यहाँ तक कि सेवा और शुश्रूषा के आधार पर तीर्थंकर पद भी प्राप्त किया जा सकता है।[१] इसीलिए कहा गया है कि—

'सेवा धर्मः परम गहनो, योगिनामप्यगम्यः।'

सत्य भगवान है :

भगवान् महावीर ने सत्य का महत्त्व बहुत बड़ा बताया था। उन्होंने कहा था—**'सच्चं खु भगवं'**। सत्य ही भगवान् है। जो सत्य है वही

१—वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधई—उत्तराध्ययन

भगवान् है और जो भगवान् है वही सत्य है। लेकिन खेद है कि आज का मनुष्य उस सत्य स्वरूप भगवान् के साथ भी खिलवाड़ कर रहा है। सत्य की ओट में झूठ बोल कर अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगा है। कुछ सत्य के दीवाने इस प्रकार के भी मिलते हैं, जो यह नहीं देखते कि जिस सत्य को हम बोल रहे है, उससे स्वयं का, समाज का और राष्ट्र का हित होगा कि नहीं ? जो हित न साध सके वह सत्य कैसा ? सत्य वही है जो अपना और पराया दोनों का हित साधता है।

सत्य को सर्वमंगल होना चाहिए :

मुझे स्मरण है, एक सज्जन जो सत्य पर अत्यधिक बल देता था, सत्य बोलना उसके जीवन का उद्देश्य बन गया था। एक बार वह अपने पुत्र के साथ रेल में बैठकर कहीं जा रहा था। चलती गाड़ी में उसने अपने लड़के की ओर देखा तो उसे लगा कि यह तो गाड़ी में बैठने के लिए पूरा टिकट लेने के योग्य हो गया है, आज इसका प्रातः काल का जन्म दिन है, अतः प्रातः काल से यह आधे टिकट की काल सीमा को पार कर गया है। पर, मैंने इसका आधा ही टिकट ले रखा है, यह सरकार की चोरी है। चोरी ही नहीं, यह मेरे लिए असत्य भी है। यह पाप है, मुझे इस प्रकार नहीं करना चाहिए था। मैंने ऐसा किया ही क्यों ? उसने विचार किया कि मैं अभी इस लड़के का पूरा टिकट लेकर सरकार की चोरी से मुक्त हो सकता हूं। उसने जंजीर खींचकर चलती गाड़ी को एक निर्जन एवं विकट वन में रोक लिया, जहाँ दिन में भी चोर, डाकू और लुटेरे रहते थे। गाड़ी क्यों रुकी ? किसने रोकी ? सभी यात्रियों के मुख पर यही प्रश्न था। खोज-बीन करने पर पता लगा कि इस गाड़ी में एक सत्य पालक सज्जन अपने पुत्र के साथ यात्रा कर रहे हैं, उसी ने गाड़ी को रोका है। सभी लोग कहने लगे कि यह कैसा नासमझ व्यक्ति है ? यह कैसा सत्य-प्रेमी व्यक्ति है ? अपने सत्य-पालन के प्रदर्शन के लिए हम सभी को इसने संकट में डाल दिया है। सत्य बोलना, सत्य का पालन करना, और सत्य का प्रदर्शन करना, इसमें बड़ा अन्तर है ? मनुष्य का सत्य इस प्रकार का सत्य नहीं बन जाना चाहिए कि किसी के ऊपर संकट का पहाड़ टूट पड़े। जिस सत्य से हिंसा और वैर की ज्वाला फूट निकलती हो, वह सत्य कभी सत्य नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर ने साधकों को सम्बोधित करते हुए कहा था—कि तुम सत्य के उपासक हो, तुमको सर्वत्र सत्य की साधना करनी है, लेकिन कभी

इस प्रकार का सत्य मत बोलो, जिससे किसी की आत्मा को कष्ट पहुँच सकता हो। विचार कीजिए, कोई सत्य का साधक मार्ग में चला जा रहा हो, सामने से कोई शिकारी अपने शिकार का पीछा करता आ रहा हो। इस प्रकार की स्थिति में यदि वह शिकारी उस साधक से पूछता है कि क्या तुमने किसी पशु को इधर जाते देखा है ? यही स्थिति गुंडों द्वारा किसी सती-साध्वी का पीछा करने में है, और निरपराध यात्रियों को लूटने और उनका अपहरण करने में है। भगवान् महावीर कहते हैं—इस प्रकार की स्थिति में साधक को मौन रहना चाहिए। मौन रहने से समस्या का समाधान न होता हो तो दूसरे के प्राणों की रक्षा के लिए यदि असत्य भी बोला जाए तो वह मर्यादा में है।[1] तब वह असत्य भी सत्य ही है, असत्य नहीं। क्योंकि उससे अहिंसा की रक्षा होती है। जिस सत्य से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का हित न हो, वह सत्य भी असत्य ही है। आज सत्य के नाम पर कैसे-कैसे नाटक रचे जाते हैं, और क्या कुछ किया जाता है, यह सब कुछ होते हुए भी कुछ व्यक्ति अपने को सत्यवादी मान बैठते हैं। पर क्या कभी विचार किया कि ओघ संज्ञा से सत्य बोलना एक अलग बात है, और सत्य को ठीक तरह समझ-परख कर उसे जीवन में उतारना, एक अलग बात है। जब तक मन, वाणी और कर्म में सत्य की त्रिपथगा अवतरित न हो, तब तक जीवन पवित्र और पावन नहीं बन सकता। भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट ही कहा था कि—विचार के सत्य को वाणी में उतरने दो और और वाणी के सत्य को जीवन की धरती पर उतरने दो, तभी मानव-जीवन निर्दोष बन सकेगा।

अहिंसा और सत्य विश्व-व्यापी धर्म :

मैंने आपसे कहा था कि धर्म के दो ही मुख्य रूप हैं—अहिंसा और सत्य। ये दोनों निरपेक्ष नहीं हैं, बल्कि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। जहाँ अहिंसा होगी, वहाँ सत्य रहेगा ही। और जहाँ सत्य है, वहाँ अहिंसा भी रहेगी। सत्य और अहिंसा दोनों के समन्वय से ही मानव जीवन सरस, सुन्दर और मधुर बन सकता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अहिंसा और सत्य को मानव जीवन के उत्थान के लिए मुख्य कर्म माना है। विश्व व्यापी प्रेम अहिंसा का ही रूप है। और अनेकान्त वाद सत्य का ही स्वरूप है। अहिंसा और अनेकान्त ये दोनों ही सिद्धान्त जैन-संस्कृति के आधार भूत

---

१. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध

तत्त्व हैं। व्यवहार में अहिंसा की और आचार में अनेकान्त की, यदि मनुष्य अपने जीवन में यथार्थ रूप से साधना कर सके, तब निश्चय ही उसका जीवन शान्त, सुखमय और आनन्दमय बन सकता है।

उपनिषद् काल के ऋषियों ने भी अहिंसा और सत्य को धर्म के रूप में स्वीकार किया है। बौद्ध परम्परा में भी अहिंसा और सत्य को धर्म के रूप में मान्यता प्राप्त है। महर्षि मनु ने अपनी मनुस्मृति में दश धर्मों में अहिंसा, सत्य को स्वीकार किया है। श्रमण-परम्परा में भी दश प्रकार के यति धर्मों में अहिंसा, सत्य मुख्य रहे हैं। ईसाई धर्म परम्परा में ईसा ने जो पर्वत पर उपदेश दिया था, उसमें भी प्रेम और सत्य को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अहिंसा और सत्य विश्व व्यापी धर्म हैं।

★

- श्रीकान्त चौधरी के शब्दों में आलोचना गाली का परिष्कृत रूप है। अतीत में तो आलोचना एक साधना थी, जीवन का परिष्कार, जीवन की भूलों का परिमार्जन। परन्तु जब से वह अपने केन्द्र से हट कर निन्दा के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई है, तब से वह सचमुच ही गाली का परिष्कृत रूप हो गयी है। परिष्कृत क्या, कभी कभी तो वह गाली से भी बदतर हो जाती है। जब आलोचक आलोच्य व्यक्ति के प्रति आत्मीयता एवं निर्माणभावना-सुधार भावना खो देता है तो वह निन्दा हो जाती है, अमृत से विष हो जाती है।
- सच्चा धर्म मारना नहीं, बचाना सिखाता है।
- जब भी कोई धर्म या मजहब मानवता खो बैठता है, तो वह अपनी मौत आप ही मर जाता है।
- कर्तृत्व जब कम होता है, तो वक्तृत्व बढ़ने लगता है।
- समय रहते चेतना अच्छा है, बदलना अच्छा है। समय की ठोकर खाकर चेते तो क्या चेते, बदले तो क्या बदले।

★ उपाध्याय अमरमुनि

अपने पैरों पर

साधना काल की बात है। एक बार श्रमण भगवान् महावीर कर्मार ग्राम से कुछ दूर वन-प्रदेश के निकट संध्या-वेला में ध्यानस्थ खड़े थे। एक ग्वाला आया और ध्यानस्थ महावीर से बोला—"श्रमण! जरा देखते रहना, इधर मेरे बैल चर रहे हैं, मैं अभी लौट कर आया।" दीर्घ तपस्वी महावीर अपनी समाधि में लीन थे। वे किसके बैलों की फिकर करते?

ग्वाला लौट कर आया तो देखा कि बैल नहीं हैं। ध्यानस्थ महावीर से पूछा—"भिक्षु, बतलाओ मेरे बैल कहाँ हैं?"

श्रमण महावीर ध्यान में लीन थे। ग्वाले ने इधर-उधर देखा, पर, बैलों का कहीं अता-पता नहीं लगा। बात यह हुई कि वे चरते-चरते वन-प्रदेश में कहीं दूर निकल गए थे।

ग्वाला बैल नहीं मिलने से क्रुद्ध हो उठा। महावीर के पास आकर बोला—"धूर्त, तू श्रमण नहीं, चोर है। अभी तुझे चोरी का मजा चखा देता हूं।" यह कह कर ग्वाला मजबूत मोटी रस्सी से श्रमण महावीर को मारने लगा। वह इधर मार ही रहा था कि इतने में देवराज इन्द्र ने ग्वाले को ललकारते हुए कहा—"सावधान! तू जिसे चोर समझता है, वह राजा सिद्धार्थ के वर्चस्वी राजकुमार वर्धमान हैं। आत्म-साधना के लिए भिक्षुत्व के कठोर व्रत को धारण किया है इन्होंने। मूर्ख! प्रभु पर प्रहार कर रहा है?"

ग्वाले के हाथ पांव कांप उठे। उसने गिड़-गिड़ाते हुए अपने अपराध की क्षमा मांगी।

देवराज ने श्रमण महावीर से प्रार्थना की—"भन्ते! आपका सुदीर्घ साधना काल संकटों से आच्छन्न है। इतने अल्पकाल में ही कितने हृदय प्रकंपक उपद्रव, उपसर्ग, परीषह और संकट आए हैं, आगे तो भविष्य में और भी

अधिक आने वाले हैं। आज का मानव अज्ञान है, वहम का शिकार है। धर्म के नाम पर चल रहे दंभ ने सच्चे धर्म के प्रति भी उसकी निष्ठा क्षीण करदी है। अतः मैं आपकी सेवा में रहने की आज्ञा चाहता हूं।"

ग्वाले का विरोध और देवराज का अनुरोध–दोनों ही प्रसंगों पर महावीर मौन थे। परन्तु देवराज इन्द्र का आग्रह निरंतर आगे बढ़ने लगा तो उन्होंने मौन समाधि खोली, बोले—"देवराज! आत्म-साधक के जीवन में आज तक अतीत में यह कभी नहीं हुआ, और न भविष्य में कभी होगा, और न अब वर्तमान में ही यह हो सकता है कि आत्म शुद्धि एवं मुक्ति किसी दूसरे के बल पर, किसी दूसरे की सहायता से प्राप्त की जा सके। आत्म-साधक स्वयं के बल पर ही स्वयं का निर्माण करते हैं। वे परापेक्षी नहीं, स्वापेक्षी होते हैं। दूसरों का आश्रय वही चाहता है, जिसे अपने बल एवं शक्ति पर विश्वास न हो।"

प्रभु के उत्तर के सामने देवराज इन्द्र नतमस्तक हो गए।

★

- समय तुम्हें बदले या तुम समय को बदलो? समय तुम्हें बदले, इससे पहले ही तुम्हें समय को बदल देना चाहिए। 'मर्द वो हैं जो जमाने को बदल देते हैं।'
- आज का वर्तमान कल के भविष्य का निर्माता है।
- बच्चे का पूरा भविष्य उसके युगानुकूल शिक्षण पर निर्भर है।
- बच्चे आज नन्हे मुन्ने हैं तो क्या? इन्हीं के सबे हाथों में कल परिवार, समाज और देश की बागडोर आने वाली है।

★ डॉ० पुष्यमित्र जैन
एम० ए० पी० एच० डी०

वीर निर्वाण सम्वत्

वीर निर्वाण सम्वत के विषय में २५ सौवां निर्वाण महोत्सव बुलेटिन पढ़ने का अवसर मिला। इसमें विद्वान लेखक ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, कि भगवान महावीर ने विक्रम संवत आरंभ होने से ६०५ वर्ष पूर्व मोक्ष प्राप्त किया था। अतः इस समय वीर निर्वाण सम्वत २०२८+६०५—२६३३ है। शक सम्वत से ६०५ वर्ष पूर्व मोक्ष प्राप्त करने की मान्यता को उन्होंने गलत तथा दिगम्बर मान्यताओं के विरुद्ध बतलाया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के विद्वानों ने इस बात का उल्लेख किया है, कि भगवान महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष व्यतीत हो जाने पर विक्रम शक राजा हुआ। (श्री वीरनाथनिबृतेः सकाशात् पंचोत्तर षट्शत वर्षाणि ६०५ पंच मासत्युतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांक शक राजा जायते) जिन सेनाचार्य ने भी हरिवंश पुराण में वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष तथा पांच मास व्यतीत हो जाने पर शक राजा के होने का उल्लेख किया है। ६०५ वर्ष की राजत्व गणना निम्न प्रकार है—

(१) पालक का राज्य	....	१५०	वर्ष
(२) नन्दों ,, ,,	....	६०	,,
(३) मौर्यों ,, ,,	....	१६०	,,
(४) पुष्यमित्र	....	३५	,,
(५) बलमित्र भानुमित्र	....	६०	,,
(६) नभसेन	....	४०	,,
(७) गर्दभ भिल्ल	....	१००	,,

बुलेटिन के लेखक का कथन है, कि वीर निर्वाण सम्वत प्राचीनतम है। इसके पश्चात् विक्रम सम्वत आता है। प्राचीनता की दृष्टि से शक सम्वत का अन्तिम स्थान है। ६०५ वर्ष पश्चात् जिस विक्रम राजा का उल्लेख है, यह वही है जिसने विक्रम सम्वत को आरम्भ किया है। अतः वीर निर्वाण

सम्वत की गणना विक्रम सम्वत से ६०५ वर्ष पूर्व होनी चाहिए। इस कथन की पुष्टि में उन्होंने इतिहासकार, रे से साहब की शिलालेख पुस्तक का उल्लेख किया है, जिसकी प्रस्तावना में लिखा गया है, कि वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद विक्रमादित्य ने रुधिराधगिरी संवत्सर से अपना सम्बत प्रारम्भ किया है।

यहाँ यह बात विचारणीय है, कि जैन लेखकों ने विक्रम शक राजा का उल्लेख तो अवश्य किया है, परन्तु किसी ने भी उक्त राजा द्वारा किसी सम्बत को आरम्भ करने की चर्चा नहीं की है। रेसे साहब ने विक्रमादित्य द्वारा सम्वत आरम्भ करने का स्पष्ट उल्लेख किया है, परन्तु इसे विक्रम सम्वत मानने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। इतिहासकारों का मत है कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७५ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने शकों को पराजित करके उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। उस समय वहां पर मालव सम्वत प्रचलित था। इस विजय के उपलक्ष में इसका नाम विक्रम सम्वत हो गया।

मालव सम्वत के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कालकाचार्य ने वीर निर्वाण सम्वत ४५३ में शकों की सहायता से गर्दभ भिल्ल का नाश कराया। ४ वर्ष तक शकों ने उज्जयनी पर राज्य किया। तत्पचात् ८ वर्ष अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत ४ तक बलमित्र और भानुमित्र ने राज्य किया। इसके पश्चात् नभसेन का राज्य हुआ। इसके राज्याभिषेक के ५ वर्ष पश्चात् अर्थात वीर निर्वाण सम्वत ४७० में शकों ने पुनः उज्जयनी पर आक्रमण किया। परन्तु उन्हें बुरी तरह पराजित होना पड़ा। इस विजय के उपलक्ष में वीर निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् मालव सम्वत आरम्भ हुआ। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम चरण में शकों को पुनः पराजित करने से इसका नाम विक्रम सम्वत हो गया।

इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है, कि यदि वीर निर्वाण सम्वत की गणना विक्रम सम्बत के ६०५ वर्ष पूर्व से की जाती तो, जैनाचार्यों में यही सम्वत प्रिय होता और अपनी रचनाओं में वे इसका प्रयोग करते। परन्तु उन्होंने अधिकांशतः शक सम्वत का ही प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ वीरसेन ने धवला टीका शक ७३८, सर्वनन्दि ने लोकविभाग ग्रन्थ शक ३८०, श्रीधर ने न्यायकन्दली टीका शक ९१३, उदयन ने लक्षणावली शक ९०६, जिनसेन ने हरिवंशपुराण शक ७०५, जिनसेनाचार्य प्रथम ने वीरसेनीया टीका शक ७५९, सोमदेव ने यशरितलक शक ८८१, कुवलयमाला शक ७००,

राष्ट्रकूट नरेश का शक ६६२ का अभिलेख आदि इस बात के प्रतीक हैं कि जैन मनीषियों में शक सम्बत प्रिय रहा है। सम्भवत: इसका कारण यही हो कि इस सम्वत से वीर निर्वाण सम्वत की गणना की जाती है।

शक सम्बत के ६०५ वर्ष पूर्व १८६३ + ६०५—१६७१ = ५२७ ई० पूर्व से वीर निर्वाण सम्वत मानने में ऐतिहासिक तिथियों की संगति ठीक बैठती है। उदाहरणार्थ महावीर, बुद्ध, अजातशत्रु, श्रेणिक तथा चेटक ये सब समकालीन थे। अजातशत्रु राजा श्रेणिक का पुत्र था। बौद्ध गया अभिलेख के आधार पर यह बात प्रमाणित हो चुकी है, कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ था। उस समय अजातशत्रु को राज्य करते ८ वर्ष हुए थे। दीर्घ निकाय में लिखा है कि अमात्य ने अजातशत्रु से कहा "ये निग्रन्थ ज्ञात पुत्र आ गये हैं। इसमें महावीर को जो अद्धगत वयो लिखा है। इसका अर्थ है कि उस समय उनकी आयु ४५-५५ वर्ष के लगभग की होगी। यदि यह बात राज्याभिषेक के प्रथम वर्ष की है, तो महावीर का निर्वाण अजातशत्रु के राज्याभिषेक के २२-२५ वर्ष बाद ज्ञात होता है। अर्थात् बुद्ध निर्वाण के १७ वर्ष बाद।

गोशाल की मृत्यु के १६ वर्ष पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ। जिस समय महाकंटक युद्ध हुआ, उस समय गोशाल जीवित था। इसका अर्थ है, कि महावीर अजातशत्रु के राज्याभिषेक के पश्चात् १६ वर्ष से अधिक जीवित रहे। राजत्व गणना के आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर निर्वाण के २१० वर्ष पश्चात् अर्थात् आज से २४९८—२१० = २२८८ वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य की नींव डाली। इतिहास की दृष्टि से भी यह घटना ३२१ ई० पू० अर्थात् आज से १९७२ + ३२१ = २२६३ वर्ष पूर्व की है। इस प्रकार निर्वाण सम्वत तथा इतिहास की तिथियों में संगति प्रतीत होती है। ४-५ वर्ष का अन्तर कोई विशेष महत्व नहीं रखता है।

जैन पुराणों की अन्य मान्यताओं के अनुसार अजातशत्रु ने ४४ वर्ष, उदायी ने ३८ वर्ष तथा नन्दों ने १५० वर्ष तक राज्य किया। तत्पचात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध पर अधिकार करके मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। पहले कहा जा चुका है, कि महावीर को अजातशत्रु के राज्याभिषेक के २५वर्ष पश्चात् निर्वाण प्राप्त हुआ। अत: वीर निर्वाण के ४४—२५ + ३८ + १५० = २०७ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त ने मौर्य साम्राज्य की नींव डाली। यह समय २४६८—२०७—१९७२ = ३१९ ई० पूर्व आता है। और इतिहास

के अनुसार ३२१ ई० पूर्व चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक का समय है। इस दृष्टि से भी समय की संगति ठीक बैठती है।

विक्रम सम्वत से ६०५ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण मानने में इस समय यह सम्वत् ६२३ आता है, बुद्ध के निर्वाण को १६७२ + ५४४ = २५१६ वर्ष हुए हैं और उनकी आयु ८० वर्ष थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्ध के जन्म से २६३३—(२५१६ + ८०)—३७ वर्ष पूर्व ही महावीर का निर्वाण हो चुका था। अतः महावीर, बुद्ध, अजातशत्रु, श्रेणिक, चेटक आदि के समकालीन होने की संगति ही समाप्त हो जाती है।

अब तक किये गए शोध कार्य के अनुसार यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान महावीर का निर्वाण शक सम्बत से ६०५ वर्ष पूर्व हुआ था। विमल सूरि ने पउमचरियं की समाप्ति वीर निर्वाण सम्बत ५३० तथा रविषेणाचार्य ने पद्मचरित्र की समाप्ति वीर निर्वाण सम्बत १२०३ वर्ष ६ मास में की थी। और भी किसी आचार्य ने अपनी कृति में वीर निर्वाण सम्वत का प्रयोग किया है—यह हमारी जानकारी में नहीं है। इन दोनों पर शोध करने से सम्भव है कोई नया सूत्र मिल जाय। अतः हमारा निवेदन है, कि वीर निर्वाण सम्बन्धी गुत्थी को सुलझाने की दिशा में प्रयास तो बराबर जारी रखा जाय, परन्तु जब तक यह गुत्थी अन्तिम रूप से सुलझ न जाय, उस समय तक शक सम्बत से ६०५ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण मान लिया जाय। और इसी सम्बत का प्रयोग किया जाय। इसी में समाज का हित है।

● मिनी कविताओं का निर्माता तारादत्त निर्विरोध आज के नये आलोचकों के सम्बन्ध में कहता है :

नया आलोचक
एक मृत शिशु
जिसे आँखें मिली हैं, दृष्टि नहीं।

तीर्थंकर भगवान महावीर
के
२५०० वें निर्वाण महोत्सव का उद्देश्य एवं दृष्टि

तीर्थंकर भगवान श्री महावीर ने प्राणीमात्र को उसकी आत्मा की अनन्तशक्ति का बोध कराते हुए विषय वासनाओं एवं विकारों से मुक्त बनकर पवित्र जीवन बनाने की महान् प्रेरणा दी। उन्होंने जगत को कल्याणकारी स्वावलम्बन एवं पुरुषार्थ का उद्बोधन देते हुए जीने की वह कला सिखाई, जिसके द्वारा सामान्य आत्मा भी क्रमशः अपना विकास कर परमात्मा बन सकता है। अहिंसा, अनेकान्त, संयम और त्याग की जो दृष्टि जगत को महावीर ने दी है, वह अढ़ाई हजार वर्षों के बाद वर्तमान युग की अनेकानेक समस्याओं को सुलझाने में पूर्ण सहायक बन सकती है। महावीर का उपदेश देश, काल अथवा जाति-सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं था। उनकी दृष्टि विशाल थी।

ऐसे महान तीर्थंकर की २५ वीं निर्वाण शताब्दि के अवसर पर सारे संसार में उनके अमर उपदेशों एवं जीवन साधना की स्मृति श्रद्धा, कृतज्ञता एवं भक्तिभाव से होनी ही चाहिए और उसमें भी उनके भक्त-जनों द्वारा इस अवसर पर उत्साह, जागृति एवं उल्लास होना स्वाभाविक है। जैन समाज में इस महान् उपलक्ष के लिये अनेक योजनाएं, कार्यक्रम और चिन्तन चल रहा है। करोड़ों रुपयों की धनराशि एकत्र की जा रही है, जिससे महोत्सव सारे संसार में धूम-धाम से मनाया जाय और भगवान महावीर तथा जैन धर्म की प्रभावना बढ़े। इसके लिये जैन पत्र-पत्रिकाओं, सम्मेलनों एवं सभाओं में सुझावों, विचारों एवं योजनाओं की बाढ़ आ रही है। सभाएँ, जुलूस, स्वागत समारोह, भाषण मालाएँ, फिल्म-निर्माण, संस्थाओं की स्थापना, मन्दिर-निर्माण, साहित्य-प्रकाशन, विश्वविद्यालय, शोध-संस्थान, स्मारक, डाक-टिकिट एवं डांडिया-नृत्य आदि आयोजित करने तक के विविध सुझाव आ रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार

इच्छा और शक्ति के अनुसार उत्साह पूर्वक सुझाव प्रस्तुत कर रहे हैं और इन सुझावों की क्रियान्विति के लिए प्रयत्नशील भी हैं।

मुख्य प्रश्न यही है, कि भगवान् महावीर और जैन धर्म की इस प्रसंग पर अधिकाधिक प्रभावना हो। प्रभावना का हमारे यहां जो प्रचलित रूप है, वह सब जानते ही हैं। आचार्यों के पदार्पण अथवा धार्मिक उत्सवो पर प्रभावना की दृष्टि से हम स्वागत समारोह, भव्य जुलूस, भाषण, सह-धार्मिक-भोजन कराना अथवा नारियल, मिठाई, बतासे या अन्य सामग्री बांटकर हम प्रभावना करते हैं। हम यह नहीं कहना चाहते, कि ये कार्य प्रभावना की दृष्टि से उचित नहीं है। हमारा संकेत यही है, कि क्या केवल इतना मात्र करना ही, तीर्थंकर भगवान महावीर एवं जैनधर्म की प्रभावना जैसी होनी चाहिए वैसी सम्भव है ? यदि नहीं तो इनके अतिरिक्त अन्य कौन से मार्ग या कार्य हैं, जिनसे अधिक प्रभावना हो सकती है—सच्ची प्रभावना की जा सकती है।

हमारी नम्र राय में किसी महापुरूष के प्रति अपनी सच्ची भक्ति एवं श्रद्धा व्यक्त करने तथा उनकी स्मृति को अधिक तीव्र एवं ताजा बनाने के लिये दो मुख्य मार्ग हो सकते हैं—एक मार्ग है, उनके उपदेशों का बाह्य साधनों द्वारा प्रचार और दूसरा मार्ग है—तत्वों को जीवन में उतार कर जीवन एवं व्यवहार का उदाहरण प्रस्तुत करके प्रचार करना।

प्रचारात्मक साधनों का अपना विशेष महत्व है, किन्तु केवल प्रचार स्थायी नहीं होता, उसकी नींव रचनात्मक आधार पर हो, यह आवश्यक है। हम भगवान महावीर के जीवन एवं सिद्धान्तों की सभाओं, व्याख्यानों, संस्थाओं अथवा अन्य साधनों से चाहे जितनी व्याख्या क्यों न करें, वह हमारे लिए तब तक अधूरी हैं, जब तक हम स्वयं अपने जीवन में उन सिद्धान्तों को उतारने की दिशा में प्रयत्नशील न हों। यदि हमारे जीवन और आचार-व्यवहार में महावीर के सिद्धान्त मूर्त रूप ले लेते हैं, तो वह हजारों भाषणों एवं सेमिनारों से ज्यादा प्रभावशाली प्रचार होता है।

दुनियां के सभी महापुरुषों के अनुयायियों अथवा भक्तों ने अपने आराध्य की पूजा और प्रचार को ही भक्ति मान लिया है। क्योंकि यह मार्ग सरल और सस्ता है। लेकिन होना इसके विपरीत चाहिए था। भक्त की भक्ति तो आराध्य के बताये मार्ग पर चलने में है, न कि उनके बताये मार्ग से उल्टा चलते हुए केवल उनके सिद्धान्तों के गीत गाने में। इसमें सन्देह नहीं, कि त्याग, संयम और साधना का मार्ग उच्च एवं कठिन है, जिसे

अपनाने की भूमिका सभी प्राणियों की एक जैसी नहीं होती, अपनी-अपनी शक्ति और स्थिति की मजबूरियां हैं, लेकिन जिसकी जितनी योग्यता एवं शक्ति हो उतना प्रयास तो इस दिशा में करते हुए आगे बढ़ना ही चाहिए। ऐसे भी प्रसंग और उदाहरण सामने आते हैं, जब त्याग-धर्म का उपदेश देने के पहले उसकी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति पर ध्यान देना होता है। भगवान बुद्ध ने अपने सामने भूखे लोगों को उपदेश के लिए लाये जाने पर अपने शिष्यों को कहा था, कि पहले इन्हें भोजन दो, फिर उपदेश। इस दृष्टि को ध्यान में न रखा जाय तो धर्म सार्वभौम नहीं बन सकता।

हम अन्य धर्मों से जैनधर्म एवं उसके तीर्थंकरों को महान सिद्ध करते हैं। उनके तत्वों की गहराई एवं उच्चता अन्य दर्शनों से अधिक बताते हैं। यह सही है, लेकिन संसार के सामने प्रत्यक्ष रूप में इसे सिद्ध करने में हम अब तक सफल नहीं हुए। संसार में अहिंसा और प्रेम के उदाहरणों में बुद्ध, ईसा और गांधी का नाम ही बार-बार आता है। इस पर गहराई से चिन्तन कर हमें पुनर्विचार करना एवं आवश्यक सुधार करना आवश्यक है।

बौद्ध धर्म में तत्वों और सिद्धान्तों के प्रचार के साथ-साथ सेवा को स्थान दिया। उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया, जिसके फलस्वरूप अनेक देश बौद्ध धर्मावलम्बी बने। यद्यपि उन देशों में एक ही बौद्ध धर्म के कुछ भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं, लेकिन मूल उपदेश एवं सिद्धान्तों में अन्तर नहीं है। जो थोड़ी भिन्नता है, वह स्थानीय वातावरण, स्थिति एवं सुविधा-असुविधा के साथ बौद्ध धर्म का एकात्मक होना ही है। यदि ऐसी उदारता या सुविधा नहीं होती तो भारत का बौद्ध धर्म जापान, चीन, तिब्बत, बर्मा, मलाया आदि देश क्यों और कैसे अपनाते ? धर्म किसी देश-विशेष का होता भी तो नहीं है।

ईसाईयों के प्रचार की हम भले ही कितनी ही आलोचना करें, किन्तु उनकी सेवा की विशेषता को नकार नहीं सकते। घनघोर जंगलों, आदिवासियों, कोढ़ियों, दुःखियों एवं दीनों में अपना सारा जीवन समर्पित कर देने वाले पादरी वहाँ शिक्षा एवं सेवा के साथ ईसा के तत्वों का प्रचार करते हैं, वह प्रचार स्थायी बनता है। ईसाई मिशनरियों की शिक्षा-संस्थाओं का स्तर भी ऊँचा और अच्छा रहता है, कि वहाँ जैन समाज के कट्टर व्यक्ति भी अपने बच्चों को पढ़ने भेजने में गौरव अनुभव करते हैं। हमारे कथन का आशय यही है, कि ईसा की करुणा का शब्दों से उतना प्रचार नहीं हो पाता, जितना सेवा द्वारा पादरियों के जीवन-व्यवहार से हो रहा है।

भगवान महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दि के महोत्सव को हम आत्म-निरीक्षण एवं आत्म-चिन्तन का अवसर मानते हैं। हमें चिन्तन करना है, कि जैन धर्म को क्या हमें कुछ लाख लोगों तक ही सीमित रखना है अथवा उसे जैन धर्म के रूप में व्यापक, जग नारक धर्म बनाना है। भगवान महावीर विश्व-उद्धारक, विश्व-कल्याणकारी थे, तो उनके धर्म, उनके उपदेश को विश्व धर्म बनाने की क्या योजना है? क्या इसके लिए कुछ विशिष्ट धार्मिक आचारों का पालन, भक्ति, उपासना, पूजा, तपस्या अथवा व्यक्तिगत साधना ही पर्याप्त है या इससे आगे बढ़ने की भी जरूरत है।

हमारी विनम्र राय में तीर्थंकर भगवान महावीर के कल्याणकारी तत्वों एवं उपदेशों का सम्यक् प्रचार अपने जीवन के आचार एवं जनसेवा द्वारा ही करना अधिक उपयोगी लगता है। २५ वीं निर्वाण शताब्दि महोत्सव की विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों की नींव में ये दो मूल और मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। हमारा आचार सच्चे जैन का आचार हो और जनसेवा के कार्यों द्वारा हम महावीर की वाणी का प्रचार करें।

सेवा कार्य की योजना की दृष्टि के साथ-साथ साहित्य-निर्माण, सेमिनार, व्याख्यान, कला प्रदर्शनी, आयोजन, जुलूस आदि के कार्यक्रम हों तो दोनों पक्ष सबल हो जाते हैं। हमें यह तो ध्यान में रखना ही है, कि उत्साह के आवेश में हम इस प्रसंग पर जैसा तैसा कुछ भी कार्य करने में अर्थ और शक्ति बर्बाद न करें, क्योंकि जो कुछ भी किया जाय वह महावीर की गरिमा के अनुकूल होना चाहिए।

जैन समाज द्वारा आज भी उनकी संख्या के अनुपात में सेवा के अनेक कार्य होते हैं, किन्तु उसके पीछे योजना और व्यापक दृष्टि का अभाव रहता है। अधिकांश सेवा संस्थाएं व्यक्ति, गुरू, आचार्य अथवा सम्प्रदायों के नामों पर चलती हैं। हमारा लक्ष्य रहे कि निर्वाण महोत्सव तक अब जो भी नयी संस्था जैन समाज द्वारा बने उसमें भगवान् महावीर का नाम ही रहे।

हमने इन पंक्तियों द्वारा केवल चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट किया है, कि इस महान अवसर के पीछे उद्देश्य एवं दृष्टि क्या हो? यह तो समाज के मनीषियों, चिन्तकों एवं नेताओं का कार्य है, कि इस ओर सही दिशा-दर्शन करें। आशा है कि २५ वीं निर्वाण शताब्दि का महोत्सव मनाते समय आत्म-चिन्तन पूरक यह दृष्टि रहेगी, कि स्वयं के जीवन में जैनत्व का विकास किया जाय, एवं सेवा द्वारा उसका संसार में प्रचार एवं प्रसार करने की योजनाएं प्रारम्भ की जाएँ। —**रिषभदास रांका**

समाचार दर्शन

आदर्श पितृभक्ति : तीन लाख का दान

व्याख्यानवाचस्पति जैनभूषण पं० श्री विमल मुनि जी जैन समाज में जन-जागरण के महान् सन्देशवाहक हैं। आपके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य जनहित के क्षेत्र में हुए हैं। अभी अभी आपके उपदेशों से प्रभावित होकर भटिंडा जैन समाज के प्रधान सुश्रावक श्री कुन्दनलाल जी ने अपने तीनों पुत्रों को तीन लाख के दान की प्रेरणा दी, और तत्काल पितृभक्त श्री टेकचन्द्र जी आदि तीनों पुत्रों ने एक एक लाख का दान देकर पिता श्री की भावना को पूर्ण किया। उक्त दान से महिला पौषधशाला, कन्या-पाठशाला और धर्मशाला आदि का निर्माण किया जाएगा। श्री कुन्दनलाल जी और उनके तीनों ही योग्य सुपुत्र इसके लिए बधाई के पात्र हैं।

पद्मश्री मोहनमल जी चोरडिया का अभिनन्दन समारोह

अ० भा० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के अध्यक्ष श्री मोहनमल जी चोरडिया जैन समाज के सुप्रसिद्ध दानवीर सेवाभावी श्रावक हैं। आप श्री की जन-सेवाओं के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए २७ जनवरी १९७२ को गणतंत्र भारत के महामहिम राष्ट्रपति नें आपको 'पद्मश्री' की उपाधि से अलंकृत किया है। सन्मति ज्ञानपीठ और अमर भारती परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

दि० १२।२।७२ को धर्मप्रकाश में मैसूर के राज्यपाल श्री सुखाड़ियाजी एवं केन्द्रीय राज्यमंत्री श्री रामविलास जी मिर्धा के तत्वावधान में एक विराट् सम्मान सभा का आयोजन किया गया, जिसमें अनेक वक्ताओं ने सेठ साहब के आदर्श जीवन पर प्रकाश डाला, हार्दिक शुभकामनाएँ प्रकट की गईं।

इसी प्रकार गणेशबाई गेलड़ा जैन कन्या विद्यालय, राजस्थानी एसोशियेशन तमिलनाड, जैन मेडीकल रिलीफ सोसाइटी, राजस्थानी यूथ एसोशिएशन, फाइनेन्स एण्ड पान ब्रोकरर्स एसोशिएशन आदि विभिन्न संस्थाओं की ओर से भी अभिनंदन समारोहों का भव्य आयोजन किया गया।

दि० १३।२।७२ को जैन मेडीकल रिलीफ सोसाइटी के तत्वावधान में १४ वां डिसपेंसरी मोहन कुमारी जैन डिसपेंसरी, प्रदत्त श्री पूनमचन्द मांगी

लाल जी कटारिया का उद्घाटन, सेठ साहब की अध्यक्षता में, मद्रास के राज्यपाल श्री के०के० शाह ने किया। श्री शाह ने भी सेठ साहब की उदारता, सरलता, जन सेवा आदि गुणों की मुक्त कंठ से सराहना की।

उद्योग विचार गोष्ठी, गंगाशहर

अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् की ओर से, विगत २३ जनवरी को गंगाशहर (बीकानेर) में अणुव्रत अनुशास्ता युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में आयोजित 'मर्यादा महोत्सव' के बृहद् कार्यक्रम के अन्तर्गत, एक 'उद्योग विचार गोष्ठी' का आयोजन किया गया। जिसमें प्रतिभाशाली युवकों को उद्योग स्थापित करने एवं चलाने सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्रदान की गई। नेपाल, आसाम, बंगाल, मद्रास, मैसूर, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, राजस्थान व उत्तर भारत के प्रान्तों के अनेक विशिष्ट प्रतिनिधियों ने भाग लिया। गोष्ठी जीवन के यथार्थ धरातल का नया रूप लेकर सामने आयी है।

श्री कृष्ण जैन महिला कला केन्द्र

पूज्य गुरुदेव श्री कृष्णलाल जी महाराज की पुण्यस्मृति में स्थापित 'श्रीकृष्ण जैन महिला कलाकेन्द्र' नामक संस्था, रतलाम (म० प्र०) की संस्थाओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। एक छोटे-से बिन्दु रूप में चलाई गई यह संस्था आज एक विशाल स्वच्छ सरोवर है, जिससे सैकड़ों ही बहनें लाभ उठा रही हैं। इस समय केन्द्र में करीब ३०० छात्राएँ औद्योगिक शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। श्री सौभाग्यमल जी चतर, जो समाज के योग्य, दक्ष एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं, उनकी देख-रेख में संस्था प्रगति के पथ पर है।

संस्था का अपना भवन न होने से काफी कठिनाई थी, अतः स्वतन्त्र भवन का निर्माण भी हो रहा है। उदार दानदाता भाई एवं बहनो से प्रार्थना है कि संस्था को अधिक से अधिक आर्थिक सहायता प्रस्तुत पते पर प्रदान करें—सौभाग्यमल चतर, मंत्री, श्रीकृष्ण जैन महिला कला-केन्द्र चाँदनी चौक, रतलाम (म० प्र०)।

श्री जैन वृद्धाश्रम की स्थापना

रतलाम में श्री जैन वृद्धाश्रम की स्थापना, मानव-सेवा के क्षेत्र में एक सराहनीय कदम है। संस्था के अध्यक्ष श्री नाथूलाल सेठिया हैं, मन्त्री— श्री इन्दरमल कटारिया तथा खजांची श्री राजमल चोरड़िया। मन्त्री महोदय

की ओर से निवेदन है कि संस्था के पास कोई फण्ड नहीं है, जिससे वृद्धजनों की समुचित सेवा-व्यवस्था की जा सके। अतः सेवाप्रेमी सज्जन मुक्त मन से प्रस्तुत पते पर आर्थिक सहयोग प्रदान करें—श्री दलीचन्द नानालाल, चाँदनी चौक, रतलाम (म. प्र.)।

पूज्य प्रवर्तक श्री जी की पुण्य तिथि

दिल्ली सब्जी मण्डी कोल्हापुर रोड में २७ फरवरी को शान्त मुद्रा प्रवर्तक पं० श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज की चतुर्थ पुण्य तिथि बड़ी धूम-धाम से मनायी गयी, जिसमें उपस्थित मुनिवरों, साध्वियों एवं विद्वानों ने बड़े ही सारगर्भित एवं मार्मिक शब्दों में श्रद्धांजलि समर्पित की। प्रातः प्रभात फेरी, गीत, आकर्षक नाटक, पौपध-व्रत और आयम्बिल तपस्या आदि के अनेक सांस्कृतिक एवं धार्मिक आयोजन भी बहुत सुन्दर थे। ३०० के लगभग तपस्वी साधकों का पारना शुक्ल सेवक मण्डल सब्जी मण्डी की ओर से एस० एम० जैन मान्टेसरी स्कूल ३५–डी०, कमला नगर में कराया गया। दोपहर को प्रीति-भोज भी सम्पन्न हुआ।

जूनागढ़ के अग्रगण्य श्रावक स्वर्गारोही

श्री बाटविया कुरजी भाई कालिदास का २९-१२-७१ के दिन ८२ वर्ष की अवस्था में संथारा पूर्वक समाधि-मरण हो गया। सद्‌गत एक अतीव धर्मनिष्ठ, समाज सेवी एवं आगमसाहित्य के गंभीर अभ्यासी थे। जूनागढ़ की दशा श्रीमाली बोर्डिंग, पांजरापोल, गौशाला, आदि अनेक संस्थाओं के अध्यक्ष तथा मानद मंत्री रहे। सद्‌गत की दो पौत्रियों ने उन्हीं के धार्मिक संस्कारों के प्रभाव से भागवती दीक्षा ग्रहण की हैं। मृत्यु के बाद अपने चक्षुदान की भी सूचना कर गए थे। अन्तिम वर्षों में अर्ध-मागधी प्रचार समिति के उपाध्यक्ष पद पर रहते हुए विश्व-विद्यालयों में अर्धमागधी पाठ्य-क्रम चालू करने के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहे थे।

सन् ६२ में राजगृही में श्रद्धेय कवि श्री जी की सेवा में भी रहे थे, और ज्ञान चर्चा का लाभ उठाया था।

न्यायाधीश श्री मोदी जो का स्वर्गवास

न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ जी मोदी, १७ फरवरी, ७२ के दिन जोधपुर में आकस्मिक स्वर्गवासी हो गए। सद्‌गत एक गंभीर विचारक, सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता एवं समाज-सेवी थे। अनेक जन-कल्याणकारी जैन अजैन संस्थाओं से आप का सक्रिय सम्बन्ध था। सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल के तो आप

प्राण ही थे। श्री मोदी जी के स्वर्गवास से समाज की महती क्षति हुई है। दिवंगत आत्मा के लिए चिरशान्ति की कामना।

चक्षुदान यज्ञ—जोधपुर, बेलचंपा

मानव जीवन में अन्धता एक भयंकर अभिशाप है। धन्य हैं वे, जो इससे मुक्ति दिलाते हैं। चक्षु सेवा समिति ५६-६० मेहता मार्केट जोधपुर की ओर से तथा—अहिंसा निकेतन आश्रम बेल-चंपा (बिहार) में पं० श्री जयन्तमुनि जी की धर्म-प्रेरणा से श्री शान्ति टेक्सटाइल इण्डस्ट्रीज बम्बई की ओर से विगत फरवरी और मार्च के महीने में चक्षुदान के विराट् आयोजन सफलता के साथ सम्पन्न हुए। आयोजक धन्यवादार्ह हैं।

विश्व पुस्तक मेला-दिल्ली

राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि के द्वारा अन्तर्राष्ट्रिय विश्व-पुस्तक मेले का उद्घाटन बड़े समारोह से हुआ। उक्त पुस्तक मेले में लगभग ५० देशों के ५०० प्रकाशकों की १० हजार से भी ज्यादा चुनी हुई पुस्तकें रखी गयी हैं। अपने ढंग का यह एक ज्ञानवर्धक अद्भुत मेला है। भारतीय ज्ञान-पीठ के अधिकारी सज्जनों के आग्रह पर पूज्य उपाध्याय कवि श्री जी एवं सन्मति ज्ञान पीठ की अन्य पुस्तकें भी मेले में मँगायी गयी हैं।★

श्री अमर भारती

[प्रपत्र—४, नियम—२ के अनुसार]

प्रकाशक स्थान	लोहामंडी आगरा—२
प्रकाशन अवधि	मासिक
मुद्रक	श्री केशरीसिंह यादव अहीर पाड़ा, आगरा—२
नागरिकता	भारतीय
स्वामी	सन्मति ज्ञानपीठ लोहामंडी, आगरा—२
प्रकाशक	सोनाराम जैन लोहामंडी, आगरा—२
नागरिकता	भारतीय
सम्पादक	वीरेन्द्रकुमार सकलेचा, रामधन शर्मा
नागरिकता	भारतीय

मैं, सोनाराम जैन, यह प्रमाणित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी में सत्य एवं विश्वसनीय है। —ह० सोनाराम जैन

कुछ सूचनाएँ : ध्यान में रखिए

● सन्मति ज्ञान पीठ कार्यालय में बाहर से श्री कलाकुमार और ज्ञान भारती के सम्बन्ध में पत्र आते रहते हैं। उन पर से लगता है कुछ भ्रांतियां जनमानस में हैं, अतः स्पष्टीकरण आवश्यक है कि श्री कलाकुमार जी वर्तमान नये वर्ष (१९७२) से ही ज्ञान पीठ की सेवा से मुक्त हैं। अब उनका सन्मति ज्ञान पीठ और अमर भारती पत्रिका से कार्यकर्त्ता के रूप में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे अपना सर्वथा स्वतन्त्र कार्य करते हैं, जो भी करते हैं। उनके द्वारा प्रचारित ज्ञान भारती संस्था और इसी नाम की ज्ञान भारती पत्रिका से भी सन्मति ज्ञान-पीठ का कोई संबंध नहीं है। इसी प्रकार प्रचारक श्री प्रद्युम्नकुमार (अजमेर) से भी संस्था कोई सम्बन्ध नहीं रखती है। अतः उक्त सज्जनों द्वारा ज्ञानपीठ के सम्बन्ध से किये जाने वाले किसी भी प्रकार के लेन-देन आदि कार्यों का उत्तरदायित्व ज्ञानपीठ एवं अमर भारती पर नहीं है।

—कल्याणदास जैन
अध्यक्ष, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा।

● अमर भारती के लिए मनिआर्डर भेजते समय कुछ सज्जन अपना पूरा पता कूपन में लिखते नहीं हैं, और जो लिखते भी हैं, वह स्पष्ट नहीं होता। इस कारण समय पर अमर भारती भेजने में कठिनाई रहती है। अतः निवेदन है कि अपना पूरा पता साफ अक्षरों में लिखें। अच्छा हो, मनिआर्डर के साथ अलग से भी पत्र दें, जिस में पूरा पता साफ लिखने की कृपा करें।

● अमर भारती विचार पत्रिका है, समाचार पत्रिका नहीं, फिर भी हमारे प्रेमी समाचार भेजते हैं, तो हम प्रकाशित करते हैं। किन्तु समाचार सँक्षिप्त हों, साथ ही महत्वपूर्ण भी।

—व्यवस्थापक
ज्ञान पीठ, अमर भारती

वीरायतन : एक अमर कीर्तिस्तंभ

श्रमण भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी के पुनीत अवसर पर 'वीरायतन' के निर्माण के संकल्प का आह्वान समाज को देना, कविश्रीजी के प्रशस्त विचारों की एक सर्वोपरि उपलब्धि है।

वीरायतन भगवान् महावीर की पुण्य-स्मृति का एक अमर कीर्तिस्तंभ बनकर विश्व को सदा-सर्वदा शांति, प्रेम और अहिंसा का संदेश देता रहे, यह मेरे अन्तर्मन की मंगल-कामना है। नई दुनिया और नए समाज को वीरायतन के माध्यम से नव-चेतना प्राप्त होती रहे, यही शुभ भावना है। वीरायतन से महावीर की अमरवाणी का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार विश्व के दुःख एवं कष्टों के निवारण हेतु होता रहे, यही हार्दिक इच्छा है।

समाज सजग हो रहा है, यह भगवान् महावीर की निर्वाण-शताब्दी के पवित्र प्रसंग पर कुछ महान् कार्य करने का संकल्प लेकर उठ खड़ा है। वीरायतन उसी महान् कार्य का एक दिव्य-रूप है, अतः हमारे महान् संतों के आशीर्वाद की छाया में अब इस कल्पतरु के निर्माण होने में कोई संदेह नहीं है।

वीरायतन के माध्यम से वीरवाणी का नाद युग-युग तक गूंजता रहे, आज यही समाज के अन्तर मानस की एकमात्र ध्वनि है।

भगवान् महावीर का अमर संदेश, सदा-सर्वदा अजर-अमर हो !

वीरायतन का ज्योतिर्मय रूप सर्वत्र उजागर हो !

—लक्ष्मीराम पुंगलिया
७६, पुरुषोत्तमराय स्ट्रीट
कलकत्ता-७

अप्रैल '७२ दूरभाष : ६२११३ पंजीयन सं. एल. २०४३



लखनऊ (उत्तर प्रदेश) के सुप्रसिद्ध विचारक डाक्टर श्री उम्मेदमलजी मुणोत, तामिलनाडु के महामहिम राज्यपाल (गवर्नर) श्री के. के. शाह को 'श्री अमर भारती' भेंट कर रहे हैं। राज्यपाल महोदय ने 'श्री अमर भारती' को बहुत पसन्द किया है, साथ ही अपनी सद्भावना निम्न शब्दों में व्यक्त की है :

Raj Bhawan
Madras 22
29th January 1972

Message

Lord Mahavira prescribed five big vows for those desirous of beatitude-non-violence, truth, non-stealing, celibacy and non-possessiveness. Not to torture any creature by mind, speech and action and not to kill is non-violence. Not to tell lie in any situation whatsoever is truth. Not to indulge in any kind of theft is non-stealing. To consider all men end women of the world as one's brothers and sisters is celibacy. To whatever religion we may belong, these are cardinal virtues in daily life, social life and national life.

I do hope that Amar Bharti will propogate these ideas to the public and enlighten them on the path of righteousness in life.

K. K. Shah
Governor of Tamil Nadu

●

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

विजय-द्वार

जीवन सेज नहीं सुमनों की,
सो जाओ खर्राटे मार ।
जीवन है संग्राम निरंतर,
प्रतिपद कष्टों की भरमार ।।

✦

दृढ़ साहस के धनी कर्मरत,
जो रहते हरक्षण बेदार ।
वही पहुँचते हंसते-हंसते,
विजय-श्री के स्वर्णिम द्वार ।।

✦

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री
'साहित्यरत्न'

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०,
साहित्यरत्न, प्रभाकर

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन · एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष · इकतीस रुपये
तीन वर्ष · इक्कीस रुपये
वार्षिक · आठ रुपये
एक प्रति · पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ६ | मई ७२ | अंक ५

उपाध्याय अमर मुनि

अन्तर्नाद

देहदृष्ट्या हि देहाप्तिरात्माप्तिश्चात्मदृष्टितः ।
यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ॥२५॥

—देह-दृष्टि से देह प्राप्त होता है, और आत्म-दृष्टि से आत्मा । जिसकी जैसी भावना होती है, उस को वैसी ही सिद्धि अधिगत हो जाती है ।

मानव जीवन में क्या, प्राणि मात्र के जीवन में देह वासना एक बहुत बड़ी वासना है । साधारणतया प्राणी के प्रायः समग्र व्यवहारों का, आचार विचारों का केन्द्र एकमात्र देह ही रहता है । अतः वह अपने क्षुद्र देह के लिए सुख सुविधाएँ जुटाने में ही जीवन का बहुत कुछ अनमोल अंश खपा देता है । कभी-कभी तो इसके लिए वह निन्दित से निन्दित अनाचार एवं दुराचार तक पर उतर आता है । जीवन निर्माण के लिए कर्तव्य की उचित भूमिका निबाहने के जब भी कभी कोई प्रसंग आते हैं तो उन्हें ठुकरा देता है । और देह-दृष्टि से मिलता क्या है ? देह से देह ही मिलता है, बन्धन से बन्धन । देह-दृष्टि रखने वाला कैसे कोई अन्तरात्मा का दर्शन कर सकता है ।

देहे स्वरूपता दुःखं, सुखं स्वस्मिन् स्वरूपता ।
सुखं दुःखं निजाधीनं, यथेच्छसि तथा कुरु ॥२६॥

—देह में स्वरूपता का, निजता का भाव रखना दुःख है, और 'स्व' में, स्वरूपता का—अर्थात् अपनी आत्मा में निजत्व का भाव रखना सुख है । सुख और दुःख दोनों अपने ही अधीन हैं, अब जैसी इच्छा हो, वैसा करो ।

सुख दुःख क्या हैं ? जड़ देह में स्व-बुद्धि दुःख है और स्व में स्व-बुद्धि, अर्थात् आत्मा में आत्मबुद्धि सुख है, सच्चा सुख है । दूसरे के घर में नजर डालने वाला जानते हैं, कौन होता है ? चोर होता है या व्यभिचारी ।

ज्ञप्तिमात्रदशायां तु, नियता कर्मनिर्जरा ।
बन्धहेतुरयं रागो, ज्ञप्तिमात्रस्ततो भव ।।२७।।

—जब ज्ञप्तिमात्र स्थिति होती है, अर्थात् अन्तर् में मात्र ज्ञान चेतना होती है, तब कर्मों की निर्जरा-क्षीणता निश्चित ही होती है । बन्ध का हेतु एक मात्र यह रागभाव ही है । अतः साधक, तू मात्र ज्ञप्तिस्वरूप ही बन कर रह ।

जिसमें राग-द्वेष एवं सुख दुःख आदि के भोग-विकल्प न हों, वह चेतना मात्र ज्ञप्ति-स्वरूप होने के कारण ज्ञान चेतना कहलाती है ।

देहे स्थितोऽपि देहेन स्पृष्टो नाहं कथंचन ।
नानाकारो बहिश्चान्तर्निराकारो निरञ्जनः ।।२८।।

—मैं देह में स्थित हूँ, फिर भी किसी भी तरह देह से स्पृष्ट—अर्थात् बद्ध नहीं हूँ । बाहर का यह देह नाना रूपों का आकार लिए हुए है, किन्तु अन्दर में मैं आत्मा निरंजन हूँ, निराकार हूँ ।

आत्मा शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से निर्मल है, शुद्ध है, निराकार है । निराकार का अर्थ है—अरूप । जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श जैसा कोई भी पौद्गलिक गुण धर्म न हो, वह निराकार है, नीरूप है ।

अयःपिण्डस्थितो वह्निर् यथैवास्त्ययसः पृथक् !
देहस्थोपि न देहस्थस्तथैवात्मा ततः पृथक् ।।२९।।

—तप्त लौह पिण्ड में जैसे अग्नि वस्तुतः लोहे से पृथक् तत्त्व है, वह लौहस्वरूप नहीं है, उसी प्रकार मैं आत्मा देहस्थ होकर भी देहस्थ नहीं हूँ, देहस्वरूप नहीं हूँ, वस्तुतः जड़ देह से पृथक् शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ ।

तिलमध्ये यथा तैलं, क्षीरमध्ये यथा घृतम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धस्तथैवाहं शरीरके ।।३०।।

—तिल में जैसे तैल है, दूध में जैसे घृत है, फूल में जैसे गन्ध है, वैसे ही मैं आत्मा शरीर में हूँ ।

उदाहरण एक देशीय हैं, जो बहुत पुराने युग से अनेक आचार्यों द्वारा बताये गये हैं । इनका अर्थ इतना ही है कि जैसे दूध आदि में घृतादि सूक्ष्म एवं अदृश्य रहते हैं, वैसे ही शरीर में आत्मा भी सूक्ष्म एवं अदृश्य है । आध्यात्मिक साधक के द्वारा ही उसे दृष्ट एवं उपलब्ध किया जा सकता है ।

लोका मिलन्ति पृच्छन्ति, वासः कुत्रास्ति साधक: ?
निजात्मनि निजावासश्चोत्तरं ज्ञानिनो ध्रुवम् ।।३१।।

—लोग मिलते हैं, और पूछते हैं कि तुम्हारा निवास कहाँ है, तुम कहां रहते हो ? आत्मज्ञानी साधकों का निश्चित एवं शाश्वत उत्तर है कि मैं आत्मा हूं, अतः मेरा निवास मुझ आत्मा में है, अन्यत्र नहीं।

निश्चय और व्यवहार—दो दृष्टियां हैं। व्यवहार दृष्टि से भले ही कहा जाए कि मैं अमुक स्थान में रहता हूं, किन्तु निश्चय दृष्टि से तो आत्मा आत्मा में ही रहता है। हर साधक निश्चय दृष्टि से स्वयं को आत्मा ही मानता है, शरीर आदि अन्य कुछ नहीं।

तत्त्वतश्चित्स्वरूपे क्व मय्यचिद्राग-कल्पना।
निर्विकल्पस्थितौ सत्यां मुक्त एवास्मि सर्वथा ।।३२।।

—तत्त्वतः मैं चित्स्वरूप आत्मा हूं, अतः मुझ में चित्स्वरूप से भिन्न रागादि के विकल्प कैसे हो सकते हैं ? उक्त निर्विकल्परूप शुद्ध भाव की स्थिति होने पर मैं सर्वथा मुक्त ही हूं, बद्ध नहीं।

रागादि के विकल्प कर्मोदयजन्य हैं, स्वभावजन्य नहीं। अतः वे 'चित्' नहीं, 'अचित्' हैं। चित् और अचित् दो परस्पर विरुद्ध भाव एक केन्द्र में कैसे रह सकते हैं ? यह निर्विकल्प भाव ही आत्मा का शुद्ध निजस्वरूप है, और यही निश्चय दृष्टि से मुक्ति है। तत्त्वतः मुक्ति स्थान-विशेष नहीं, स्थितिविशेष है।

कोऽहं कुतः समायातो गमिष्यामि क्व साम्प्रतम्।
किं कार्यं किं करोमीदं तत्त्वं चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ।।३३।।

—"कौन हूं, कहाँ से आया हूं, और अब कहाँ जाऊंगा ? मेरा करने-जैसा क्या कर्तव्य है और मैं कर क्या रहा हूं ?"—हर साधक को बार-बार यह तत्त्वचिन्तन करना चाहिए।

आत्मा की दो स्थितियां हैं—संसार और मोक्ष। संसारदशा औपाधिक है, क्योंकि वह कर्मों के कारण है। और मोक्षदशा निरुपाधिक है, क्योंकि वह कर्मरहित शुद्ध निजभाव है, आत्मभाव है। दोनों स्थितियों का चिन्तन साधक को बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर ले जाता है। और वह अन्तर्मुखता की पूर्ण स्थिति ही मोक्षस्थिति है।

दृश्यं यत् तन्न चैतन्यं चैतन्यं तन्नैव दृग्गतम्।
तमःप्रकाशवत्ख्यातमनयोर्महदन्तरम् ।।३४।।

—जो यह बाहर में दृश्य है, वह चैतन्य नहीं है, और जो चैतन्य है वह दृश्य नहीं है, अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं है। उक्त दृश्य और अदृश्य का अन्तर अन्धकार और प्रकाश के समान महान् अन्तर है।

जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश एक-नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार शरीर आदि दृश्य और अदृश्य आत्मा एक नहीं हो सकते हैं, चूँकि वे एक हैं ही नहीं।

उपादेयो निजात्मैव, कर्मोपाधिविवर्जितः।
अन्ये सर्वे बहिर्भावा हेयाश्चान्तर्मुखैः सदा ॥३५॥

कर्मों की उपाधि से सर्वथा रहित शुद्ध निज आत्म भाव ही एकमात्र उपादेय है। निज आत्मभाव के अतिरिक्त अन्य सब भाव बहिर्भाव हैं, अतः ये अन्तर्मुख साधकों के द्वारा सदैव हेय हैं।

आत्मलीनता ही अन्तर्मुखता है। कर्मोपाधि से प्राप्त सुख-दुःख, यश-अपयश, हानि-लाभ और जीवन-मरण आदि सब बाह्यभाव हैं। इनमें उलझा रहने वाला साधक आत्मलीनता की स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है?

समग्रेऽपि भवाम्भोधौ, मदीयं नास्ति किञ्चन।
स्वात्मन्येव गतिः स्वस्य, स्वात्मन्येव च मत्स्थितिः ॥३६॥

—इस समग्र संसार सागर में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। एक मात्र मेरी आत्मा में ही मेरी गति है, और मेरी आत्मा में ही मेरी स्थिति है।

साधक की गति और स्थिति उसकी अपनी आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त मेरा-जैसा उसका और क्या है? व्यवहार दृष्टि में ही 'मैं' और 'मेरा' दोनों भिन्न हैं, किन्तु तत्त्व दृष्टि में 'मैं' और 'मेरा' दोनों का एक ही केन्द्र है—अर्थात् दोनों एक हैं।

यावद् विकल्पकान्तारस्तावत्संसार-यन्त्रणा।
निर्विकल्पस्थितौ सत्यां क्व भवः क्व च यन्त्रणा ॥३७॥

—जब तक यह विकल्पों का जंगल है, तब तक ही संसार की यंत्रणाएँ हैं। निर्विकल्प स्थिति होने पर संसार कहाँ और संसार की यंत्रणाएँ कहाँ?

वस्तुतः विकल्प ही संसार है। अतः सुख दुःख आदि की यंत्रणाएँ भी विकल्प के सिवा और कुछ नहीं हैं। निर्विकल्प भाव में न संसार रहता है, और न संसार की कोई यंत्रणा रहती है।

✶

★ उपाध्याय अमर मुनि

महाश्रमण तीर्थंकर महावीर की २५००वीं निर्वाण-जयन्ती

महा श्रमण तीर्थंकर भगवान् महावीर का २५०० वाँ निर्वाण जयन्ती-महोत्सव, हरएक प्रभु भक्त की भक्तिस्निग्ध आँखों के सामने, दीप्तिमान है। ज्यों-ज्यों महा पर्व के मंगल क्षण निकट आते जा रहे हैं, प्रभु भक्तों के अन्तर्मन में भक्ति, श्रद्धा और प्रेम का सागर उत्तरंगित होता जा रहा है। अपनी अपनी दृष्टि से प्रायः हर सम्प्रदाय और हर व्यक्ति अपनी श्रद्धा-सुमनांजलियां अर्पण करने की तैयारी में है। इस में जैन अजैन के भेद भी गौण हो रहे हैं। जैन तो हैं ही, किन्तु अजैन भी प्रभु पूजा में किसी भी तरह पीछे नहीं हैं। हर ओर योजनाएँ बन रही हैं, कार्य क्रमों की रूप रेखाएँ तैयार हो रही हैं। यह करना है, वह करना है, ऐसा करना है, और वैसा करना है—बहुत कुछ सोचा जा रहा है—वैयक्तिक स्तर पर भी और सामूहिक स्तर पर भी, साम्प्रदायिक स्तर पर भी और असाम्प्रदायिक स्तर पर भी। अब तो राष्ट्रीय और अन्तर् राष्ट्रीय स्तर पर भी सोच लिया गया है।

राष्ट्रीय समिति का निर्माण :

राष्ट्रीय समिति का निर्माण हो चुका है, जो समग्र भारत का राष्ट्रीय-स्तर पर प्रतिनिधित्व करती है। उक्त राष्ट्रीय समिति की अध्यक्ष हैं—प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी, और संरक्षक हैं—माननीय राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि। समिति में दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरा पंथी—जैन समाज की वर्तमान चारों ही प्रमुख शाखाओं के प्रतिनिधि हैं। साथ ही अनेक अजैन विद्वान् एवं नेता भी उक्त समिति के सदस्य हैं। यह होना भी चाहिए था। भगवान् महावीर किसी एक सम्प्रदायविशेष के नहीं हैं, वे केवल जैनों के भी नहीं हैं। वे तो प्राणिमात्र के हैं, अतः वे सब के हैं और सब उनके हैं। महावीर जैन नहीं है, उन्हें जैन कहना सर्वथा

गलत है। वे जैन नहीं हैं, जिन हैं। राग द्वेष का पूर्ण विजेता जिन होता है, और जिन का अनुसरण करने वाला रागद्वेष का अधूरा विजेता जैन होता है, फिर भले ही वह नाम से किसी भी संप्रदाय में हो, जाति में हो, देश में हो, या विदेश में हो। महावीर नेता थे, अनुगन्ता नहीं। अतः उन्हें जैन कहना ठीक नहीं है। इस दृष्टि से महावीर को साम्प्रदायिक परम्पराओं की घेरे बन्दी से बहुत ऊपर देखना चाहिए। उस असीम अनन्त ज्योति को संप्रदायों के सीमित दृष्टिकोणों में बन्द रखना, उस असीम को ससीम, उस अनन्त को सान्त बनाने की एक भयंकर मूर्खता ही होगी। यह बहुत अच्छा, बहुत ठीक ही हुआ कि महावीर निर्वाण शताब्दी की राष्ट्रीय समिति में अजैन कहे जाने वाले विद्वानों को भी सम्मिलित किया गया है। मेरी दृष्टि में तो उस महान् आत्मा के श्री चरणों में जो भी श्रद्धा सुमन अर्पण करना चाहते हैं, उन्हें जैन अजैन शब्दों से सम्बोधित करना ही कुछ अटपटा-सा बेतुका-सा लगता है। खैर, अभी भाषा बदलने में देर लगेगी। जो है, सो ठीक है।

स्वयं के कर्तव्य को न भूलें :

राष्ट्रीय समिति बन चुकी है। और इस पर जैन समाज ने काफी हर्षोल्लास एवं गौरव की अनुभूति की है। और यह कोई बुरी बात भी नहीं है। परन्तु एक बात है, जिस पर मुझे कुछ कहना है। राष्ट्रीय समिति बन जाने का यह अर्थ नहीं कि चलो, छुट्टी हुई। अब तो जो भी कुछ करना है, राष्ट्रीय समिति को करना है, अर्थात् प्रधान मन्त्री श्री इन्दिरा गान्धी और उनकी सरकार को करना है। अब क्या है, करोड़ों के नोट सरकार देने वाली है शताब्दी के लिए, और सँभाल लो, बस, अपनी-अपनी लम्बी-चौड़ी भिक्षा की झोलियाँ, मचादो शोर, कि यह लाओ, वह लाओ—इतना लाओ, उतना लाओ।

यह ठीक है कि सरकार करेगी, उसे करना ही चाहिए। कुछ करने और वह भी अच्छा-सा अच्छा करने में ही उसका गौरव है। इसके लिए हमें यथा प्रसंग भारत सरकार को प्रेरणा भी देनी है। परन्तु सरकार के द्वारा करने-कराने के चक्र में कहीं ऐसा न हो कि हम अपने कर्तव्य की दिशा से भटक जाएँ। पराश्रित मनो वृत्ति स्वयं के कर्त्तव्य की सब से बड़ी शत्रु है। कुछ कर गुजरने की तमन्ना रखने वालों को इससे बचना ही चाहिए। गति और प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक कर्तव्य की पूर्ति के लिए दूसरों को संबोधित करने से पहले हम अपने को संबोधित करें।

कार्य-विभाजन की अपेक्षा है :

निर्वाण शताब्दी से सम्बन्धित कई योजनाएँ आज कल प्रचारित हैं। भारत जैन महामण्डल की ओर से जैन इतिहास के प्रकाशन आदि की विराट योजनाएँ हैं। दिगम्बर जैन समाज भी कुछ महत्त्व पूर्ण योजनाएँ लेकर आगे आ रहा है। इधर वीरायतन योजना भी, अपनी बहुमुखी कर्म-धाराओं को लिए, प्रगति पर है। आचार्य श्री तुलसी जी की ओर से जैन विश्व भारती की व्यापक योजना भी मूर्त रूप ले रही है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज भी सुप्त नहीं है। वह भी प्रभु चरणों में अपनी उल्लेखनीय श्रद्धांजलि अर्पण करने के लिए कृतसंकल्प है। लगता है, सभी पक्ष कुछ करना चाहते हैं। परन्तु एक प्रश्न समाधान की तलाश में है। वह यह कि सभी योजनाओं में ताल मेल बैठाना चाहिए। ऐसा न हो कि उक्त योजनाओं के चक्र में सभी एक जैसा ही कार्य क्रम लेकर बैठ जाएँ, और इस में अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य क्रम उपेक्षित हो जाएँ। ऐसा पहले हो भी चुका है। अबकी बार भी यदि ऐसा ही हुआ तो समाज की सीमित कार्यशक्ति यों ही अर्थहीन हो जायगी।

प्रादेशिक मोह से ऊपर उठें :

एक बात और है। जैन समाज क्षेत्रीय मोह में उलझ जाता है। हर प्रान्त और क्षेत्र यही चाहता है कि जो भी हो, वह हमारे प्रान्त में हो, हमारे ही गाँव में हो। योजना का सीधा लाभ हमें ही मिले और वह हमारे ही प्रभुत्व में हो। यह क्षुद्र प्रादेशिक दृष्टि बहुत खतरनाक है। इस प्रकार तो सामूहिक रूप में उभरने वाली योजना, जो चिरजीवी, साथ ही समृद्ध हो सकती है, वह प्रादेशिक भावनाओं में बँट कर खण्ड-खण्ड हो जाएगी। फलतः वह क्षणजीवी, दरिद्र एवं पंगु रहेगी। मैं यह नहीं कहता कि स्थानीय कुछ न हो। मैं यह कहता हूँ कि स्थानीय भावना से ऊपर उठकर भी ऐसा कुछ होना चाहिए, जो सभी प्रान्तों, प्रदेशों एवं स्थानीय क्षेत्रों से ऊपर हो, जिसके लिए सभी को अपना समझने और कहने का गौरव हो। भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक स्थानों में भी, उनकी इस निर्वाण शताब्दी पर उनके उस महनीय चरित्र-गौरव के अनुरूप कुछ विशिष्ट योजनाओं को कार्यान्वित करना आवश्यक है। सर्व साधारण जनता के लाभार्थ वहाँ विशिष्ट केन्द्र स्थापित होने चाहिएँ। पहले से तृप्तों को भोजन देना, अजीर्ण को निमन्त्रण देना है। आवश्यकता है, जरूरत मन्दों के लिए कुछ करने की। वीरायतन योजना राज गृह में उसी आदर्श को लेकर रूपायित होने जा रही है। आशा करूँ, अन्य योजनाओं के यशस्वी आयोजक भी अमुक अंश में ऐसा ही कुछ सोच रहे हैं, या सोचेंगे। ●

प्रवचनकार :
राष्ट्रसंत कविरत्न
उपाध्याय अमरमुनि

आत्मानं विद्धि

भारतीय दर्शन व्यक्ति को बाहर से हटाकर अन्दर की ओर जाने की प्रेरणा करता है, जब कि पाश्चात्य दर्शन व्यक्ति को अन्दर से बाहर की ओर आने की बात कहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय दर्शन मूल में आध्यात्मवादी दर्शन है और पाश्चात्य दर्शन मूल में भौतिकवादी दर्शन रहा है। भारतीय दर्शन का कहना है कि प्रत्येक आत्मा को अपने में परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। यद्यपि भारत में दर्शन एक नहीं है उसकी अनेक शाखा और प्रशाखाएँ हैं। भारतीय दर्शनों का यदि वर्गीकरण किया जाय तो आपको ज्ञात होगा, उसकी दो ही धाराएँ हैं—वैदिक धारा और अवैदिक धारा। अवैदिक धारा में चार्वाक, जैन, और बौद्ध दर्शन आते हैं। वैदिक धारा में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शन आते हैं। तथापि इन दर्शनों का वर्गीकरण एक दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है—अध्यात्मवादी दर्शन और भौतिकवादी दर्शन। अध्यात्मवादी दर्शनों में वेदान्त, सांख्य और जैन दर्शन मुख्य हैं। भौतिक वादी दर्शनों में वैशेषिक दर्शन की मुख्यता है। परन्तु एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के शेष समस्त दर्शन आत्मा और परमात्मा की सत्ता को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। भक्तिवादी दर्शन इस विश्व में सर्वत्र परमात्मा की ही खोज करते हैं, जगत के कण-कण में उसी का प्रतिबिम्ब देखते हैं, जबकि कुछ दर्शन परमात्मा की खोज नहीं, स्वयं आत्मा की ही खोज करते हैं। आत्म-दर्शन को ही वे परमात्म-दर्शन मानते हैं, जैसे कि—वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन।

ये दोनों दर्शन इस बात में सहमत हैं कि आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन जाता है। दोनों में अन्तर यह है कि वेदान्त कहता है कि माया के हटने से जीव परमात्मा होता है और जैन दर्शन कहता है, कर्म के हटने से। एक जैन कवि ने कहा है—

'आत्मा परमात्मा में,
कर्म ही का भेद है।
कर्म को गर काट दो,
तो फिर भेद है, ना खेद है' ॥

अध्यात्म-दर्शन उसे कहा जाता है, जो अपने आप को पाने की प्रेरणा देता है, उसमें आत्मा से परमात्मा होने की बात कही जाती है। भगवान महावीर ने कहा था—'अप्पाणं जाणाहि'—अपने आपको जानो। अपने आपको जान लेने पर सभी भ्रम दूर हो जायेंगे। जिसने अपने को जान लिया, उसने सभी कुछ जान लिया। यदि कोई व्यक्ति अपने घर को छोड़कर दूसरों के घरों में इधर-उधर फिरता हो कि मेरा घर कहां है, तो उसे आप क्या समझेंगे? उसे आप पागल व्यक्ति ही समझेंगे। संसार में उससे बढ़ कर अन्य कोई अज्ञानी नहीं, जो अपने को नहीं जानता। अपने को जान लेना ही सच्चा ज्ञान है।

संस्कृत-साहित्य में एक शब्द आता है—'कुलटा।' कुलटा की व्याख्या है—'कुलं कुलं अटति इति कुलटा'। जो अपने घर को छोड़ कर दूसरों के घर में घूमती फिरती हो, उसे कुलटा कहा जाता है। सामान्य भाषा में उसे व्यभिचारिणी कहा जाता है। यह आत्मा भी आदि हीन युग से पर-पदार्थों में घूम रही है, पर पदार्थों को अपना समझती रही है, इसलिए वह भी कुलटा ही है। आत्मा जब अपने घर लौट आता है, अपने में ही स्थिर हो जाता है, तब उसे स्वस्थ कहा जाता है। भारत के विभिन्न धर्म-शास्त्रों में घुमा-फिरा कर बार-बार एक ही बात कही जाती है—'आत्मानं विद्धि'—अपने को समझो, अपने को जानो। सभी धर्म-शास्त्रों में यही एक बात कही गई है, चाहे उसे एक बार सुनें या बार-बार सुनें। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि से निर्णय नहीं करता, वह शास्त्र का अध्ययन भी कैसे कर सकता है—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा,
शास्त्रं तस्य करोति किम् ?
लोचनाभ्यां विहीनस्य,
दर्पणः किं करिष्यति ।।'

जिसकी स्वयं की बुद्धि किसी प्रकार का निर्णय नहीं ले सकती, उसे शास्त्र भी क्या शिक्षा दे सकते हैं ? जिसमें देखने की स्वयं की शक्ति न हो, जो अन्धा हो उसके सामने हजार दर्पण रख देने पर भी, वह अपने रूप को नहीं देख सकता। दूसरे का ज्ञान काम नहीं आता, जब तक स्वयं का ज्ञान स्वयं के पास न हो। इस सम्बन्ध में एक सुन्दर कहानी है, उसे मैं आपको सुना देना चाहता हूँ। कहानी इस प्रकार है—

एकबार एक हिन्दू राजा का किसी दूसरे यवन राजा के साथ युद्ध छिड़ गया, युद्ध में हजारों लोग मर रहे थे। यह देख कर राजकुमार से रहा नहीं गया, उसने अपने पिता से अनुमति मांगी कि इस व्यर्थ की हिंसा की अपेक्षा यदि मैं आक्रामक राजा को समझा दूं तो कितना सुन्दर हो। राजकुमार के जाने से पूर्व उसके पिता ने उसे अनेक प्रकार से समझाया, कहा कि यदि वह ऐसा कहे तो तुम ऐसा कहना, वैसा कहना। राजकुमार ने सोचा, यदि विपक्ष के राजा ने इनमें से एक भी बात मुझसे नहीं पूछी तो मैं क्या करूँगा ? अतः उसने कहा कि "पिता जी ! यदि उसने मुझसे इससे भिन्न ही कोई बात पूछ ली, तब मैं क्या उत्तर दूं ?" पिता ने मुस्कराकर कहा—' तब तू अपनी बुद्धि से काम लेना। उस समय जैसी स्फुरणा हो, वैसा करना।" राजकुमार ने मुस्कराकर बड़े ही विनम्र शब्दों में कहा—' तब तो आपकी यह सब शिक्षा ही अर्थहीन है। अन्त में, जब मुझे अपनी ही बुद्धि से काम लेना है, फिर इस तोता-रटन्त की आवश्यकता ही क्या ?"

राजकुमार अपनी यात्रा पर चल पड़ा। विपक्ष के राजा के पास जा पहुँचा। यवन राजा को मालूम हो गया था कि यह मेरे विरोधी हिन्दू राजा का राजकुमार है। किन्तु राजकुमार की विनम्रता और प्रसन्न मुद्रा देख कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने प्रेम से राजकुमार के दोनों हाथ पकड़ लिए और हँसकर बोला—"बेटा ! बोलो, अब मैं तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार करूँ ? यह तो तुम जानते हो

हो कि तुम मेरे शत्रु के पुत्र हो।" राजकुमार बड़ा चतुर था, उसने बड़ा ही शानदार उत्तर दिया—"जहांपनाह ! भारतीय संस्कृति का एक नियम है कि जब किसी लड़के लड़की की शादी होती है, तब हथलेवा की, हाथ पकड़ने की एक रीति होती है। यद्यपि यह एक प्रकार की प्रथा है, तथापि इसमें जीवन का एक बड़ा रहस्य है हाथ पकड़ना इस बात का प्रतीक माना जाता है, कि वे दोनों जीवन भर एक दूसरे के प्रेमी रहेंगे। अब आप स्वयं ही विचार कीजिए कि आपके यहाँ इस बाबत में क्या है ? आप अपनी परम्परा के अनुसार मेरे साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं ? आपने मेरा एक हाथ नहीं, दोनों हाथ पकड़े हैं। इसका अर्थ यह है कि आप पर द्विगुणित दायित्व आ गया है।" राजकुमार की चातुर्य भरी इस वाणी को सुनकर बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ और फिर उसने केवल युद्ध ही बन्द नहीं किया, बल्कि पक्ष और विपक्ष के दोनों राजा जीवन भर के लिए एक दूसरे के घनिष्ठ प्रेमी बन गए।

मैं आपसे पूछना चाहता हूं, इस प्रसंग पर किसकी बुद्धि ने काम किया ? पिता की बुद्धि ने अथवा पुत्र की स्वयं की अपनी बुद्धि ने ? गुरु और शास्त्र कितने भी शिक्षा दें और कैसा भी निर्णय दें, लेकिन अन्त में साधक को अपने जीवन का निर्णय अपनी बुद्धि से ही करना होगा। गुरु और शास्त्र तो एकमात्र संकेत हैं। वे मार्ग बता सकते हैं, लेकिन मार्ग पर चला नहीं सकते। चलना हमें स्वयं को ही होगा। स्वयं का निर्णय ही स्वयं के काम आ सकेगा। यह बात अलग है कि जब तक हम में स्वयं का निर्णय लेने की क्षमता न आ जाय, तब तक हमें शास्त्र और गुरु दोनों को पकड़े रखना आवश्यक है।

आज का मनुष्य अपने आपको भूलकर पर के निर्णय पर और पर की बुद्धि पर चलता है। यही कारण है कि उसे अपनी समस्या का समाधान आज अपने में नहीं मिल रहा है। खोज तो आज की जाती है, पर वह खोज बाहर की है। मैं देखता हूँ कि घर-घर में और व्यक्ति-व्यक्ति में राग और द्वेष की आग जल रही है, उसे शांत करने का कोई उपाय नहीं है। मन्दिर, मस्जिद और गिरजा, सर्वत्र राग और द्वेष की आग जलती नजर आ रही है। फिर शान्ति मिले तो कैसे मिले ?

जैन-दर्शन का अभिप्राय सदा मनुष्य को पर से हटाकर स्वयं में एकाग्र करने का और स्थिर करने का रहा है। वह कहता है कि तुमको जो कुछ भी खोजना हो, उसे अपने में खोजो और अपने में पाओ। अपने ईश्वर को अपने में ही प्राप्त करो। ईश्वरत्व की उपलब्धि के लिए किसी भी देवी-देवता के सामने झुकने की अथवा उनके पीछे भागने की आवश्यकता नहीं है। तुम स्वयं ही ईश्वर हो।

एक व्यक्ति की भांग पीने की बड़ी लत थी। एक दिन उसने भांग पीकर, कोई ले न जाय—इस दृष्टि से भांग घोटने की कुंडी और सोटे को अपने पैरों में बांध लिया और सो गया। थोड़ी देर बाद वहाँ एक दूसरा व्यक्ति आया और उसने उसके पैरों में से खोल कर अपने पैर में बाँध लिया। जब आंख खुली तो पहले व्यक्ति ने सोचा—यह क्या ? मैं वह हूं अथवा वह मैं हूं ? बहुत सोचा-बिचारा, पर कुछ निर्णय न कर सका। उसका भ्रम दूर नहीं हो सका। वह दूसरे को ही स्वयं मैं मानता रहा, उसकी दृष्टि में अपनी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं थी। कुंडी सोटे से ही अपनी पहचान कर रहा था। यही स्थिति आज इस जगत की हो रही है। यह भ्रम तभी मिटेगा, जब व्यक्ति को स्वयं का ज्ञान हो जायगा, स्वयं अपने को अपने से समझ लेगा।

*

- क्या और क्या नहीं के चक्कर में अधिक मत उलझे रहिए। एकबार काम शुरू कर दीजिए, फिर बहुत-सी बातें अपने आप अनुभव से आती जाएंगी। अनुभव मनुष्य का सबसे बड़ा पथ-प्रदर्शक है।
- प्रगतिशीलता एवं परिवर्तन से विमुख रहना जडता है।
- जीवन में समय से अधिक मूल्यवान कोई चीज है ? नहीं है—नहीं है—नहीं है।

प्रवचनकार :
राष्ट्रसंत, उपाध्याय कविरत्न
श्री अमर मुनि

जीवन का आधार : धर्म

धर्म जीवन की शक्ति है। धर्म अध्यात्मजीवन का एकमात्र आधार रहा है। अत: धर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है और बहुत कुछ लिखा गया है। पर धर्म की सरिता को शब्दों के बाँध से बांधा नहीं जा सकता। वास्तविकता यह है कि धर्म एक विराट तत्त्व है, जिसे किसी शब्दावली से परिभाषित नहीं किया जा सकता। किसी तत्त्व को समझने के लिए उसका लक्षण अवश्य आवश्यक है, पर उसे शब्दों में आबद्ध करना कठिन ही नहीं, अतिकठिन है। भगवान् महावीर से जब यह प्रश्न पूछा गया कि आप धर्म किसे कहते हैं? तब उन्होंने बहुत ही सीमित भाषा में धर्म का अनुभव-सिद्ध स्वरूप बतलाते हुए कहा था—'अहिंसा, संयम और तप'। धर्म के ये तीन भेद नहीं हैं, किन्तु धर्म की अभिव्यक्ति के ये तीन प्रकार हैं। अहिंसा को जीवित रखने के लिए संयम आवश्यक है, संयम को विशुद्ध बनाने के लिए तप आवश्यक है। धर्म की यात्रा अहिंसा से प्रारंभ होती है और तप पर पहुंच कर वह परिसमाप्त हो जाती है। भगवान् महावीर ने कहा था—जिस व्यक्ति के अन्तर्मानस में विश्व प्रेम हो, दुर्वृत्तियों का नियंत्रण हो, और इच्छाओं का निरोध हो, उस व्यक्ति के चरणों में देव-शक्ति नत-मस्तक हो जाती है। भगवान् के इस कथन से ज्ञात होता है कि धर्म जीवन की एक शक्ति है, जीवन का एक बल है, जीवन की समस्त क्रियाओं का केन्द्र है।

धर्म कहाँ रहता है? यह प्रश्न बड़ा ही विचित्र है। धर्म कोई भौतिक तत्त्व नहीं है, जिसे किसी स्थान पर रखा जा सके। वह तो

जीवन के कण-कण में है। धर्म न शरीर में है, न शरीर की किसी क्रिया में है। धर्म का वास वाणी में भी नहीं है, मन में भी धर्म को नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ये सब पुद्गल की रचनाएँ हैं। धर्म के साथ पुद्गल का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि द्रव्य मन भी पुद्गल की ही एक रचनाविशेष है। इस लिए कहा गया कि—जो कुछ भी अनन्त जीवन का विशिष्ट बोध है, वही धर्म है। आगे चलकर धर्म के सम्बन्ध में जब अधिक जिज्ञासा बलवती हुई, तब धर्म के सम्बन्ध में फिर से विचार प्रारम्भ हुआ।

आचार्य कुन्द कुन्द ने धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह अपने आप में इतना स्पष्ट और विशाल था कि आज तक भी हम उससे अधिक सुन्दर धर्म की व्याख्या नहीं कर पाए। अध्यात्मवादी आचार्य कुन्द कुन्द ने कहा था—'प्रत्येक वस्तु का अपना जो स्वभाव है, वही उसका धर्म है।" जब स्वभाव को धर्म मान लिया गया, तब सभी समस्याओं का स्वतः समाधान हो गया। सब कुछ दूर किया जा सकता है, किन्तु स्वभाव को कभी दूर नहीं किया जा सकता। और जिसे कभी दूर न किया जा सके, वही स्वभाव है और वही धर्म है। आत्मा का आत्मा में रहना ही धर्म है। शरीर जड़ है, इन्द्रिय जड़ है, और द्रव्य मन भी जड़ है, इसलिए यह तीनों ही धर्म के आवास और केन्द्र नहीं हो सकते। धर्म के प्रकाश का मूल केन्द्र आत्मा ही हो सकता है। धर्म वह शक्ति है, जो पतित होते हुए जीवन को ऊपर उठा सके जहाँ पर क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकार हों, वहाँ धर्म टिक ही नहीं सकता। पाप तो धर्म हो ही नहीं सकता, किन्तु पुण्य को भी धर्म मानना एक बड़ी भूल है। पुण्य और पाप दोनों ही स्थितियों में आत्मा का पतन है। जब अशुभ धर्म नहीं हो सकता, तब शुभ भी धर्म कैसे हो सकता है? शुभ दुःख का कारण है और शुभ भौतिक सुख का कारण है, अतः धर्म का प्रारम्भ वहीं से होता है, जहाँ न पुण्य है और न पाप है। वस्तुतः संवर और निर्जरा यही वास्तविक धर्म है। संवर में अनागत विकल्पों का निरोध होता है, और निर्जरा में संचित विकल्पों का क्षय। अतः भगवान् महावीर ने संवर और निर्जरा को ही धर्म कहा है। संवर निरोध रूप है, और निर्जरा पूर्वबद्ध कर्म विकल्पों का क्षय है, दोनों का परिणाम मुक्ति

है। शुभाशुभ विकल्प रूप पुण्य पाप का परिणाम मुक्ति नहीं, बन्धन है, और जिसका परिणाम मुक्ति न हो, वह धर्म कैसे हो सकता है? पतित होते हुए आत्मा को उठाने की शक्ति एकमात्र इसी शुद्ध आत्म परिणति रूप संवर और निर्जरा में है।

सुख के क्षणों में धर्म की साधना आसान है, किन्तु दुःख के क्षणों में भी अपने स्वभाव को न भूलना, अपने स्वभाव से दूर न हटना, यह आसान काम नहीं है? कुछ जीवनचरित्र हमारे समक्ष इस प्रकार का आदर्श रखते हैं कि—कष्टमय क्षणों में भी जो अपने को विस्मृत नहीं कर पाता, वही सच्चा धार्मिक है। महासती अंजना की जीवन-गाथा हमारे सामने यही एक महान आदर्श रखती है कि—कष्ट और विपत्ति आने पर भी तुम अपने स्वरूप को विस्मृत न करो। सीता ने भी यही आदर्श स्थापित किया था। सीता अग्नि के कुण्ड में कूद करके भी भस्म क्यों न हो सकी, इसका समाधान यही है कि वह धर्ममय हो चुकी थी। इस प्रकार अनेक महापुरुषों की जीवनगाथाएँ हमारे सामने यही आदर्श प्रस्तुत करती हैं, जीवन में धर्म नहीं, किन्तु हमारा जीवन ही धर्ममय बन जाना चाहिए, फिर उसे कहीं पर भी किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता, वह अभय बन जाता है। अभयता एवं निर्भयता ही सच्चा धर्म है। यह निर्भयता जीवन में तभी प्रगट होती है, जबकि मनुष्य अपने स्वरूप में डूब जाय। भगवान् महावीर का जीवन प्रारम्भ से अन्त तक इसी मूल तत्त्व पर आधारित है। क्या ही अच्छा हो, कि हम वास्तविक अर्थ में धर्मशील बन जायें। धर्म ही हमारा स्वभाव हो जाय। यही आध्यात्मिक जीवन है।

★

● ठंडा पानी पहले गर्म होता है, फिर खोलता है और अन्त में अपना रूप बदल देता है—भाप बन कर। परिवर्तन प्रकृति के हर कण में है। जो यथास्थितिवादी परिवर्तन से इन्कार करते हैं, वे सफेद झूठ बोलते हैं, चूँकि विश्व जगत् में यथास्थिति जैसा कुछ है ही नहीं।

★ उपाध्याय अमर मुनि

बृहत्साधु-सम्मेलन-अजमेर सन् १९३३ में

दिया गया महत्त्वपूर्ण वक्तव्य

उपाध्याय कविश्री जी के प्रवचनों, निबन्धों एवं वक्तव्यों की पुरानी फाइल देख रहे थे कि सन् १९३३, अर्थात् विक्रम संवत् १९९० चैत्र शुक्ला दशमी को, प्रथम बृहत्साधु सम्मेलन, अजमेर में दिया गया यह वक्तव्य प्राप्त हुआ। वक्तव्य काफी ओजस्वी है, संघ एवं समाज की समस्याओं को यथार्थ दृष्टि से छूता है। प्रस्तुत निबंध में कवि श्रीजी, जब कि वे तरुण थे, उनके समक्ष आचार्य श्री जवाहरलाल जी म०, शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी म० आदि अनेक वयोवृद्ध महान् संत विराजमान थे, अपने में कितने स्पष्ट, कितने उदात्त, कितने चिन्तनशील हैं। जिन-शासन के अभ्युदय के लिए उनके मन में कितना दर्द है, कितनी पीड़ा है, और भावना के साथ ही कितना विवेकपूर्ण बौद्धिक यथार्थ चिन्तन है, यह वक्तव्य पर से स्पष्ट हो जाता है। इसी से प्रभावित होकर नववयस्क तरुण कवि श्रीजी, उस समय स्थापित की गई 'साहित्य-निर्णायक समिति' के मान्य सदस्य मनोनीत किए गए थे।

वक्तव्य की भाषा उस युग की पुरानी हिन्दी है, फिर भी वह काफी प्रभावोत्पादक है। हम कुछ भी हेरफेर किए बिना, उसी भाषा में ज्यों का त्यों वक्तव्य, पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। उक्त वक्तव्य पर से सहृदय पाठक देख सकेंगे कि ३९ वर्ष पुरानी समस्याएँ आज भी ज्यों की त्यों समाज को उत्पीड़ित कर रही हैं। इस बीच अनेक साधु-सम्मेलन हो चुके हैं, चर्चाएँ की जा चुकी हैं, फिर भी समाज की प्रगति की गति कितनी मन्द एवं कितनी क्षीण है, यह निराशाजनक नहीं, तो खेदजनक अवश्य है। —संपादक

दुर्लभं संघदर्शनम् :

पूज्य मुनि महात्माओं! आज आप पवित्र आत्माओं के पवित्रतम दर्शन से, चरणसेवक का हृदय हर्षमग्न हो रहा है। आज के इस सुन्दर दृश्य ने हृदय और नेत्रों को अपनी ओर बलात्

आकर्षित एव स्तम्भित कर रक्खा है। आज हमारी आँखों में पाटलीपुत्र, मथुरा और वल्लभीपुर के सम्मेलनों का मनोरम दृश्य घूम रहा है और साथ ही साथ आनन्द की अमृत वर्षा कर रहा है। श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणजी की अध्यक्षता में होने वाले वल्लभीपुर के सम्मेलन के, करीब १५०० वर्ष के सुदीर्घ समय के बाद, आज हम सब वीर प्रभू के पुत्र बंधुता के पवित्र प्रेममयी नाते से, श्री जैन शासन की समुन्नति के मार्ग पर विचार करने के लिये, परस्पर शिर मिला के बैठे हैं। अस्तु, आज अजमेर को अजमेर न कहियेगा, क्योंकि श्रीयुत् जोहरी दुर्लभ जी के शब्दों में, इसने सम्मेलन का वह आदर्श काम कर दिखाया है, जिससे अब यह 'अजर अमरपुरी' का सर्वश्रेष्ठ एवं सार्थक नाम प्राप्त कर चुका है।

इस सम्मेलनरूपी महान् कार्य की पूर्ति के उपलक्ष्य में, प्रथम धन्यवाद है, पंजाबी पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज को, जिन्होंने अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन महासभा के स्तम्भों को सम्मेलन की प्रेरणा की और इसकी पुरजोर शब्दों में आवश्यकता बतलाई। दूसरे धन्यवाद है, महासभा और साधुसम्मेलन समिति के उत्साही सभासदों को, जिन्होंने अपने गृहस्थसम्बन्धी अत्यन्त आवश्यक कामों को छोड़ कर, आज के आनन्दकारी समय को लाने के लिये तन तोड़ उद्योग एवं प्रयत्न किया। तीसरे धन्यवाद है, आज सब विराजित मुनियों को, जो गुजरात, पंजाब, मेवाड़, मारवाड़ आदि अतीव सुदूर देशों से विहार में अनेकानेक कष्ट सहते हुये यहाँ पधारे हैं एवं सम्मेलन के उद्देश्य को सफल बनाने में लगे हुये हैं। चौथे धन्यवाद है मरुधर बिहारी और मुनियों को, जिन्होंने सम्मेलन में पधारे हुये अतिथि मुनियों का दूर-दूर तक सामने जाकर सप्रेम स्वागत किया है एवं अपनी हार्दिक उदारता का सुस्पष्ट परिचय दिया है। पाँचवे धन्यवाद है, श्री मनोहरदास सम्प्रदायी वर्तमान आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज को, जिनके असीम अनुग्रह से यह आज्ञाकारी सेवक गुरुदेव के साथ, आप मुनियों की सेवा बजाने के लिये सम्मेलन में सोत्साह एवं सस्नेह सम्मिलित हुआ है।

का हानिः समयक्षतिः

अब यह विचार करना है कि सम्मेलन को सफल कैसे बनाया जाय? सम्मेलन के प्रति हम आने वाले मुनियों का क्या

कर्तव्य है ? किस प्रकार हम अपनी स्थानकवासी समाज के गौरव को अक्षुण्ण रख सकते हैं ? इस समय शिक्षित जनता उत्सुकता-भरी दृष्टि से टकटकी लगाये अजमेर की ओर देख रही है कि हम अपने इस मुनिसम्मेलन में प्रगतिशील सभ्य संसार के समक्ष क्या अभिनव आदर्श रखते हैं ? यदि यहाँ पर हम केवल अपनी-अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं पर ही अड़े रहे और कुछ ठोस कार्य नहीं कर पाये, तो समझलो, हम अपनी रही सही इज्जत भी खो बैठेंगे। लोग हंसेंगे और कहेंगे कि इन्होंने इतना शोरगुल मचाया, किन्तु आखिर किया क्या ? प्रतिज्ञा करलो—अब अजमेर से बाहिर नये युग के लिये नया सन्देश लेकर ही विहार करेंगे।

मेरे अपने विचारों में सम्मेलन की सफलता सकार—चतुष्टय के ऊपर निर्भर है यदि हम वर्तमान समय धर्म के अनुसार सकार-चतुष्टय की पूर्ण योजना के घड़ने में सफल हो गये तो, फिर हमारी प्रगति में—हमारे शासन की उन्नति में कोई भी शक्ति बाधक नहीं हो सकेगी— कोई भी शक्ति रोड़ा नहीं अटका सकेगी। आप उत्सुक होंगे कि वे सकार कौन से हैं, जिन पर हमें विचारविमर्श करने के लिये निवेदन किया गया है। ध्यान देकर सुनने का विषय है—संगठन, समयानुसार शिक्षण, साहित्य और समान समाचारी ही इस समय अपने लक्ष्य विन्दु हैं। अपने ही क्या, समस्त संसार के लक्ष्य विन्दु हैं। इन्हीं पर मैंने विचार करने के लिये कहा है। यही मेरा सकार चतुष्टय है। प्रत्येक जाति, देश, और धर्म के जीवन-मरण का सम्बन्ध, इन्हीं चार सकारों से है। इनके अस्तित्व में ही देश, जाति, धर्म का अस्तित्व है, अन्यथा नहीं। अब मैं इन पर कुछ विशेष वक्तव्य कहना चाहता हूँ। कृपया, धृष्टता क्षमा करते हुए जरा सावधानतापूर्वक श्रवण करियेगा—

संगठन— संहतिः कार्यसाधिका।

सम्मेलन को सब से पहले जिसकी जरूरत है, वह संगठन है। इसके विना सम्मेलन का होना, न होना बराबर है। मौजूदा हालत में हमें संगठन की कितनी अधिक जरूरत है, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। संगठन के अभाव से, आज अपनी समाज में अशान्ति की बड़ी जबर्दस्त लहर दौड़ रही है। कुरुक्षेत्र के महाभारत युद्ध

का दृश्य जिसे देखना हो, वह अपने स्थानकवासी संघ में देख सकता है। अफसोस है कि श्री भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य, परस्पर भाई-भाई होकर एक दूसरे के विरुद्ध महाभारी युद्ध में उतर रहे हैं। कुछ पवित्रात्माओं को छोड़ कर, बाकी के अन्य मुनियों को तो स्वस्तुति और परनिन्दा के अतिरिक्त कोई और काम है ही नहीं। जब देखो तब, एक दूसरे के ऊपर विष वर्षा ही करता पाता है। मैं ही शास्त्रज्ञाता हूँ, अन्य सब मूर्ख हैं। मैं ही उत्तम क्रिया पात्र हूँ, अन्य ढीले पसत्थे हैं। मैं ही व्याख्यान वाचस्पति हूँ, अन्य सब कहानी कहने वाले छोकरे हैं। इत्यादि अनेकानेक निरर्गल, अर्थशून्य और फूट राक्षसी की सत्ता को अधिकाधिक दृढ़ करने वाली बातें कही जाती हैं, जिन्हें सुनकर सहसा अवाक् हो जाना पड़ता है। मुनिपद के धारक और फिर ऐसा असभ्य व्यवहार करें— इससे बढ़कर और क्या लज्जा की बात हो सकती है। अधिक दुःख तो इस बात का है कि हम जो प्रेम व्यवहार गृहस्थ श्रावकों और मिथ्यात्वी कहलाने वाले लोगों के साथ करते हैं, अन्य संप्रदायी साधुओं के साथ वह भी नहीं करते। देखिये, एक सम्प्रदायी साधु, गृहस्थों से एकान्त में बैठकर घुट-घुट के बातें कर सकता है—रोगादि के समय राजी खुशी पूछ सकता है—दर्शन देने के लिए घर पर जा सकता है- रात्रि को अपने मकान में जोर देकर संवर करा सकता है—स्वयं गृहस्थ से पढ़ सकता है और उसे पढ़ा सकता है—अर्थात् यह सब कुछ हो सकता है, परन्तु क्या कभी दूसरी संप्रदाय के साधुओं के प्रति भी इतनी उदारता दिखाई जाती है? उत्तर मिलता है—नहीं। यदि परस्पर इतना उदार व्यवहार होता तो फिर जैन समाज की यह दयनीय दशा ही क्यों होती? क्या कहूँ, कुछ कहने की बात नहीं। हम दावा तो रखते हैं सर्वोत्कृष्ट साधुता का, और है नहीं हमारे में मनुष्यता भी। क्षमा करना, क्या "मित्ती मे सव्वभूएसु" का नित्य पाठ गैर लोगों के लिए ही है, अपने खास हकीकी भाइयों के लिये नहीं? क्या "पिट्ठिमंसं न खाइज्जा" का सूत्र, व्याख्यान को चट-पटा बनाने के लिये—सभा में सुनाने के लिए ही है, अमल में लाने के लिये नहीं। क्या 'माणो विणय नासिणो' का कथन, दूसरों से अपनी विनय कराने के लिये ही है, दूसरों को करने के लिए नहीं। अफसोस! हमारे

असंगठन ने—हमारे परस्पर के रागद्वेष ने जैन समाज को बड़ा भारी धक्का पहुँचाया है। करोड़ों की जन संख्या वाली जैन जाति अब उँगलियों पर गिनने लायक रह गई है। बौद्धों और क्रिश्चियनों की संख्या की तरफ देखकर, जरा अपनी संख्या की तरफ देखिये, आप को जमीन और आस्मान का सा अन्तर दिखलाई देगा। हमें तो इधर अपने लड़ाई-झगड़े से एवं साम्प्रदायिक पक्ष-पोषण से फुर्सत नहीं मिली, और उधर से जैन कहलाने वाली व्यक्तियाँ धीरे-धीरे अन्य लोगों के चंगुल में फँसती रहीं। यह सब कुछ हमारी उदासीनता का ही तो परिणाम है। एक दिन वह था जब हमारे पूर्वजों ने लाखों अजैनों को जैन धर्म की दीक्षा देकर, जैन धर्म की आदर्श गौरववृद्धि की थी। और आज वह दिन है, जो हम से कपूत पैदा हुए, जिनसे और तो क्या, अपने पूर्वजों की संचित सम्पत्ति भी नहीं रक्खी जाती। उसे अपनी आँखों के सामने बेदर्दी से लुटती हुई देख रहे हैं, किन्तु टस से मस तक नहीं करते। संघ-संरक्षको ! अपनी ही धुन में मत रहो, कुछ समय की तरफ भी देखो। वह क्या कह रहा है, किसका पक्षपाती है ? आज चारों तरफ से एक यही आवाज आ रही है कि संगठन करो—संगठन करो। कोई भी देश, जाति और धर्म बिना संगठन के आज जीवित नहीं रह सकता। आप देख सकते हैं कि कलकी पैदा हुई आर्य समाज संगठन के बल पर आज किस उन्नत अवस्था में नजर आ रही है। जहाँ देखो वहीं गाँवों में, शहरों में, स्कूलों में, कालेजों में, गुरुकुलों में, और पाठशालाओं में आर्य समाज, आर्य समाज ही दीख पड़ता है। कुछ ही दिनों में इसने स्कूलों, कालेजों और गुरुकुलों का भारत में तांता सा बाँध दिया है। आपके पधारने से कुछ ही समय पूर्व, यहाँ अजमेर में आर्य समाज का उत्सव हुआ था, कहते हैं उस समय अजमेर आर्य नगर बना हुआ था। बड़ी-बड़ी शक्तिशाली समाजें भी आश्चर्यमुग्ध हो रही थी। यह सब किसके बल पर हुआ, केवल संगठन के बल पर। नहीं तो आर्य समाज आप से अधिक क्या ले रहा है ? आपके अप्रतिहत सिद्धान्त के सामने, उनका सिद्धान्त क्या अस्तित्व रखता है ? कुछ भी नहीं। दूर क्यों जाँय, आप अपनी सप्रदाय की ओर ही देखिये। जब लौंकाशाह के समय में स्थानकवासी संप्रदाय का पुनर्दृढ़ संगठन हुआ और

असंगठन के कारण से आया हुआ आलस्य निकाला गया, तब इसने क्या कर दिखाया था। इने-गिने दिनों में ही इसने भारत में, जिसे सच्चा जैन धर्म कहते हैं, उसकी विजयदुन्दुभि बजा दी थी। प्रतिपक्षी लोग खड़े-खड़े मुंह ताकते ही रह गये और इसने अपना मार्ग साफ कर लिया। इसकी तत्कालीन विजयिनी शक्ति के सामने सब के सब प्रतिपक्षी पराजित होते चले गये और फिर अपने पैरों खड़े न हो सके। जिस वक्त यह काम हुआ, उस वक्त आज के समान मोटरें नहीं थीं, रेलें नहीं थो, तारें नहीं थी; था केवल एक शुद्ध संगठन, जिसने हमें सफलता पर सफलता प्रदान की। आज फिर संगठन की आवश्यकता है। यदि सफलता पानी है तो संगठन को अपनाइये।

अब कुछ संगठन-सम्बन्धी उन उपायों पर भी लक्ष्य दीजिये, जिन से संगठन की जड़ें सुदृढ़ एवं चिरस्थायी हो सकती हैं। कभी प्राचीन समय में ये बाईस संप्रदायें संगठन और प्रचार के उद्देश्य से देश भेद के कारण अलग-अलग बनीं थी; किन्तु अब जो ये बाईस की बत्तीस संप्रदायें हुईं बताई जाती हैं, सो इसका कारण संगठन नहीं—प्रचार नहीं परन्तु फूट है। संप्रदायों का जन्म धर्म की रक्षा के लिये हुआ था, किन्तु अब तो ये उलटी धर्म को क्षति पहुँचा रही हैं। अस्तु, अब समय कह रहा है कि, संप्रदायें नहीं रहनी चाहियें। इन के स्थान में एक सौधर्म गच्छ होना चाहिए और एक ही आचार्य का शासन चलना चाहिये। आचार्य का निर्वाचन सर्व-सम्मति या बहु-सम्मति से होना ठीक है और उसे तीन या सात साल संघ पर शासन करने का अधिकार होना चाहिये। यह पद्धति अतीव सुन्दर है। इससे प्रत्येक मुनि अपनी योग्यता और सर्वप्रियता बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करेगा। तथा उसे अपने उत्तरदायित्व पद का भी ध्यान रखना पड़ेगा। परन्तु इसके लिये यह बात अवश्य है कि यह कार्य जितना अधिक सुन्दर है, उतना ही अधिक कठिन भी है। इस पर पूर्ण विचार करने की आवश्यकता है। संभव है जलदी में किया हुआ यह कार्य सुधार के स्थान में और अधिक बिगाड़ का कारण बन जाय। अस्तु यदि यह योजना ठीक न बैठे तो क्रमवार सब संप्रदायों का अपना-अपना संगठन होना चाहिए। फिर प्रत्येक प्रान्तवार संगठन होकर अखिल भारतीय संगठन हो

जाना चाहिए। भाव यह है कि संप्रदायी सभाओं का अपनी-अपनी प्रान्तीय सभाओं से और प्रान्तीय सभाओं का अखिल भारतीय सभा से सम्बन्ध होना चाहिए। ऐसा करने से संगठन की शृंखला मजबूत एवं चिरस्थायी हो जायगी, और किसी को ननु नच करने का अवसर न मिलेगा। अव्वलतो संप्रदायी झगड़ों को स्वयं संप्रदायी समिति ही तय कर देगी। उसके बाद प्रान्तीय और अखिल भारतीय सभा तो निपटारा अवश्य कर ही देगी। विद्यमान दशा में यह नीति अधिक श्रेयस्करी सिद्ध होगी। अब कुछ अपने पूज्य मुनियों से निजी बातें कहूंगा कि यदि आप अपने गुरुत्व को कायम रखना चाहते हैं—यदि आप अपने जैन-शासन के गौरव को कायम रखना चाहते हैं तो परस्पर प्रेम की गंगा बहा दीजिए। संप्रदाय और क्षेत्रों के मोह को छोड़ दीजिए। ईर्षा और द्वेष बढ़ाने वाली, गृहस्थों की बातों में ध्यान मत दीजिये। गृहस्थ लोग आप के उपासक हैं, उपास्य नहीं। इनकी बातें मानना हमारा कर्तव्य अवश्य है, किन्तु किसी-किसी समय पर, हर समय नहीं। हर समय ऐसा करने से तो आप उपासक हो जायेंगे और ये उपास्य। संगठन के लिये ये बातें नितान्त आवश्यक हैं, इन पर विशेष ध्यान देने की कृपा करियेगा। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने से भिन्न संप्रदायी गृहस्थों को उनकी समकित तुड़वाकर अपनी समकित न दें। दूसरी संप्रदायों के दीक्षितों को विना आज्ञा के अपनी संप्रदाय में न मिलावें। परस्पर एक दूसरे की निन्दा बुराई न करें। धार्मिक पर्वों की विभिन्नता को छोड़ कर संवत्सरो चौमासी आदि धर्म-सम्बन्धी पर्व सब के सब एक ही करें। ये बातें हमारे में प्रेमभाव उत्पन्न करेंगी—संगठन उत्पन्न करेंगी। परस्पर के प्रेम को अमृत कहा है। इससे मरी हुई जातियां भी जी उठती हैं और संसार में नवीन युगांतर उपस्थित कर देती हैं। प्रेमजन्य संगठन की शक्ति सर्वथा अदम्य है। इसके सामने संसार की अन्य शक्तियां दासी का काम करती हैं। यही संगठन हमारे सम्मेलन की सफलता का सबसे पहला पाया है। इसी के मजबूत करने की बड़ी भारी आवश्यकता है। क्योंकि आपके प्रेम में ही विश्व का प्रेम और आपके संगठन में ही विश्व का संगठन समाया हुआ है।

समयानुसारी शिक्षण—नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

सम्मेलन की सफलता का दूसरा पाया समयानुसार शिक्षण है। हमारी अवनति का सबसे बड़ा कारण शिक्षा का अभाव भी है। शिक्षा के बिना हमारा इतना अधःपात हुआ है कि उसकी बाबत कुछ पूछिये ही मत ना। प्रतिपक्षी लोग अपनी संप्रदाय को खुले आम मूर्ख संप्रदाय बतलाते हैं और हर कहीं इसे इसी बात में नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं। उन्हें हिम्मत है कि इसके नेता मुनिराज तो मूर्ख हैं—अशिक्षित हैं. अत वे कुछ नहीं कर सकते। असमर्थ को जितनी चोटें मारी जांय, मारो—यह आज के समय की नीति है। अहा! एक समय वह था, जब विद्वान जैनमुनियों के सिंहनाद से वादी लोग थर-थर कांपा करते थे और जुबान के होते हुये भी गूंगे बन जाया करते थे। जयघोष और हरकेशी मुनि, ब्राह्मणों की यज्ञ स्थली में अकेले ही गर्जते हैं और ब्राह्मणों का जैन धर्मी बना देते हैं। तार्किक पुंगव सिद्धसेन अवन्ती पुर में अपने अप्रतिम पांडित्य का परिचय देते हैं और महाराजा विक्रम को अपना श्रद्धालु बना लेते हैं। उन्नीस वर्ष की लघु अवस्था वाले वादिदेवसूरि, सिद्धराज नामी नरेन्द्र की सभा में कुमुदचंद्र से टक्कर लेते हैं और विजय लक्ष्मी के अधिकारी होते हैं। उदाहरण कहां तक दिये जांय, इतिहास का पन्ना-पन्ना जैनाचार्यों की अप्रतिहत विद्वत्ता का परिचायक है। परन्तु आज की दशा देखते हैं तो मारे लज्जा के हमें मस्तक झुका लेना पड़ता है। अफसोस! आज उन्हीं विद्वानों की संतान, अन्यमती विद्वानों के नामों तक से चकराती है। वर्तमान युग का नवीन शिक्षा प्राप्त नवयुवक वर्ग अपनी तरफ से अश्रद्धालु होता जा रहा है, क्योंकि हमारे में उनका भर पाया करने की शक्ति नहीं रही है। भला जिस संप्रदाय के नेताओं की यह दशा हो, उसका भविष्य सभी ओर से अन्धकाराच्छन्न नहीं, तो और क्या है? मेरे कहने का यह भाव नहीं है कि अपनी संप्रदाय में अब कोई विद्वान है ही नहीं। अब भी पूज्य श्री जवाहर लाल जी महाराज, पूज्य श्री मन्नालाल जी महाराज, पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज, शतावधानी श्री रत्नचंद्र जी महाराज, उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज आदि-आदि कई ऐसी विभूतियां हैं, जिनसे अपनी संप्रदाय का गौरव है। जिन पर हमें पूर्ण गर्व है।

परन्तु ये इने-गिने विद्वान क्या-क्या काम कर सकते हैं ? कहाँ-कहाँ पहुँच सकते हैं ? अपना क्षेत्र विशाल है, अतः इसकी पूर्ति के लिए प्रत्येक मुनि का विद्वान होना आवश्यक है। अस्तु पूज्य मुनिवरो ! छोड़ दो, इन पुरानो चोपाई और ढालों का शरना। बहुत वक्त तक इनसे कमा खा लिया। अब तो बजा दो संसार के कोणे-कोणे में जैन धर्म की विजय का डंका और दिखा दो अपनी विद्वत्ता के जोहर।

यह तो हुई शिक्षा की आवश्यकता की बात। अब कहना यह है कि हमारे में शिक्षा का प्रसार किस पद्धति से हो सकता है ? समय की गति विधि को देखते हुये बहुत से विचारशील मुनियों ने संस्कृत प्राकृत आदि का अध्ययन प्रारंभ कर दिया है और इसके लिये वे वेतनभोगी पंडितों को अपने साथ रखते भी हैं। इससे कुछ शिक्षा में उन्नति अवश्य हुई है, किन्तु जितनी चाहिए थी उतनी नहीं। भिन्न-भिन्न मुनियों के पास में भिन्न-भिन्न पंडितों के रहने से, खर्चा तो बहुत अधिक बैठ जाता है और लाभ कम होता है। हम साधुओं की वर्तमान कालीन दैनिक क्रियाएँ कुछ ऐसे ढ़ग पर हैं, जिन के कारण हमारे पास में अध्ययन के लिए बहुत ही थोड़ा समय बचता है और हम पंडितों से नाम मात्र की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। अन्य विद्यार्थी जो शिक्षा एक वर्ष में प्राप्त कर सकता है, वह हमसे दो वर्ष में भी नहीं प्राप्त की जाती। अस्तु शिक्षा के सुधार के लिये प्रत्येक प्रान्त में मुनि विद्यालयों का होना अतीव आवश्यक है। बिना विद्यालयों के मुनि, समयानुसार संस्कृत प्राकृत के प्रखर विद्वान नहीं हो सकते। वर्तमान समय में शिक्षा का पूर्ण साधन, विद्यालयों के अतिरिक्त और कोई दूसरा है ही नहीं। इसमें व्यय तो अल्प होता है और अनेक विद्यार्थियों के पारस्परिक विचार विनिमय से, वार्तालाप से एवं प्रश्नोत्तरों से लाभ बहुत अधिक होता है। इकट्ठे विद्यार्थी अपनी विद्यार्थिसुलभ स्पर्धा द्वारा शिक्षा में बहुत शीघ्र उन्नति कर सकते हैं। यह प्रथा नवीन नहीं, प्राचीन है। इसके द्वारा सभी धर्मों ने अपनी-अपनी उन्नति में बहुत कुछ श्रीवृद्धि की है। ऐतिहासिक ग्रन्थों को देखिये, नालंदा में बुद्ध धर्म का विश्वविद्यालय था। उसमें करीब १४०० तो अध्यापक बतलाये जाते हैं, छात्रों की संख्या के

विद्यालय में तो कहना ही क्या है। इसमें बौद्ध भिक्षु भी पढ़ते थे, उनके लिये दश हजार कोटडियों का अलग प्रबन्ध था। जैन इतिहास में भी पाटली पुत्र में एक मुनि पाठशाला का जिक्र आता है, जिसके विद्यार्थी नवांगी वृत्ति के रचयिता आचार्य अभयदेव सूरि हैं। यह उपाध्याय श्री आत्माराम जी के श्रीमुख से सुना हुआ कथन है। अब आप विचार सकते हैं कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म को विश्व धर्म के पद पर पहुंचाने वाले, प्राचीन काल में शिक्षा के साधन कैसे थे? आज वे साधन नहीं हैं, वह शिक्षा नहीं है. अतः कोई नहीं पूछता कि जैनी किस कोने में पड़े हुए जीवन यापन कर रहे हैं।

अब विद्यालयों की पठनविधि और परीक्षा के विषय में कहा जाता है। जितने भी विद्यालय हों, उन सब का पाठ्यक्रम और परीक्षा एक ही होनी चाहिये। इस से पठन-पाठन में बड़ी भारी सुविधा होगी। विद्यार्थियों में उत्साह की वृद्धि होगी और वे शास्त्री, आचार्य आदि को सर्वोत्तम एवं प्रामाणिक उपाधि की प्राप्ति के लिये तन-तोड़ परिश्रम करेंगे तथा अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल होंगे। बिना प्रामाणिक परीक्षाओं के हुये विद्वानों का आदर नहीं हो सकता। आज के पदवीपूंछ जमाने में अपने संघ में ही ऐसे उद्दंड व्यक्ति मौजूद हैं, जिन्हें पता नहीं कि व्याकरण और न्याय क्या चीज होते हैं, वे अपने शुभ नाम के आगे पीछे वैयाकरण केसरी, न्यायाम्भोनिधि और तर्कालंकार आदि के लम्बे-लम्बे पुछल्ले लगाये फिरते हैं। यही नहीं, मौका पड़ने पर वे विद्वानों की अवज्ञा तक करने को तैयार हो जाते हैं। यह बात नहीं है कि वे अपने संघ में प्रतिष्ठा नहीं पाते। वे तो महाविद्वानों की श्रेणी में गिने जाते हैं और सभक्तिभाव पूजे जाते हैं। यह हालत देखकर विद्वानों का चित्त खिन्न हो जाता है और वे सोच लेते हैं कि यहाँ तो गधे-घोड़े सब एक हैं, क्यों व्यर्थ ही पठन-पाठन में माथा-पच्ची करें। प्रामाणिक रूप में उपाधि परीक्षाओं के होने से पूर्ण विद्वानों का हौसला बढ़ जायगा और मूढ व्यक्तियों को उद्दंडता करने का कोई मार्ग न मिलेगा।

अब मुझे कुछ आधुनिक व्याख्यानपद्धति के विषय में कहना है। आजकल व्याख्यान की खूब मिट्टी पलीद की जा रही है। जिसके

दिल में आता है वही बस, एक दो भजन, एक दो ढालों को लेकर चट व्याख्यान वाचस्पति बन बैठता है। जिसे पता नहीं कि हमारा क्या सिद्धान्त है जिसे पता नहीं कि दूसरे मतों की क्या मान्यता है, वही जोश में आकर 'कल की मूंडी भेड़ नाम धरायो रामदेवी" की कहावत पर सवार हो जाता है। मुझे स्पष्ट कहना पड़ता है कि व्याख्यान दाता की गद्दी कोई मामूली गद्दी नहीं है। यह भगवान् महावीर की गद्दी है। इस पर अयोग्य व्यक्तियों ने बैठ कर जैन धर्म के महत्व को नीचे गिरा दिया है। भला जिनमें श्रोताओं की शंका का यत्किंचित् भी समाधान करने की शक्ति नहीं है, उन्हें क्या अधिकार है कि वे प्रभु महावीर की गद्दी पर बैठकर सभा में अंट-संट जो मन आया गावें, और श्रोताओं से तहत वचन, धनबाणी की झड़ी पर झड़ी लगवावें। अतएव मैं पूज्य मुनियों से प्रार्थना करता हूँ कि आप महानुभाव शिक्षा-सम्बन्धी योजना के साथ, सम्मेलन में एक ऐसी व्याख्यान सम्बन्धी योजना भी तैयार कीजिये, जिससे व्याख्यान के महोच्च मंच पर योग्य व्याख्याता ही सुशोभित हो सकें, अन्य नहीं।

साहित्य, साहित्यहीनः पशुरेव नान्यः।

सम्मेलन की सफलता का तीसरा कारण साहित्य है। इस पर भली-भाँति विचार करने की जरूरत है। प्रत्येक देश जाति और धर्म का जीवन, उनके अपने साहित्य पर ही होता है। बौद्ध, वैष्णव और ईसाई आदि धर्मों की उन्नति का श्रेय उनके खास साहित्य को ही दिया जाता है। जब जैन धर्म का साहित्यसूर्य संसार में चमक रहा था, तब यह भी जगजानीता धर्म था। इसके साहित्य की तुलना में कोई भी अन्य धर्म समर्थ नहीं था। आध्यात्मिक, औपदेशिक, न्याय, व्याकरण, काव्य, कोष, ज्योतिष वैद्यक आदि प्रायः सभी विषयों पर जैनाचार्यों की कलम चली है, और उन्होंने अन्य लोगों की अपेक्षा अपनी खास विशेषता दिखाई है। दुष्काल, महामारी और विदेशियों के आक्रमण आदि के कारण जैन साहित्य की वह जबर्दस्त क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति होनी सर्वथा असंभव सी हो गई है। खेद ! ऐसे-ऐसे अमूल्य ग्रन्थरत्न अग्नि, पानी और दीमकों की भेंट हो गये, जो औरों को प्रत्यक्ष में तो क्या, स्वप्न में भी नसीब नहीं थे। अब क्या है ? अब तो सिन्धु में से विन्दु बचा

हुआ समझिये। कोई बात नहीं, हमें अपने इस बिन्दु पर भी गर्व है। इस बिन्दु के सामने भी, अन्य संप्रदायी सिंधु कहलाने वाले धुरंधर विद्वान चक्कर खाते हैं और मारे आश्चर्य के दांतों तले अंगुली दबा लेते हैं। भगवान् महावीर से पैतृक संपत्ति के रूप में मिला हुआ अपना आगम-साहित्य कितना तात्विक है? यह आप स्वयं विद्वान हैं, अतः जानते ही हैं, कहने की क्या आवश्यकता है? हां कहने की आवश्यकता अब यह है कि समय ने अपना रूप परिवर्तन कर दिया है। अब का युग नवीन युग कहलाता है, अतः इसे नये भाव, नये विचार और नये रंग ढंग ही पसंद हैं। पुरानी पद्धति के टब्बायुक्त सूत्र आज कल के नवयुवकों में अपना असर नहीं पैदा कर सकते। यदि नवीन संसार को अपने सूत्रसाहित्य की ओर आकर्षित करना है तो प्रचलित शुद्ध हिन्दी आदि विविध भाषाओं में तात्विक विवेचना पूर्ण टीकाएँ रच के सूत्र साहित्य का प्रकाशन होना चाहिये। अपने में से कतिपय प्रख्यात विद्वानों की यह सम्मति है 'कि वर्तमान सूत्र साहित्य को शृंखलाबद्ध करके प्राचीनतम अनुयोगों के नाम से चार पुस्तकों में प्रकाशित किया जाय।' यह कार्य महान है, अधिक श्रमसाध्य है। यदि ऐसा हो जाय तो फिर कहना ही क्या है। फिर तो सूत्रों को खिचड़ी बताने वाले सज्जन, अच्छी तरह मौन-व्रत का पालन कर सकेंगे।

अब मुझे उस साहित्य के विषय पर अर्ज करनी है, जो आगम-साहित्य के बाद की रचना है और जिसमें काल दोष के कारण कुछ गड़बड़ हो जाने से आपने छोड़ दिया है। जितना भी निर्युक्ति, टीका, अवचूरि और अन्य साहित्य है, उस पर श्वेताम्बरत्व के नाते से हमारा पूर्ण अधिकार है। उसे हम किसी भी अवस्था में अलग नहीं छोड़ सकते। विद्वान् मुनियों का कर्तव्य है कि सब मिलकर, उसका उचित संशोधन करें और शीघ्र ही प्रकाश में लाएँ। इससे हमारे साहित्य-भंडार की अभिवृद्धि होगी और हम अपना मस्तक साहित्य-संसार में ऊंचा कर सकेंगे।

कृपया लगते शब्दों में प्रतिक्रमण की भी बात सुन लीजिये। प्रतिक्रमण की वर्तमान दशा अतीव दयनीय है। इसे देखकर हृदय चूर-चूर हो जाता है। कितने महत्वपूर्ण पाठ को हमने किस हालत में ला-रक्खा है। न तो इसका विधिविधान एक है और न पाठ।

कहीं प्राकृत की मधुर-ध्वनि होती है तो कहीं—'जूँ, कीड़ी, जूँजला, गधैया, मांगण, कुंथुवा, कानखजूरा, प्रमुखनी विराधना कीधी होय' की बिगड़ी हुई भाषा का कर्कश स्वर सुनाई पड़ता है। कभी पहले संप्रदाय वार प्रतिक्रमण अलग होते सुने जाते थे, पर अब तो आदमी आदमी का प्रतिक्रमण अलग हो रहा है। जिसके मन में जो बात समाजाती है, वह उसी को प्रतिक्रमण में घुसेड़ बैठता है। प्रतिक्रमण हुआ कि बाजीगर का थैला, अनाप सनाप जो आया सो भर दिया। आप से हाथ जोड़ कर साग्रह प्रार्थना है कि इसकी रक्षा कीजिये। इकत्तीस सूत्रों को छोड़ कर इसी एक पर इतनी खपगी की नजर क्यों है। इसके एक हुये बिना हमारा संगठन नहीं हो सकेगा, प्रेम नहीं हो सकेगा। नित्य पाठ की इतनी दुरवस्था, बड़े शर्म की बात है। इस विभिन्नता के कारण प्रतिक्रमण का महत्व घटा है, बढ़ा नहीं।

अब उस नवीन साहित्य की ओर भी नजर डालिये, जो इस समय रचा जा रहा है। जिधर देखो उधर नवीन साहित्य की बाढ़-सी आ रही है। पाँच चार प्रसिद्ध लेखकों को छोड़ कर बाकी के लेखक, मान-प्रतिष्ठा के भूखे, यश-कीर्ति के भूखे, ऐसा निरंकुश साहित्य निकाल रहे हैं, जिसमें तात्विकता को जरा भी स्थान नहीं है। आज के उत्तरदायित्वहीन साहित्य ने समाज का गला मसोस दिया है। जिन्हें अपना पता है न दूसरों का, जिन्हें भाषा का पता है न भावों का—वे आये दिन ऐसी-ऐसी पुस्तक निकालते है, जो जैन धर्म को लांछित करने वाली होती हैं। गैर लोगों के हाथों में जब वे पुस्तक पहुँचती हैं तो वे जैन लेखकों पर हँसते हैं—मजाक उड़ाते हैं और मौका पड़ने पर उसी की एक दो गंदी संदी बातों को लेकर जैनों की गर्दन पर सवार हो जाते हैं। ऐसे उत्तर-दायित्वहीन साहित्य की रोक-थाम होनी चाहिये और एक ऐसी समिति बना लेनी चाहिये कि जिसका पास किया हुआ साहित्य ही प्रकाशित हो, अन्य नहीं।

मुझे स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ता है कि इतना विस्तृत साहित्य निकला है और निकल रहा है, पर नवीन शिक्षा प्राप्त नवयुवकों को सन्तोषित करने वाला कौनसा साहित्य रचा गया है। क्या अन्य बुद्ध और कृष्ण चरित्रों की तरह भगवान् महावीर का कोई प्रामा-

णिक जीवन चरित्र तैयार किया है—क्या प्राचीन न्याय ग्रन्थों के बोध के लिये कोई नया न्याय ग्रन्थ तैयार किया है—क्या जैन व्याकरणों के प्रचार के लिये, बाल मनोरमा जैसा कोई सरल टीका-ग्रन्थ तैयार किया है—क्या आगम साहित्य में से किसी आगम का अँग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में कोई उल्लेखनीय अनुवाद तैयार किया है—क्या गुरुकुल आदि में ऊँची शिक्षा पाने वाले जैन विद्यार्थियों के लिये कोई नया पाठ्य-ग्रन्थ तैयार किया है—क्या व्याख्यानाभ्यासी मुनियों के लिये व्याख्यान सम्बन्धी कोई नये ढंग की रुचिकर श्रेष्ठ पुस्तक तैयार की है—क्या श्रावक और श्राविकाओं के लिये कोई उनके आचार-विचार सम्बन्धी सर्व-मान्य नई पुस्तक तैयार की है, नहीं, इनमें से कुछ नहीं किया। आपसी झगड़ो से इन कामों के लिये फुर्सत ही कहां मिलती है।

आज-कल के नव-शिक्षित जैन युवकों के हाथों में स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द आदि की पुस्तकें देखी जाती हैं। जब कोई उनसे जैन पुस्तक के पढ़ने के लिये कहता है तो वे जबाब देते हैं कि जैन धर्म में ऐसी पुस्तक ही कौनसी है, जो हमारे योग्य हो—जिसे हम पढ़ें। कहने वाला लज्जित हो जाता है; क्योंकि ऐसी पुस्तक है ही नहीं, जिसका नाम झटपट बता दिया जाय और उसे जैन धर्म की तरफ आकर्षित कर लिया जाय। वर्तमान समय को एक ऐसी प्रामाणिक पुस्तक की आवश्यकता है, जो गीता के जोड़ की हो, जिसमें जैनधर्म के प्रायः सभी सिद्धान्त नवीन पद्धति से अत्यन्त सरलता के साथ समझाये गये हों। इस पुस्तक से अजैन विद्वान जैनधर्म के प्रेमी बन सकेंगे और स्वयं जैन गृहस्थ भी जैन सिद्धान्त से पूर्ण परिचित होकर जैनधर्म का बड़ी दृढ़ता से प्रचार कर सकेंगे। क्या विद्वान मुनि मेरी इस बात पर कुछ लक्ष्य देंगे।

एक बात और लीजिये। जमाना अपना रंग बदल रहा है। इस समय सभी मतवालों को अपने-अपने मत की आपा-धापी लगी हुई है। यह न्याय है या अन्याय—इसका कोई खयाल नहीं रहा है। जिस तरह से बन पड़ता है, उसी तरह आज प्रत्येक मत अपने को सर्वश्रेष्ठ एवं निष्कलंक बताने की चेष्टा कर रहा है और दूसरों को निंद्य, सारहीन एवं त्याज्य बताने की। आये दिन अखबारों में, पंफलेटों में, पुस्तकों में, और जुबानी व्याख्यानों में, बात-चीतों में

परस्पर वे घृणित आक्षेप किये जाते हैं, जिनकी बाबत कुछ नहीं कहा जा सकता। हमारा जैन धर्म भी इन आक्रमणों से बचा हुआ नहीं है। इस पर भी विरोधी लोग अपनी पूरी शक्ति लगाकर भयंकर आक्रमण करते हैं और इसकी सत्ता तक मिटाने के मनसूबे बांधते हैं। अभी मेरठ प्रान्त में एक व्यक्ति हम स्थानक वासियों पर बहुत भयंकर आक्षेप कर रहा है और निंदा से लबालब भरी हुई पुस्तक पर पुस्तक छपा रहा है। हमारे प्रभु महावीर को वह नगण्य मनुष्य, हमारे सूत्रों का ही नाम लेकर जारज, मांसाहारी और न जाने क्या-क्या बता रहा है। उसने स्थानक-वासी जैन-गृहस्थों के दुर्बल हृदयों को शंका-शील बनाकर धर्म से डाँवा-डोल कर दिया है। अफसोस ! हम बेहोशी में सोये पड़े हैं और क्षमा-क्षमा के नारे लगाकर अपने धर्म के महत्व को खो रहे हैं। जहाँ अन्य धर्मों ने आक्रमणकारियों का मुंह तोड़ उत्तर देने के लिये शास्त्रार्थ संघ, आक्षेप निवारक मंडल आदि संस्थाएँ स्थापित की हैं, वहाँ जैन धर्म की ओर से कुछ भी नहीं हुआ है। आक्रमणकारियों के जहर भरे कटु आक्षेपों से अपनी समाज के विद्वानों के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। बर्फ के समान ठंडा दिल हो रहा है, कुछ भी तो गर्माई नहीं आती। यह स्पष्ट है कि यदि हमने आक्रमण-कारियों को जबाब देने के लिए कोई प्रबंध नहीं किया तो जैन धर्म का अक्षुण्ण रहना असंभव सा हो जायगा। मुर्दा समाज कहीं पर भी मान नहीं पा सकती। स्थानकवासी धर्म के सर्वे-सर्वा आप हैं, अतः आप अपनी शक्ति का चमत्कार दिखाइये और विद्वान गृहस्थ तथा मुनियों का शास्त्रार्थ मंडल कायम करके स्याद्वाद सिद्धान्त की रक्षा कीजिये। इस मंडल के द्वारा उन नवीन विचार वाले सज्जनों को भी लाभ पहुंचेगा, जो जैन सूत्रों का अध्ययन करते हैं किन्तु सूक्ष्म रहस्यों को न समझने के कारण श्रद्धाहीन हो जाते हैं—तथा औरों को भी वे ही बातें सुना-सुना कर भ्रम में डाल देते हैं। इस मंडल के होने पर सब का कर्तव्य हो जायगा कि जिस व्यक्ति को जो शंकाएँ उत्पन्न हों, वह उन्हें मंडल में पेश करे और शान्तिपूर्वक अपना समाधान करे। जो मुनि महोदय ! यह कार्य करेंगे, उन्हें अक्षय पुण्य की प्राप्ति होगी, और वे जैन धर्म के संरक्षक समझे जायेंगे। सभ्य उपायों द्वारा अपने धर्म को घातक

आक्रमणों से बचाना—यही सर्वश्रेष्ठ कार्य है, यही सच्ची साहित्य-सेवा है। दुबारा फिर कहे देता हूं कि धर्म की जीवन जड़ी पवित्र साहित्य है और इसी जड़ी के द्वारा हम अपने जैन संघ को पुनर्जीवित एवं नवचैतन्यवंत कर सकते हैं।

समान समाचारी, आचारहीनं न पुनंति वेदाः

सम्मेलन की सफलता का चोथा साधन समान समाचारी है संसार में जितने भी धर्म हैं वे सब के सब आचार अर्थात् चारित्रपरक ही हैं। बड़े बड़े विद्वानों का कथन है कि जहां चारित्र है वहां धर्म है और जहां धर्म है वहां चारित्र है। दोनों का अभेद्य संबंध है। चारित्र और धर्म को यदि पर्यायवाची शब्द कह दें तो भी कोई अयुक्ति नहीं होगी। परन्तु अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म में चारित्र का स्थान अधिक ऊंचा है। चारित्र को जितना अधिक महत्व यहां दिया गया है. उतना शायद ही कहीं और जगह दिया गया हो। अन्य धर्मो में चारित्र का केवल स्थूल रूप से ही विधान है, किन्तु जैन धर्म में चारित्र का स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रीति से विधान किया गया है और इसके मार्ग को खूब विशाल बनाया गया है। जैन धर्म अपने उच्च कोटि के चारित्र के लिये संसार भर में प्रसिद्ध है। विरोधी से विरोधी भी इसके चारित्र के प्रति सम्मान रखते हैं और आश्चर्य में रह जाते हैं। कई वैष्णव विद्वानों ने तो वार्तालाप करते समय खुद मेरे से कहा है कि आप के चारित्र की बात मानुषी शक्ति से बाहर की बात है। परमात्मा की कृपा से आप लोगों में दैवी शक्ति का प्रवेश हो जाता है, जिसके बल पर आप इस अशक्य महाभार को उठाए फिरते हैं। एक दिन वह था, जब चारित्र के बल से जैनमुनियों ने अनेकानेक अद्भुत कार्य करके दिखलाये थे। महाराजा श्रेणिक को बौद्ध से जैनी श्रद्धा में लाने वाला अनाथी मुनि का चारित्र ही था। मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त को जैन सम्राट् बनाने वाला, कहते हैं कि भद्रवाहु स्वामी का चारित्र ही था। गुजरात, कच्छ, काठियावाड़, मारवाड़, मेवाड, मालवा, पंजाब आदि देशों में स्थानकवासी जैनधर्म का मस्तक ऊंचा कराने वाला—पूज्य धर्मसिंह जी, लवजी ऋषिजी, मनोहर स्वामी जी आदि आदि महान् आत्माओं का चारित्र ही था। अधिक क्या, चारित्र धर्म हमारा सर्वस्व है। हमें इसके ऊपर मर्यादा से अधिक अभिमान है।

परन्तु इस समय हम चारित्र धर्म पर किस प्रकार आरूढ़ हैं—यह बहुत अधिक विचारणीय है। आजकल हमने चारित्र की वास्तविकता भुला दी है और उसके चैतन्य को जाने देकर कोरे मुर्दे शरीर की कौली भर रक्खी है। भगवान् महावीर का आशय कुछ था और हमने समझ लिया कुछ है। कौड़ियों की रक्षा में स्वर्णमुद्राएँ खो बैठने वाले आज हम बने हुये हैं। खेद है, प्रत्येक संप्रदाय ने अपना अपना अलग चारित्र बनाया हुआ है। कोई किसी काम में चारित्र की इतिश्री कर रहा है तो कोई किसी काम में। एक कहता है ओघे में जंजीरा रखना, दूसरा कहता है नहीं। एक कहता है मिट्टी के कुंडे में वस्त्र धोने, दूसरा कहता है नहीं। एक कहता है ऊपर के मकान में ठहरना, दूसरा कहता है नहीं। एक कहता है वस्त्र मैले होने पर धोने, दूसरा कहता है नहीं। एक कहता है पुस्तकें प्रकाशित करनी, दूसरा कहता है नहीं। अफसोस! कैसी छोटी छोटी बातों के ऊपर तनातनी है—लड़ाई झगड़ा है। क्या सारे चारित्र का सार इन्हीं बातों पर रहा हुआ है। मुनिवरों! समयधर्म को देखो और भिन्न समाचारियों का मोह छोड़ दो। इन समाचारियों ने ही अपना अधःपतन किया है और अपनी मान प्रतिष्ठा खोई है। आज संघ में जितना कलह, जितना द्वेष, जितना असंगठन नजर आरहा है, उन सब को पैदा करने वाली माताएँ ये भिन्न भिन्न समाचारियाँ ही हैं। इनसे ही आज के ढीले और उत्कृष्टे शब्द की उत्पत्ति हुई है, जो अशान्ति पर अशान्ति फैला रहे हैं, और एक संप्रदाय को दूसरी संप्रदाय से भिड़ा रहे हैं। संघबहिष्कृत, चारित्र-हीन, पतित व्यक्तियों को भी पूजा प्रतिष्ठा होती हुई देखी जाती है, वह भी इसी विभिन्नता का प्रभाव है। एक समाचारी के न होने से वे स्वच्छंद हैं, उन्हें कोई कुछ नहीं कह सकता है। अस्तु सम्मेलन में चारित्रविषय पर विचार होकर एक समाचारी बना लेनी चाहिये; जो सभी सम्प्रदायों को मान्य हो। समाचारी बनाते समय, वर्तमान समय को भी लक्ष्य में रखना चाहिये और अनावश्यक नियमों पर जोर न देकर, आवश्यक नियमों पर ही जोर देना चाहिये। समय को लक्ष्य में रखने के लिये, मैंने इसलिये कहा है कि बहुत से चारित्र-सम्बन्धी नियम ऐसे होते हैं, जो किसी विशेष समय के लिये होते हैं। समयधर्म के अनुसार उनका परिवर्तन होता

रहता है। दिन के तीसरे पहर में गोचरी करने का नियम, श्री शय्यंभवाचार्य पलट देते हैं और अपने दशवैकालिक सूत्र में 'काले काले समायरे'—गाँव के समय के अनुसार गोचरी करने का विधान करते हैं। अस्तु यहाँ पर यदि उत्कृष्ट चारित्री बनने के अभिमान से अनावश्यक एवं असामयिक नियमों पर जोर दिया गया तो कुछ लाभ नहीं होगा। बल्कि शक्ति से बाहर के किये हुये नियम संघ को दंभी और ढोंगी बना देते हैं। चारित्र की आड़ में मायाचारी करते रहना कितना अनर्थकारी है—इसके लिये कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। माया ही सबसे बढ़कर आत्म-शक्ति की घातिका राक्षसी है। मायाचारी में हम पहले से ही बदनाम हो रहे हैं। अतः अब तो "माया श्वेताम्बरे प्रोक्ता पैशुन्यं च दिगंबरे"—इस प्रचलित पद्य को कृपया असत्य ठहराने की सत्य योजना कीजियेगा।

अपने चारित्र धर्म के अथवा अन्य बहुत से नियम ऐसे भी हैं, जो अतीव रहस्यमय होने से विचारणीय हैं। उनके ऊपर जोर देने से वाद-विवाद हो जाने की भी आशंका है। इसलिये ऐसे विवाद-ग्रस्त विषयों को यहाँ न छेड़कर, उनके निर्णय के लिये, एक विद्वत्समिति कायम कर देनी चाहिये। जिसमें सभी संप्रदायों के योग्य विद्वान हों और वे खूब विचार विमर्श करके अपना सर्वसम्मत निर्णय प्रकाशित करें। ऐसा करने से हमारा प्रेमबंधन भी ढीला नहीं पड़ेगा और कार्य भी अच्छी प्रकार हो जायगा।

यह तो हुई मुनि सम्बन्धी चारित्र की बात। अब कुछ गृहस्थों के चारित्र की तरफ भी लक्ष्य दीजिए। मुनि चारित्र का आधार गृहस्थ चारित्र के ऊपर है। यदि गृहस्थ सच्चरित्री न होंगे तो मुनियों को अपने चारित्र के पालन में बड़ा भारी कष्ट होगा। इस समय मुनियों के चारित्र की तो कुछ व्यवस्था है भी, किन्तु गृहस्थों का चारित्र तो बहुत ही अव्यवस्थित हो गया है। जिस प्रकार मुनियों के लिए पाँच महाव्रत की व्यवस्था है, उसी प्रकार गृहस्थों के लिये भी पाँच अणुव्रत की व्यवस्था होनी चाहिये। सम्मेलन में गृहस्थों के आवश्यकीय नियमों का बंधारण होना चाहिये, जिससे गृहस्थों का चारित्र सुव्यवस्थित हो सके।

उपसंहार,

सम्मेलन की सफलता के ये चार सकार महासिद्धान्त हैं, ये चार

सकार महासाधन हैं। इनकी भले प्रकार आराधना करने से अंत में अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होकर रहेगी। जिस प्रकार सुमेरुगिरि चार गजदन्त पर्वतों से सुशोभित होता है, ठीक उसी प्रकार यह सम्मेलन भी इन चार साधनों द्वारा सुशोभित हो सकेगा। आप विद्वान हैं—समय धर्म के ज्ञाता हैं, अतः आशा करता हूँ कि आप इन चार साधनों की योजना के तैयार करने में पूर्णत. सफल होंगे। अब समय आ गया है कि सम्मेलन में पास हुए कार्यक्रम को वचन से कर्तव्य में ले जावें, और संसार में जैन धर्म की विजय दुंदुभी बजादें।

पूज्य मुनिराजो! सेवक की धृष्टता क्षमा करियेगा। इसने अपनी पागलपन की सनक में आपका बहुत कुछ बहुमूल्य समय ले लिया है। निबन्ध भी मेरी योग्यता के लिहाज से बहुत कुछ लंबा और विस्तृत हो गया है। अस्तु, यह निबंध यहीं पर समाप्त किया जाता है और अपने क्षुद्र विचारों पर ध्यान देने की विनम्र प्रार्थना की जाती है। यदि इस निबंध में कहीं पर भी अज्ञानवश अनुचित भूल हो गई हो तो क्षमा प्रदान कीजिएगा। बालचेष्टाएँ क्षन्तव्य ही हुआ करती हैं। आप विद्वान मुनियों के दर्शनों की चिरकाल से इच्छा लगी हुई थी, किन्तु पूरी होनी असंभव सी जान पड़ती थी। धन्यवाद है, सम्मेलन को, जिसकी कृपा से आज सेवक अपनी मनोऽभिलषित इच्छा पूरी कर रहा है और जैन शासन के उत्थान सम्बन्धी विचार विनिमय में भाग ले रहा है। अतएव जय हो, विजय हो संमेलन की। अतएव सफलता हो, पूर्ण सफलता हो सम्मेलन की। श्री भगवान महावीर की जय !!!

उद्बोधन—गीत

१. हृदय से हृदय अब मिलादो—मिलादो;
सफल सम्मेलन को बनादो—बनादो।

२. उठो वीर मुनियों! न सुस्ती में सोवो;
कदम शीघ्र आगे बढ़ादो—बढ़ादो।

३. परस्पर की निन्दा ही झगड़े की जड़ है;
इसे मौन - मुद्रा लगादो—लगादो।

४. मैं ही हूँ बड़ा अन्य क्षुद्र हैं सब;
अहंमन्यता यह हटादो—हटादो।

५. गुणों को विचारो न व्यक्ति को देखो,
गुणी को स्वमस्तक झुकादो—झुकादो।
६. करो बन्द गंदी ये विग्रह की बातें;
विमल प्रेम - गंगा बहादो—बहादो।
७. विगत की न बातें कोई उखेड़ो;
भविष्यत् पे दृष्टि जमादो—जमादो।
८. क्रिया ज्ञान दोनों लगा तुल्य पांखें;
गरुड़ बन के अब तो दिखादो—दिखादो।
९. समाचारियाँ जो हैं टोलों की अपनी;
उन्हें ऐक्य - रंग में सजादो—सजादो।
१०. बनालो सभी एक गच्छ सुधर्मा;
अटल एक शासन चलादो—चलादो।
११. करो काम ऐसा 'अमरचंद्र' अब तो;
विजय धाक जग में मचादो—मचादो।

अजमेर
चैत सुदि १० बुधवार : सम्मेलन का प्रारंभ।
विक्रम सं० १९९०, सन् १९३३ ई०

संगठन कोई भी हो, वह तभी सफल एवं सार्थक होता है, जब उसमें अतीत की प्रेरणा हो, वर्तमान का कर्म हो, और भविष्य का सुनहला स्वप्न हो।

संगठन के लिए सर्व प्रथम पूर्वाग्रहों का त्याग आवश्यक है। जो उपयोगी है, उसे छोड़ना नहीं है, और जो अनुपयोगी है, उसे पकड़े रहना नहीं है।

संगठन से सम्बन्धित कोई भी इकाई न छोटी होती है, न बड़ी। सबका अपना अपना महत्त्व है। संगठन में ज्यों ही 'अहम्' घुसा नहीं कि संगठन को छिन्नभिन्न होते देर नहीं लगती।

—उपाध्याय अमरमुनि

एक मार्मिक लोककथा

पीड़ा के निःश्वास

एक विदेशी राजदूत ने दरबार में हाजिर हो, शहंशाह की खिदमत में, अपने मुल्क के बादशाह द्वारा भेजा बन्द लिफाफा पेश किया।

लिफाफा खोला गया। विदेशी बादशाह ने पूछा था—'आलम-पनाह! आपके मुल्क में शहंशाह दीर्घ आयु होते हैं। जबकि हमारे मुल्क में शहंशाह कम उम्र में ही गुजर जाते हैं। ऐसा क्यों? उत्तर आगन्तुक राजदूत के साथ भिजवाने की कृपा करें।'

शहंशाह कुछ देर के लिये ख्यालों की दुनिया में डूब गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने राजदूत से कहा: 'ठीक है—आपके शहंशाह का उत्तर भिजवा दिया जायगा।

'नहीं आलमपनाह! मुझे जबाब लेकर ही आने का हुक्म सादिर हुआ है'—राजदूत ने कहा।

'तो तुम्हें रुकना होगा। इस मुल्क की तहजीब को निकट से देखना होगा। तुम्हें जबाब मिल जावेगा।'—शहंशाह ने कहा और एक बड़े बट-वृक्ष के पास एक शानदार बंगले में राजदूत को ठहराने की व्यवस्था कर दी गयी। एक महीना गुजर गया तो राजदूत ने शहंशाह से अर्ज किया—'हुजूर जबाब बख्शें व मुझे रुखसत दें।'

शहंशाह बोले: 'आपको इन्तिजार करना होगा। जिस बड़ के पेड़ के पास आप मुकीम हैं, जब वह जल कर खाक हो जावेगा तभी आपको रुखसत किया जायेगा।"

राजदूत के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। "यह ५०० साल पुराना विशाल बड़ कब खत्म हो और कब मैं घर जाऊँ। इसका खात्मा

मुमकिन नहीं। अब मैं अपने परिवार से कभी नहीं मिल सकूंगा—मुझे जीवन-भर तिल-तिल कर यहीं जीवन बिताना होगा—" यह सोचते साचते ठंडे सांस लेता वह उस पेड़ के नीचे जाकर, टूटे तन थके मन, लेट गया। उसकी भूख-प्यास जाती रही—प्रति दिन वह कृश-काय होता गया। क्षण-क्षण, पल-पल, उसके अंतर्मन में एक ही चिन्ता चलती रही—'यह बट वृक्ष किसी तरह जल्दी जल कर खाक बने।'

इस प्रकार प्रति-क्षण, प्रति-पल 'कब जले-कब जले' की ठंडी आहों के निश्वासों ने ६ माह बाद एक दिन उस वट-वृक्ष को जला कर खाक कर दिया।

राजदूत खुशी में झूम उठा और शहंशाह के पास जाकर बोला, "हूजूर वट-वृक्ष जल कर खाक हो गया है। अब जबाब देकर मुझे रुखसत करें।"

शहंशाह बोले—'राजदूत ! तुम्हें जबाब मिल चुका है। जाकर अपने शहंशाह को बताओ।'

राजदूत सोच में डूब गया तो शहंशाह बोले–"तुम्हारी अंतरात्मा से निकले पीड़ा के अदृश्य निश्वासों ने ५०० साल पुराने इस पेड़ को ६ माह में जला कर खाक कर दिया। तुम्हारे मुल्क के बादशाह जनता से प्यार नहीं करते, उसका शोषण कर विलासी जीवन व्यतीत करते हैं। हजारों लाखों ठंडी आहें प्रति पल, तुम्हारे बादशाह की आयु को जलाती रहती हैं। यही कारण है कि तुम्हारे मुल्क के बादशाह कम उम्र में ही गुजर जाते हैं।"

जबाब मिल चुका था। राजदूत हकीकत निकट से देख चुका था। अपने मुल्क में पहुँच कर उसने अपने बादशाह को सब बता दिया।

कहानी का तथ्य क्या है, यह न देखें। किन्तु सत्य क्या है, यह देखें। वस्तुतः दर्द की आह बड़ी भयंकर होती है। सुख शान्ति चाहिए, तो दीन दुखी दुर्बल की आह से बचो।

श्री लच्छीरामजी पुंगलिया
कलकत्ता

श्री डोसीजी की बुद्धि का दिवाला?

श्री डोसी जी काफी समय से उपाध्याय कवि श्री जी के प्रति आलोचना के नाम पर अनर्गल भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। जब मनुष्य के पास प्रतिवाद के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण तथा तर्क नहीं रहते हैं, तो वह अपना विवेक खो बैठता है, और गाली गलौज पर उतर आता है।

कवि श्री जी पर तो इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह तो निर्द्वन्द्व भाव से अपने चिन्तन पथ पर चलते चले जाते हैं। किन्तु समाज के प्रबुद्ध वर्ग पर इस प्रकार के बेतुके अर्थहीन लेखों से बड़ी कठोर प्रतिक्रिया होती है। कार्यालय में इस सम्बन्ध में अनेक लेख एवं पत्र आते रहते हैं। उन्हीं में से एक प्रबुद्ध तटस्थ चिन्तक श्री पुंगलिया जी का यह लेख है। श्री पुंगलिया जी मूलतः बीकानेर के निवासी हैं। वर्तमान में कलकत्ता रहते हैं। इस प्रकार के प्रतिवादी लेखों में कविश्री जी स्वतः कोई रुचि नहीं रखते हैं। किन्तु पुंगलिया जी के विशेष आग्रह पर लेख प्रकाशित किया जा रहा है। इसलिए कि श्री डोसी जी और उनके सहयोगी यह देखें कि उनकी हरकतों पर समाज का प्रबुद्ध चिन्तनशील वर्ग क्या प्रतिक्रिया रखता है?

— संपादक

पूज्य कवि श्री जी जैन समाज में ही नहीं, देश के चोटी के जाने माने विद्वानों में एक हैं। भारतीय दर्शन शास्त्रों के वे उच्च-कोटि के विद्वान हैं। दर्शन शास्त्र के तो वे ब्रह्मा ही हैं। दर्शन शास्त्र-सम्बन्धी उनका मौलिक चिन्तन है। उनके अपने लिखे दर्शन-शास्त्र के कुछ मौलिक ग्रंथ हैं, जिन्हें उच्च कोटि के दर्शन ग्रन्थ कहा जा सकता है। जैन समाज ही नहीं, देश के अन्य प्रबुद्ध विचारक

भी उनकी विद्वता के कायल हैं। उनके विचारों को पढ़कर विवेकी पाठक स्वयं उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हो जाते हैं। उनकी लेखनी में भरपूर शक्ति और सामर्थ्य है। जैन समाज के एक महान विभूति राष्ट्रसंत पूज्य कवि श्री जी को गाली-गलौज देने वाले "सम्यक् दर्शन" के सम्पादक श्री रतनलाल जी डोसी की बुद्धि का दिवाला क्यों निकल गया है? एक महान संत के पीछे वे क्यों इस तरह पड़े हुए हैं। मैं नहीं समझता, उनका इससे क्या लाभ है? यदि कवि श्री जी के विचार उनको पसन्द नहीं हैं, सही नहीं लगते हैं, तो वे अपने विचारों का प्रचार करें, उन्हें कोई रोकता नहीं है। यदि किसी बात का विरोध भी करना है, तो सभ्य और संयत भाषा से करें। गाली गलौज और ओछे-पन पर उतरने से क्या लाभ है? यह सारे समाज के लिये कलंक और अपमान की बात है। यह कवि श्री जी का ही नहीं, भगवान् महावीर की वाणी का भी अपमान है। अपने तथाकथित शास्त्रीय ज्ञान के भारी बोझ के नीचे श्री डोसी जी दब गये मालूम पड़ते हैं। शास्त्रों के उद्देश्य और लक्ष्य से यदि डोसी जी थोड़े भी परिचित होते, तो इस तरह से बे-लगाम और नंगे होकर नहीं लिखते। उनके गलत रवैये से ऐसा आभास होता है कि उन्हें शास्त्रों का आन्तरिक ज्ञान है ही नहीं। शास्त्रों का जो ज्ञानी होगा, वह इस तरह उच्छृंखल और बे-लगाम होकर बेहूदी-भाषा का व्यवहार कभी भी नहीं कर सकता। कवि श्री जी पर गलत आरोप लगाकर डोसी जी अपना और सारे जैन समाज का अहित कर रहे हैं। गाली-गलौज के रूप में किसी का विरोध करना, असभ्यता और लज्जा की बात है। स्थानक वासी समाज में क्या इतनी भी शक्ति शेष नहीं रही है कि वह अपने एक महान् संत को अकारण ही दिन-दहाड़े गाली-गलोज देने वाले अपने ही समाज के व्यक्ति को रोक नहीं सकता है? यह सारे समाज के लिये बड़ी लज्जा की बात है। समाज को इस विषय में सोचने और विचारने की जरूरत है। डोसी जी की इतनी हिम्मत कैसे बढ़ गई कि वे इतने बड़े समाज के एक महान् संत को गालियाँ देते रहें, और समाज उसे चुपचाप अन-सुना करता रहे। डोसी जी बे-लगाम हो गये हैं। उनकी रोक-थाम के लिए समाज को तुरन्त ठोस व्यवस्था करनी चाहिए।

समाज के पैसे पर चलने वाले अपने पत्र "सम्यक् दर्शन" में डोसी जी न जाने क्या-क्या अनर्गल लिखते बकते जा रहे हैं। अब हमेशा के लिए उनका बेहूदा पागल-पन समाज को संगठित होकर बन्द करा देना चाहिए। डोसीजी के गाली-गलौज का उत्तर उदात्तमना कवि श्रीजी तो दे नहीं सकते हैं, इसका हल तो समाज को ही निकालना है। डोसी जी जिस भाषा से ठीक समझें उन्हें उसी भाषा में समझाने के लिए समाज को तैयार हो जाना चाहिए। अन्त में श्री डोसी जी से भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे अब और अधिक शास्त्रों के दावेदार बनकर अपने विवेक को न खोवें, इसी में उनकी शोभा है। शास्त्र क्या हैं और उनका मूल अभिप्राय क्या है, यह दूसरे भी जानते हैं।

★

● दूसरों का घर टटोलें आँख के अँधे कहीं।
किन्तु कैसा घर स्वयं का देखते हर्गिज नहीं।।
दूसरों को देखने से पूर्व खुद को देख लो।
कौन हो तुम कर रहे क्या, खूब कसकर परख लो।।

● जो स्वयं ही वैद्य बन कर, जाँचते निज रोग को।
मन वचन को, कर्म को, कृत कर्मफल के भोग को।।
संत हों या और हों, है साधना उनकी सही।
हो रही उनके चरण-संस्पर्श से पावन मही।।

● आलोचना और निन्दा में रातदिन का अन्तर है। आलोचना दिन का उजला प्रकाश है तो निन्दा रात का गहन अन्धकार।

● आलोचना के मूल में तटस्थ चिन्तन है, सत्य का ही एकमात्र विश्लेषण है, जबकि निन्दा के मूल में ईर्ष्या है, घृणा है, विद्वेष है।

● आलोचना शत्रु के भी सद्गुणों का सत्कार-सम्मान करती है, जबकि निन्दा मित्र के सद्गुणों का भी तिरस्कार-धिक्कार।

● निन्दा एक आँख से कानी है, उसे दोष ही दोष दिखाई देते हैं, गुण नहीं। जब कि आलोचना दोनों आँखों से सुआंखी हैं, उसे दोष और गुण दोनों ही स्पष्ट दिखाई देते हैं।

● निन्दा का उद्देश्य, जैसे भी हो केवल बदनाम करना है, जबकि आलोचना का उद्देश्य सुधार करना है, बुराई नहीं।

● आलोचना गंगा का पवित्र जल है, निन्दा है गंदे नाले का मल से भरा सड़ता पानी।

—उपाध्याय अमरमुनि

समाचार दर्शन

महावीर जयन्ती-समारोह यत्र तत्र

१. **मद्रास**—दिनाङ्क २७-३-७२ को सुबह ९ बजे जैन समाज के सब फिरकों की ओर से एक भव्य प्रोसेशन अनेक संगीत मंडलियों एवं झाँकियों के साथ निकाला गया।

२. जैन स्थानक में सुबह ९ से ११ पं० माधवलाल जी मरडीया का प्रवचन एवं जैन पाठशाला के बालक बालिकाओं के संवाद एवं स्तवनों का कार्य-क्रम था, जिसमें भाग लेने वाले बच्चों को प्रोत्साहन स्वरूप ईनाम दिया गया। जैन संघ की ओर से लड्डुओं की प्रभावना दी गई।

३. सेंट्रल जेल के १७०० कैदियों एवं अधिकारियों के समक्ष भ० महावीर के जीवन पर प्रकाश डाला गया और सबको भ० महावीर दिवस की भेंट स्वरूप लड्डुओं के पेकेट दिये गये।

४. अनाथ आश्रम के अपंग और अशक्त वृद्ध भाई-बहनों को वस्त्र एवं लड्डू बाँटे गये। बहरे-गूंगों की शाला, अनाथ बाल मन्दिर एवं इसी तरह की अन्य १०-१२ अनाथ संस्थाओं में पाँच हजार लड्डू के पेकेट एवं तमील भाषा में भ० महावीर की संक्षिप्त जीवन पत्रिका वितरण करने पर सभी संस्थाओं ने जैन समाज का अभिनन्दन किया और भ० महावीर की भूरि-भूरि प्रसंशा की।

५. जीव दया में २१०० जीवों को अभयदान दिलवाया गया।

६. रात को ७ से ९ बजे तक मद्रास के एज्युकेशन महामहिम मंत्री श्री नेडु चेरीयन की अध्यक्षता में एक आम सभा रखी गई, जिसमें मंत्री महोदय ने भ० महावीर और उनके सर्व व्यापक आदर्श सिद्धान्तों की भूरि-भूरि प्रसंशा की। पद्म श्री मोहनलाल जी चोरड़ीआ, स्वामी रिखवदास जी आदि वक्ताओं ने भी भ० महावीर के जीवन पर प्रकाश डाला।

७. आयंबिलकी पूर्ण ओलीयां ७५ हुईं। सब आयंबिल १२५० हुए। एवं बहनों के ३४ वर्षीतप चालू है।

८. दिनांक १-४-७२ को महावीर जैन महिला मंडल की ओर से ७५ दया पलाई गई। और मण्डल की बहनों की तरफ से दया-सदन के ५०० वृद्ध एवं अपंगों को लड्डू और सेव वितरण किए।

९. दिनांक २-४-७२ को जैन भवन में केवलचन्द जी बरलेचा की ओर से भाइयों में ४७ दया पलाई। महाबीर जयन्ती का कार्यक्रम संगठन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रहा। उस दिन सभी जैनों की दुकानें बन्द रखी गई :

—भंवरलाल गोठी

सहमंत्री श्री व० स्था० जैन संघ मद्रास

हैदराबाद : (आन्ध्र)—भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण शताब्दी महोत्सव के व्यापक महत्व को लक्ष्य में रखते हुए, गत वर्ष की भाँति ही इस वर्ष भी, जैन सेवा संघ की ओर से महावीर जयन्ती का भव्य आयोजन २३ मार्च से २७ मार्च तक, बड़े समारोह से किया गया।

रवीन्द्र भारती के भव्य भवन में कार्यक्रम, श्री शांतिलाल जी बांठिया के संयोजकता में, वर्धमान भारती बेंगलोर के निदेशक श्री प्रतापकुमार जी के मधुर गायन से प्रारंभ हुआ। गायन भगवान् की पूरी जीवनी से सम्बन्धित था, अतीव प्रभावोत्पादक।

श्री नवीनचन्द जी दोमडिया के संयोजकत्व में २५ मार्च को वक्तृत्व, निबन्ध एवं भक्ति संगीत की प्रतियोगिता का आयोजन काफी आकर्षक रहा। ४५ बालक, बालिकाओं एवं प्रौढ़ों ने भाग लिया। विजेताओं को श्री ठोकरसी लाल जी भाई कापडिया के कर-कमलों से उपहार वितीर्ण किए गए। २६ मार्च को कार्यकर्त्ता सम्मेलन में निर्वाण शताब्दी से सम्बन्धित विचार चर्चा हुई, जिस में सेवाग्राम आश्रम से पधारे हुए श्री महेन्द्र कुमार जी शास्त्री ने अपना महत्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया। श्री पारस भाई जैन के संयोजन में, आन्ध्र-प्रदेश 'महावीर निर्वाण शताब्दी समिति' के गठन का कार्य भार सौंपा गया।

दिनांक २७ को सुबह बेगम बाजार मन्दिर से सभी जैन सम्प्रदायों की एक सम्मिलित विराट शोभा यात्रा निकाली गई। यात्रा में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर समाज की भगवत्प्रतिमाएँ एक ही रथ में विराजमान थी।

संगठन का अपने में यह एक अद्भुत आदर्श था । आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल श्री खंडूभाई देशाई ने भगवान महावीर के तपोमय जीवन एवं उनकी शिक्षाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला । श्री सत्य प्रकाश जी—निर्देशक सालारजंग म्युजियम, श्री जेन लाबुद्दीन—सहायक निर्देशक कृषि विभाग, श्री महेन्द्र कुमार शास्त्री, श्री जयचन्द लोहाडे आदि वक्ताओं ने भी अपनी श्रद्धांजलियां प्रभु चरणों में अर्पण कीं । श्री गुलाबचन्द्र जी सुराणा स्वागताध्यक्ष ने मान्य अतिथियों को दुशालों से अलंकृत किया । अध्यक्षता श्री ठोकरसी लाल जी कापडिया कर रहे थे । मानदमंत्री श्री सुरेन्द्र लूणिया तथा श्री पारस भाई ने क्रमशः श्री राज्यपाल आदि अतिथियों का परिचय तथा आभार प्रदर्शित किया ।

मैसूर :—श्री जैन संघ मैसूर के तत्वाधान में भगवान् महावीर की जन्म जयन्ती के समारोह के प्रसंग पर प्रातः दि० जैन बोर्डिंग से विराट जुलूस निकाला गया । शाम को आमसभा का आयोजन, डॉ० जवरे गैडा—उपकुल पति मैसूर विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में पौरसभा भवन में रखा गया था । प्रो० भारती रमणाचार्य अध्यक्ष हिंदी विभाग, सैंट्रल कालेज बैंगलोर एवं M. D. वसन्तराज, प्राध्यापक मैसूर विश्व विद्यालय ने भगवान् महावीर के जीवन एवं जैन धर्म के तत्त्वों पर प्रकाश डाला ।

सभा में श्री सुमति नाथ जैन महिला मंडल की ओर से प्रस्तुत 'पूजा-नृत्य' का प्रदर्शन अति ही सुन्दर एवं भाव-पूर्ण था । जयन्ति के उपलक्ष में ता० २६-३-६२ को मैसूर नगर के अस्पतालों, अनाथाश्रमों एवं अन्य स्थानों में उपहार वितरित किये गये ।

इन्दौर २८ मार्च—भगवान् महावीर का २५७० वां जन्म जयन्ती समारोह, इस वर्ष दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज द्वारा संयुक्त रूप से निर्मित श्री भगवान् महावीर जयंती उत्सव समिति के तत्वावधान में उत्साह-पूर्वक सम्पन्न हुआ । दिनांक १६-३-७२ को नेहरू पार्क में समस्त जैन समाज का स्नेह सम्मेलन हुआ । इस अवसर पर बच्चों की खेल-कूद प्रतियोगिता एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन अत्यधिक सफल रहा ।

दिनांक २६ मार्च रविवार को वैष्णव विद्यालय के मैदान में आयोजित विशाल धर्म सभा में डॉ० नेमिचन्द जैन द्वारा लिखित पुस्तक "वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर महावीर" का विमोचन, विक्रम विश्व विद्यालय के उप कुलपति डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ ।

दिनांक २७ मार्च को प्रात: नगर में प्रभात-फेरी निकाली गई। तत्पश्चात् भगवान् महावीर जयंती उत्सव का कार्यक्रम मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री माननीय श्री प्रकाशचन्द जी सेठी की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। इस अवसर पर ग्वालियर के श्री सन्तोष जड़िया द्वारा निर्मित भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित तैल चित्रों की प्रदर्शनी का श्री सेठी जी ने उद्घाटन किया। वैशाली मण्डप की विशाल धर्म सभा को दिगम्बर मुनि श्री विद्यानंद जी, श्वेताम्बर मुनि श्री यतीन्द्रविजयी, स्थानकवासी सन्त श्री सागरमुनि जी, आचार्य श्री तुलसी जी की शिष्याओं तथा मुख्यमंत्री श्री सेठी ने क्रमशः सम्बोधित कर भगवान के जीवन चरित्र और उनके विश्व-व्यापी कल्याणकारी सिद्धांतों पर अपने विचार प्रस्तुत किये। इस अवसर पर नगर को तोरण द्वारों एवं विद्युत रोशनी से सजाया गया था।

कार्यक्रमों को सफल बनाने में सर्वश्री राजकुमार सिंह जी कासलीवाल, श्री बाबूलाल जी पाटोदी, श्री फकीरचन्द जी मेहता, श्री चन्दनमल जी लूंकड़ एवं रत्नचन्द जी कोठारी ने सराहनीय योगदान किया।—निवेदक हस्तीमल झेलावत, ४५४, महात्मागांधी मार्ग, इन्दौर–२।

आगरा उत्तर-प्रदेश—श्री रत्नमुनि जैन कालेज के विशाल प्रांगण में महावीर जयन्ती समारोह, उपाध्याय कविश्री जी के तत्त्वावधान में तथा आगरा विश्व विद्यालय के उपकुल पति डॉ० श्री बालकृष्णराव की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। उपाध्याय श्री जी, उपकुल पति महोदय, नगर प्रमुख श्री कुंजबिहारी लालजी अग्रवाल,उपनगर प्रमुख श्री राजमुकुट जैन, भू०पू० मेयर श्री कल्याणदास जैन, डॉ० श्री चन्दनलालजी पाराशर, श्री परमेष्ठी दास जैन एडवोकेट आदि प्रवक्ताओं के भगवान् महावीर के जीवन तथा शिक्षाओं पर प्रभावशाली प्रवचन हुए। रत्नमुनि जैन बॉय कालेज तथा गर्ल्स कालेज —दोनों कालेजों के छात्र-छात्राओं के संगीत एवं भाषण आदि के कार्यक्रम काफी सुन्दर थे। उपस्थित विशाल जन समुदाय को मिष्टान्न का उपहार दिया गया। जैन स्थानक लोहामण्डी पर समग्र जैन समाज की ओर से निकाले गए विराट जुलूस के लिए दूध की प्याऊ का आयोजन था।

विश्वसंस्कृत सम्मेलन दिल्ली

भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज कल्याण मन्त्रालय के तत्त्वावधान में दिनांक २६ मार्च १९७२ से साप्ताहिक विश्व संस्कृत सम्मेलन का आयोजन विज्ञान भवन में सम्पन्न हुआ। राष्ट्रपति जी ने उद्घाटन किया, अध्यक्षता उड्डयन मंत्री डा० श्री करणसिंह जी ने की। अन्य विदेशों से १११,

और भारत के विभिन्न प्रान्तों से करीब ८०० प्रतिनिधि उपस्थित थे। प्राचीन संस्कृत युग का सा दृश्य था। क्या भविष्य में ऐसा ही अखिल विश्व प्राकृत सम्मेलन नहीं बुलाया जा सकता ? प्रयत्न की अपेक्षा है।

उक्त अवसर पर जैनविद्या संशोधन समिति की ओर से जैन संस्कृत साहित्य से संबंधित एक संगोष्टी का आयोजन, विश्व विद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० कोठारी जी की अध्यक्षता में हुआ। उद्घाटन डा० ए. एन. उपाध्ये ने किया। गोष्ठी काफी सफल रही।

जैन शोध केन्द्र को मान्यता

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी ने वाराणसी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान को, जैन शोध केन्द्र के रूप में, विधिवत् मान्यता प्रदान की है। आगामी जुलाई से जैन विषयों को लेकर पी. एच. डी. करने वाले हिन्दू यूनिवर्सिटी के शोधछात्र, इस संस्थान के माध्यम से, अपने शोधप्रबन्ध तैयार कर सकते हैं। संस्थान में छात्रवृत्ति, छात्रावास, पुस्तकालय, निर्देशन आदि की समस्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

समेतशिखरजी का यात्री संघ

यात्री संघ हैदराबाद (आन्ध्र) से चला है। १६१ दिनों में २२०० किलो मीटर का पैदल विहार हुआ है। संघ में ५ आचार्य, २७ मुनि, ४४ साध्वी और ३०० गृहस्थ यात्री हैं। जैसा कि इतिहास साक्षी है, हजार-पांच सौ वर्षों में इतना विराट, साथ ही इतनी दूर का पैदल यात्री संघ देखा सुना नहीं गया। वर्षी तप के पारणे भी संघ द्वारा समेत शिखर जी पर होंगे।

सर्व श्री चिमनलाल शाह का अभिनन्दन समारोह

श्री चिमनलाल चकुभाई शाह जैन समाज के सुप्रसिद्ध विधि शास्त्री एवं समाज सेवा के सूत्रधार हैं। राष्ट्रीय क्षेत्र में भी आपका नाम चोटी के नेताओं में है। श्री शाह ने ११ मार्च १९७२ के दिन ७१ वें वर्ष में मंगल प्रवेश किया है—इसी उपलक्ष्य में श्री ढेवर भाई की अध्यक्षता में बृहद्बंबई महासंघ, झालावाडी स्थानकवासी जैन सभा, जैन केलवणी मंडल आदि विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं की ओर से, भाव भीना अभिनन्दन किया गया।

श्री दुर्लभ जी भाई खेताणी, गुजरात के मुख्य मन्त्री श्री घनश्याम भाई, श्री जे. आर, शाह, श्री सोपान, श्रीमती लीलावती मुन्शी, श्रीमती शारदा बहन दीवान आदि प्रमुख वक्ताओं ने श्री शाह के जीवन, समाज सेवा, साहित्य,

राष्ट्रीय आन्दोलन आदि से सम्बन्धित व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर उद्बोधक प्रकाश डाला।

उक्त मंगल प्रसंग पर, उपाध्याय श्री अमरमुनि, आचार्य श्री तुलसी जी, श्री सुशीलमुनि जी, पं० श्री सुखलाल जी, काकासाहब कालेलकर, श्री केदारनाथजी, श्री मन्नारामायण—राज्यपाल गुजरात, श्री के. के. शाह राज्यपाल तमिलनाड, श्री कस्तूरभाई लाल भाई, पद्मश्री खेलशंकर भाई, सेठ अचलसिंह जैन एम. पी., सेठ मोहनमल जी चोरडिया आदि के मंगल कामना एवं शुभेच्छा के सन्देश प्राप्त हुए।

अभिनन्दन के उपलक्ष में ३ लाख १५ हजार की थैली अर्पण की गई, जिसमें श्री शाह ने अपनी ओर से ७१ हजार और मिला कर समाज सेवा के लिए एक ट्रस्ट स्थापित किया। ट्रस्ट में दान के वचन और भी मिल रहे हैं।

आगरा में पं० श्री महेन्द्रमुनि जी के अवधान प्रयोग

एम. डी. जैन कालेज में, दिनांक १६ अप्रैल को, उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के तत्वावधान में आचार्य श्री तुलसीजी के विद्वान् शिष्य सुप्रसिद्ध शतावधानी पं० श्री महेन्द्रमुनिजी ने अवधान विद्या का सफल प्रयोग कर विराट जनसमूह को आश्चर्य मुग्ध कर दिया। आगरा कालेज, सेन्टजोन्स कालेज, बी आर. कालेज के मान्य प्रोफेसरों तथा अन्य बुद्धिजीवियों के अरबों की संख्या के गूढ़ एवं जटिल गणितसम्बन्धी प्रश्नों का तत्काल समाधान प्रस्तुत किया। संस्कृत, रशियन एवं सिन्धी आदि भाषाओं के पद्यों एवं वाक्यों को तीन घंटे बाद ज्यों का त्यों दुहराकर स्मरणशक्ति का अद्भुत चमत्कार कर दिखाया। तत्काल संस्कृत पद्यरचना कर आशुकवित्व का प्रयोग भी आश्चर्य में डालने वाला था।

इससे पूर्व ६ अप्रेल को सभी संप्रदायों का विराट जैन सम्मेलन भी एक महत्त्वपूर्ण आयोजन था, जिसमें उपाध्याय श्री जी, श्री विजयमुनिशास्त्री, श्री महेन्द्रमुनि जी, श्री आलोक मुनिजी आदि के प्रवचन काफी प्रभावोत्पादक तथा जैन एकता की दिशा में प्रेरणाप्रद थे।

श्री महावीर जैन विद्यालय, लासल गांव (नासिक)

विद्यालय के लिए १—धर्माध्यापक, २—गृहपति, ३—उपगृहपति, ४-उप-अकान्टेन्ट और दो रसोइयों की अपेक्षा है। प्रार्थी अपनी योग्यता, पूर्वानुभव, आयु एवं अपेक्षित वेतन की जानकारी के साथ एप्रिल १९७२ तक निम्नांकित

पते पर प्रेषित करें—दगडूलाल चुन्नीलाल, मन्त्री महावीर जैन विद्यालय, मु० नामपगांव, जि० नासिक (महाराष्ट्र)।

एस. एस. जैन युवक संघ, मद्रास

युवक संघ की कार्यकारिणी के निम्न पदाधिकारी निर्वाचित हुए हैं—

अध्यक्ष	**श्री सुरेन्द्र भाई मेहता**
उपाध्यक्ष	**(१) श्री मनोहरमल बाफना।**
	(२) श्री मणीलाल बी. मेहता।
मन्त्री	**श्री पी. एम. चोरडिया**
उपमन्त्री	**श्री हरकचन्द्र जैन।**
कोषाध्यक्ष	**श्री मदनचन्द्र बरडा।**

★

आवश्यकता

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के लिए एक सामान्य सहायक की शीघ्र आवश्यकता है। वेतन-क्रम रु० २००-१५-४१०-२०-४५० है। मंहगाई भत्ता संस्थान के नियमानुसार दिया जाएगा। विशेष योग्यता एवं अनुभव सम्पन्न अभ्यर्थी को प्रारंभ में ३५० रु० मासिक वेतन एवं १४६ रु० मासिक मंहगाई-भत्ता दिया जा सकेगा। योग्यताएँ निम्नलिखित होनी चाहिएँ :—

१—जैन विद्या अथवा भारतीय विद्या से सम्बन्धित किसी विषय मे उपाधि।

२—हिन्दी व अंग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान।

३—संस्कृत एवं प्राकृत का सामान्य ज्ञान।

४—साहित्यिक अभिरुचि एवं सम्पादन का अनुभव।

५—जैन परम्परा का विशेष परिचय।

आवेदन-पत्र सादे कागज पर १५ मई, १९७२ तक निम्नांकित पते पर पहुंच जाने चाहिएँ :—

अध्यक्ष,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
जैन इंस्टिट्यूट,
हिन्दू यूनिवर्सिटी,
वाराणसी—५

साहित्य-समीक्षा

विज्ञान अने अध्यात्म

लेखक—मुनि श्री अमरेन्द्र विजय जी, प्रकाशक—गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, गाँधी मार्ग, फुवारासामे, अहमदाबाद १। पृष्ठ ८०, मूल्य २ रुपये, भाषा गुजराती, मुद्रण कलात्मक।

आदरणीय पंन्यास श्री भानु विजय जी गणिवर के शिष्य मुनिश्री अमरेन्द्र विजय जी एक विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान हैं। आपका अध्ययन एवं चिन्तन विस्तृत, साथ ही गहरा तलस्पर्शी होता है। प्रस्तुत रचना में आपका विज्ञान और अध्यात्म विषय पर अधिकारपूर्ण पांडित्य प्रतिभासित होता है। मुनिश्री जी ने वस्तुतः एक नई अछूती दिशा में कलम उठाई है। वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रकाश में आत्मा, पुनर्जन्म, प्राण, सुखसमृद्धि का मूल स्रोत आदि विषयों पर विज्ञान और अध्यात्म दृष्टि में समन्वय स्थापित कर, मुनि श्रीजी ने, आज के युग की नयी पीढ़ी के लिए अध्यात्मप्रधान चिन्तन सामग्री उपस्थित की है—एतदर्थ शतशत साधुवाद !

*

भगवान महावीर की अहिंसा

लेखक का नाम नहीं है। प्रकाशक—प्रेम रेडियो एण्ड इलेक्ट्रिक मार्ट, महालक्ष्मी मार्केट, चांदनी चौक, दिल्ली–६। मूल्य—अध्ययन-मनन।

लेखक ने अहिंसा सम्बन्धी विचारों का, सरल भाषा में अच्छा संकलन किया है। अहिंसा के प्रायः सभी अंगो का संक्षेप में अच्छा विवेचन है। मांसाहार के निषेध में सामग्री का संकलन बहुत ही उत्तम है।

श्री अमर भारती : लोकप्रियता के पथ पर

एक जैन सज्जन से श्री अमरभारती की एक पुरानी प्रति पढ़ने को मिली। पत्रिका बहुत पसंद आई। पत्रिका क्या है, मौलिक विचारों का खजाना ही है।

—**निरंजन बनर्जी**, मेथिया (बंगाल)

●

मैं श्री अमर भारती पत्रिका के आकर्षण एवं लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। पत्रिका पढ़ने के लिए मन हर समय लालायित रहता है। निश्चय ही यह श्रेष्ठ प्रकाशन, प्रत्येक पाठक को उपादेय सामग्री प्रस्तुत करने में अपनी सानी नहीं रखता।

पत्रिका शीघ्र ही भेजने की व्यवस्था करें। पत्रिका निःसन्देह प्रिय है।

—**रतनचन्द्र जैन**
प्रवक्ता, जैन इंटर कालेज, रामपुर

●

श्री अमर भारती पढ़ते-पढ़ते मन में उपस्थित शंकाओं का समाधान अनायास प्राप्त हो जाता है। दुःख से पीड़ितजन के लिए, मानो श्री अमर भारती प्राणस्वरूप ही है। श्रद्धेय कविश्री जी की उदात्त भावना, विराट् व्यक्तित्व का दिग्दर्शन होता है। राष्ट्र का सौभाग्य है कि ऐसे युगमनीषी भूली-भटकी जनता को पथ-प्रदर्शन कर रहे है। वैसे तो मैंने अनेक जैन साहित्य ग्रंथो का अध्ययन किया, लेकिन श्रद्धेय कविश्री जी के सत्साहित्य के अध्ययन एवं चिन्तन-मनन से जो प्रेरणा प्राप्त हुई है, वह अवर्णनीय है, उनकी रचना हृदयस्पर्शी है। पौराणिक महापुरुषों की शृंखला में आपका नामोल्लेख करने में कोई अतिशयोक्ति न होगी।

—**सौ० हुलासबाई कर्नावट**
अकोला (महाराष्ट्र)

मई '७२ दूरभाष : ६२११३ पंजीयन सं. एल. २०४३

वीरायतन :
नव जीवन-दर्शन का सन्देश

भगवान् महावीर निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में मानव समाज के उत्थान के लिये वीरायतन योजना २१ प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा नये जीवन-दर्शन का सन्देश लेकर उपस्थित हुई है। जाति, सम्प्रदाय आदि भेद-भावों से ऊँचे उठकर जन-कल्याण के लिये यह योजना है।

वीरायतन योजना को सफल बनाने के लिये जब हम तन, मन, धन आदि से योगदान देंगे तथा अपने अपने क्षेत्रों में इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये समय दान करेंगे, तभी हम सब सामूहिक शक्ति द्वारा मानव कल्याण के कार्यक्रमों को सफल बना सकेंगे। यह योजना किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय की नहीं है। अतः मानव-समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह इस शुभ कार्य में अपनी योग्य आहुति दे।

साधु, साध्वी समाज वीरायतन योजना का गहराई से अध्ययन करके जन-जन में कार्यान्वित करने में अपनी मर्यादानुसार योगदान देकर अपने कर्त्तव्य एवं धर्म का पालन करेंगे।

—मानव मुनि
विसर्जन आश्रम, नौलखा, इंदौर

●

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

केवल ज्ञान

मोह क्षोभ से मुक्त ज्ञान जब,
शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल होता ।
अखिल सत्य प्रतिभासित होता,
जनमन का कलिमल धोता ।।

★

शुद्ध ज्ञान केवल है केवल,
मंगल है, कल्याणक है ।
जड़-चेतनमय ज्ञेयमात्र का,
अविकल अवितथ मानक है ।।

★

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री
'साहित्यरत्न'

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०,
साहित्यरत्न, प्रभाकर

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन · एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष · इकतीस रुपये
तीन वर्ष · इक्कीस रुपये
वार्षिक · आठ रुपये
एक प्रति · पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ९ । जून ७२ । अंक ६

उपाध्याय अमर मुनि

अन्तर्नाद

शुभाशुभविकल्पेन, सुखदुःखात्मको भवः ।
सर्वदैकरसा मुक्तिः, शुद्ध-निर्द्वन्द्वभावतः ॥३८॥

—शुभ और अशुभ विकल्पों से ही यह सुख-दुःखस्वरूप संसार है। शुद्ध और निर्द्वन्द्व भाव से मुक्ति होती है, और वह सदा सर्वदा एकरस रहती है।

आत्मा की तीन परिणतियां होती हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभ पुण्यरूप है, अशुभ पापरूप है, और शुद्ध न पुण्य है, न पाप है। वह दोनों से परे निजभाव है। संसार की भूमिका शुभ-अशुभ तक ही है। क्योंकि यही दोनों बन्धन हैं। इनके सिवा दूसरा कोई बन्धन नहीं है। राग और द्वेष दो बन्धन हैं। और राग द्वेष शुभ अशुभ तक ही रहते हैं, आगे नहीं। इन से आगे शुद्ध की भूमिका है, जो आत्मा की वीतराग भाव-रूप शुद्ध स्थिति है। वीतराग भाव क्या है? वीतराग भाव निष्कर्मण्यता नहीं, अपितु निष्काम कर्मयोग है, जो भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा का प्राणतत्त्व है।

कृच्छ्रप्राप्तावनुद्विग्नः, सुखे च विगतस्पृहः ।
मोक्षे भवे च मध्यस्थः, शिवत्वं लभतेऽचिरात् ॥३९

—जो दुःख के आने पर उद्विग्न-खिन्न नहीं होता और सुख के आने पर स्पृहयालु नहीं होता अर्थात् सुख की कामना में लिप्त नहीं रहता। और तो क्या, संसार और मोक्ष में भी माध्यस्थ्य भाव रखता है, अर्थात् न मोक्ष से राग रखता है, न संसार से द्वेष। ऐसा वीतराग साधक शीघ्र ही शिवत्व भाव (मुक्ति) को प्राप्त करता है।

शिवत्व भाव की प्राप्ति की बात भी एक लोक-भाषा ही है। वस्तुत तो संसार और मोक्ष दोनों विकल्पों से मुक्ति ही मुक्ति है।

रागादिपरिदाहोऽस्ति तावद् यावन्न निर्मले—
सम्यग्ज्ञानसुधासिन्धाववगाहो विधीयते ॥४०॥

—जब तक अन्तर्मन में रागादि का भयंकर दाह है, तब तक सम्यग् ज्ञान के निर्मल अमृत सागर में अवगाहन नहीं हो सकता।

रागादि विकल्पों की तीव्रता में सम्यक् आत्मबोध नहीं होता है। उबलते-खोलते जल में यदि कोई अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहे तो वह साफ नजर नहीं आयेगा। शीतल और शान्त जल में ही प्रतिबिम्ब स्वच्छता से परिलक्षित होता है।

बाह्यत्यागो न हि त्यागो यद्यन्तर् मूर्च्छनाविषम्।
त्वक्परित्यागमात्रेण सर्पः किं निर्विषो भवेत् ॥४१॥

—यदि अन्तर्मन में आसक्ति का विष है, तो वह बाहर का त्याग, त्याग नहीं है। क्या त्वचा-केंचुली के त्यागने मात्र से सर्प निर्विष हो जाता है?

बाहर में 'नहीं-नहीं' है, और अन्दर में 'हाँ-हाँ' है, तो यह त्याग का नाटक है, तमाशा है, वास्तविक त्याग नहीं। सच्चा त्याग ऊपर से नहीं, अन्दर से होता है। इसी लिए भगवान् महावीर ने मूर्च्छा—आसक्ति के त्याग को ही अपरिग्रह बताया है। वस्तु के त्याग का उतना महत्व नहीं है, जितना कि वस्तु से सम्बन्धित मोह के त्याग का है। वस्तु न हो, फिर भी यदि उसके प्रति मोह है, राग है, अन्दर में तमन्ना है, तो वह उस वस्तु का परिग्रही ही है, त्यागी नहीं।

काठिन्यं किं बहिस्त्यागे, मूर्च्छात्यागोहि दुष्करः।
बाह्यवेषेण साधुत्वं चेन्नटोऽपि महामुनिः ॥४२॥

—बाहर के त्याग में कोई खास कठिनाई नहीं है, वस्तुतः मूर्च्छा का—आसक्ति का त्याग करना ही दुष्कर है। यदि केवल बाह्य वेष से ही साधुता प्राप्त हो जाए, तो फिर साधुवेष धारण करने वाला एक बहुरूपिया नट भी महामुनि हो सकता है।

एक वस्तु होती है, दूसरी वस्तु के प्रति मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति होती है। वस्तु तो वस्तु है, वह पर है, और उस 'पर' का ग्रहण क्या और त्याग क्या? वस्तु के अभाव में एक दरिद्र त्यागी नहीं होता। असली त्याग मूर्च्छा का

त्याग है। वस्तु को छोड़ देने पर भी यदि अन्तर्मन में उसके प्रति आकर्षण है, लगाव है, मूर्च्छा है तो वह वस्तु बाह्य जगत् से भाव जगत् में आकर बैठ गयी है, विषधर सर्प बाहर से अन्दर बाँबी में आकर बैठ गया है।

इच्छाया यदि पूर्तिश्चेल्लोभमोहविजृम्भणम्।
अपूर्तिश्चेत् तदा दैन्य-क्रोध-तापादिपीडनम् ॥४३॥

—इच्छा की पूर्ति होने पर लोभ और मोह बढ़ता है। और यदि इच्छा की मनचाही पूर्ति नहीं होती है, तो दीनता, क्रोध और परिताप आदि की पीड़ा होती है।

मनुष्य के मन की इच्छा एक ऐसी स्थिति का निर्माण करती है कि उसमें कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। यदि इच्छा की पूर्ति होती है, तो उसमें लोभ और मोह बढ़ने लगते हैं। एक के बाद दूसरी इच्छा उभरने लगती है। और दूसरी के बाद तीसरी। और इस प्रकार यह सिलसिला अनन्त की ओर चल पड़ता है। कहीं विश्राम नहीं, कहीं विराम नहीं। इसी लिए भगवान् महावीर ने इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा है— **'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया'**।

और यदि इच्छा की पूर्ति नहीं होती है, तब भी शान्ति नहीं है। पूर्ति के अभाव में मन दीन-हीन स्थिति में पहुँच जाता है, वह आत्मग्लानि से भर जाता है। इच्छापूर्ति में यदि किसी ओर से रुकावट आती है तो उस पर क्रोध होता है। और निरन्तर के मनस्ताप की तो कोई सीमा ही नहीं रहती। अस्तु, इच्छा पूर्ण हो या अपूर्ण, दोनों ही केन्द्रों से वह दुःख ही बढ़ाने वाली है।

लोभो वस्तुषु मूर्च्छास्ति मूर्च्छा चैव परिग्रहः।
तस्माद् भिक्षाचरो रंकोऽप्यन्तर्महापरिग्रही ॥४४॥

—वस्तुओं पर जो लोभवृत्ति है, वही मूर्च्छा है। और जो मूर्च्छा है, वही वास्तव में परिग्रह है। इसलिए मूर्च्छा रखने वाला, भले ही वह दरिद्र भिखारी ही क्यों न हो, अन्दर में महापरिग्रही है।

परिग्रह क्या है? क्या वस्तु परिग्रह है? नहीं, यदि केवल वस्तु ही परिग्रह हो तो तीर्थंकर भगवान् का कितना वैभव है, कितना ऐश्वर्य है? आठ महा-प्रातिहार्यों की कितनी दिव्य विभूति है? स्वर्ण सिंहासन है, तीन-तीन छत्र हैं, चामर हैं, स्वर्ण और रत्नों का बना समवसरण है। क्या इस बाह्य वैभव से तीर्थंकर परिग्रही हो जाते हैं। नहीं, अन्दर से अनन्त वीतरागता होने

से, अनासक्त होने से तीर्थंकर परिग्रही नहीं हैं। दूसरी ओर एक जन्म-जात दरिद्र भिखारी के पास संपत्ति जैसा क्या है? भिखारी भीख मांग कर पेट भरता है, कभी भूखा नंगा ही रहता है। फूटी कौड़ी भी तो पास नहीं। किन्तु अन्दर में इच्छाओं के होने से वह परिग्रही है। अतः वस्तु की अपेक्षा, वस्तु की मूर्च्छा ही असली परिग्रह है। इसी लिए भगवान् महावीर ने कहा है—'**मुच्छा परिग्गहो**'।

भवस्य वस्तुतो हेतुरन्तरङ्ग-परिग्रहः।
तदधीनो हि बाह्यानां वस्तूनां च परिग्रहः ॥४५॥

—संसार का वास्तविक हेतु मन के अन्दर का ममता एवं आसक्ति रूप परिग्रह है। क्योंकि बाह्य वस्तुओं को जो परिग्रहत्व प्राप्त होता है, वह अन्तरंग ममत्व रूप परिग्रह के आधार पर ही होता है।

परिग्रह का मूल अर्थ है—सब ओर से पकड़ लेना, बंधन में डाल लेना। और यह पकड़ या बंधन और कोई नहीं, प्राणी के अन्तर् में जो काम, क्रोध, मद, लोभ आदि की मोह रूप दुर्वृत्तियाँ हैं, वस्तुतः वे ही बन्धन हैं। बाहर की वस्तुओं को जो परिग्रह कहा जाता है वह मात्र औपचारिक है। बाह्य वस्तुओं में परिग्रहत्व तभी आता है, जबकि अन्दर में मोहरूप भाव परिग्रह होता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर प्राचीन आचार्यों ने परिग्रह के दो भेद किए हैं—भावपरिग्रह और द्रव्यपरिग्रह।

संसारो विषयासक्तिर् मोक्षस्तु विषयारतिः।
एतदस्ति समासेन लक्षणं भवमोक्षयोः ॥४६॥

—विषयों में आसक्ति संसार है, और विषयों से विरक्ति मोक्ष है। संसार और मोक्ष का संक्षेप में यही शुद्ध लक्षण है।

आत्मा की दो स्थितियाँ हैं—संसार और मोक्ष। संसार धरती और आकाश नहीं है, यह तो केवल जगत् है। यह कहाँ बंधन में डालते हैं? मुक्त आत्माएँ भी तो इसी जगत् में रहती हैं। इस जगत् से बाहर कहाँ कौनसा स्थान है उनका? अस्तु जिस संसार से मुक्त होना है, वह है विषयासक्ति। इन्द्रियों के शब्द, रूप आदि विषयों में आसक्ति रखना, मूर्च्छा-भाव रखना ही संसार है और इनसे विरक्ति रखना ही मोक्ष है। मुक्ति के दो रूप हैं—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। जबतक शरीर है तो उसके भोग भी रहेंगे। अतः देहधारी जीवन्मुक्ति अर्हन्तों को प्रारब्धकर्म के उदय से विषय तो रहते हैं, किन्तु उनके प्रति आसक्ति-रति नहीं होती। शरीर छोड़ने के बाद विदेहमुक्ति होने पर ही विषय छूटते हैं पहले नहीं। ●



तीर्थंकर भगवान् महावीर
का
कैवल्य-कल्याणक पर्व

— उपाध्याय अमरमुनि

पूर्व भारत की वह मेरी स्पृहणीय ऐतिहासिक यात्रा, जो आज भी मेरे अन्तर्मन को गुदगुदा जाती है। श्रमण जीवन के प्रारंभ मे ही, जबकि पूर्वांचल के जैन इतिहास की कुछ मोहक गाथाएँ, प्राचीन ग्रन्थों के ऐतिहासिक सन्दर्भों में पढ़ी थीं, अन्तर्मन बराबर उस ओर खिचा जा रहा था। सौभाग्य से कलकत्ता श्री संघ के वर्षावास-सम्बन्धी अत्याग्रह पर वह मन की चिरागत इच्छा हर्ष, उल्लास एवं आनन्द के मधुर क्षणों में, विगत सन् १९६१ में रूपाकार ले सकी।

वैशाख शुक्ला दशमी का मंगलमय दिन था, वह दिन, जिस दिन तीर्थङ्कर भगवान् महावीर को १२॥ वर्ष की दीर्घ साधना के बाद ऋजु बालुका नदी के तट पर, कैवल्य ज्ञान की अनन्त ज्योति प्रकट हुई थी अनन्त सत्य का साक्षात्कार हुआ था। यह दिन वह दिन है, जो जन्म दीक्षा आदि सभी कल्याणकों में एक महान् कल्याणक है। यह कल्याणक पूर्ण वीत-रागता की उपलब्धि का, साथ ही अनन्त ज्ञान एवं अनन्त दर्शन की संप्राप्ति का वह दिन है, जिसके लिए हर युग का हर साधक अन्तर में एक दिव्य श्रद्धाभाव लिए साधना पथ पर अवतरित होता है।

हाँ, तो ऋजुवालुका, जिसे आज लोकभाषा में 'बराकर' कहते है, कल-कल छल-छल के गुरुगंभीर नाद मे बह रही है। सम्मेद शिखर—पार्श्वनाथ पर्वत (बिहार) से लग-भग दश मील की दूरी पर, अनेक वन-कान्तारों एवं पर्वतशृंखलाओं को पार कर हम तपती दोपहरी में यहाँ

पहुंचे हैं। दूर-दूर तक फैले हुए शाल वन कितने सुन्दर हैं। इन्ही हवा में झूमते सुन्दर शान्त वृक्षों के किसी पूर्वज महाकाय शाल वृक्ष के नीचे ध्यानयोग में लीन तीर्थंकर महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बने थे, सदा सदा के लिए उन्होंने अनादिकाल के मोह, क्षोभ एवं अज्ञान के बन्धन तोड़ दिए थे। प्रभु भक्तों ने उसी पवित्र स्मृति के उपलक्ष्य में भगवान महावीर का एक मन्दिर भी नदी तट पर बना रखा है जो हर यात्री को उस दिन की ऐतिहासिक याद को आज भी ताजा करा देता है।

ऋजु बालुका यहाँ विशाल चट्टानों के ऊपर से बहती है। मैं और मेरे साथी लघुबन्धु अखिलेश मुनि, चट्टान-से-चट्टान को लांघते, उक्त ऐतिहासिक सरिता के ठीक बीच में एक चट्टान पर पहुँच गए हैं। अगल-बगल में दोनों ओर अनेक जलधाराओं के रूप में ऋजुवालुका, अपने ही प्रवाहों से काटी गई चट्टानों के गहरे कटावों के बीच से अन्तर्जला होकर प्रवहमान है। चट्टानों से टकराती जलधाराएँ एक अनिर्वचनीय संगीत का स्वर मुखरित कर रही हैं। अनेक चित्र विचित्र पक्षी नदी के ऊपर उड़ते हुए गगनविहार कर रहे हैं, और नीचे नदी की जलधाराओं में उनके प्रतिबिम्ब उड़ान भर रहे है, जलविहार कर रहे हैं। पश्चिम की ओर से आते प्रवाह के सम्मुख, हम एक विशाल चट्टान पर पद्मासन में ध्यानस्थ होगए हैं। संध्या का समय है। शीतलमन्द समीर बह रहा है। सामने ही भुवनभास्कर सूर्यदेव अस्ताचल की ओर नीचे उतरने की तैयारी में हैं।

वह संध्या का समय वह समय है, जब प्रकृति के बाह्य जगत् का सूरज एक ओर अस्त हो रहा था, तो दूसरी ओर भगवान् महावीर के अन्तर्जगत के चिदाकाश में अनन्त ज्योतिर्मय केवलज्ञान सूर्य का उदय हो रहा था। इतिहास का अदभुत क्षण! जिसकी अनुभूति ने मेरे मन के अतीत और वर्तमान से सम्बन्धित कालभेदों को एक कर दिया है। वर्तमान, चिर अतीत में वापस लौट गया है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि चिर अतीत, वर्तमान में रूपायित हो गया है। अन्दर और बाहर का सारा वातावरण लग रहा था, एक अनिर्वचनीय दिव्यता का रूप ले रहा है।

क्या बताऊँ, कुछ बता नहीं सकता। वाणी मौन है। शब्द गूंगे होगए है। महावीर के ही शब्दों में दिव्यता की अनुभूति के कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जो शब्दातीत होते हैं। उन्होंने कहा है—**"जत्थ सरा निव्वत्तंते, तक्का तत्थ न विज्जई,"'अपवस्स पदं नत्थि।"** बस, अन्दर की अनुभूति

अन्दर ही रह जाती है, बाहर आने को उसे कोई माध्यम ही नहीं मिल रहा है। **"गूंगे का गुड़ है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।"**

ध्यानसाधना, मैं, काफी लम्बे समय से कर रहा हूँ। अखण्ड एकाग्रता के लिए बहुत बड़ी प्यास अन्दर में लिए रहता हूँ। परन्तु यह प्यास ऐसी नहीं कि यों ही झटपट पद्मासन लगाया, आँखें बन्द की कि बस बुझ जाए, आध्यात्मिक परितृप्ति से अन्तर्जीवन का हर कण और हर क्षण रसमय हो जाए। कुछ गिने-चुने प्रसंग एवं अवसर ही जीवन में ऐसे आए हैं, जब कि मैं अन्दर के चैतन्य सागर की गहराई में काफी दूर तक डुबकी लगा सका हूँ। दिव्य अनुभूति की वे मधुस्मृतियाँ आज भी अन्तर्मन को मधुरस से सराबोर किए देती हैं। वैशाख शुक्ला दशमी की संध्या के ये ध्यानक्षण भी उन्हीं में से एक हैं, जिन्हें मैं न भूला हूँ, न भूलूंगा। भूलना चाहिए भी नहीं। वह साधक ही कैसा, वह प्रभुभक्त ही कैसा, जो इन दिव्य अनुभूतियों को यों ही भूल जाए।

महापुरुषों का कहीं न कहीं जन्म ग्रहण कर लेना, उतना दिव्य नहीं है, जितना कि कठोर श्रम एवं साधना के बाद उनकी अपने लक्ष्य की उपलब्धि दिव्य है। विशुद्ध भावनिक्षेप की दृष्टि से यही स्थिति अभिनन्दनयोग्य है। जिसे हम तीर्थंकरत्व कहते हैं, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति यहाँ आकर ही होती है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है—केवल ज्ञान से पहले तीर्थंकरों का तीर्थंकरत्व प्रदेशोदय के रूप में होता है। केवलज्ञान होने पर ही वह विपाकोदय का रूप लेता है। अर्थात् तीर्थंकर का कर्तृत्व तभी फलप्रद होता है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर का तीर्थंकरत्व वैशाखशुक्ला दशमी को ही पूर्णतया उजागर हुआ। इससे पूर्व भगवान् अधिकतर मौन-साधना में रहे। और जो कभी-कभार धर्मचर्चा, प्रश्नोत्तर या धर्मसंवाद हुए भी हैं, वे सब व्यक्तिगत ही हुए हैं। धर्मसभा के रूप में सार्वजनिक प्रवचन आदि नहीं। अतः तीर्थंकर के रूप में सर्वजनहिताय धर्मप्रचार का मार्ग कैवल्यलाभ के पश्चात् ही प्रशस्त होता है। विश्वमंगल का उद्घोष एवं कर्तृत्व, जो तीर्थंकर पद का महान् आदर्श है, वह केवलज्ञान की उपलब्धि पर ही आधारित है। आज हमें प्रभु महावीर का, जो भी तत्त्वदर्शन एवं आचार दर्शन प्राप्त है, वह कैवल्य के बाद की ही देन है। अतः अन्य कल्याणकों की अपेक्षा कैवल्य कल्याणक का अधिक महत्व है। इसीलिए मैंने विगत चार वर्षों से यह दिवस कैवल्य महोत्सव के रूप में मनाने की प्रेरणा दी है,

और यह उत्सव मनाया भी है। सर्वसाधारण जनता और प्रबुद्ध जन वर्ग—दोनों ही ने इसे पसन्द किया है।

मैं चाहता हूं, इसे व्यापक प्रचार मिलना चाहिए। उस दिन भगवान महावीर के तत्त्व दर्शन पर, उनके सर्वजन-मंगल उपदेशों एवं शिक्षाओं पर जैन-अजैन विद्वानों के सम्मिलित प्रवचनों का आयोजन काफी सुन्दर तथा उपयोगी रहेगा। साथ ही प्रमुख विद्वानों की ज्ञानगोष्ठी तथा परिसंवाद भी होने चाहिएँ। सर्व साधारण जनता में भगवान् महावीर की शिक्षाओं से सम्बन्धित परिपत्रों का वितरण भी आवश्यक है। भगवान् की आन्तरिक ज्ञान-ज्योति का दिव्य रूप जब तक जनता के समक्ष मुक्तमन से नहीं रखा जायेगा, तब तक हम प्रभु के अनन्त दिव्य गौरव की एक लघु झांकी भी जनता को ठीक ढंग से नहीं दिखा पा सकेंगे।

अपने महान् महिमामय पूर्वजों की, उनके लोक-मंगल कर्म एवं दिव्य उपलब्धियों की स्मृति हमारी एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक थाती है। ये स्मृतियां हमारी सुप्त चेतना को प्रेरणा देती हैं, जगाती हैं। कर्तव्य की साधना के लिए किसी उच्चतम आदर्श की अपेक्षा सदा रही है, सदा रहेगी। और उस आदर्श की ज्योति जगाने के लिए महापुरुषों की स्मृति ही सर्वाधिक कारगर हेतु है। अतः क्या मैं अपेक्षा व आशा रखूं कि भगवान् महावीर के सर्वमंगल सर्वोदयी तीर्थ के साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका कैवल्य कल्याणक पर्व को सार्वजनिक रूप से मनाने की दिशा में सक्रिय होंगे? मैं अपने प्रश्नवाचक वाक्य में से 'क्या' हटा लेता हूं, क्योंकि वह अनिश्चितता के केन्द्र-बिन्दु पर खड़ा है। और भक्तों के श्रद्धा-स्निग्ध हृदय में उपासना के लिए अनिश्चितता कैसी, संशयग्रस्तता कैसी? वहाँ तो इस प्रकार के सत्कर्मों के लिए एकरस रूप जो भी है, वह बस 'है' ही है, नहीं जैसा कुछ भी नहीं। मैं समझता है, इसका उत्तर मुझे 'हाँ' में मिलेगा। वह उत्तर भी केवल वाणी से ही नहीं, क्रियान्वयन से मिलेगा। मैं जानता हूँ, मेरे कुछ विचारों की गरमी कितने ही सज्जनों को सह्य नहीं है, किन्तु प्रस्तुत विचार में तो असह्यता—जैसी कोई बात नहीं है। यह तो अपने आराध्य की पूजा का वह पक्षमुक्त मंगल प्रस्ताव है, जहाँ हम परस्पर के विरोधों या विरोधाभासो से ऊपर उठ कर एक रहे हैं, एक रहेंगे।

●

● उपाध्याय अमरमुनि

विभिन्न दर्शनों में अनेकान्त दृष्टि

जैन-दर्शन का सर्वाधिक विशिष्ट सिद्धान्त, 'अनेकान्त' है। अनेकांत शब्द का अर्थ है—जिसमें एक अन्त न होकर अनेक अन्त हों। अन्त शब्द का अर्थ है- धर्म अथवा गुण। जैन-दर्शन के मन्तव्य के अनुसार जगत की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों का पुंज है, अनन्त धर्मों का समुदाय है। इसीलिए उस सिद्धान्त को अनेकान्त कहा जाता है, जिसमें वस्तु के किसी एक धर्म का नहीं, अपितु वस्तुगत समग्र धर्मों का समादर किया जाता है। एक आचार्य ने अनेकान्त की परिभाषा करते हुए कहा है—**'अनन्त धर्मात्मकं वस्तु'**। तत्त्व क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि—**'अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्'**। वस्तु अपने आप में अनन्त है, पर उसके समग्र रूप को कभी एक साथ पकड़ा नहीं जा सकता, और यदि पकड़ भी लिया जाय तो उसे कहा नहीं जा सकता। 'अनेकान्त' वस्तुतः 'वाद' अर्थात् 'विवाद' नहीं है, वह तो एक प्रकार का 'संवाद' है। अतः अनेकान्त के साथ प्रचलित अर्थ में वाद न लगाकर दृष्टि लगाना ही अधिक उपयुक्त है। अनेकान्त दृष्टि, वह दृष्टि है, जिसमें किसी एक ही धर्म और गुण को नहीं पकड़ा जाता, बल्कि एक को मुख्यता दी जाती है। जब एक को मुख्यता दी जायगी तब यह स्वाभाविक है कि शेष को गौणता प्राप्त हो। गौण-मुख्य भाव से वस्तु का कथन करना, यही अनेकान्त दृष्टि अथवा अनेकान्त वाद कहा जाता है। 'वाद' का अर्थ है—कथन करना। भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा था, वह उनके कहने से अनेकांतमय नहीं हुआ, लेकिन पदार्थों की जैसी स्थिति थी, वैसा ही उनका कथन था। यथार्थ का ज्ञाता एवं द्रष्टा ही यथार्थ भाषी होता है, अन्यथा भाषी नहीं।

अनेकान्त दृष्टि अथवा अनेकान्तवाद, क्या जैन-परम्परा का ही एकमात्र सिद्धान्त है ? क्या वैदिक परम्परा में और बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के विचार उपलब्ध नहीं हैं ? निश्चय ही वहाँ पर भी इस प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। वैदिक-परम्परा का आदि ग्रन्थ 'ऋग्वेद' माना जाता है, बल्कि विश्व की समस्त पुस्तकों में उसे प्रथम पुस्तक माना जाय, तो भी गलत नहीं होगा। ऋग्वेद में इस प्रकार के विचारों के सूक्ष्म बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है—'**एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**' सत्य एक ही है, किन्तु विद्वान् लोग उसका कथन अनेक प्रकार से करते हैं। उपनिषद् में एक शिष्य ने गुरु से पूछा—वह कौनसी वस्तु है, जिसके ज्ञान से वस्तु मात्र का ज्ञान हो जाता हो। मुण्डकोपनिषद् में यह प्रश्न पूछा गया है। इसके उत्तर में गुरु ने कहा था—'**एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन मृण्मयं विज्ञातं स्यात्।**' मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर सारी मिट्टी का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार का प्रश्न छान्दोग्यउपनिषद् में पूछा गया है। इस पर से यह ज्ञात होता है कि उपनिषद् काल के ऋषियों ने भी इस पर अवश्य ही विचार किया होगा।

बौद्ध-परम्परा में अनेकान्तवाद और अनेकान्तदृष्टि जैसे शब्दों का प्रयोग तो नहीं है। हाँ, जैन-परम्परा के स्याद्वाद से मिलता जुलता एक शब्द बौद्ध परम्परा के साहित्य में उपलब्ध होता है—'विभज्यवाद।' विभज्यवाद का प्रयोग सुप्रसिद्ध जैन अंग सूत्र 'सूयगड' में भी किया गया है—**विभज्जवायं च वियागरेज्जा।**' विभज्यवाद का सामान्य अर्थ है—विभाग करके कथन करना। बुद्ध जब किसी भी तत्त्व का प्रतिपादन करते थे, तब वे सापेक्षतावाद को ध्यान में रखकर ही कथन करते थे। बौद्ध परम्परा का मध्यम-मार्ग एक प्रकार से जैन-परम्परा के स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का ही एक प्रतीक है। जैन दर्शन जिस प्रकार से जगत् को सत् एवं असत् कहता है, उसी प्रकार माध्यमिक बौद्ध भी कहता है अस्ति और नास्ति—ये दोनों अन्त हैं, शुद्धि और अशुद्धि ये दोनों भी अन्त है। तत्त्वज्ञानी इन दोनों अन्तों का त्याग करके मध्य में स्थित होता है। समाधिराज सूत्र में कहा गया है—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ताः,
शुद्धि-अशुद्धीति इमे पि अन्ताः।
तस्मादुभे अंत विवर्जयित्वा,
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥

इस प्रकार बौद्ध-परम्परा को भी अनेकांतवाद, किसी न किसी प्रकार अभिमत रहा है।

यूनान देश के महान विचारक एवं दार्शनिक सुकरात अफलातूं, और अरस्तू ने भी अपने विचारों के प्रतिपादन में, ज्ञात भाव अथवा अज्ञात भाव से अनेकान्त का कथन किया ही है। सुकरात को अपने ज्ञान की अपूर्णता का उसकी अल्पता का पूरा परिज्ञान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान, अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहा करता था कि—मैं ज्ञानी हूं क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूं। दूसरे लोग ज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे अज्ञ हैं। सुकरात के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उसका कथन अनेकान्तवाद के अनुकूल है। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने कहा था कि हम लोग महासागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चों के समान हैं, जो अपनी सीपियों से सागर के पूरे पानी को नापना चाहते हैं। सत्य यह है कि हम सीपियों में पानी भर-भर के कभी उसे खाली नहीं कर सकते, फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियों में जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं, वह उस महासागर का ही एक अंश है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता। अफलातूं का यह कथन स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के अत्यन्त निकट है। अरस्तू कहा करता था कि एक ओर अत्याचार है, और दूसरी ओर अनाचार है, उन दोनों के मध्य में जो कुछ है वही सदाचार है। क्योंकि अत्याचार और अनाचार स्वयं अपने में पापरूप है, धर्म तो एकमात्र सदाचार है, जो दोनों के मध्य में स्थित है। जो मध्य में स्थित होता है वही वस्तुतः धर्म होता है। अरस्तू के इस कथन में अनेकान्त का संकेत स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। भले ही उसका कथन अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद शब्दों से न किया गया हो।

जर्मनी का महान दार्शनिक 'हिगोल' अपने युग का एक महान विचारक था और वह समन्वयवादी विचारक था। दर्शन-शास्त्र

में इसके युग से पूर्व जो कुछ लिखा गया था, और स्वयं उसके युग में अन्य दार्शनिकों ने जो कहा था, उसमें जहाँ-जहाँ विसंगति रह गई थी, हिगेल ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसकी संगति में और समन्वय में लगा दी थी। कथन सापेक्षता को लेकर होता था। वर्त्तमान युग में भारत में समन्वयवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने में स्वामी विवेकानन्द ने यह महत्त्वपूर्ण काम किया था। भारतीय दर्शनों में स्वामीजी ने जो एक निकट का समन्वय देखा था, उसी का प्रतिपादन उन्होंने यूरोप में जाकर किया था। इस प्रकार स्वामी बिवेकानन्द ने वही कार्य किया, जो कार्य, परम्परा से जैन-दर्शन के आचार्य करते आ रहे थे। इस प्रकार देखा जाता है, कि अनेकांत दृष्टि सर्वत्र परिव्याप्त है। उसे अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद इन शब्दों से कहा जाए, अथवा न कहा जाए, पर भारत के समग्र दर्शनों में और पाश्चात्य दर्शनों में भी यत्र-तत्र किसी न किसी रूप में उसे स्वीकार किया ही गया है। सत्य से कभी इन्कार नह किया जा सकता।

जैन-परम्परा के दार्शनिकों में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन तार्किक शैली से प्रस्तुत करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर रहे हैं। उन्होंने अपने 'सन्मति सूत्र' ग्रंथ में अनेकांत दृष्टि का व्यापक रूप में विचार किया है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'आप्त-मीमांसा' ग्रन्थ में स्याद्वाद का प्रतिपादन बड़े ही तार्किक शैली से प्रस्तुत किया है। वैसे तो जैन-परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक ने कम या अधिक रूप में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखा ही है. किन्तु उक्त दोनों आचार्यों ने तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति अनेकांत-वाद और स्याद्वाद के संस्थापन में ही लगा दी थी।

कुछ विद्वान् अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद को एक दूसरे का पर्याय-वाची समझ लेते हैं, पर यह उचित नहीं है। क्योंकि अनेकांत एक वस्तु परक दृष्टि है, एक वस्तु सम्बन्धी विचार है, वस्तु के सम्बन्ध में सोचने की एक पद्धति है। स्याद्वाद का अर्थ है—वस्तु का विभिन्न गुण कर्मों के अपेक्षा विशेष से कथन करना। अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा और जिस पद्धति से अभिव्यक्त किया जाता है, वास्तव में उसे ही स्याद्वाद कहा जाता है।

प्राचीन-युग में भारतीय दर्शनों में अनेक वाद, विवाद, और प्रतिवाद दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ वाद होता है वहाँ प्रतिवाद अवश्य ही होगा। और जहाँ प्रतिवाद होता है, वहाँ संघर्ष अवश्य होगा ही। इस स्थिति में यह आवश्यक था, कि संघर्ष को टालने के लिए, अथवा वाद-प्रतिवाद की कटुता को मिटाने के लिए किसी ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी, जो उनमें समन्वय स्थापित कर सके। उस युग की मांग को अनेकान्तवाद ने पूरा किया था। यद्यपि अनेकान्त का खंडन जैन-परम्परा से भिन्न अन्य सभी परम्परा के विद्वानों ने खुल कर किया था, तथापि किसी न किसी रूप में उसे स्वीकार भी अवश्य किया है। जैसे वेदान्त-दर्शन एकान्त नित्यवादी दर्शन रहा है और बौद्ध-दर्शन एकान्त क्षणिकवादी दर्शन रहा है। सत् क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्त कहता है, कि वह एक है और नित्य है। बौद्ध-दर्शन कहता था—सत् अनेक हैं और वे सब क्षणिक हैं। इस प्रकार भारत के दोनों प्रसिद्ध दार्शनिक पक्ष एक दूसरे के विरोध में खड़े थे। यह कहना होगा, कि सांख्य ने सत्य को एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य न मान कर परिणामी नित्य कहा था। इसका अर्थ यह है, कि परिणामवाद ने कुछ सीमा तक उस कटुता को दूर करने का प्रयत्न अवश्य किया था, परन्तु पूर्णतः नहीं। क्योंकि सांख्य ने अपने अभिमत पच्चीस तत्त्वों में से एक पुरुष को निर्विकार और कूटस्थ नित्य माना है। उसने एकमात्र प्रकृति को ही परिणामी माना। जड़ को ही परिणामी माना, चेतन को नहीं। समस्या का समाधान होकर भी समाधान नहीं हो सका। वाद और प्रतिवाद की परम्परा आगे बढ़ती ही रही, उसका अन्त नहीं हो सका।

अनेकान्त दृष्टि में और स्याद्वाद में समग्र वाद एवं प्रतिवाद दूर हो जाते हैं। क्योंकि अनेकांत की व्यवस्था ही इस प्रकार की थी, कि उसमें किसी भी प्रकार के विवाद को स्थान रहता ही नहीं। जैन दार्शनिकों से जब पूछा गया, कि आपके यहाँ सत् नित्य है कि अनित्य? तब उन्होंने स्पष्ट भाषा में और सचोट शब्दों में कहा—नित्य भी है और अनित्य भी। कैसे और क्यों? इस दार्शनिक सनातन प्रश्न का समाधान उन्होंने दो दृष्टियों से किया—द्रव्यदृष्टि और पर्याय दृष्टि। द्रव्यदृष्टि से जगत की प्रत्येक वस्तु नित्य है और

पर्याय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य है। जैन दार्शनिकों ने कहा-- सत् भी सत्य है और असत् भी सत्य है। दोनों में दृष्टि का भेद है, दोनों में दृष्टि का अन्तर है। क्या घर में रहने वाला एक ही व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता नहीं हो सकता? पितृत्व और पुत्रत्व में विरोध प्रतीत होते हुए भी विरोध नहीं है। क्योंकि दृष्टि भिन्न-भिन्न है। तब फिर, जगत् की एक ही वस्तु नित्य भी और अनित्य भी क्यों नहीं हो सकती? उसमें भी किसी भी प्रकार का विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि दोनों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है। जगत के प्रत्येक पदार्थ में जो परिवर्तन परिलक्षित होता है, वह पर्याय की अपेक्षा से है और उसकी सत्ता का कभी लोप नहीं होता, यह द्रव्य की अपेक्षा से सही है। क्या एक ही व्यक्ति बालक, तरुण, और वृद्ध नहीं हो जाता? यह तीनों अवस्थाएं बदली हैं, इन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। फिर भी यह सत्य है, कि तीनों अवस्थाओं में व्यक्ति एक ही है, भिन्न नहीं। जैन दर्शन की यही अनेकान्त दृष्टि है और यही उसका अनेकान्तवाद है।

★

● उपाध्याय अमरमुनि

पुरानी परम्पराओं का परिवर्तन, परिष्कार

श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी का विक्रम सं० २००६, सन् १९५० में राजस्थान के सुप्रसिद्ध व्यावर नगर में चातुर्मास था। उक्त प्रवचन चातुर्मास की समाप्ति पर विहार के समय उद्‌बोधन स्वरूप दिया गया था। प्रवचन काफी प्रेरणाप्रद है। जीवन की नई दिशाओं की ओर स्पष्ट संकेत देता है।

—संपादक

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, आज के युग में शास्त्रों की बातें करने वाले—उन पर कितने चलते हैं? खाने, पीने और इधर-उधर बैठने की बातों में तो सुधार कर लेते हैं, पर जहाँ संघ-हित की बातें आती हैं, वहाँ उनके शास्त्र अड़ जाते हैं। पहले तीसरे पहर में गोचरी के लिए जाते थे, आज वह परम्परा कहां गई? रात के केवल एक तीसरे पहर की निद्रा, आज कहाँ है? कहाँ गया वह—**'एग भत्तं च भोयणं'** एक समय का भोजन? आज तो एक बार क्या, दो-दो तीन-तीन बार खा लेने पर भी तृप्ति नहीं होती है। बचाव के लिए कुछ लोग कहते हैं, लाना एक बार है, खाना एक बार नहीं। यह भी निरा दम्भ है। पहले ऊपर की मंजिल में साधु नहीं ठहरते थे, आज वह परम्परा कहां उड़ गई? हम एक दिन इन सब बातों को सामने लाएँगे, और यहां तक लाएँगे कि आपको, हमारी एक-एक बात पर विचार करना पड़ेगा। और उन अर्थहीन परम्पराओं को, जो आज हमारे धर्म के प्रचार-प्रसार में रोड़े अटकाती हैं, बदल देना होगा। पर, वे पुरानी परम्पराएँ, जो अभी तक धर्म का मूल रूप अपने में सुरक्षित रखे हुए हैं, और धर्म

की श्री वृद्धि करने वाली हैं उन्हें प्राणपण से हमें चालू रखना है। उनसे व्यक्ति और समाज को लाभ ही लाभ है, उनसे कोई हानि नहीं है।

परिवर्तन अधर्म नहीं :

परम्पराएँ तो समय-समय पर बदलती रहती हैं, बदलने पर भी यदि विवेक को सुरक्षित रखा जाए तो उनका मूल धर्म एक ही रहता है। परम्पराएं बनती भी हैं, और बिगड़ती भी हैं। परम्पराएँ धर्म के शरीर हैं, आत्मा नहीं। उनका बदलना आप और हम रोक नहीं सकते। वह तो युगानुसार बदलेंगी—जरूर बदलेंगी। २३ वें तीर्थंकर के समय में साधु रंगीन वस्त्र लेते थे, क्योंकि उनकी विवेक दृष्टि में, चाहे रत्न-कंबल हो, चाहे साधारण वस्त्र, एक ही मूल्य रखता था। पर जब से उनमें मोह बढ़ने लगा, आसक्ति की वृद्धि होगई, तब भगवान् महावीर ने कहा—अब रंगीन वस्त्रों की जरूरत नहीं, क्योंकि अब उन से शृंगार की मनोवृत्ति हो जाती है, इसलिए प्रथम तो अचेल रहना चाहिए, यदि देश, काल आदि की विशेष स्थिति में अपवाद-स्वरूप वस्त्र अपेक्षित हो तो वह केवल श्वेत वस्त्र ही होना चाहिए। पर, उन्होंने उस सुधार के साथ यह नहीं कहा कि—"मैंने जो परिवर्तन किया है, वह इस लिए कि रंगीन वस्त्र पहनना पाप था, और सफेद वस्त्र पहनना धर्म है। अस्तु देशकालानुसार साधकों की मनोवृत्ति, एवं भूमिका को देखकर बाह्याचार का विधान बदला जाता है। इसी समाधान के अनुसार यदि हम धर्मचर्या के क्षेत्र में आगे बढ़ें तो, समाज में परिवर्तन की अपेक्षा होते ही उचित परिवर्तन कर सकेंगे। और आज के युग की मनोभूमिका के अनुसार नया संविधान बना सकेंगे। ऐसा संविधान, जो धर्म की मूल चेतना को, आत्मा को सुरक्षित रखते हुए उसके क्रिया काण्ड सम्बन्धी स्थूल शरीर का उचित कायाकल्प करदे।

जाति एक ही मानव :

कुछ लोगों का कहना है कि जो जन्म से शूद्र है, वह शूद्र ही रहेगा। उनका यह शूद्रता का सिद्धान्त जन्म से नहीं, अनादि काल से है। अनन्त-अनन्त काल से जो आत्मा अस्पृश्य ही था, तो अब अस्पृश्य क्यों नहीं ? ऐसा तर्क करके वे इन अभद्र बातों को

शास्त्र सिद्ध करते रहते हैं। मुझे एक विद्वान मिले—उन्होंने यही तर्क किया, तो मैंने उनसे पूछा—"जैन परंपरा के अनुसार अकर्म भूमि युग में युगलिये तो सभी समान थे, उनमें तो कोई ब्राह्मण, शूद्र आदि भेद नहीं था, फिर आज के अछूत कहलाने वाले ये लोग अनन्त-काल के अछूत कैसे हो सकते हैं?" उन्होंने कहा—"उस समय बाहर से तो वे सभी एक जैसे ही थे, पर अन्दर उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चले आ रहे थे। बाद में कर्मभूमि युग में भगवान् ऋषभदेव ने ज्ञान में देखा कि अमुक व्यक्तियों में शूद्र की नस्ल आ रही है, तो उन्हें अलग कर दिया, और जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि की नस्ल में थे उन्हें ब्राह्मण क्षत्रिय आदि घोषित कर दिया।" मैंने कहा—"रहने दीजिये, इस कल्पित ज्ञान को। आज ये बातें नहीं चलने वाली हैं। अनादि अनन्त काल के लिए यह आत्माओं का विभाजन कितना तर्क हीन है, जरा सोचिए तो सही। अनादि काल से अव्यवहार राशि निगोद के जीवों में यह जाति भेद कहाँ था, कब था और उसका हेतु क्या था? आज तो यह कानून भी बन गया है कि सरकारी जगहों में, कुओं पर या सार्वजनिक स्थानों में कोई हरिजन का तिरस्कार करेगा तो उसे जेल की हवा खानी पड़ेगी। जुर्माना होगा सो अलग। आज तो होटल में आप गए हो, और तभी शूद्र भी आना चाहे, और उस समय आप उसे रोकने लगें, तो आपको जेल की सैर के लिए अपना बिस्तर बांधना पड़ेगा। अब धर्म के नाम पर चलने वाले ये शिकंजे अधिक दिन टिकने वाले नहीं हैं।"

धर्म को खतरा नहीं :

उपस्थित भाई और बहनों से मुझे कहना है कि वे धर्म के नाम पर चलने वाली गलत परम्पराओं से अपने को दूर रखें। शहर की बहनें भी पहले अधिकतर कूओं से पानी लाती थीं, पर जिस दिन नल लगा, उस दिन कितना हल्ला मचा था? और कहा जा रहा था, हमारा धर्म खतरे में पड़ जायगा। पर अब वह धर्म कहाँ छिप गया? एक दिन भारत में रेल आई तो कितने ही लोगों ने चढ़ने से इन्कार कर दिया कि हम इस पर नहीं चढ़ेंगे, क्योंकि इस पर अछूत भी बैठते हैं, इसलिए हमारा धर्म भ्रष्ट होता है। आज वे इस प्रकार कहने वाले तो नहीं रहे, पर उनके द्वारा गाये जाने वाले रेल-निन्दा के भजन अब भी कहीं-कहीं भोले लोगों की जबान पर चढ़े हुए हैं।

इसी तरह संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों और शास्त्रों को छपाना पहले निन्द्य और पाप गिना जाता था। यहाँ तक सुनने में आया है कि छपे हुए शास्त्रों को यदि मन्दिर में कहीं रख दिया जाता, तो उन्हें उठाकर दूर फेंक दिया जाता था। स्थानकवासी सम्प्रदाय के पूर्वजों ने भी छपे हुए शास्त्रों का घोर विरोध किया था। प्रारम्भ में शास्त्रों के छपाने का कितना भयंकर विरोध हुआ था, यह उस युग के पुराने लोगों से पूछ सकते हैं। परन्तु आज क्या हो रहा है? कहाँ गई वे पूर्वजों की बनाई हुई परम्परा की निषेधसीमाएँ? एक दिन साधुओं को संस्कृत पढ़ने के अपराध में दण्ड मिलता था, और संस्कृत पढ़ना एक तरह का गुनाह-पाप समझा जाता था। संस्कृत पढ़ने वाले साधु को मिथ्यात्वी, श्रद्धा-भ्रष्ट, प्रायश्चित्ती कहकर पुकारा जाता था। इस प्रकार संस्कृत अध्येताओं को जहर के कड़वे घूँट पीने पड़ते थे। पर, अब तो पहले जो विरोध करते थे, वे ही धड़ल्ले के साथ अपने शिष्यों को संस्कृत पढ़ा रहे हैं। मैंने उनमें से एक से पूछा कि "संस्कृत पढ़ना तो पाप था, इन्हें क्यों पढ़ा रहे हो?" तो उन्होंने उत्तर दिया "हाँ, पाप तो है, पर क्या करें? संस्कृत पढ़े बिना इज्जत नहीं होती?" मैंने उनसे कहा "तब तो आप दुहरा पाप कर रहे हैं? इज्जत के लिए संस्कृत पढ़ना एक तरह से अपनी अन्तरात्मा को धोखा देना है। ज्ञान के लिए नहीं, इज्जत के लिए पढ़ते हैं आप संस्कृत! कितने विचित्र हैं आप?"

युग एक चुनौती :

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ–"आज के युग में कौन ऐसा है, जिसने अपनी परम्परा में परिवर्तन न किया हो। छोटी से छोटी जातियों, पिछड़ी हुई कौमों के अन्दर भी बहुत सी गलत परम्पराएँ नष्ट हो रही हैं। युग जबरदस्त होता है। वह अपने-आप इन परम्पराओं को नेस्त-नाबूद कर देता है। मैं उन परम्पराओं पर चलने वालों को चुनौती देकर कह सकता हूँ कि इन गलत परम्पराओं के भरोसे आप जी नहीं सकेंगे। बड़ी से बड़ी परम्पराएँ भी बदली हैं और बदलेंगी।

शास्त्र में वर्णन आया है कि साधु के पैर में यदि काँटा चुभ जाय, और वह और किसी से न निकले, तो साध्वी से निकलवा

सकता है। इसी तरह साध्वी के पैर में यदि कांटा लग जाय, और वह और किसी से न निकल सके, तो वह साधु से निकलवा सकती है। आज के युग में कौन इस परम्परा पर चलेगा ? आज यदि साधु साध्वी से उपर्युक्त सेवा ले, तो एक निन्दनीय और लोगों की दृष्टि में घृणित चीज समझी जायगी। इसी तरह आप शास्त्र की कई बातों को देखेंगे तो मालूम होगा कि आज वे कितनी बदल गई हैं। जीवन हमेशा बदलता जाता है। समय की गति-विधि को टाला नहीं जा सकता। परिवर्तन और क्रान्ति का स्वर समय आने पर मुखरित होगा ही। जो समय के साथ चलेगा, वही इस दुनिया में सफल हो सकेगा। मैं तो अपने भाइयों और बहनों से जोरदार शब्दों में कहूँगा कि आप जो कुछ भी करें, करें। जो भी बदलना चाहें, बदल दें। बस, एक ही बात ध्यान में रखिए कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों की मौलिक भावना अवश्य सुरक्षित रहनी चाहिए। केवल तत्वहीन परम्पराओं को ही बदलना है, उन पर चलने की आशा, दुराशा मात्र होगी। अतः हर योग्य सामाजिक क्रान्ति के लिए प्राण-पण से तैयार रहें।

सत्य का स्वागत :

मैंने जीवन के सम्बन्ध में साफ सुलझी हुई निगाह रक्खी है। मैं जानता हूँ, इसके लिए मेरा विरोध होता है, पर सत्य के लिए यह विरोध सहना ही होगा। मैं उन साधुओं को जानता हूँ— जब उनके सामने अकेले में बातें चलती हैं, तो वे स्पष्ट कहते हैं— "हां, बात ठीक है, कवि जी ! पर, क्या करें ? अभी श्रावक तैयार नहीं हैं।" इस प्रकार श्रावकों के विरोध की विभीषिका उनके सामने भय की मुद्रा में नाचने लगती है। श्रावकों की बदलती आँखों को देखकर उनकी आँखें भी बदल जाती हैं। मैं सोचा करता हूँ, यह क्या हुआ ? क्या गृहस्थों की आंखों से देखकर ही आज का साधु अपने कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करेगा ? क्या उनकी दी हुई प्रतिष्ठा का घूँघट मुख पर डाल कर ही उनके इशारे पर नाचेगा ? हमें भी श्रावकों से प्रतिष्ठा लेने की कला आती है। पर इस तरह असत्य पर आधारित प्रतिष्ठा की गठरी बांध कर साधु को करना भी क्या है। कुछ भी हो, हमें ऐसा करना नहीं है। हमारी ऐसी वृत्ति ही नहीं

है। हमें तो प्रतिष्ठा को ठोकर लगाकर, निन्दा और विरोध के जहर के प्याले पीकर भी समाज को स्पष्ट चिन्तन देना है। जो भी कहना है, साफ कहना है। दुनिया की इज्जत इज्जत नहीं है। इज्जत तो प्रभु के सत्य मार्ग पर चलने की है। सत्य राम है, उसके पीछे असत्य रूपी रावण के हो-हल्ले होते ही रहेंगे। सत्य के उपासकों को उनसे डरना नहीं है। ऐसी छोटी-मोटी तूफानी हवाओं के झोंके से सत्य की नौका डगमगाने वाली नहीं है।

बाल विवाह धर्म नहीं :

बहनों के सम्बन्ध में मुझे खास तौर पर कुछ कहना है। मुझे बहनों से बहुत बड़ी अपेक्षा है। समाज के निर्माण का बहुत अधिक दायित्व बहनो पर ही है। यह नहीं कि बहनें कुछ समझती नहीं हैं। वे समझती भी हैं, और समझना भी चाहती हैं। मुझे तो यही प्रतीत होता है कि अपनी अज्ञानता के कारण नारियों ने स्वयं अपने-आप ही अन्ध परम्पराओं और अन्ध-विश्वासों का जाल फैलाया है, और स्वयं ही उसमें मछली की भाँति फंस गई हैं। वे चाहें तो इन बंधनों को तोड़कर सर्वथा स्वतंत्र हो सकती हैं। उदाहरण के तौर पर बाल-विवाह को ही ले लीजिए। गुड्डे-गुड़ियों की तरह छोटी-छोटी अबोध, दूध-मुंही बालिकाओं को गोद में बिठाकर उन्हें विवाह के सूत्र मे बाँध देना, विवाह है या विवाह का मजाक है? यह परिस्थितिवश मुगलकाल की देन थी। परन्तु यदि आज भी कोई उसी लकीर पर चले, तो समझा जायगा कि उसकी बुद्धि का दिवाला निकल गया है। आज तो उसके विरोध में सरकार ने कानून भी पास कर दिया है। पर सरकार के कानून से क्या होता है? यह तो समाज को स्वयं करना है।

पर्दा धर्म नहीं :

पर्दे का आज कोई महत्व नहीं है। मुगल काल में पर्दा चला था, पर इसे अब भी घसीटते जाना कोई बुद्धिमानी नहीं है। हाँ उन बहनों से, जिन्हें परदे में बरसों बन्द रहना पड़ा है, मैं कहूँगा कि यदि उन्हें पर्दे में कोई जीवन का सुन्दर तत्त्व नजर आया है, तो भले ही वे इसका समर्थन करें। अन्यथा मैं तो यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ, भविष्य में जो भी अन्य विचारक साधू आएँ, उनसे आप

तर्क करें, विचार करें। चुप-चाप बैठने वालों की समस्या हल नहीं हो सकती। तर्क करने वालों से मैं न डरता हूँ, न तंग होता हूँ। मैं हर हालत में शान्ति-पूर्वक विचार चर्चा कर सकता हूँ। पर दिल में बात रखकर पहले चुप रहना, और फिर इधर-उधर खुसुर-पुसुर करना अच्छा नहीं है। इसलिये बहनों से भी मेरा कहना है, वे हर एक समस्या को तर्क की कसौटी पर कसकर मानें। वे तर्क करते-करते जब समझेंगी, तब अवश्य ही मानेंगी। मुझे याद है, मैंने वर्षावास के चार-चार महीने तक एक भाई से निरन्तर विचार-संघर्ष किया, उसके तर्कों को सुना, और समझाने का प्रयत्न किया। लोग मुझसे कहने लगे—आप तो पत्थर में से पानी निकाल रहे हैं। मैंने कहा—हाँ, आखिर पत्थर में से ही तो पानी निकलता है। गंगा हिमाचल की चट्टानों से ही तो बाहर आई है। एक दिन आया, जब वह सत्य स्थिति को समझ गया, उसकी भ्रान्ति टूट गई, और हमारी विचार-श्रेणी के इतना अधिक अनुकूल हो गया कि सब लोग आश्चर्य में रह गये।

क्या आँख मूंद कर अन्य परम्पराओं पर चलने वाला ही जैन धर्मी है, दूसरा नहीं? क्या इन गिने चुने लोगों के पास ही दुनिया भर का जैन धर्म है, अन्यत्र नहीं? यह फैसला तटस्थ भाव से अपने अन्तःकरण से कर लेना चाहिए। गुजरात में पर्दा जैसी परम्परा नहीं है, तो क्या वहाँ धर्म नहीं है? क्या गुजरात में सभी स्त्रियाँ धर्म-भ्रष्ट हैं? आपको समझ लेना चाहिए कि जैन धर्म मेवाड़ या मारवाड़ आदि तक ही सीमित नहीं है। हमें गुजरात की बहिनें भी मिली हैं। वे बहुत ही सभ्य एवं सुसंस्कृत हैं। पर्दा नहीं है तो क्या है, उनका चरित्र और रहन-सहन तो बहुत ऊँचा है। पंजाब में मैंने ऐसी बहनें भी देखी हैं, जो अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध शेरों की तरह दहाड़ती हैं। और अपने गृहस्थ जीवन का यथायोग्य ठीक प्रबन्ध कर सकती हैं। गुजरात की नारी पैरों से चल रही है, अतः वह प्रगति में अन्य प्रान्तों से काफी आगे है। यू० पी० और पंजाब की नारी अभी घुटनों के बल चल रही है, पर, राजस्थान की कुछ बहन तो चल ही नहीं रही हैं। परिवर्तन करने में ऐसी क्या कठिनाइयाँ हैं? जब आप लड़की रहती हैं, तब तो किसी प्रकार का भी पर्दा नहीं रखतीं, और बहू बनते ही आपको पर्दे

के जेल में बन्द होना पड़ता है। आपके पैरों में बहूरानी बनने के नाम पर ऐसी क्या बेड़ियाँ पड़ जाती हैं कि गुरुजनों से, साधुओं से भी पर्दा रखने लगती है। अपनी माता-तुल्य सासू के सामने भी घूँघट डाले रहती हैं। ऐसा जीवन कितना पराधीन और संकट-ग्रस्त होता है। आपमें बहुत सी तो बिल्कुल अशिक्षित हैं। यही कारण है, कि आप अपने बच्चों में ऊँचे संस्कार नहीं डाल सकतीं। उन लड़कियों को भी शिक्षा नहीं दिला सकती, जो पढ़ना चाहती हैं। आप भी यदि पढ़ना चाहें तो आपके लिए भी रात्रि-पाठशालाओं में पढ़ाई का समुचित प्रबन्ध हो सकता है। और शिक्षित हो जाने पर तो आप पर्दे का तत्त्व जरूर समझ सकेंगी, और पर्दे का पर्दा जरूर उठा देंगी। जिन बहनों को पर्दे का बहुत वर्षों से अभ्यास पड़ा हुआ है, वे भी उसे हल्का रूप दे सकती हैं, और आने वाली सन्तानों को पर्दे के माया-जाल से दूर रख सकती है।

इसके साथ-साथ जो रोने-पीटने की प्रथा चल रही है, उसका भी शीघ्र अन्त कर देना चाहिए। विवाह के अवसर पर अश्लील गायन की प्रथा भी समाप्त होनी चाहिए। विवाह एक सामाजिक आदर्श है। अतः उसमें वही कुछ होना चाहिए, जो एक आदर्श समाज के योग्य मंगल परम्परा हो।

नया युग, नयी बात :

मेरी बातें आज तो आपको नयी प्रतीत होती हैं, और आप मानने को तैयार नहीं हैं। परन्तु समय इन बातों को जरूर मनवायेगा। अगर मैं २०—२५ वर्ष बाद फिर इधर में लौट कर आया, तो आपको बतलाऊँगा, और पूछूंगा, कि कहां गईं आपकी वे पुरानी प्रथाएँ, जिनको छोड़ने में आप घबरा रही थीं? ये भविष्यवाणियाँ यों ही हवा में उड़ने वाली नहीं हैं। बहनों को अब स्वयं आगे बढ़ना पड़ेगा, नहीं तो केवल पुरुषों के भरोसे रहने पर उनकी इस नये युग में क्या हालत होगी, कहा नहीं जा सकता।

आज का व्यापारी, जो केवल इधर-उधर का माल बेचकर बीच में दलाली खा लेता है, और अपने इस व्यापार के बल पर अपने जीवन की गाड़ी चलाता है, उसका भविष्य भी कोई शानदार नहीं

है। और वे धनवान्, जो आज अपने आप को धन्ना-सेठ समझ रहे हैं, और विवाह-शादियों में, इधर-उधर के भोजों और दावतों में हजारों-रुपये यों ही खर्च कर डालते हैं, उनका भी अहं टूट जायगा।

और उन्हें भी साथ ही साथ समझ लेना है, जो सम्प्रदायों के पीछे अपनी गाढ़ी कमाई का रुपया पानी की तरह बहाते हैं। साम्प्रदायिक साधु आए तो बस दनादन हजारों रुपया खर्च कर डालते हैं, फिजूल का आडम्बर और धूम-धाम करके साधु-सन्तों के नाम पर भी विवाहों जैसा ही पैसा खर्च कर देते हैं। कई साधु लोग भी अपने भक्तों को उभाड़ देते हैं, और मनमाना पैसा खर्च करा डालते हैं। यह गलत परम्परा है। जो ब्लेक मार्केट करते हैं, तस्कर व्यापार करते हैं, देश-हित के साथ घातक खेल खेलते हैं, वे अंधे की भाँति इस तरह पैसा खर्च करते हैं कि अपना भी अहित करते हैं और उन साधुओं का भी अहित करते हैं, जिनके पीछे वे चिपके रहते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिए कि समाज की संस्थायें तो भूखी पड़ी हैं, लड़खड़ाती हुई चल रही हैं, समाज के अनेक असहाय वृद्ध, बालक, बेरोजगार नौजवान और बहनें अभावग्रस्त हैं। उनके लिए कुछ नहीं हो रहा है। और इधर आप सम्प्रदाय के नाम पर मोर्चा-बन्दी करने में लगे हैं, पानी की तरह पैसा बहा रहे हैं ऐसा करते जरा भी नहीं सकुचाते हैं। संसार की बदलती हवायें जिस तेजी के साथ चल रही हैं, उसे देखते हुए पता नहीं, किस लहर के थपेड़े से किसको किधर जाना पड़े। पता नहीं, हम यहाँ लौटकर आयेंगे भी या नहीं ? फिर भी हम यह तो दावे के साथ कह सकते हैं कि इस पुरानी पीढ़ी को हम भले ही न समझा सकें, और न बदल सकें, पर आने वाली नयी पीढ़ी पर तो हमारा प्रभाव अवश्य होने वाला है। वह हमारी बात अब भी समझ रही है, भविष्य में तो और भी अधिक समझेगी। उसके विवेक प्रधान चिन्तन तथा कर्म में से ही निकट भविष्य में नये समाज का अभ्युदय होगा।

●

• उपाध्याय अमरमुनि

युद्ध बनाम अहिंसा • एक अनुचिन्तन

जीवन, जीवन है। सिद्धान्त और आदर्श जीवन के लिए होते हैं। जीवन, सिद्धान्त और आदर्श के लिए नहीं होता। जीवन के समक्ष सबसे विकट समस्या यह है, कि उसे सुखमय बनाने के साधन क्या और कैसे होने चाहिएँ? अतः भारतीय संस्कृति में, भारतीय धर्मों और भारतीय दर्शनों में जीवन और जगत् के सम्बन्ध में बड़ी गंभीरता से विचार किया है। जीवन चेतन है और जगत् जड़ चेतन उभयात्मक है। अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने की भावना प्रत्येक चेतन में विद्यमान रहती है। सुखी चेतन ही अपने जीवन से प्रीति करता हो, यह बात नहीं है। दुःखी चेतन भी अपने जीवन से उतनी ही अधिक प्रीति करता है जितनी कि सुखी चेतन करता है। अपना जीवन सबको प्रिय होता है। जीवन में स्वभावतः ही प्रेम, अहिंसा और मैत्री का भाव रहता है। अहिंसा, एक वह तत्त्व है, जिसकी सत्ता अनन्त-अनन्त काल से प्रति चेतन में रही है और अनन्त-काल तक रहेगी। अहिंसा, एक वह परब्रह्म है, जो जगत् के प्राण-प्राण में और चेतन-चेतन में परिव्याप्त रहता है। यह बात अलग है, कि उसकी अभिव्यक्ति परिस्थितिविशेष में कहीं पर अधिक होती है तो कहीं पर कम होती है, पर उसकी सत्ता चेतनजगत् में सर्वत्र रहती है। जगत् का एक भी चेतन प्रीति एवं प्रेम शून्य नहीं है। अपने प्रति और दूसरे के प्रति मनुष्य के मन में जो सहज प्रीति-भाव है, वस्तुतः वही अहिंसा है।

अहिंसा: एक प्रश्न ?

अहिंसा के समक्ष जितने प्रश्न आज पर्वताकार बन कर खड़े हैं:

या खड़े कर दिए गए हैं; सम्भव है, सुदूर अतीत में इतने प्रश्न कभी न भी रहे हों। आज वैचारिक जगत् क्या, पारिवारिक क्या, सामाजिक क्या, राष्ट्रीय क्या और अन्तर्राष्ट्रीय क्या—सर्वत्र उलझी कड़ियों को आज का प्रबुद्ध मानव अहिंसा के माध्यम से ही सुलझाना चाहता है। इस प्रलयंकर एवं भयंकर अणु-युग में अहिंसा ही मानव-जीवन के लिए आशा का मंगल प्रदीप है। मानव-जीवन के क्षितिज पर जब-जब निराशा के काले कजरारे मेघ छाए हैं, तब-तब उसने अपने जीवन की दुरूह समस्याओं के समाधान के लिए दो पंथों का ही चयन किया है—शान्ति और युद्ध। जीवन की उलझी समस्याओं का सही समाधान किसमें है, शान्ति में अथवा युद्ध में? यह एक विकट प्रश्न है। आज फिर इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, कि क्या अहिंसा के द्वारा राष्ट्र की सुरक्षा की जा सकती है? क्या राष्ट्र पर किए गए आक्रमण का प्रतिकार अहिंसा के द्वारा सम्भव है?

युद्ध और अहिंसा :

यह ठीक है, कि अहिंसा मानवीय मूल्यों में का सबसे बड़ा मूल्य है। जीवन का स्थायी समाधान अन्ततोगत्वा अहिंसा में ही सम्भव है। आखिर, कब तक मानव-जाति खूंखार भेड़ियों की तरह आपस में लड़ती झगड़ती रहेगी, एक दूसरे को क्षत-विक्षत करती रहेगी। युद्ध से कभी स्थायी समाधान नहीं हो सकता। मानवता का कल्याण करुणा की अमृत-धारा में ही है। शान्ति और अहिंसा के अभाव में मानव-जाति की सुरक्षा सम्भव नहीं है। शान्ति के क्षणों में मानव-जाति हजारों वर्षों तक रह सकती है, किन्तु युद्ध के भय से आक्रान्त होकर एक दिन भी काटना, उस के लिए कठिनतर हो जाता है। जग का कल्याण एवं मंगल अहिंसा एवं शान्ति की अमृत गंगा में ही हो सकता है, युद्ध के दावानल में नहीं।

सिद्धान्त और आदर्श :

परन्तु प्रश्न है, कि क्या वह स्थिति वर्त्तमान में संभव है? आदर्श अपने में महान है, परन्तु बिना उसकी योग्य भूमिका के हुए आदर्श का अतिरेक मनुष्य-जाति को भ्रान्ति के वात्याचक्र में उलझा देता है। आदर्श, आदर्श है, वह व्यवहार में कब, कहाँ, कैसे और कितना

उतरता है, यह गंभीर विचार की अपेक्षा रखता है। आदर्श, व्यवहार में उतरना चाहिए, यह एक सुन्दर एवं आवश्यक सिद्धान्त है, किन्तु किस स्थिति का व्यक्ति उस आदर्श को अपने जीवन में कितना उतार सकता है, यह उसकी अपनी नैतिक अन्तःस्फूर्त शक्ति और देश-काल की परिस्थिति पर निर्भर करता है। हमें यह कभी नहीं भूल जाना चाहिए, कि आदर्श और सिद्धान्त पहले व्यक्ति के जीवन में उतरता है और फिर व्यक्ति के माध्यम से ही, वह धीरे-धीरे अंशानुक्रम से समाज और राष्ट्र के जीवन में प्रवेश पाता है। प्रवेश पाता है, यह अभी सम्भावना ही है। अबतक का मानवजाति का इतिहास तो ऐसी कोई साक्षी नहीं देता है। अतः राष्ट्र पर किए गए क्रूर एवं अधम आक्रमण के समय प्रतिकार-स्वरूप एक ओर युद्ध है और दूसरी ओर अहिंसा है। इन दोनों में से किसका चुनाव करना, इसका निर्णय बहुत कुछ राष्ट्रीय-चेतना और उसके देश-काल की परिस्थिति पर निर्भर करता है। अतः समाज और राष्ट्र का सम्मान और सांस्कृतिक जीवन जिस किसी भी यथाप्राप्त उपाय से अक्षुण्ण रह सके, उस प्रकार का प्रयत्न ही उस युग के व्यक्ति और समाज का कर्तव्य है।

एक व्यक्ति इतना ऊँचा हो सकता है, कि अहिंसा के उच्च आदर्श के लिए सर्वस्व निछावर कर दे, और प्रतिफल की कुछ भी कामना न करे। इस प्रकार उसे अपने आपको होम देने का पूरा हक है। किन्तु समग्र समाज और राष्ट्र से तो यह आशा नहीं की जा सकती। समाज तथा राष्ट्र का आध्यात्मिक जीवन कभी भी एक स्तर पर विकसित नहीं होता, उसमें उतार-चढ़ाव रहता है और वह साधारण नहीं, काफी होता है। अतः उससे यह एकान्त आशा रखना कि वह समग्र भाव से अपने आपको अहिंसा के इतने ऊँचे आदर्श पर पहुँचाएगा, और प्रसन्न भाव से सर्वस्व का बलिदान कर प्रतिपक्षी के हृदय को परिवर्तन कर उसके द्वारा अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति कर सकेगा, असम्भव है। समग्र समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा कभी भी यह तथ्य स्वीकृत नहीं हो सकता। यह ध्रुव सत्य है कि समाज और राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों की भावना और उनके जीवन का दृष्टिकोण कभी एक जैसा नहीं हो सकता। अस्तु अहिंसा से अन्याय का प्रतिकार करने की क्षमता हर किसी में नहीं

हो सकती। प्राय: प्रत्येक व्यक्ति संकट के समय अपने और अपने से सम्बन्धित जन-समूह के जीवन की सुरक्षा चाहता है और यह सुरक्षा जिस किसी भी उपाय से उसे उपलब्ध हो, वह सब करने को तैय्यार हो जाता है। यह सत्य है कि कुछ महानुभाव आध्यात्मिक-साधना की विशिष्ट स्थिति पर पहुंच जाएं, और साथ ही यह भी सत्य है कि जीवन के अमुक प्रसंगों पर वे अपने मनोनीत आदर्शों पर चलने के लिए स्वतंत्र हैं, पर समग्र समाज और सँपूर्ण राष्ट्र को वे अपने मनोनीत आदर्शों पर चलाने को स्वतंत्र नहीं हैं। कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति की अपनी सीमा है और समाज की अपनी सीमा है।

हृदय-परिवर्तन और अहिंसा :

अहिंसा, या अन्य किसी भी आध्यात्मिक-भावना के कारण दूसरे के हृदय का बदलना, कहाँ तक सम्भव है, यह भी विचारणीय है। विरोधी का हृदय यदि तमसाछन्न है, खुदगर्जी की राक्षसी वृत्ति से ग्रस्त है, तो वह समय पर सहसा कैसे बदला जा सकता है? सत्त्वगुणप्रधान भावनाशील हृदय ही अहिंसात्मक प्रतिकार का स्नेहोल्लसित अद्भुत एवं दिव्य-निमित्त पाकर बदल सकते हैं। परन्तु भूखे सिंह के समक्ष साधु और असाधु के व्यक्तित्व का क्या अन्तर है? चित्तौड़ आदि में भारत की हजारों ही वीर नारियां सतीत्व की रक्षा के लिए जलकर भस्म हो गईं। भारत-विभाजन के अवसर पर हजारों बहनों ने अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति दे दी। परन्तु प्रश्न है, आततायियों के हृदय कब और कितने बदले? सीता जैसी साध्वी नारी भी अपने सतीत्व के प्रभाव में, अपहरण कर्ता रावण को पराङ्मुख नहीं कर सकी। अहिंसा के पूर्णावतार भगवान् महावीर गोशालक का कितना हृदय बदल पाये? और करुणा के देवता महान् बुद्ध भी क्या देवदत्त का हृदय परिवर्तन कर सके? महावीर अपने युग के चेटक-कोणिक युद्ध को नहीं रोक सके। बुद्ध भी शाक्य और श्रावस्ती के संहारक संघर्ष को नहीं हटा सके। उन जैसी अहिंसा की उच्च-साधना अन्यत्र कहाँ सम्भव है, जो स्वार्थान्ध आततायियों का हृदय बदल दे और अहिंसात्मक प्रतिकार का सार्वजनीन मार्ग प्रशस्त करे।

महावीर और अहिंसा :

भौतिक क्षेत्र में कुछ अपराध-परायण लोगों के लिए शक्ति का प्रतिकार शक्ति ही है। अतएव अहिंसा के महान् वैज्ञानिक विवेचनकार भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारियों ने गृहस्थ समाज के लिए सुरक्षा के प्रसंग में किसी पर आक्रमण करने का तो निषेध किया, परन्तु दुष्ट विरोधी के आक्रमण का हिंसात्मक प्रतिकार करने के प्रति निषेध-सूत्र का एकान्त आग्रह नहीं किया। मनुष्य की अपनी भूमिका को लक्ष्य में न रखकर, केवल भावना के प्रभाव में बह जाना, फल स्वरूप किसी उच्च आदर्श को उस पर बलात् लादना और फिर उसके फलाफल की मीमांसा करना, न सिद्धान्त-संगत है और न तर्क-संगत ही। अतः इस प्रश्न पर गंभीर विचार की आवश्यकता है।

आदर्श एवं व्यवहार :

अहिंसा एक आध्यात्मिक शक्ति है, वह एक विराट आत्म-चेतना है। वह निष्काम भाव से अपने को उत्सर्ग कर देने का महान् मार्ग है। अहिंसा के पथ पर जीवन की आहुति दी जा सकती है, दी भी गई है। परन्तु वह किसी भौतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं। क्योंकि अहिंसा और भौतिक स्वार्थों का परस्पर कोई मेल नहीं है। अहिंसा एक परम धर्म है, यह सत्य है, किन्तु स्वार्थ-लोलुप एवं क्रूर व्यक्तियों के खूनी पंजों से समाज और राष्ट्र को बचाने के लिए, कभी-कभी एक बुराई होते हुए भी युद्ध अनिवार्य हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम ने रावण के साथ युद्ध को रोकने का बहुत कुछ प्रयत्न किया था, पर वह रुक न सका। महाभारत के युद्ध को रोकने के लिए, श्रीकृष्ण ने कितना प्रबल शान्ति-प्रयत्न किया था, पर, उनको अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। व्यक्ति के जीवन की मर्यादा समाज और राष्ट्र की मर्यादा से भिन्न है। युद्ध और अहिंसा मानव-जाति की एक ऐसी समस्या है, जिसका अभी तक मौलिक समाधान नहीं निकल पाया है। इसका मूल कारण है, सामूहिक जीवन में आदर्श और व्यवहार की विषमता। सामज का आदर्श ऊँचा हो, यह आवश्यक है, परन्तु वह सम्भवित हो, यह भी तो आवश्यक है।

युद्धविशेष और अहिंसा :

प्रस्तुत चर्चा में एक बात खास-तौर से समझने जैसी है। वह यह कि सभी युद्ध एक धरातल पर नहीं होते हैं। जो युद्ध सुन्दर स्त्री पाने के लिए, दूसरों का राज्य या ऐश्वर्य हड़पने के लिए, अपने अहंकार की दुंदुभि बजाने के लिए लड़े जाते हैं, जिनमें आमूल चूल स्वार्थ की दुर्गन्ध उछलती है, वे युद्ध अधर्म-युद्ध हैं। इस प्रकार के युद्ध व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को पतन के गर्त में ले जाते हैं। उक्त युद्धों में हिंसा का ही एकान्त नग्न तांडव है। परन्तु जो युद्ध व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ति के लिए न होकर दीन दुर्बल की रक्षा के लिए, नारी जाति के सतीत्व एवं सम्मान की रक्षा के लिए लड़े जाते हैं, जो युद्ध अन्याय एवं अत्याचार के प्रतिकार स्वरूप होते हैं, उन्हें भी अधर्म युद्ध की कोटि में रखना, किसी भी तरह धर्म संगत नहीं है। जो लोग राम रावण के युद्ध को, अभी-अभी बांगला देश के रक्षार्थ लड़े गए भारत पाक युद्ध को, दोनों पक्षों के लिए एक जैसा ही पाप रूप मानते हैं, उन्हें क्या कहा जाए? स्पष्ट है, जो युद्ध बिना किसी अपने स्वार्थ के एकमात्र अन्याय के प्रतिकार के लिए, अत्याचार से पीडितों की रक्षा के लिये लड़ा जाता है, उसमें बाह्य हिंसा के साथ अन्दर में अहिंसा का निर्मल स्रोत भी प्रवाहित है।

★

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न उतना मुख्य नहीं है, जितना कि विवेक और अविवेक का प्रश्न मुख्य है। विवेक के अभाव में अहिंसा भी हिंसा हो जाती है, और विवेक के सद्भाव में हिंसा भी अन्दर में अहिंसा का रूप ले सकती है। इसीलिए तो कहा है—'जयणा धम्मस्स जणणी।' यतना धर्म की मां है। यतना अर्थात् देश, काल, परिस्थिति के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य का उचित विवेक।

—उपाध्याय अमरमुनि

● काका कालेलकर

दैवी-संस्कृति में अपरिग्रह

नदी के किनारे अगर आपकी खेती है तो चाहे जितना पानी आप नदी से मांग सकते हैं, ले सकते हैं, लेकिन आप नदी के मालिक नहीं हैं।

आश्रम के ग्यारह व्रतों में अपरिग्रह का स्थान सर्वोपरि है। हम देखते हैं कि इसका पालन करना आसान नहीं है। महर्षि पतंजलि के योग सूत्र में अष्टांग योग का प्रारंभ ही यम-नियमों से होता है। उसमें अपरिग्रह आता है। बाद के लोगों ने पांच यमों के दस यम बना दिये; लेकिन अपरिग्रह का नाम हटा दिया, उसकी जगह कहीं कहीं आता है अकल्कता। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय ये व्रत चाहे जितने कठिन हों, दृढ़ निश्चय रहा तो उनका पालन अशक्य नहीं।

लेकिन 'परिग्रह' एक ऐसी बला है कि उससे छूटना आसान नहीं है। गाँधीजी कहते थे—हमारा शरीर भी एक तरह का परिग्रह ही है। जितनी भी बलाएँ हमें चिपकती हैं, सब को हम परिग्रह कह सकते हैं। संस्कृत में परिग्रह का एक अर्थ है—पत्नी। शाकुन्तल में राजा दुष्यन्त आश्रमकन्या शकुन्तला की सखियों को आश्वासन दिलाते कहता है—"मैं राजा हूँ। मेरे अंत:पुर में परिग्रह बहुत है। लेकिन मेरे कुल की प्रतिष्ठा दो ही परिग्रह पर अवलंबित रहेगी। एक है यह समुद्र-वलयांकिता पृथ्वी। और दूसरी होगी तुम्हारी यह सखी।"

कभी कभी परिग्रह का अर्थ 'कैदी' भी होता है।

इस खास अर्थ को समझने की कोशिश करते एक मजे का किस्सा याद आया। पुलिस वाला एक कैदी को कहीं ले जा रहा

था। पुलिस उसको कहता है—"जानते हो तुम मेरे कैदी हो। मैं तुम्हें जहां ले जाऊँ मेरे साथ तुमको आना ही पड़ेगा।" कैदी ने हँस कर कहा—"आपकी बात स्पष्ट है। कहने की जरूरत ही क्या? लेकिन आप क्यों नहीं देखते हैं कि आप भी एक तरह से कैदी ही हैं। मुझे छोड़कर कहीं जा नहीं सकते। आपको मेरे साथ ही रहना है, जब तक हम मुकाम पर नहीं पहुँचें।"

इस छोटे से किस्से में परिग्रह शब्द का पूरा अर्थ ध्यान में आ सकता है और तभी जाकर योगशास्त्र में जीवनसिद्धि के लिए अपरिग्रह को स्थान क्यों दिया है, सो ध्यान में आता है।

आज की दुनिया को हम देखें और उसके मानस को तपासें, तो हम समझ सकते हैं कि सारी दुनिया अपना परिग्रह बढ़ाने की ही कोशिश में है। धन-संपत्ति, साधन-संपत्ति सब कुछ परिग्रह ही है। जिस राष्ट्र के पास परिग्रह ज्यादा है वही राष्ट्र दुनिया में श्रेष्ठ गिना जाता है। समाज में जिसके पास साधन-संपत्ति अधिक है वही, समाज का नेता या प्रभु बनता है। मनुष्य की और समाज की जीवन-सिद्धि और उसका सामर्थ्य परिग्रह की विशालता के ऊपर ही अवलंबित है। ऐसे परिग्रह को अँग्रेजी में "रिसोर्सेज" कहते हैं। तब अपरिग्रह का महत्व क्या है? (जिन लोगों ने पाँच, छः या दस यमों में अपरिग्रह की जगह अकल्कता को स्थान दिया, उन्होंने देखा होगा कि परिग्रह तो बाधक नहीं है। किसी चीज के हम 'मालिक' है, ऐसे भाव के कारण ही हम बन्धन या कमजोरी में आ जाते हैं। 'अकल्कता' का अर्थ होता है 'ईमान-दारी', उसमें सब कुछ आ जाता है।)

समाज में जब हम अमर्याद धन अपना बनाकर रखते हैं, तब हम समाज का द्रोह करते हैं; और अपनी आत्मोन्नति भी खतरे में डालते हैं। कुदरत ने जो भी चीजें बनाई हैं, सबके लिए हैं। हवा के बिना हम जी नहीं सकते। अत्यन्त जरूरी वस्तुओं में प्रथम स्थान हवा को ही देना पड़ेगा। पीने का पानी और खाने का अन्न हवा के बाद आता है। इस हवा का मालिक कौन है? नदी का पानी भी सबका है। इस पर मालिकी हक्क किसी का भी नहीं। जिस किसी को पानी पीना है, नदी के पास जाकर पी सकता है। नदी के किनारे

अगर आपकी खेती है तो चाहे जितना पानी आप नदी से मांग सकते हैं; लेकिन आप नदी के मालिक नहीं हैं।

गांधी जी ने जब अपरिग्रह को आश्रम के व्रतों में स्थान दिया तब हमें समझाया कि "हम किसी भी चीज के मालिक नहीं हैं। मालिक समाज है। समाज की अनुमति से ही हम चीजों का उपयोग कर सकते हैं।"

"जो लोग मुझे दान देते हैं उसका मैं मालिक नहीं बनता। मैं तो केवल ट्रस्टी बनता हूँ। दान लोग देते हैं मुझे; लेकिन लेता हूँ मैं आश्रम के नाम से। हमारा आश्रम समाज का ही प्रतिनिधि है।"

"किसी भी सपत्ति के या साधनों के हम मालिक न बन बैठें, तो अपरिग्रह व्रत का पालन हुआ। समाज के लिए, समाज की सेवा के लिए सारी निधि है। हम उसके केवल ट्रस्टी (निधिप) हैं। इतना समझने से हमारे अपरिग्रह व्रत का पालन हुआ।"

इसके बाद आता है 'अस्तेय व्रत'। समाज ने जो धन हमें ट्रस्टी के तौर पर दिया है उसमें से अपनी आजीविका के लिये हम अन्न-वस्त्र आदि ले सकते हैं। लेकिन अगर हम हद से ज्यादा लें तो वह सामाजिक धन की चोरी हुई। उससे अस्तेयव्रत का भंग हुआ, ऐसा समझना चाहिये।

अब सवाल उठता है कि कुदरत की सारी चीजें समस्त जगत की हैं। मनुष्यसमाज क्यों माने कि वह केवल मनुष्य की ही हैं? जहाँ जंगल में फलों के पेड़ हैं वहाँ फल खाने का अधिकार सबसे पहले पक्षियों को है, उसके बाद मनुष्यों को। लेकिन मनुष्य ने माना कि जो भी चीजें हम जबरदस्ती अपने हाथ में ले सकते हैं वे सब हमारी हुईं। पशु-पक्षी, मछलियाँ, कीड़े-मकोड़े आदि प्राणियों को और जीवों को इस सृष्टि पर कोई अधिकार है नहीं। जहाँ मनुष्य नहीं पहुँचा वहाँ तक ही ये सब प्राणी कुदरत के नियम के अनुसार जी सकते हैं।

'जबरदस्तों का राज्य' और 'अधिकार का सिद्धान्त' सिंह, बाघ और हाथी में थोड़ा कुछ पाया जाता है। एक जंगल में दो या अधिक शेर या बाघ रह नहीं सकते। यह जंगल मेरा है, इस बात को लेकर उनमें झगड़ा हो ही जाता है। हाथी अपने जंगल पर अपना अधिकार

मानते हैं या नहीं सो हम नहीं जानते, किन्तु कहते हैं कि एक-एक हाथी का अपनी-अपनी अनेक हथिनियों पर अधिकार चलता है। एक हाथी अगर मारा गया अथवा परास्त हुआ तो दूसरा हाथी हारे हुए की हथिनियों का स्वामी बन जाता है। वे सब परिग्रह बनने के लिए ही मानो पैदा हुई हैं।

अधिकार का अंतिम आधार शारीरिक बल ही माना जाता है।

सारे यूरोप की सब गोरी जातियों का एक तरह से एकम बना। उन्होंने यूरोप की भूमि और वहाँ की पार्थिव शक्तियों को अपना परिग्रह माना। औरों को वहाँ आने नहीं दिया। भूमि पर अधिकार पाने के बाद उन्होंने सोचा कि हमारे हृदय पर एक ही धर्म का अधिकार चले तब तो हमारा बल विजयी होगा। इसलिए उन्होंने सारे यूरोप के लिए ईसाई धर्म पसंद किया और दक्षिण यूरोप में स्पेन तक फैले हुए इसलाम को जोरों से हटा दिया। हम जानते नहीं कि हमारे धर्म हमारा परिग्रह है या हम उस धर्म के परिग्रह हैं? लेकिन इस वक्त हम भौतिक चीजों को ही और भौतिक शक्ति को ही परिग्रह के रूप में सोच रहे हैं।

अब अगर सारा यूरोप खण्ड गोरों का परिग्रह बन गया तो सारा अफ्रीका खण्ड वहाँ के काले लोगों का परिग्रह मानना चाहिये। लेकिन अफ्रीका की अन्यान्य जातियों में अफ्रीकाव्यापी एकता नहीं थी। वे अपनी-अपनी भूमि के टुकड़े को भी अपना परिग्रह मानने को सीखे नहीं थे। इसलिये गोरों ने वहाँ जाकर धीरे-धीरे अपनी शक्ति, अपनी संस्कृति का परिचय कराया, और सिद्ध किया कि जिनके शरीर में बल है, दिमाग में संगठन करने की बुद्धि है, उनके लिए परिग्रह एक बड़ी शक्ति है।

आज अमेरिका के पास विस्तीर्ण भूमि है। भूमि के पेट में खनिज द्रव्य हैं। नदियों के प्रवाह में सामर्थ्य है। यह सारा वहाँ जाकर बसे हुए गोरों के लिए बहुत ही कीमती परिग्रह साबित हुआ। अमेरिका के असली वतनी रेड इन्डियन लोगों को वहाँ की भूमि को अपना परिग्रह बनाने का काम नहीं सूझा। इसमें उन्होंने क्या पाया?

जब हम 'अध्यात्म-मूलक समाज विज्ञान' की बात सोचते हैं और अपरिग्रहव्रत की उपयोगिता अथवा आवश्यकता पर विचार करते हैं, तब किसी भी निर्णय पर नहीं आ सकते।

दुनिया में दो संस्कृतियां हैं। दैवी और आसुरी। (गीता ने 'संस्कृति' को ही 'संपत्' कहा है। यह शब्द अपरिग्रहव्रत को कहां तक पसंद होगा? किसी ने अभी तक सोचा नहीं है।) दैवी और आसुरी संस्कृतियों में कौन सी श्रेष्ठ है, यह सवाल पूछने के पहले कौनसी जीने के लिए समर्थ है; यह सवाल पूछना होगा। और देव-आसुर संग्राम में 'दैव' की ही अंतिम विजय है—यह प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा सिद्ध करना होगा।

जागतिक-संस्कृति के सामने सबसे बड़ा सवाल यही है कि दो में से कौनसी विजयी हो सकती है? परिग्रही या अपरिग्रही? इस विराट् सवाल को पूरे तौर पर समझकर इसे हल करने की हिम्मत समस्त मानवजाति में एक ही व्यक्ति ने दिखायी, जो थे महात्मा गांधी। सत्य और अहिंसा के बल पर, सत्याग्रह के रास्ते, दैवी संस्कृति विजयी हो सकती है—यह उनका सिद्धान्त इतिहास के फलक पर सिद्ध करने का प्रयोग उन्होंने प्रथम छोटे पैमाने पर आफ्रिका में और बाद में भारत में करके दिखाया और मानव जाति के धर्म-हृदय में आशा उत्पन्न की, कि सत्याग्रह के रास्ते दैवी संस्कृति विजयी होकर अपना श्रेष्ठत्व सिद्ध करेगी।

इसीलिए मैं कहता हूं कि पूर्ण अहिंसा पर विश्वास रखकर उसमें रहा हुआ क्षात्र तेज प्रगट करने वाले गांधी ही भगवान महावीर स्वामी के एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। (स्वयं निःशस्त्र होकर भारतीय युद्ध में शरीक होने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के भी उत्तराधिकारी गांधी जी को ही समझना चाहिये।)

आज तक अपरिग्रहव्रत का विवेचन व्यक्तिगत मोक्ष की दृष्टि से ही किया गया है। अब तो हमारी सारी भूमिका ही बदल गयी है। हम समस्त मानवजाति को अपने साथ एकरूप मानने जा रहे हैं। मुक्ति व्यक्तिगत नहीं किन्तु सामुदायिक मुक्ति का आदर्श स्वीकार कर हमने सूत्र चलाया है—'मुक्ति याने सर्वमुक्ति'।

व्यक्तिगत मुक्ति के उपासकों ने अपरिग्रहव्रत चला कर सारा परिग्रह समाज के हाथ में सौंप दिया और अपने को ट्रस्टी याने निधिप बना दिया। उनका रास्ता आसान था। अब जब हम समस्त मानवजाति को आस्ते आस्ते क्रमशः एक हृदय, एक-प्राण,

एक समाज बनाने का आदर्श मान्य करते हैं, तो क्या हम सारे समाज को, समस्त मानवजाति को अपरिग्रहव्रत की दीक्षा दे सकते है? किस अर्थ में? सो भी सोचना चाहिए।

इसके लिये हमें आज सारे जगत् में सर्वमान्य हुआ भौतिक प्रगति का आदर्श छोड़ देना पड़ेगा। और दैवी संस्कृति के अनुसार कितना परिग्रह जरूरी है, सो भी तय करना पड़ेगा। और उस सारी नयी समाज व्यवस्था के स्वरूप को सोचकर वह आदर्श समाज के सामने रखना होगा। व्यक्तिगत मोक्ष की साधना आसान थी। सर्वमुक्ति की साधना विशाल होगी, अत्यन्त सात्विक होगी। 'साम्य-वाद' से कहीं अधिक तेजस्वी होगी। उसका चिंतन और आवाहन करने के दिन आये है। भगवान महावीर के २५०० वर्ष की पुण्य-तिथि मनाने का यही एक उत्तम तरीका होगा। हमारे सारे उत्सव अपरिग्रहव्रत को भंग करते हैं। अहिंसा के पूर्ण स्वरूप को शिथिल बनाते हैं। धर्मों के उत्सवों को अधार्मिक बना देते हैं।

ऐसा न करते हुए अहिंसक-संस्कृति को सफल बनाने के लिए अपरिग्रहव्रत का स्वरूप क्या होगा, यही मुख्यतया सोचना होगा।

('सन्निधि', राजघाट, नयी दिल्ली-१)

दिनांक, १६ मार्च, १९७२

—'वी० नि० विचार सेवा इन्दोर के सौजन्य से प्राप्त

*

जो मेरे और तेरे की क्षुद्र सीमाओं को तोड़ देता है, वह सर्वसमभाव की दृष्टि से सर्व व्यापक बन जाता है। और जो इस प्रकार सर्व व्यापकता प्राप्त कर लेता है, वही विश्व का ईश्वरत्व प्राप्त करता है। क्योंकि जो विभु है, व्यापक है, वही तो ईश्वर है।

—उपाध्याय अमरमुनि

● यशपाल जैन

तीर्थंकर महावीर क्रान्तिकारी थे

महावीर ने समाज की इस दुरवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण रचनात्मक था। वह बड़ी लकीर खींचकर पास की लकीर को छोटा सिद्ध करने के पक्षपाती थे। उन्होंने किसी भी मान्यता का खण्डन नहीं किया, न किसी को तर्क द्वारा परास्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने जीवन के सही मूल्यों की प्रस्थापना की। युग-प्रवाह के विरुद्ध तैरना सुगम नहीं होता। भयंकर हिंसा के बीच महावीर ने घोष किया—'अहिंसा परम धर्म है'।

अन्धविश्वासों को चुनौती—

तीर्थंकर महावीर क्रांतिकारी थे। क्रांति का अर्थ होता है—प्रचलित मान्यताओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों के विरुद्ध स्वर ऊँचा करना, और नये मूल्य स्थापित करना। महावीर ने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में व्याप्त बुराइयों को चुनौती दी और उस मार्ग को प्रतिष्ठित किया, जिस पर चलकर मानव तथा समाज शुद्ध एवं प्रबुद्ध बन सकता था। उन्होंने सबसे पहला क्रांतिकारी कदम स्वयं के जीवन में उठाया। वह राजपुत्र थे। उनके चारों ओर समृद्धि और वैभव था। समाज में इन दोनों का बड़ा मान था। मनुष्य की ऊँचाई और निचाई इस बात से आंकी जाती थी कि उसके पास कितना धन है और वह किस ओहदे पर है। महावीर ने राज्य त्यागा, धन त्यागा, क्योंकि उनकी दृष्टि में मानव का मानदण्ड ये वस्तुएं नहीं थीं। महावीर का यह कार्य असामान्य था, क्योंकि सांसारिक प्रलोभनों को बिरले ही छोड़ पाते हैं; विशेषकर युवावस्था में ऐसा करना तो और भी कठिन होता है। महावीर उस समय

लगभग तीस वर्ष के थे और यह वह वय थी, जबकि मनुष्य को भौतिक साधन रस प्रदान करते हैं। महावीर पर कोई भी बाहरी दबाव नहीं था। उन्होंने स्वेच्छा से, सुखप्रदायक माने जाने वाले प्रसाधनों को तिलांजलि दी और साधना के कठोर मार्ग पर चल पड़े। उन्होंने कोई भी बंधन स्वीकार नहीं किया, यहां तक कि वस्त्रों तक का त्याग कर दिया।

असाधारण आत्मिक बल—

बाल्यकाल से ही उनमें बड़ा साहस और आत्मविश्वास था. धैर्य और कष्ट-सहिष्णुता थी। क्रान्ति के लिए ये सब गुण अनिवार्य हैं। दुर्बल व्यक्ति दीर्घकालीन साधना के मार्ग पर चल नहीं सकता और जिसमें आत्म- विश्वास न हो, वह समाज को बदल नहीं सकता। महावीर ने बारह वर्ष तक साधना की। सर्दी, गर्मी, वर्षा, धूप तथा समाज के अवांछनीय तत्त्वों के उपसर्ग उन्हें अपने मार्ग मे विचलित न कर सके। मेरी निश्चित मान्यता है कि महावीर मे असाधारण आत्मिक बल और मानसिक दृढ़ता रही होगी तभी वह अपनी साधना को अन्त तक निभा सके।

शंखनाद क्रान्ति का—

इस प्रकार क्रान्ति का प्रथम शंखनाद उन्होंने तब किया, जब घरबार, राजपाट तथा सांसारिक सुख-वैभव को अपनी इच्छा से छोड़ा। उनका क्रान्तिकारी स्वर उससे भी पहले दो और अवसरों पर सुनाई दिया। मां त्रिशला की स्वाभाविक इच्छा थी कि उनका लड़का घर-गृहस्थी का होकर रहे और इस सम्बन्ध में जब उन्होंने अपने पुत्र से चर्चा की तो जानते हैं, उन्होंने क्या कहा? उन्होंने कहा, "मां, देख नहीं रही हो कि संसार कितना दुःखी है और धर्म का कितना ह्रास हो रहा है। लोग माया-मोह में फँसे हैं। लोकहित के लिए इस समय सबसे अधिक आवश्यकता धर्म के प्रचार एव प्रसार की है।"

मां ने समझाते हुए कहा, 'मैं जानती हूँ, तुम्हारा जन्म संसार के कल्याण के लिए हुआ है, पर अभी तुम्हारी उम्र है कि तुम घर-गृहस्थी में पड़ो।"

महावीर का क्रान्तिकारी स्वर और दृढ़ हो उठा, "इस देह का क्या भरोसा है ? तुम कुछ भी कहो, मुझसे ऐसा नहीं होगा, नहीं होगा।"

जीवन-धर्म, जीवन-मर्म—

यह भाषा सामान्य जन की नहीं है। ये स्वर हैं उस व्यक्ति के जो जानता है कि इस नश्वर जीवन की सार्थकता इस बात में नहीं है कि वह जग को मोह-माया में लिप्त रहे, भोगों में लिप्त रहकर अपनी ऊर्जा को नष्ट कर दे, बल्कि इस बात में है कि वह जीवन के धर्म को और मर्म को समझे और उस मार्ग पर चलकर अपने को कृतार्थ करे।

धर्म : एक प्राणशक्ति—

महावीर की क्रांति का दूसरा क्षेत्र था -समाज। ढाई हजार वर्ष पहले का वह समय था, जबकि समाज भ्रष्टाचार तथा अंध-विश्वासों की पराकाष्ठा को पहुंच गया था। सड़ी गली रूढ़ियां समाज में घर कर गयीं थीं, मनुष्य के आचरण को ऊंचा उठाने वाले नियम छिन्न-भिन्न हो गये थे, मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत होकर बुरे से बुरा काम कर सकते थे, धर्म की जड़ें हिल गयीं थीं, मानव सत्ता का दास हो गया था, भाई-चारे की भावना तिरोहित हो गयी थी, चारों वर्णों के आधार पर समाज में ऊंच-नीच के दर्जे बन गये थे, स्त्रियां मनुष्य की सम्पत्ति मानी जाती थीं, उन्हें आगे बढ़ने के अवसर नहीं थे, यज्ञों में पशु-बलि दी जाती थी, निर्दयता से पशुओं का हनन किया जाता था, हिंसा का सर्वत्र बोल-बाला था। वास्तव में बात यह थी कि लोग धर्म के बाह्य रूप को अधिक महत्व देने लगे थे। धर्म की आत्मा जाती रही थी। कर्म-काण्ड में फंस जाने के कारण लोग धर्म के वास्तविक रूप को भूल गये थे। वे जादू-टोने, टोटके, भूत-प्रेत आदि के अंध-विश्वासों में बुरी तरह जकड़ गये थे।

बड़ी लकीर, छोटी लकीर—

महावीर ने समाज की इस दुरवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण रचनात्मक था। वह बड़ी लकीर खींचकर पास की लकीर को छोटा सिद्ध करने के पक्षपाती थे।

उन्होंने किसी भी मान्यता का खण्डन नहीं किया, न किसी को तर्क द्वारा परास्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने जीवन के सही मूल्यों की प्रस्थापना की। युग-प्रवाह के विरुद्ध तैरना सुगम नहीं होता। भयंकर हिंसा के बीच महावीर ने घोष किया- 'अहिंसा परमो धर्मः' (अहिंसा परम धर्म है)। वस्तुतः यह बुनियादी बात थी, क्योंकि जो व्यक्ति हिंसा करता है, वह बहुत सी व्याधियों का शिकार बन जाता है। उसमें असत्याचरण, असंयम, कायरता, द्वेष, और न जाने क्या-क्या दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए उन्होंने सबसे अधिक बल अहिंसा पर दिया। उन्होंने कहा, "अहिंसा से ही मनुष्य सुखी हो सकता है, संसार में शान्ति बनी रह सकती है।"

अहिंसा : शूरों का अस्त्र—

लेकिन उन्होंने स्पष्ट कहा कि अहिंसा वीरों का अस्त्र है। कमजोर या कायर उसका उपयोग नहीं कर सकते। जिसमें मारने का सामर्थ्य है, फिर भी नहीं मारता, वह व्यक्ति अहिंसक है। जिसमें शक्ति नहीं, उसका न मारने की बात कहना, अहिंसा का परिहास करना है। अतः यह कहना असत्य है कि महावीर ने शस्त्रों के बल को आत्मिक बल के समक्ष हेय बता कर राष्ट्र की वीरता को क्षीण कर दिया, समाज को निर्वीर्य बना दिया। महावीर की अहिंसा अत्यन्त तेजस्वी अहिंसा थी। वह उस प्रकाश-पुंज के समान थी, जिसके आगे हिंसा का अंधकार एक क्षण टिक नहीं सकता था। जिसका अंतःकरण निर्मल हो, जो सत्य का पुजारी हो, अपरिग्रही हो, सबको प्रेम करता हो, सबको समान समझता हो, सामर्थ्यवान् हो, निर्भीक हो, वही अहिंसा के अमोघ अस्त्र का प्रयोग कर सकता है। आज अहिंसा की शक्ति इतनी मंद पड़ रही है, उसका मुख्य कारण यही है कि हम अहिंसा की तेजस्विता को भूल गये हैं और झूठी विनम्रता को अहिंसा मान बैठे हैं। अहिंसा पर चलना, तलवार की धार पर चलने के समान है।

जीओ, जीने दो—

अहिंसा के मूल मंत्र के साथ महावीर ने एक सनातन आदर्श और जोड़ा—"जीओ और जीने दो।" जिस प्रकार तुम जीने की

और सुखी रहने की आकांक्षा रखते हो, उसी प्रकार दूसरा भी जीने और सुखी रहने की आकांक्षा रखता है। इसलिए यदि तुम जीना चाहते हो तो दूसरे को भी जीने का अवसर दो। समाज की स्वार्थ-परायणता पर इससे बढ़कर चोट और क्या हो सकती है। "आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। जिस प्रकार का आचरण तुम अपने प्रति किया जाना पसन्द नहीं करोगे, वैसा आचरण दूसरों के प्रति मत करो।

महावीर की अहिंसा की परिभाषा थी- अपनी कषायों को जीतना, अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रखना और किसी भी वस्तु में आसक्ति न रखना। यह राजमार्ग कायरों का नहीं, वीरों का ही हो सकता है।

'अहं' की जड़ें हिलीं--

समाज की अहितकर रूढ़ियों को मिटाने के साथ-साथ उन्होंने धनी-निर्धन, ऊँच-नीच आदि की विषमताओं को दूर करने का तो प्रयास किया ही, लेकिन उन्होंने एक और क्रांतिकारी सिद्धान्त दिया 'अनेकान्त' का। समाज में और संसार में झगड़े की सबसे बड़ी जड़ हमारा अहं है, मताग्रह है। हम जो कहते हैं, वही सत्य है, दूसरे जो कहते हैं, वह झूठ है, ऐसी सामान्य धारणा सर्वत्र प्रचलित दिखाई देती है। महावीर ने कहा, यह ठीक नहीं है। तुम जो कहते हो, वही एकान्तिक सत्य नहीं है। दूसरे जो कहते हैं, उसमें भी सत्य है। सत्य के अनेक पहलू होते हैं। तुम्हें जो दीख पड़ता है, वह सत्य का एक पहलू है। जिस प्रकार पाँच अंधों ने एक हाथी के विभिन्न अंगों को देखकर अपने-अपने दृष्ट अंग को ही हाथी मान लिया, पर वस्तुत: हाथी तो सब अंगों को मिलाकर बना था, यही बात हमारे साथ होनी चाहिए। यदि हम इस सिद्धान्त के अनुसार चलें तो आज के सारे विग्रह दूर हो जायं और हमारा जीवन अत्यन्त शान्तिपूर्ण बन जाय।

उपदेश और सिद्धान्त--

तीर्थंकर महावीर की दो और बातों को मैं बहुत ही क्रांतिकारी मानता हूं। पहली तो यह कि उन्होंने अपने उपदेशों तथा सिद्धान्तों

को किसी धर्म–विशेष की सीमा में आबद्ध नहीं किया। वह जो कुछ कहते थे, मानव-मात्र के लिए कहते थे। उनके कुछ उपदेश देखिये :—

"जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरा से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर बढ़ाता है।"

"जो मनुष्य भूल से भी मूलत: असत्य, किन्तु ऊपर से सत्य मालुम होने वाली भाषा बोलता है, वह भी जब पाप से अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या।"

"जैसे ओस की बूंद घास की नोंक पर थोड़ी देर तक ही रहती है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी बहुत छोटा है, शीघ्र ही नाश हो जाने वाला है। इसलिए क्षण भर को भी प्रमाद न करो।"

"शांति से क्रोध को मारो, नम्रता से अधिकार को जीतो, सरलता से माया का नाश करो और संतोष से लोभ को काबू में लाओ।"

"संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने किये कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा, जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।"

"अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।"

"जिस प्रकार कमल जल में पैदा होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से एकदम अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

"चांदी और सोने के कैलाश के समान विशाल असंख्य पर्वत भी यदि पास में हों तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वह कुछ भी नहीं, कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनंत है।"

उनके उपदेश समस्त मानव-जाति के लिए थे। यही कारण था कि उनके समवसरण में सभी धर्मों के लोग, यहां तक कि जीव-जन्तु भी सम्मिलित होते थे। महावीर जैन थे कारण कि उन्होंने आत्म-

विजय प्राप्त की थी। जैन शब्द 'जिन' से बना है, जिसका अर्थ है- अपने को जीतना।

मैं प्रायः विभिन्न आम्नायों के व्यक्तियों से पूछा करता हूं कि महावीर किस सम्प्रदाय के थे? दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी या तेरा पंथी? सच यह है कि वह किसी भी सम्प्रदाय के नहीं थे : वह सबके थे, सब उनके थे।

भाषा की क्रांति-

दूसरी बात यह कि भाषा के क्षेत्र मे महावीर ने क्रांतिकारी कदम उठाया। उनके जमाने में संस्कृत का जोर था। वह परिष्कृत भाषा थी। लेकिन जन-सामान्य के बीच अर्द्धमागधी का चलन था। महावीर चूंकि अपना संदेश साधारण लोगों तक पहुंचाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अर्द्धमागधी को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। वह चाहते तो संस्कृत का उपयोग कर सकते थे, लेकिन उस अवस्था में उनके विचार शिक्षित तथा उच्च वर्ग तक ही सीमित रह जाते।

भविष्य-दर्शन-

इस तरह हम देखते हैं कि महावीर एक क्रांतिकारी व्यक्ति थे। उन्होंने ऐसे बहुत से काम किये, जो उनके अद्‌भुत साहस तथा पराक्रम के द्योतक हैं। क्रांतिकारी द्रष्टा भी होता है। महावीर की निगाह वर्तमान को देखती है, पर वहीं ठहर नहीं जाती। वह भविष्य को भी देखती है। महावीर के सिद्धान्त इतने क्रांतिकारी हैं कि वे सदा प्रेरणा देंगे। आवश्यकता इस बात की है कि हम उनके अनुसार आचरण करें।

(७।८, दरियागंज, दिल्ली-६)

दिनांक-१६ मार्च, १९७२

—वी० नि० विचार सेवा, इन्दौर के सौजन्य से

★

हे युगवीर, शत शत प्रणाम !

हे युगवीर, शत शत प्रणाम ।
अहिंसा की प्रतिमूर्ति
त्रिशला के वीर लाल
प्राणीमात्र के प्रिय प्राण,
अखिल विश्व के प्रकाश

हे युगवीर, शत शत प्रणाम ।

समाजवाद और सहअस्तित्व
विश्व का बना विधान
धर्मनिरपेक्षता और अनेकान्त
मानवता के बने सिद्धांत,

हे युगवीर, शत शत प्रणाम ।

नर संहारों की चीत्कार
अत्याचारों का हाहाकार
अहिंसा के अमृतमय
आदर्शों का दो वरदान

हे युगवीर, शत शत प्रणाम ।

सत्य, अहिंसा की ले मशाल
पीड़ितों, दलितों की बन आवाज
विश्वशांति के मंगल पथ पर
बढ़ चला यह देश महान,

हे युगवीर, शत शत प्रणाम ।

—हस्तीमल झेलावत, इन्दौर

(२७ मार्च १९७२ महावीर जयती के अवसर पर)

★

राष्ट्रीय समिति का प्रथम अधिवेशन

भगवान् महावीर की २५ वीं शताब्दी को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के लिए गठित राष्ट्रीय समिति के प्रथम अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए भारतीय संसद के भव्य कक्ष में भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा जी ने देश के चुने हुए ८० प्रतिनिधियों के समक्ष अपने अभिभाषण में कहा—"मुझे आप सब का स्वागत करते हुए प्रसन्नता है। भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण-महोत्सव का अवसर हमारे सम्मुख आ रहा है। भगवान महावीर ने जो सन्देश ढाई हजार वर्ष पूर्व दिया था, वह आज भी उतना ही सामयिक है। भगवान महावीर ने अहिंसा का जो स्वरूप बताया था, वह सारे संसार के साथ प्रेम एवं मैत्री रूप था। अहिंसा का अर्थ केवल हत्या न करना नहीं, अपितु दूसरों की कमजोरी का अनुचित लाभ न उठाना, शोषण न करना भी है।"

प्रधानमन्त्री ने पुनः अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहा—"निर्वाण-जयन्ती के लिए दो कार्यक्रम सोचे जा सकते हैं—एक तो स्मारक के रूप में भवन आदि का निर्माण और दूसरा जनता के जीवन में उपयोगी हो, ऐसे समाज-कल्याण के कार्य, जिससे गरीबों के लिए कुछ किया जा सके। इन सब बातों पर विचार करना जरूरी है, पर इतनी बड़ी समिति में इसे सुविधापूर्वक नहीं किया जा सकता। मेरा सुझाव है कि इसके लिए एक छोटी कार्य-समिति बनाई जाये।"

श्री डी० पी० यादव ने कहा—"प्रधानमन्त्री के इस सुझाव के अनुसार एक छोटी कार्य समिति का गठन हमें करना है। इसके लिए जैन समाज की ओर से कुछ नाम मेरे पास आये हैं, जो व्यक्ति कार्य समिति के रूप में आई हुई योजनाओं पर विचार करेंगे।"

श्री कस्तूरभाई लालभाई ने अपने लिखित वक्तव्य में कहा—"समग्र जैन समाज की ओर से मैं प्रधानमन्त्री को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने भगवान महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी को मनाने के लिए राष्ट्रीय समिति बनाई। मैं आशा करता हूँ कि भगवान महावीर के महान सन्देशों से समस्त विश्व को अवगत कराने के लिए यह स्वर्णिम अवसर सिद्ध होगा।"

सुप्रसिद्ध जैन विद्वान डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपने अंग्रेजी वक्तव्य में भगवान महावीर के युग की ऐतिहासिक स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि किस प्रकार भगवान महावीर ने उस युग में एक नई सामाजिक-धार्मिक क्रांति का सूत्रपात किया था और आज तक किस प्रकार भगवान महावीर के अनुयायियों ने देश के विकास में अपना महान योगदान दिया है।"

बम्बई के विख्यात सोलिसीटर श्री चीमनभाई चक्कुभाई शाह ने समस्त जैन समाज द्वारा तैयार किये गये योजना के प्रारूप को संक्षेप में बताया और आशा व्यक्त की कि राष्ट्रीय समिति इसे कार्यान्वित करेगी।

दिगम्बर आचार्य श्री देशभूषण जी ने इस महान कार्य की सफलता हेतु अपने आशीर्वचन प्रस्तुत किये।

अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराज जी डी० लिट्० ने अपने वक्तव्य में कहा—राष्ट्रीय समिति के निर्माण की चर्चा पिछले कुछ वर्षों से चलती रही है। उसकी सम्पन्नता का प्रथम अध्याय आज हमारे सामने है।

मुनिश्री सुशील कुमार जी ने कहा—"आज देश में अहिंसा के वातावरण को बनाने का अवसर आया है। भगवान महावीर ने पिछड़ी जातियों के लिए, नारी-उत्थान के लिए एवं समाजवाद के लिए जो प्रयास किये थे, उन्हें आज हमें पुनः करना है। अपरिग्रह के आदर्श को धनी जैन लोग जीवन में उतारें और परिग्रह का अधिकाधिक विसर्जन करें। प्रधानमंत्री जी ने समानता का नारा उठाया है उसे चरितार्थ करने में सहयोगी बनें।"

तत्पश्चात क्रमश :—श्री लक्ष्मीमल सिंघवी, श्री अक्षयकुमार जैन, प्रो० के० एम० लोढा, श्री यशपाल जैन और शाहू शांतिप्रसाद जैन ने अपने संक्षिप्त वक्तव्यों में भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव की व्यापकता पर प्रकाश डाला तथा अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के महान सिद्धान्तों के प्रसार पर बल दिया।

ईसाई धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुए संसद सदस्य श्री जोकिम अल्वा ने जैन साहित्य-कला की प्रशंसा की और राष्ट्रीय समिति द्वारा निर्धारित होने वाले कार्यक्रम में पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया।

बौद्धधर्म का प्रतिनित्व करते हुए भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने कहा—भारत और विदेश के समस्त बौद्धों की ओर से इस कार्य में पूर्ण सहयोग समर्पित करता हूं।★

समाचार दर्शन

गुणी अभिनन्दन समारोह, अजमेर

श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमल जी म० के सान्निध्य में, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की ओर से, गुणी अभिनन्दन समारोह के रूप में, श्री हिम्मतसिंह जी सरूपरया-उदयपुर श्री चांदमल जी कर्णावट—भोपालगढ़, श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा—केकड़ी का १७ मई, १९७२ के दिन, अजमेर (राजस्थान) में अभिनन्दन एवं सम्मान किया गया। सेवाक्षेत्र में यह परम्परा अभिनन्दनीय है।

श्री संस्कार अध्ययन सत्र, जयपुर

श्री शिखरचन्द्र जी पालावत सूचित करते हैं कि दिनांक १४ मई से ११ जून तक मात्र बहनों के लिए संस्कार अध्ययन सत्र का विराट आयोजन हो रहा है। साध्वी श्री निर्मला श्री जी एम० ए० के तत्त्वावधान में, नैतिक उत्थान की दृष्टि से गुजरात में अनेक सत्रों का आयोजन हो चुका है। राजस्थान में यह पहला प्रयत्न है। पत्र व्यवहार का पता :—

श्री आत्मानन्द सभा भवन, घी वालों का रास्ता, जयपुर - ३

'चिन्तन की मनोभूमि' का अध्ययन समारोह

जैन नगर (मेरठ) का स्वाध्याय मण्डल क्रियाशील संस्थान है। प्रत्येक रविवार को प्रातः ६।। से ७।। तक नियमित स्वाध्याय-सभा लगती है। चेतनाशील शिक्षित भाई बहन काफी प्रेरणा ले रहे हैं। उपाध्याय श्री अमर मुनि जी का सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'चिन्तन की मनोभूमि' का अध्ययन चल रहा था। उसी के समापन समारोह का आयोजन बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। अब उपाध्याय श्री जी का ही 'अध्यात्म-प्रवचन' नामक अध्यात्म ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ हो रहा है —श्री रोशनलाल जैन

श्री जय चौथ जैन छात्रावास, जवाजा

उक्त छात्रावास का जून १९७२ में उद्घाटन होकर, जुलाई के प्रथम

सप्ताह से कार्य प्रारम्भ हो रहा है। प्रवेशार्थी छात्र को केवल ३० रु० मासिक में भोजन, आवास, रोशनी आदि के साथ जैनधार्मिक व विद्यालय की पढ़ाई की भी सुविधा होगी। जवाजा में ११ वीं कक्षा तक राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय है जिसमें कृषि और कला—आर्ट में हिन्दी, नागरिक शास्त्र, इतिहास भूगोल, जीव विज्ञान, गणित व भौतिक शास्त्र की पढाई होती है। पत्र व्यवहार का पता—

श्री जय चौथ जैन छात्रावास जवाजा
(स्टेशन ब्यावर पश्चिमी रेलवे) जि० अजमेर (राज०)

पंजाबी विश्वविद्यालय को जैन साहित्य भेंट

विश्व विद्यालय ग्रांट कमीशन ने, पंजाबी विश्व विद्यालय के गुरु गोविन्द सिंह भवन में, जैन शोध विद्या के लिये, ५००००) पचास हजार रुपए अनुदान रूप में स्वीकार किये है।

विश्व विद्यालय के बौद्ध धर्म विभाग के अध्यक्ष डॉ० एल० एम० जोशी इस कार्य में बहुत उत्साह दिखा रहे हैं। लुधियाना (पंजाब) में महावीर जयन्ती के उपलक्ष में डॉ० एल० एम० जोशी को लगभग २००० से अधिक मूल्य की जैन पुस्तकें भेंट की गई, जिनमें पुज्य श्री घासीलाल जी म० के टीका सहित उपलब्ध आगम, जैन कल्चर सोसाइटी पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी, श्री काशीनाथ ग्रन्थमाला, श्री आत्मानंद जैन महासभा, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, ओरियंटल प्रकाशन, राजस्थान प्राच्य-मन्दिर, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति–लुधियाना का साहित्य समाविष्ट है। इसके लिये श्री फूलचन्द जी म०, श्री पदमचंद जी म० भण्डारी, श्री विमलमुनि जी म०, श्री रत्नमुनि जी म०, उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि जी म० का सहयोग व प्रेरणा अविस्मरणीय है। अकेले ही श्री भोजराज सुरेन्द्रकुमार भटिण्डा वालों ने साहित्य अर्पण मे १०००) का योगदान किया है। लुधियाना श्रीसंघ का उत्साह भी प्रशंसनीय है।

मुनि श्री पदमचंद भंडारी के निर्देशन में कवि श्री अमरमुनि जी के सर्व जनोपयोगी साहित्य का पंजाबी गुरुमुखी में अनुवाद कार्य शुरू हो गया है। 'भगवान् महावीर की बोधकथा' का पंजाबी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है, 'जैनत्व की झांकी' का हो रहा है। —रवीन्द्रनाथ जैन, मालेर कोटला

शोधार्थियों को सूचना

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी ने पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान को जैन शोधकेन्द्र के रूप में विधिवत् मान्यता प्रदान कर दी है। आगामी सत्र से किसी भी जैन विषय पर पी-एच० डी० की उपाधि के लिए शोधकार्य करने की इच्छा रखने वाले छात्र इस संस्थान में प्रवेश प्राप्त कर सकेंगे। इन छात्रों में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिएँ :—

१. प्रथम अथवा उच्च द्वितीय श्रेणी में एम० ए०
२. हिन्दी एवं अंग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान
३. संस्कृत एवं प्राकृत का साधारण ज्ञान
४. जैन विद्या का सामान्य परिचय

प्रवेशार्थियों को पंजीकरण आदि के लिए जुलाई के प्रथम सप्ताह में संस्थानाध्यक्ष से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। पंजीकरण एवं प्रवेश हो जाने पर चुने हुए छात्रों को नियमानुसार २५० रु० प्रति मास छात्रवृत्ति तथा छात्रावास में निवास की सुविधा दी जाएगी। शोधार्थियों को दो वर्ष तक संस्थान में रह कर अध्यक्ष के निर्देशन में नियमित रूप से शोधकार्य करना होगा।

—मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैन इंस्टीट्यूट
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

अ० भा० जैन महिला शिक्षण संघ, राणावास

श्री जैन बालिका छात्रावास में, प्रवेशार्थी बालिकाएँ दि० १-७-७२ से प्रवेश पा सकती है। यहाँ श्री महावीर कन्या विद्यालय में १ से १० वीं कक्षा तक अध्ययन का प्रबन्ध है। २१ रु० मासिक भोजन के और ८ रु० अन्य फीस आदि के—सब मिलाकर केवल २९ रुपये मासिक लिए जाते हैं जो सज्जन अर्ध या पूर्ण शुल्क माफ कराना चाहें, वे १५-६-७२ तक गांव के दो प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर के साथ प्रार्थनापत्र भेज दें।

पता—अ० भा० जैन महिला शिक्षण संघ,
मारवाड़ राणावास, जि० पाली (राजस्थान)

स्पष्टीकरण : सूचनाएं

- श्री अमर भारती मई, १९७२ के अंक में 'पीड़ा के नि:श्वास' शीर्षक से एक कहानी छपी है, लेखक हैं श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन ऐडवोकेट भवानी मंडी (राजस्थान)। और वह हिन्दुस्तान दैनिक ३ जनवरी १९७२ में प्रकाशित हो चुकी है। कहानी एक भद्र पाठक को पसंद आयी, और उसने अमर भारती में प्रकाशनार्थ देदी, किन्तु लेखक का नाम सूचित नहीं किया, जो आवश्यक था। प्रेषक की नीयत में सन्देह नहीं है, क्योंकि उसने लेखक के रूप में अपना नाम नही लिखा है। यह मात्र भूल है, और कुछ नहीं। भविष्य में इस प्रकार की भूलें न होने पाएं, इसके लिए पाटक एवं प्रेषक सतर्क रहें। उक्त भूल की सूचना के लिए हम पत्रकार श्री माँगीलाल जी नाहर भवानी मंडी के सहर्ष आभारी हैं।

—सं० अमर भारती

●

- श्री प्रद्युम्नकुमार जी (अजमेर) कुछ दिन अमर भारती के प्रचारक रहे थे। उन्होंने अनेक ग्राहकों का चंदा कार्यालय में जमा नहीं कराया और न ग्राहकों के नाम ही सूचित किए, आजीवन सदस्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा हुआ है। अमर भारती पत्रिका का ध्येय सद्विचारों का प्रसार है, अर्थसंग्रह नहीं। अतः हम सूचित करना चाहते है कि जो भी भाई आजीवन या वार्षिक सदस्य आदि बने हों, कार्यालय में स्पष्टीकरण के साथ सूचना दें, हम उन्हें तदनुसार अमर भारती भेजने का प्रबन्ध करेंगे।

●

- मनीआर्डर कूपन में और वी. पी. से भेजने के लिये लिखे जाने वाले पत्र में अपना पूरा पता और ग्राहक संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक संख्या याद न हो तो पुराना ग्राहक' लिखें और यदि नया ग्राहक बनना हो तो 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

●

- कभी-कभी ऐसा होता है कि उधर से मनीआर्डर आता है, इधर से पहले ही वी.पी. कर दी जाती है। कृपया वी. पी. लौटाएं नहीं। प्रयत्न करके नया ग्राहक बना दें और उसका पता साफ-साफ अक्षरों में सूचित कर दें। ताकि व्यर्थ की हानि न हो।

●

- प्रत्येक महीने की १६ तारीख तक पत्रिका न मिले, तो स्थानीय डाकखाने से मालूम करें। समाधान न हो तो कार्यालय को पत्र लिखें, ताकि पत्रिका दुबारा सेवा में भेजी जा सके।

—व्यवस्थापक-अमर भारती

भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के लिए
विनोबा भावे का सन्देश

दिनांक ६ अप्रैल ७२ को पवनार आश्रम में राष्ट्रसंत विनोबा भावे के दर्शन करने का अवसर अपराह्न ३ बजे मिला। लोगों से घिरे बाबा वार्तालाप में मशगूल थे किन्तु मेरे जाते ही अत्यन्त स्नेह और प्रेम से मेरी ओर मुखातिब हुए। मैंने उन्हें लिखकर बताया कि मैं भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के लिए नेशनल कमेटी की मिटिंग में दिल्ली जा रहा हूँ। वहाँ १२ अप्रैल को प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में समिति की मिटिंग हो रही है।

बाबा ने कहा—कुछ लोग कहते हैं कि भगवान महावीर का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा है, लेकिन यह समझना गलत है। अहिंसा तो भगवान महावीर से पहले भी थी। महावीर की मुख्य देन तो स्याद्वाद है, जिसे लोग अप-सिद्धान्त कहते हैं। अपना सत्य तो सत्य है ही, किन्तु दूसरा जो कहता है वह भी सत्य है। दोनों सत्य मिलकर पूर्ण सत्य होता है। महावीर की शिक्षा में मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद ही है। उससे सारा समाज एक हो सकता है। सामाजिक एकता सम्भव हो सकती है। सारी जीव-सृष्टि से समता साधी जा सकती है। निर्वाण महोत्सव में स्याद्वाद को जनजीवन में उतारने का काम किया जाये। इस काम का जितना बोझ उठा सकते हैं वह अपनी शक्ति के अनुसार उठाना चाहिए। महावीर इस वर्ष ही नहीं, सतत हमारे हृदय में रहें, ऐसा समझकर काम करें। नहीं तो गांधी-शताब्दी जैसा होगा। गांधी-शताब्दी वर्ष में खूब उधम मचाया, पैसा इकट्ठा किया, खादी और दूसरे कामों को किया, पर १०१ वें साल में क्या हुआ ? सारा उत्साह खतम हो गया। २५००वीं निर्वाण शताब्दी में वैसा नहीं होना चाहिए।

फिर कुछ ठहरकर गम्भीर होकर बोले यदि महावीर से पूछा जाए कि हम आपको स्मरण कैसे करें ? तो वे यही कहेंगे कि कृपाकर मुझे भूल जाओ, मैंने जो कुछ कहा उसका स्मरण कर जीवन में उतारो। शताब्दी वर्ष में मुख्य रूप से यह होना चाहिए। उत्सव भी हो पर अधिक बल उनके सिद्धान्तों को जीवन में उतारने में हो। मैं उत्सव का विरोधी नहीं हूँ, पर उत्सव का उपयोग महावीर को स्मरण कर उनके उपदेशों को जीवन में उतारने में होना चाहिए। —रिषभदास रांका

●

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम-प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा-२

अपना शव अपने कंधों पर,
कौन उठाए मनुज भटकता ?
अपना पौरुष भूल पराये,
विश्वासों पर जो कि लटकता !!

★

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री
'साहित्यरत्न'

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०,
साहित्यरत्न, प्रभाकर

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन • एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष • इकतीस रुपये
तीन वर्ष • इक्कीस रुपये
वार्षिक • आठ रुपये
एक प्रति • पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ६ | जुलाई ७२ | अंक ७

उपाध्याय अमर मुनि

अन्तर्नाद

स्वर्गीयसुखभोगार्थं वृथैवेन्द्रियनिग्रह. ।
विषत्यागेन किं तेन विषावाप्तिः पुनर्यतः ॥४७॥

—जो लोग परलोक में स्वर्ग के सुखभोगो के लिए यहाँ साधना के नाम पर इन्द्रियों का निग्रह करते हैं, उनका यह निग्रह अर्थात् विषयों का त्याग व्यर्थ है। भला उस विष (जहर) के त्याग से क्या लाभ है, जिस से कि फिर विष ही प्राप्त हो।

साधना का सब से बड़ा दूषण परलोक में स्वर्ग-सुखों की प्राप्ति का मोह है। यहाँ धन छोड़ते हैं, इसलिए कि स्वर्ग में इससे अधिक प्रचुर मात्रा में धन संपत्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त हो! यहाँ बेचारी साधारण पत्नी का त्याग इसलिए करते हैं कि स्वर्ग में एक-से-एक सुन्दर अप्सराएँ प्राप्त हों। यह कैसा त्याग? यह तो विषय का त्याग विषय के लिए ही हुआ। जहर की एक छोटी सी पुड़िया फेंक कर बदले में जहर का एक थैला भर लेना, कहाँ की बुद्धिमत्ता है। लोक और परलोक—दोनों ही ओर से विषयवासना से मुक्त रहना, सच्ची साधना है।

यह साधना ही मुक्ति का हेतु है। जहाँ विषयवासना है, भले ही वह इस दुनिया की हो या अगली दुनिया की, संसार है। संसार से संसार में जाना, कैसी साधना, कैसी मुक्ति?

अज्ञानां विषये प्रीतिस्तत्र विस्मयकारकम् ।
शास्त्रज्ञा विषयासक्तास्तदेवात्यन्तमद्भुतम् ॥४८॥

—अज्ञानी लोगों की विषयों में जो प्रीति है, वह कोई आश्चर्य की बात

पिण्ड है, उसका स्वरूपतः अच्छा क्या, बुरा क्या ? उससे आत्मा को अपनी क्या हानि है ? कुछ भी नहीं। अपितु देह तो आत्मा के लिए कर्म करने का केन्द्र स्थल है साधना की पवित्र भूमि है। जो कुछ भी बुराई है, वह देहदृष्टि की है। देहदृष्टि का अर्थ है—देह में ही आबद्ध रहने वाली, देह को ही सर्वस्व एवं जीवनलक्ष्य समझने वाली बुद्धि। देह साधनमात्र है, साध्य नहीं। साधन को साध्य का महत्त्व देना, भूल है। और यह भूल अनादिकाल से आत्मा को जन्म-जन्म में पीड़ा देती आरही है।

निजात्मनि निमग्नस्य सहजानन्द-वारिधौ।
सुखदुःखस्वरूपेऽस्मिन् संसारे नैव वासना ॥५४॥

—आत्मा सहज आनन्द का सागर है। अतः जो साधक सहजानन्द-सागरस्वरूप निजात्मभाव में निमग्न है, लीन है, उसको सुख और दुःख-स्वरूप इस संसार में वासना नहीं रहती है।

संसार सुख दुःखस्वरूप है। इसमें वासना उन्हीं लोगों की रहती है, जिनको आत्मलीनता की स्थिति नहीं प्राप्त होती है। आत्मा स्वरूपतः सहज आनन्द का अमृतसागर है। ज्योंही साधक इस आनन्द सागर में गहरी डुबकी लगाता है, त्योंही संसार की वासना विलुप्त हो जाती है।

बाहर में दृष्टि रखते हुए जो लोग बाहरी प्रत्याख्यानों के द्वारा वासना से मुक्त होना चाहते हैं, वे अज्ञान में हैं। बाहर का त्याग या तो केवल वाचा का त्याग हो सकता है, या अधिक-से-अधिक उससे पुण्य बन्ध हो सकता है। जिसे हम संवर और निर्जरा कहते हैं, बन्धनमुक्ति कहते हैं, वह तो आत्म-लीनता, स्वरूपरमणता के बिना कथमपि संभव नहीं है। 'स्व' की 'स्व' में लीनता ही 'स्वमुख' होना है। और यह स्वमुखता ही परमुखता से, सांसारिक वासना से साधक को सहज ही बन्धनमुक्त कर देती है।

★

★ उपाध्याय अमरमुनि

निर्वाण शताब्दी और हमारा दायित्व

क्या बात है, ठीक तरह समझ में नहीं आ रही है। जब-जब जीवन में कोई अच्छा प्रसंग उपस्थित होता है, सत्कर्म करने का शुभावसर आता है, तो सामने कुछ ऐसे बेतुके विघ्न आ खड़े होते हैं कि कुछ पूछो नहीं। एक बहुत पुरानी संस्कृत लोकोक्ति है, **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'**—पुरानी होते हुए भी पुरानी नहीं पड़ी है। बिल्कुल ताजादम है वह। अपितु पहले की अपेक्षा वह आज और अधिक प्राणवान् होगई है।

वीर निर्वाण शताब्दी पर यह हंगामा कैसा?

तीर्थंकर भगवान् महावीर का २५००वाँ निर्वाण कल्याणक, निकट (१३ नवम्बर १९७४) में, आरहा है। जनता में जागरण आया है, आरहा है, भले ही वह काफी देर से आया है। कुछ हलचल हुई है जनता के मन मस्तिष्क में। भगवान् के श्री चरणों में श्रद्धा के कुछ पुष्प अर्पण करने के लिए जनमन गण उल्लसित हुआ है। जैन परम्परा की, संप्रदाय के नाम पर इधर-उधर बिखरी-छितरी कड़ियाँ, प्रस्तुत शताब्दी प्रसंग को लेकर, फिर से मिलने लगी हैं, जुड़ने लगी हैं। अजैन समाज का भी अच्छा सहयोग मिल रहा है। भावनाएँ ठीक दिशा में प्रवहमान हुईं; तो राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उक्त उत्सव को मनाने की तैयारी होने लगी। वर्तमान युग के जनजीवन में अनेक दोष आए हैं, किन्तु एक अच्छी बात यह जरूर आयी है कि विश्व के महान् पुरुषों को, जनजागरण के महिमाशाली सन्देशवाहकों को सहज आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है—सांप्रदायिक क्षुद्र

सत्याग्रह से ऊपर उठकर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करने का सामूहिक सद्विचार जोर पकड़ने लगा है। इसी भाव परिवेश में, तीर्थंकर महाश्रमण महावीर का २५०० वां निर्वाणोत्सव बहुत व्यापक राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के लिए भारतीय गणराज्य की ओर से जैन-अजैन सभी भावनाशील सज्जनों की एक राष्ट्रीय समिति गठित की गई है। सौभाग्य से वर्तमान में भारत की प्रधानमंत्री श्री इन्दिरा गांधी हैं, जो योग्य पिता की योग्य पुत्री हैं. भावनाशील-कर्तव्यपरायण-सम्प्रदायमुक्त--जनभावना की प्रेरक-प्रत्येक परंपरा के महान् पुरुषों के प्रति सहज श्रद्धावनत। राष्ट्रीय समिति की आप ही अध्यक्ष हैं यदि हम ठीक तरह जनहित की दिशा में सोच सके--समझ सके और निष्ठा से कोई भी विशिष्ट जनमंगल कार्य करने को तैयार हो सके, तो हमें विश्वास है. स्वयं प्रधान मंत्री और उनकी सरकार की ओर से हमें काफी उत्साहप्रद मुक्त सहयोग मिल सकेगा।

परन्तु मैं इधर जो कुछ चर्चाएँ सुन रहा हूँ, अखबारों और परिपत्रों में जो कुछ पढ़ रहा हूँ, मेरी समझ में नहीं आता कि यह क्या होरहा है और क्यों हो रहा है? राष्ट्रीय समिति के गठन का बेमानी विरोध हो रहा है, इसके लिए, समिति के प्रथम अधिवेशन पर सुना गया है, सैकड़ों तार भी दिए गए। राष्ट्रीय समिति ही नहीं. निर्वाण शताब्दी महोत्सव को भी अवांछनीय करार दिया जा रहा है। प्रस्तुत शताब्दी महोत्सव की योजना में उन्हें जैन धर्म का सर्वनाश दिखाई देने लगा है। कितनी दिव्यदृष्टि प्राप्त की है श्रीमानों ने? कोई तर्क नहीं, कोई दलील नहीं! बस उन्हें तो राष्ट्रीय स्तर पर वीर निर्वाणोत्सव मनाने में जघन्य अपराध--जैसा कोई भयंकर पापाचार मालूम होरहा है! विचित्र स्थिति है विक्षुब्ध एवं विमुग्ध भावनाशून्य मन की।

बताएं तो जरा, दोष क्या है?

मैं ठंडे मन से प्रस्तुत विरोध पर विचार कर रहा हूँ। बहुत कुछ तटस्थता से विचार करने पर भी मुझे तो ऐसा कुछ नहीं लगता कि यह कार्यक्रम क्यों त्याज्य है, कुछ लोगों की निगाहों में? मुझे तो भ्रान्ति के वात्याचक्र से प्रताडित केवल मतिभेद ही लगता है, और कुछ नहीं। राष्ट्रीय समिति ने जो कार्यक्रम निर्धारित किए हैं, उनमें से कौनसा एक भी ऐसा कार्य है, जो भगवान् महावीर और उनके धर्मसन्देश के विपरीत है, जिन

शासन को कलंकित करने वाला है, कोई बताए तो सही। बताएँ कहाँ से, जबकि ऐसा कुछ है ही नहीं। जिनकी दृष्टि दोषदर्शन की हो जाती है, उन्हे सर्वत्र दोष-ही-दोष दिखाई देते हैं। दोषदर्शन भी एक प्रकार से मन का पीलिया रोग है, जिस में हर चीज—श्वेत भी—पीली ही नजर आती है। लगता है, ये महानुभाव, मन के इसी पीलिया रोग से ग्रस्त हैं।

आपको जो पसन्द हो–करें, कौन रोकता है ?

मान लिया, हमारा कार्य क्रम आपको पसन्द नहीं है, तो इसके लिए हायतोबा मचाने की क्या जरूरत है ? जो आपको पसन्द हो, आप कीजिए। आपको कोई रोक तो नहीं रहा है। किन्हीं पुराने पोथी पत्रों में आपको यदि कोई दिव्य कार्यक्रम मिला हो, तो कृपया, उचित समझें तो हमें भी सूचित कर दीजिए। हम भी उसमें से यथाबोध और यथाशक्ति कुछ ग्रहण कर लेंगे। प्रभु के मार्ग में अपना पराया क्या ? जो भी अच्छा है, वह सब अपना है। यही भगवान् महावीर की दिव्य शिक्षाओं का सार है। निश्चिन्त रहिए, हम और हमारे साथी आपके अच्छे कार्य क्रम को क्रियान्वित करने में आपको पूर्ण योगदान देंगे। इधर हमारे कार्य क्रम को भी आप तटस्थ दृष्टि से देख लीजिए। उसमें का जो भी अंश आपको अच्छा लगे, उसके लिए आपकी ओर से मुक्त मन से सहयोग मिलना चाहिए। यदि हमारा कार्य क्रम समग्र ही निकृष्ट है, अधर्म और पाप है, आपकी निगाहों में, तो रहने दीजिए। हमें वह अच्छा लगता है, हम कर रहे हैं, आप क्यों व्यर्थ ही परेशान हो रहे हैं ? निर्वाण शताब्दी महोत्सव राष्ट्रीय और अन्तर राष्ट्रीय स्तर पर मनाना, तदनुसार जनकल्याण की योजनाओं पर अमल करना, पाप है आपकी मंगल दृष्टि में तो, आपको क्या आपत्ति है ? उसका जो भी कुफल होगा, हम भोगेंगे, हम नरक में जाएँगे। प्रभु भक्ति की प्यास लिए, प्रभु के दिव्य गौरव को जन-जन तक पहुँचाते हुए, यदि किसी के मतानुसार हमें नरक भी मिलता है तो वह हमें आपके तथाकथित स्वर्ग से कहीं अधिक प्रिय है। आप अपने स्वर्ग का रास्ता साफ कीजिए। दिव्य अप्सराएँ खड़ी हैं, वरमाला लिए, आपकी इन्तजार में। हमारा क्या है ? हमे तो प्रभु के मार्ग पर चलते नरक भी मिलता है तो वह भी अच्छा है, अभिनन्दनीय है। महावीर की साधना का लक्ष्य बन्धन से विमुक्ति है। स्वर्ग नरक तो बीच के पड़ाव हैं। दोनों ही संसार हैं। सांसारिक सुख दुख के

सिवा कोई खास फर्क नहीं है उनमें। बस आप स्वर्ग में सुख भोग लेना, मनचाही मौज उड़ा लेना। और हम? कोई बात नहीं, नरक में दुख भोगेंगे। पर याद रखिए, वह दुख भी रो-रोकर नहीं, हँस-हँस कर भोगेंगे! प्राचीन युग में तो अपने निर्मल आदर्शों के लिए लोग हँसते-हँसते सूली पर चढ़ गए हैं। असली स्वर्ग मन की प्रसन्नता ही है। और हम वे हैं, जो अपनी सात्विक प्रसन्नता के द्वारा समय पर नरक को भी स्वर्ग में बदल देंगे।

कृपया, पूर्वाग्रह की मनःस्थिति को बदलिए

लगता है मूलतः विरोध आप को भी नहीं है। आप केवल पूर्वाग्रह के शिकार हैं। और इसलिए विरोध के नाते ही विरोध कर रहे हैं। वैसे आपके तर्कहीन विरोध में कोई दम नहीं है। मैं प्रभु महावीर का एक तुच्छ सेवक होने के नाते आपसे विनम्र निवेदन करूँगा कि वर्तमान युग को निर्वाण कल्याणक के रूप में एक महापर्व मनाने का पुण्य प्रसंग मिला है। इस अवसर को यों ही आपस की तू-तू मैं-मैं में रायगां न करें। प्रभु के श्री चरणों में एक मन, एक प्राण होकर श्रद्धांजलि अर्पण कीजिए। भगवान् के लोकमंगलकारी दिव्य संदेशों की दिव्य ध्वनि घर-घर पहुँचाइए। वर्तमान में आपको केन्द्रीय और राज्य सरकारों का, विद्वान् मनीषियों और सर्व साधारण जनता का जो सहयोग मिल रहा है, वह फिर कब मिलेगा? सबसे बड़ी क्षति समय पर समय का सदुपयोग न करना ही है—'**का हानिः? समयच्युतिः।**' इस क्षति से बचिए। कुछ समय के लिए विरोध को एक तरफ रख दीजिए। और यदि आप ठीक तरह सोच सकेंगे तो आपका हमारा विरोध भी क्या है? कुछ वैचारिक मतभेद ही तो हैं। वे बहुत पहले भी रहे हैं, भविष्य में भी रहेंगे। उनको लेकर व्यर्थ ही वर्तमान के सुन्दर बनते वातावरण एवं पर्यावरण को दूषित करने का, आखिर क्या मतलब? मैं तो अन्तर्मन से, गान्धी जी के प्रार्थना शब्दों में, यही भावना रखता हूँ कि 'सबको सन्मति दे भगवान्,' ★

मनुष्य को हमेशा ही अच्छे काम करने चाहिएँ। यदि स्वयं में सामर्थ्य न हो, तो दूसरों के अच्छे कामों में सहयोगी बनो। सहयोग भी न हो सके तो कम से कम सत्कर्मों का अनुमोदन—समर्थन ही करना चाहिए। यदि यह भी न हो सके, तो सत्कर्म के विरोध में यों ही अंटसंट बोलें तो नहीं। अच्छा बोलो, न बोल सको, तो मौन रहो—यह भी कल्याण का एक मार्ग है।

—उपाध्याय अमरमुनि

★ उपाध्याय अमरमुनि

जीवन की नैय्या खेते चलो

एक बार भगवान महावीर से पूछा गया—"यह संसार क्या है ? और इसमे मुक्त होने का मार्ग क्या है ?" भगवान ने संक्षेप में उत्तर देते हुए कहा—"राग और द्वेष ही संसार है, और वीतरागता ही मुक्त होने का मार्ग है।"

संसार में जितने दुःख, द्वन्द्व और संघर्ष हैं, कष्ट और पीड़ाएं हैं, उनका मूल बाहर में नहीं, हमारे अन्दर में है। नरक और स्वर्ग की जड़ें भी हमारे भीतर में ही हैं, पशु पक्षियों का विराट संसार भी हमारे भीतर ही पैदा होता है। बात यह है कि जन्म-जरा-मरणरूप संसार का मूल हमारे मन में छिपा है। जब तक उस मूल को समाप्त नहीं किया जाता, तब तक संसार से मुक्ति नहीं हो सकती, जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिल सकता। आत्मा अनादि काल से अनन्त-अनन्त जन्म-मरण करता चला आ रहा है, और करता रहेगा। जब तक राग-द्वेष का बीज पल्लवित पुष्पित होता रहेगा, तब तक संसार-वृक्ष पर नित नई बहार, नित नये परिवर्तन आते ही रहेंगे। पतझड़ भी आते रहेंगे, और वसन्त भी आते रहेंगे। जन्म-मरण और सुख-दुःख की परम्परा चालू रहेगी। उतार-चढ़ाव, आरोह-अवरोह संसार के सनातन क्रम हैं, जीवन के साथ लगे हुए हैं। इन सबका मूल हमारी आन्तरिक वृत्तियों में है। हमारे मन में जब राग-द्वेष की लहर उठती है, तो संसार जन्म लेता है, कषाय-भाव जागृत होते हैं, काम, क्रोध, ईर्ष्या और लोभ आदि वृत्तियाँ हलचल मचाती हैं, इनसे संघर्ष पैदा होते हैं, द्वन्द्व और दुःखों की परम्परा चालू होती है और इस प्रकार हमारे अन्दर का संसार बाहर में विस्तृत होता चला जाता है। राग और द्वेष की अनेक प्रक्रियाएँ, अनेक रूप जीवन में, तरह-तरह के सुख दुःखों के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं।

इसलिए यह बताया गया कि संसार तुम्हारे अन्दर में है और वह राग द्वेष के रूप में विद्यमान है।

मुक्ति भी अन्दर में है :

जब संसार हमारे अन्दर में है, संकल्पों में है, विचारों में है, तो प्रश्न होता है—'मुक्ति कहां है ?' भगवान ने बताया कि—"मुक्ति भी तुम्हारे अन्दर में है।" जहाँ रोग पैदा होता है, वहीं उसका उपचार भी किया जाता है। यह नहीं कि दर्द तो पेट में है और औषधि सिर दर्द के लिए दी जाय ? जब विकार अन्दर में हैं तो उनकी समाप्ति भी वहीं होगी न ? संसार जब भीतर में है, तो मुक्ति भी वहीं है। संसार का बीज जिस मनोभूमि पर अंकुरित होता है, उस मनोभूमि को स्वच्छ करके जब बीज को नष्ट कर दिया गया, तो बस, मुक्ति हो गई। राग द्वेष की निवृत्ति होना ही तो मुक्ति का स्वरूप माना गया है- "**कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव**"—कषाय से मुक्ति होना ही तो मुक्ति है। कषाय संसार वृक्ष का बीज है—'**रागो य दोसो वीय कम्मबीयं**" राग और द्वेष दो कर्म के बीज हैं। जब तक बीज समाप्त नहीं होता, तब तक जड़ समाप्त नहीं होती। और जब तक जड़ विद्यमान है, हरी है, तो आप ऊपर से चाहे जितनी शाखाएँ तोड़ें, डालियाँ काटें, वृक्ष समाप्त नहीं हो सकता। वह फिर लहलहा उठेगा, फल-फूलों से लद जायगा। इसलिये वृक्ष को समाप्त करने के लिए बीज को अर्थात् जड़ को समाप्त करना पड़ता है।

भगवान् महावीर ने बताया है कि संसार के बीज को जलाने के लिए तुम्हें साधना करनी पड़ेगी। कैसी साधना ? सिर मुंड़ाना, साधु वेष धारण करना, रजोहरण या मयूर पिच्छी आदि आदि का अम्बार लगा देना ? बिल्कुल नंगा रहना या श्वेत और पीत वस्त्र धारण करना ? नहीं, यह साधना नहीं है। इसे साधना कहना हो, तो बाह्य-साधना कहा जा सकता है। भावहीन कोरी बाह्य-साधना का जीवन में कोई मूल्य नहीं है। तकिये के गिलाफ चाहे जैसे हों, किसी को काला पसन्द है, किसी को सफेद, किसी को सादा और किसी को बेल-बूंटे दार। पर इससे क्या ? मूल चीज तो तकिये के भीतर रुई है, वह तो सब में एक है। सिराहने के लिए कोमलता की दृष्टि से उसी की उपयोगिता है। अन्य सब तो व्यक्ति

की अपनी मन पसंदगी के शृंगार हैं। अतः जो साधना है, वह भीतर की रुई है। ऊपर की वेष-भूषा का साधना के क्षेत्र में गिलाफ से ज्यादा महत्व नहीं है। ऊपर के लिफाफे नई-नई डिजाइन के और नये-नये रंग-रूप के हो सकते हैं, पर, खाली बंद लिफाफा आपके हाथ में आये, और आप झटपट उसे देखें और अन्दर में कुछ नहीं मिले तो आप क्या कहेंगे? यही न कहेंगे कि "कैसा मजाक है यह? खाली लिफाफा?" अस्तु, खाली लिफाफे का कोई महत्व नहीं, महत्व है अन्दर के पत्र का। पत्र में क्या लिखा है, यह जानने की उत्सुकता रहती है और उसी के लिए लिफाफे का भी महत्व है। तो शास्त्रकारों ने बताया है कि बाह्य-साधना कुछ भी चल रही हो, किन्तु आन्तरिक जगत् में यदि वीतराग भाव की साधना चल रही है, समभाव की साधना चल रही है, तो जीवन के द्वन्द्व, संघर्ष, यश, अपयश, सत्कार, तिरस्कार तुम्हें विचलित नहीं कर सकेंगे। कैसे भी तूफान हों, तुम्हें हिला नहीं सकेंगे। ज्ञान दीप की लौ को बुझा नहीं सकेंगे, जो तुम्हारे आत्म-मन्दिर में जल रही है। बाहर में चाहे जितना भयंकर ज्वालामुखी दहक रहा हो, किन्तु वीतराग ज्ञानी के भीतर में शान्त हिमसागर रहता है। बाहर में कितने ही द्वन्द्व, संघर्ष उछल रहे हों, किन्तु तुम्हारा अन्तरंग उसमें भी निष्कलुष, तटस्थ और प्रसन्न रह सकेगा, यदि तुमने वीतराग साधना का अमृत पान किया है तो।

साधना, द्वन्द्वों पर विजय :

कुछ साधकों की मनःस्थिति ऐसी होती है कि भीतर की शान्ति के लिए बाहरी शान्ति की अपेक्षा रखते हैं। कहते हैं बाहर का द्वन्द्व समाप्त हो जाये तो भीतर का द्वन्द्व अपने आप शान्त हो जायेगा। इसका क्या अर्थ? भीतर की शान्ति बाहरी शान्ति पर टिकी है क्या? बाहर में हलचल है, तूफान है, तो भीतर भी शान्ति नहीं, यह कैसी साधना? बाहर में कोलाहल है, तो मन ध्यान में लीन नहीं होता, आत्म दर्शन की गहराई में डुबकी नहीं लगा सकता, यह कैसा ध्यान? भीतर की शान्ति बाहर की शान्ति पर टिकी है या बाहरी शान्ति भीतर की शान्ति पर? एक आचार्य ने किसी युवक से धर्माराधना के लिए कहा कि—"कुछ धर्म-साधना भी किया करो भाई" तो वह बोला—"धर्म वर्म, तो बूढ़े होने पर करेंगे। अभी जवान हैं,

जवानी की रंगीनी है, पहले जीवन का आनन्द ले लें।" आचार्य ने प्रतिबोध दिया—बुढ़ापे में क्या धर्म करोगे ? जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी, शक्ति क्षीण हो जायेगी, तब कहोगे कि अब हम ब्रह्मचर्य स्वीकार करेंगे। क्योंकि मन शान्त हो गया है। मन कहाँ शान्त हुआ ? मन की शान्ति का मूल्य तब था जब शरीर की शक्तियाँ स्थिर थीं, जवानी थी, भोग में समर्थ थे, और भोग के सब साधन उपलब्ध थे। **'नवे वयसि यः शान्तः, स शान्त इति मे मतिः।'** बाहर में यौवन की हलचल मची है, ऐश्वर्य और विलास की गुलाबी छाई है, भोग साधन मनुहार कर रहे हैं, तब अन्दर में शान्ति की शीतल लहर उठती है, वीतरागता की निर्मल धारा फूटती है, मन प्रशान्त और साधनारत रहता है, वह है शान्ति ! वह है साधना ! जो तूफानों में अचल हिमाचल की तरह खड़ा रहता है, चित्र शालाओं में स्थूलिभद्र बनकर विचरता है, और गहरे पानी के बीच रहकर भी शतदल कमल की तरह निर्लेप, निर्मल रहता है, वह है साधक ! वह है साधना का असली चमत्कार ! और वही है वास्तव में इन्द्रिय-निग्रह ! जब शरीर उत्तर दे देता है, अच्छी तरह न खाया जाता है न पीया जाता है। मिट्टी के पिण्ड की तरह देह-पिण्ड एक जगह पड़ा रहता है, इधर-उधर चल-फिर नहीं सकता है। आँखें, और तो क्या, सामने खड़े हाथी को भी नहीं देख पा रही हैं, शरीर सब तरह से निकम्मा हो गया है। उक्त अवस्था में यदि कोई अपने को शान्त, निर्विकार और साधक बतलाये तो क्या वस्तुतः साधना है वह ? **"धातुषु क्षीयमाणेषु, शमः कस्य न जायते ?"** धातु के क्षीण होने पर जो शान्ति या निष्क्रियता आती है, उसे ही यदि शान्ति कहें, तब तो हर वृद्धपुरुष उच्च कोटि का साधक होगा।

हमारा धर्म और दर्शन इस प्रकार की निष्क्रिय शान्ति को महत्व नहीं देता। यह शान्ति जीवित नहीं, मुर्दा शान्ति है। हमें मुर्दा शान्ति नहीं चाहिए, निष्क्रिय और जड़ शान्ति नहीं चाहिए। जीवित एवं प्राणवान् शान्ति हमें चाहिए। वही साधना है। बाहर में हजारों द्वन्द्व हैं, संघर्ष हैं, कर्म की हलचल है, किन्तु उसमें भी निर्द्वन्द्व, शान्त, अनासक्त रहकर जो चले, वह प्राणवान् व्यक्ति की साधना है, वही धर्म है, वही असली शान्ति है। जो तूफानी झंझावातों में उखड़ जाये, वह हिमालय नहीं। जो बाहरी संघर्षों में क्षुब्ध हो जावे, वह साधक

नहीं। साधक जीवित मनुष्य की तरह पानी पर तैरता है, मुर्दे की तरह पानी के प्रवाह में वहता नहीं है। तैरना और बहना, दो भिन्न स्थितियाँ हैं। तैरना कला है, वहना विवशता है या मुर्दे की निष्क्रियता है। साधक संसार के प्रवाह में तैरता है, वहता नहीं है।

बाहर में कम्पन, पर भीतर में स्थिर :

जितने महापुरुष हुए हैं, उच्चकोटि के साधक हुए हैं, सब के जीवन में संघर्ष आए हैं, द्वन्द्व उठे हैं, पर उन्होंने द्वन्द्वों और संघर्षों से किनारा करने का, भागने का प्रयत्न नहीं किया। अपितु वीर योद्धा की तरह संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त की है। विकारों के तूफान उनके जीवन में भी उठे हैं, पर, उन्होंने साधना के माध्यम से आन्तरिक संघर्ष करके उन्हें शान्त कर डाला। जव भीतर में तूफान शान्त हो गया, मन के द्वन्द्व खत्म हो गए, तो फिर वाहरी तूफान और द्वन्द्व उनकी साधना पर कोई दुष्प्रभाव नहीं डाल सके। बाहर में चाहे जितनी हलचल हो, पर भीतर में यदि मन स्थिर हो गया है, तो वाहरी हलचल उसे चंचल नहीं वना सकती।

साधक के लिए कहा जाता है कि वह संसार में एक झूले पर झूलते हुए नन्हे नवजात वच्चे की तरह जीये। नवजात शिशु, जो अभी बिल्कुल अवोध है, अपने आप करवट भी नहीं ले सकता है, पालने में सीधा चित लेटा रहता है। इसी लिए संस्कृत में उसको 'उत्तान शायी' कहा जाता है। मां जब ऐसे वच्चे को झुलाती है तो पालना (झूला) इधर से उधर हिलता रहता है, और उस पर वच्चा शान्त सोया रहता है। शिशु गहरी नींद में शान्ति के साथ सोया है और झूला हिल रहा है। झूला एक जगह स्थिर नहीं है, उसमें कम्पन है, हलचल है, पर उसके भीतर जो वच्चा सोया है वह बिल्कुल स्थिर है, शान्त है। झूलते हुए भी, बाहर में कम्पन होते हुए भी, उसके भीतर लेटा हुआ शिशु वहुत ही शान्ति और स्थिरता का अनुभव कर रहा है। तभी तो वह शान्त सोया रहता है। यदि झूले के साथ उसके शरीर में भी कम्पन होता हो, वह भी झकझोरा जाता हो, तो बालक एक क्षण भर भी शान्त नहीं रह सकेगा।

भारत वर्ष के विद्वान मनीषियों ने कहा है—संसार एक झूला है। देह और इन्द्रियाँ सब झूले हैं। इन पर साधक झूल रहा है। उस

का वर्तमान चालू जीवन कम्पन और हलचल से भरा है। प्रतिक्षण धक्के पर धक्के और झटके पर झटके लग रहे हैं। बहुत बड़े द्वन्द्व और संघर्ष के तूफानी झोंके आ रहे हैं। पर, साधक उसके भीतर शान्त और स्थिर भाव से विराजमान है। उसके आन्तरिक जीवन पर उन का कोई प्रभाव नहीं हो रहा है, झोंकों से उसकी आन्तरिक शान्ति भंग नहीं हो रही है, उसकी स्थिरता टूट नहीं रही है।

भरत चक्रवर्ती के जीवन में कितने द्वन्द्व थे। कितना बड़ा साम्राज्य और कितना विशाल वैभव उसके चारों ओर छाया हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन झंझावातों में प्रताडित भरत का जीवन कितना चंचल, कितना अस्थिर एवं कितना अशान्त होगा? पर उसके जीवन में उनका क्या असर था? वह तो विष कुंड में रहकर भी विष के असर से दूर था। भोगों के झूले में झूलता हुआ भी शान्त और स्थिर था। यही तो उसकी साधना थी। जीवन-दृष्टि थी। वह जीता था, पर जीने के ढंग से जीता था। विशाल वैभव में उसका मन भटका नहीं था। प्रारब्ध से प्राप्त भोगों को भोगता हुआ भी वह अन्दर में अनासक्ति की यात्रा के पथ पर था।

एक परंपरागत कथा है। एक बार भगवान् ऋषभनाथ जब विनीता नगरी में पधारे और अल्पारंभ एवं महारंभ की विवेचना के प्रसंग में उन्होंने बताया कि भरत का जीवन चक्रवर्ती के रूप में भी अल्पारंभी है, और वह इसी जन्म में सिद्धि को प्राप्त होगा, तो कहते हैं, एक स्वर्णकार को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—इतना बड़ा साम्राज्य जिसके पास है, हजारों सुन्दरियाँ जिसके अन्तःपुर में भोग के लिए उपलब्ध हैं, वह अतुल वैभव और विलास में पलने वाला सम्राट मुक्त होगा? सिद्धि प्राप्त करेगा? बिल्कुल असंभव है। उसने लोगों में भी इस प्रकार की चर्चा की। स्वर्णकार की यह चर्चा और आशंका जनता में फैलती रही और अन्ततः एक दिन भरत चक्रवर्ती के पास भी पहुँची। वह मन-ही-मन मुस्करा उठा। सोचा—"कितना अज्ञान है बेचारा। जीवन की सही दृष्टि उसके पास नहीं है। जीने की कला वह नहीं जानता है। इसीलिए मुझे भी वह अपनी दृष्टि से ही देख रहा है।" भरत ने उसे अपनी जीवन-दृष्टि समझाने के लिए बुलाया और कृत्रिम रोष प्रकट करते हुए कहा—"तुम इस प्रकार का अनर्गल प्रचार कर रहे हो मेरे सम्बन्ध में?

जानते हो चक्रवर्ती की निन्दा करने का दण्ड क्या होता है ? तुम्हें आज इसकी शिक्षा मिलेगी। जाओ, तेल से लबालब भरा हुआ यह कटोरा हाथ में लिए पूरी विनीता नगरी का चक्कर लगाओ, राजमार्गों और बाजारों में घूमो। उनका निरीक्षण करो। किन्तु ध्यान रखना, कटोरे में से तेल की एक बूंद भी धरती पर गिरने न पाये। अन्यथा नंगी तलवार लिए तुम्हारे पीछे चलने वाले संरक्षक सिपाही वहीं पर तुम्हारी जीवनलीला समाप्त कर देंगे।"

स्वर्णकार को तो जैसे लकवा मार गया। उसे सब ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। न 'हाँ' कह सका और न 'ना'। चक्रवर्ती के आदेश के सामने वह कर भी क्या सकता था। चुपचाप तेल का कटोरा हाथ में उठाया और बड़ी सतर्कता के साथ धीरे-धीरे चल पड़ा। दोनों ओर नगर के प्रासादों और हर्म्यों की सुन्दर पंक्तियाँ थीं। राजमार्गों और बाजारों में नाना प्रकार के नृत्य गायन हो रहे थे, तरह-तरह के रंगीन दृश्य सामने आ रहे थे। हजारों लोगों की हलचल थी, शोरगुल था, आवागमन था। सब कुछ उसकी आँखों के सामने से गुजर रहा था, पर, उसे तो कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। वह देख रहा था सिर्फ सामने का रास्ता और हथेली पर रखा तेल पात्र ! नगर में घूमकर सम्राट के समक्ष उपस्थित हुआ, तो सम्राट ने पूछा—तेल की एक बूंद भी गिरने नहीं पायी ?

"महाराज ! बिल्कुल नहीं गिरी।"

"अच्छा बताओ, नगरी में क्या देखा ? कहाँ क्या हो रहा था ?"

"कुछ भी तो नहीं ! मैंने सिर्फ हाथ में रखा हुआ तेलका कटोरा देखा, इसके अतिरिक्त और कुछ भी तो मुझे दिखाई नहीं दिया ?"

"ऐसा क्यों हुआ ?"

"महाराज ! प्राण संकट में थे, पीछे मौत जो चल रही थी। तेल की एक बूंद भी गिरती तो सिपाही तत्काल गर्दन न उड़ा देते ? अतः मेरी दृष्टि में इस कटोरे के सिवाय और कुछ भी नहीं आरहा था।"

मुस्कराते हुए चक्रवर्ती ने कहा—"स्वर्णकार ! तुम्हें अपनी शंका का समाधान मिला ?"

"महाराज ! कैसी शंका ?" स्वर्णकार गहरी दुविधा में डूबा जा रहा था !

"तुम कह रहे थे न कि भरत इतने वैभव विलास के बीच रहता है, उसकी मुक्ति कैसे होगी ? जिस प्रकार तुम नगर के महलों, चौराहों और बाजारों के बीच से गुजरते हुए भी उनकी ओर एक पलक उठा कर नहीं देख सके, उनके प्रति तुम्हारे मन में कोई भी आकर्षण पैदा नहीं हो सका, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि इस कटोरे पर टिकी थी, इससे विचलित होते ही प्राणों का संकट तुम्हारे सामने मँडरा रहा था। बस, यही दृष्टि मेरी है। मैं इस वैभव और विलास के बीच अवश्य बैठा हूं। पर, उसे तो क्या, इस शरीर को भी नहीं देख पा रहा हूं; मेरी दृष्टि अपनी आत्मा की ओर लगी है, सिद्धि की ओर लगी है। वहाँ से दृष्टि हटते ही मुझे आत्म-पतन का भय रहता है। बस, निश्चय दृष्टि से मैं एक मात्र अपनी आत्मा को ही देख रहा हूं। और सब कुछ नजर के सामने होते हुए भी, बाहर में उन्हें देखते हुए भी, अन्दर में उन्हें नहीं देख रहा हूं। उसमें मेरा कोई आकर्षण नहीं है, आसक्ति नहीं है। भोग अलग चीज है, आसक्ति अलग चीज है। प्रारब्ध कर्म से प्राप्त भोग में बंधन नहीं, भोग की आसक्ति में बन्धन है।"

स्वर्णकार भरत की जीवन-दृष्टि को समझ गया, कि वह महलों में रहते हुए भी उनमें कैद नहीं हैं, साम्राज्य का संचालन करते हुए भी वह वैरागी है, और यही उसकी सिद्धि और मुक्ति का मर्म है।

भरत इतने बड़े साम्राज्य की हलचलों के बीच रहकर भी आत्मा में स्थिर था। उसकी दृष्टि भीतर में थी। उसे बाहरी भोग लुभा नहीं सके, बाहर की अशान्ति उसकी आन्तरिक शान्ति को भंग नहीं कर सकी ! साधक के जीवन की अन्तर् दृष्टि यही होती है कि वह संसार के झूले में झूलता हुआ भी स्वयं शान्त, स्थिर रहता है, झूले पर झूलते अबोध बालक की तरह। बाहर में संसार की हल-चल अवश्य है, पर अन्दर में परम शान्ति, परम स्थिरतारूप आत्म-भाव है।

निष्क्रिय शान्ति :

साधक जब तक साधना की इस भूमिका पर नहीं पहुँचता है तब तक उसकी साधना में स्थिरता नहीं आती। वह कभी भी संसार

को मचलती हवा के एक झोंके से विचलित हो सकता है। उसकी साधना खंडित हो सकती है। जब वह बाहरी शान्ति पर अवलम्बित होता है, तो वह एक तरह परिस्थियों की ओट में चलता है। परिस्थियाँ अनुकूल रहीं तो साधना चलती रही। परिस्थिति बदली तो साधना भी रंग बदल गई। बाहर में कुछ भी द्वन्द्व पैदा हुए तो बस तत्काल भीतर में हलचल मच उठी, संघर्ष छिड़ गया। थोड़ासा क्रोध का प्रसंग उपस्थित हुआ तो क्षमा धर्म के सब पाठ भूल गए और दुर्वासा का विकराल रूप प्रगट हो गया। विकार के कुछ मन-लुभावने दृश्य सामने आये, तो बस संयम के बांध टूट गए। प्रसंसा के दो शब्द सुने तो फूल कर कुप्पा हो गए और यदि कहीं अपमान और निन्दा की बात कान में आ गई, तो बस उदास, खिन्न ! धैर्य खो बैठे। यह तो साधना नहीं है। जीवन की दृष्टि अभी तक मिली नहीं है। अनासक्ति और विरक्ति का मूल अर्थ समझे बिना ही वह वैरागी बन गया है।

यह ठीक है कि विकारों पर एक दम विजय नहीं पाई जा सकती। साधना धीरे-धीरे विकसित होती है। वह कोई ऐसी जादुई छड़ी नहीं है कि एकदम हृदय बदल जाए, विकार समाप्त हो जाएँ। अभ्यास करना होता है। इन्द्रिय-निग्रह और आत्म-दमन की साधना करनी पड़ती है। बाह्य वातावरण और परिस्थिति का भी ध्यान रखना होता है पहले-पहले। पर, यह क्या, साधना करते-करते जीवन समाप्त होने को आया, किन्तु अभी तक मन नहीं बदला, आत्मा सध नहीं सकी। सदा ही बाहरी वातावरण के आधार पर चलते रहे, परिस्थितियों की अनुकूलता को लेकर ही चलते रहे, तो वह साधना नहीं कही जा सकती। यह तो साधना के नाम पर ऐसे ही भटकना हुआ। साधना में मन बदलता है, दृष्टि बदलती है। वह साधक तभी साधक बनता है, जब वह बाहर के द्वन्द्व और संघर्ष में अविचल, सुस्थिर और शान्त रह सके। यही तो सजग चेतन का महत्व है। सजग चेतन के चारों ओर विकारों की वर्षा होते हुए भी वह उसमें भीगता नहीं है, अन्तर में सूखा रहता है। क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गई है। गीला करने वाले तत्त्व उसके भीतर से समाप्त हो गए हैं। सक्रियता के साथ विवेक पूर्वक विकारों से मुक्त होना ही मुक्ति है, और वह चेतन की ही होती है, जड़ की नहीं। जड़ भी वैसे तो

विकारमुक्त होता है, पर वह केवल अभाव के आधार पर है। विवेक के आधार पर नहीं। जड़को कभी भी हिंसा और झूठ के भाव नहीं जगते। जड़ चोरी नहीं करता, विकारों के पीछे नहीं भटकता। राग द्वेष की लहर उसमें नहीं उठती। पर क्या वह इतने पर से साधक हो गया है, सिद्ध बन गया है? यदि इसी अभाव को साधना मान लिया जाय, तब तो संसार में साधकों की कोई कमी नहीं रहेगी। जितने भी ईंट पत्थर हैं, मकान हैं, सब साधक हैं। जितने भी वस्त्र आप पहन रहे हैं, सब धर्मात्मा हैं। क्योंकि इन वस्त्रों में न विकार है, न वासना। मकानों की तोड़-फोड़ करने पर भी उनमें किसी प्रकार का राग द्वेष नहीं जगता, कपड़ों को मलने, पछाड़ने या फाड़ने पर भी वे क्रोध नहीं करते। यदि साधना की परिभाषा यही है कि जहाँ द्वन्द्व नहीं, क्रोध नहीं, ईर्ष्या नहीं, हिंसा आदि विकार नहीं, वह साधक है, धर्मात्मा है, तो संसार के सभी जड़ पदार्थ उच्चकोटि के धर्मात्मा और श्रेष्ठ साधक की गणना में आ जायेंगे।

स्पष्ट है, हमारी तत्त्वदृष्टि इस प्रकार की निष्प्राण साधना को साधना नहीं मानती, इस प्रकार की निष्क्रिय शान्ति को शान्ति नहीं मानती। यह तो जड़ की शान्ति है। इसमें कुछ भी उद्देश्य नहीं, कुछ भी विवेक और विचार नहीं। और जीवन का कोई भी तो सक्रिय दृष्टिकोण नहीं है। भारतीय साधना का स्वर है कि अन्दर में चैतन्य भाव में लीन रहो, बाहर में द्वन्द्व होने पर भी अन्दर का चैतन्य उससे विचलित न हो। हमारे मनमें कोई दिव्य दृष्टि होनी चाहिये। सजग चेतनता होनी चाहिए। इस प्रकार हमारी साधना सचेतन साधना होनी चाहिए और हमारी शान्ति भी सचेतन शान्ति होनी चाहिए। बाहर में जो विकार हैं, तूफान हैं, संघर्ष हैं, और द्वन्द्व हैं, उन पर यदि विजय पाने की अन्तर्दृष्टि जागृत है, तो आप हिंसा के विकल्प को अहिंसा के संकल्प से तोड़ सकेंगे, राग और द्वेष के दावानल को वीतराग भाव के महामेघ से शान्त कर सकेंगे। असत्य को जब सत्य पराजित कर देता है, लोभ को जब सन्तोष जीत लेता है, तो वह विजय ही आत्म विजय होती है। घृणा और द्वेष के बदले जब हृदय में प्रेम और करुणा का स्रोत फूटता है, तो समझना चाहिए कि कुछ साधना है, आत्मा ऊँचाई पर चढ़ रहा है, साधना के क्षेत्र में विकासोन्मुख ऊर्ध्वगति हो रही है।

नाव में पानी न रहे :

साधना के क्षेत्र में यह स्थिति तब आती है, जब हमारे मन में अनासक्त-दृष्टि जग उठती है। बाहर के जीवन में जो भी कुछ हो रहा है, जो कुछ भी किया जा रहा है, वह हमारे अन्दर को प्रभावित न कर सके, उसे अपने प्रवाह में न बहा सके, बल्कि जीवन में जहाँ तक जिस कर्म की आवश्यकता और उपयोगिता है वह वहाँ तक पहुंचकर स्वतः समाप्त हो जाये। विचार कीजिए, आप खाना खारहे हैं, पर कब तक? जब तक कि उसकी शरीर के लिए कोई उपयोगिता है, अपेक्षा है। जब शरीर इन्कार कर रहा हो, पेट लाल झंडी दिखा रहा हो, तब भी हम खाते चले जाते हैं, इसलिए कि भोजन बड़ा अच्छा है, बहुत ही स्वादिष्ट है। पेट तो कभी का भर गया, पर मन अभी नहीं भरा। इस स्थिति में खाना हम नहीं खारहे हैं, पर खाना ही हमको खा रहा है। इसी सन्दर्भ में कभी भर्तृहरि ने कहा था—**'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'**—भोग हमने नहीं भोगे, पर, भोगों ने ही हम को भोग लिया। भोग के शिकार हम हो गये, चूंकि हम उसके साथ बँध गए हैं। उसकी उपयोगिता की दृष्टि छूट गई, और भोग की, या यों कहिए, आसक्ति की दृष्टि आ गई। भोजन पहले बन्धन नहीं था, पर अब बन्धन हो गया। आसक्ति ही तो बन्धन है। नाव जब तक पानी में रहती है तो वह तैरती है। समुद्र और दरिया में चाहे जितना पानी बढ़े, नाव उस में तैरती रहेगी, यात्रियों को निर्विघ्न अपनी मंजिल पर पहुंचाती रहेगी, किन्तु यदि कहीं नाव में पानी है, तो फिर नाव स्वयं भी डूब जायेगी और यात्रियों को भी ले डूबेगी। नाव जब तक पानी की सतह पर तैरती चल रही है, कोई खतरा नहीं, पर ज्यों ही कहीं छेद हुआ और उससे पानी अन्दर आने लगा, तो खतरा है। इसी प्रकार साधक जब संसार में रहता है, विषयों के बीच रहता है तो जल में नाव की तरह रहता है। उसे कोई खतरा नहीं, कोई भय नहीं। किन्तु जब संसार की, अर्थात् विषयों की आसक्ति अन्दर पैठ जाती है, तो वह साधक का सर्वनाश कर डालती है।

एक और रूपक है इसके लिए। साधक को संसार में पानी में कमल की तरह रहना चाहिए—**"जहा पोमं जले जायं।"** यही जल-कमल साधक का शाश्वत आदर्श है। संसार छोड़ देने पर भी संसार

में ही रहना होता है। पर यह रहना कमल की तरह निर्लिप्त होना चाहिए। घर छोड़ने के साथ ही देह तो नहीं छोड़ा जाता। और देह छोड़ देने पर भी सब कोई गजसुकुमाल की तरह सीधे मुक्ति में जाकर विराजमान नहीं हो जाते। संसार में तो रहना ही पड़ता है, किंतु संसार में रहकर भी संसार में नहीं रहने का अर्थ है—संसार की वासना से, राग-द्वेष और कषायों से जल में कमल की तरह अलिप्त रहना, विकारों को मन में प्रविष्ट नहीं होने देना। यही संसार से अलग रहने का अर्थ है। संसार में साधक रहे, पर साधक के अन्दर संसार न रहे। संसार क्या है ? इन्द्रियों के विषय ही तो संसार है—**"जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे-"** जो गुण हैं—इन्द्रिय के विषय हैं, शब्द रूप रस गन्ध वर्ण आदि सुख दुःख के साधन हैं, भोग के निमित्त हैं, वे ही तो आवर्त—संसार-चक्र है। और संसार क्या है ? साधक विषयों के इस पानी के बीच नाव की तरह रहता है। उसे जीवनयात्रा तय करनी है, उस पार पहुँचना है, इस संसार को पार करके अपने लक्ष्य पर जाना है तो कैसे जायेगा ? जब नाव ठीक होगी, अच्छी तरह से चल सकेगी, तभी तो यात्रा होगी ?

उत्तराध्ययन सूत्र में एक प्रसंग आता है। भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के प्रतिनिधि केशी कुमार श्रमण गणधर गौतम स्वामी से पूछते हैं, कि—"गौतम, इस संसाररूप महासागर को कैसे पार किया जा सकता है ?" प्रश्न के उत्तर में गणधर गौतम ने कहा—'नौका से।' 'कौन सी नौका ?' प्रश्न फिर खड़ा हुआ, गौतम ने समाधान प्रस्तुत किया :

"जा उ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी।
जाउ निस्साविणी नावा साहु पारस्स गामिणी।"

जिस नाव में छिद्र हो गए हैं, पानी भर रहा है, वह नाव उस पार नहीं पहुँच सकती। किन्तु जो नाव छिद्र से रहित है, अच्छी स्थिति में है, जिसमें पानी नहीं भर रहा है, वह नाव अवश्य इस महासागर को पार कर जायेगी।

जीवन की नाव में ये छिद्र क्या हैं ? ये हैं मन के विकार। जब जीवन की नाव में विकारों के छिद्र हो जाते हैं, तो इधर उधर

की बातों पर सहसा मन क्षुब्ध होने लग जाता है, ज्यों ही कोई दुर्वचन सुना या अपमान का प्रसंग आया, तो मन में क्रोध की चिनगारियाँ उछलने लग जाती हैं, जहाँ भी सुख सुविधा के या भोग के साधन देखे, तो मन झटपट भटक जाता है। ये सब मन के छिद्र हैं, जिन में विषयों का पानी आता है। यदि इन छिद्रों को नहीं रोका गया, तो यह नाव महासागर को तो क्या, छोटी सी तलैया को भी पार नहीं कर सकेगी। बीच ही में धोखा दे जायेगी। इसलिए मन के इन छिद्रों को रोक कर साधक को जीवन की अपनी नाव निश्छिद्र बनाना है, नाव को जल की सतह पर तैराना है और उसे सजग भाव से साहस एवं जीवन के साथ खेते चले जाना है।

हम उड़ीसा में विहारचर्या कर रहे थे। घूमते हुए जगन्नाथ पुरी पहुँच गए। पुरी हिन्दू धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण तीर्थ है। समुद्र के तट पर अवस्थित यह भारतीय धर्म और संस्कृति की एक सुप्रसिद्ध महान् नगरी है। एक दिन हम समुद्र के तट पर खड़े हुये थे, देखा कि कुछ साहसी मछुआरे समुद्र की तूफानी लहरों पर नाव खे रहे हैं। लहरों का वेग इतना प्रचण्ड था कि दूर से लगता था, मानों लहरें उछल उछल कर आकाश को चूम रही हैं। अभी अपने प्रवाह में नाव को बहा ले जायँगी और समुद्र के अन्तस्तल में डुबो देंगी। लहरों की एक श्रेणी उठती कि नाव उनकी ओट में ओझल हो जाती। ऐसा लगता था कि बस लहरों के गर्भ में नाव सदा के लिए समा गई। पर कुछ ही समय बाद वह नाव फिर चमक उठती और तैरती दिखाई देती। इस प्रकार समुद्र की तूफानी लहरों में डूबती उतराती हुई एक नाव जब किनारे पर लगी, तो मैंने नजदीक जाकर मछुआरे से पूछा कि—यह नाव कैसी है? कई बार लहरों में डूबती सी दिखाई दी, पर, आप उसे बड़ी कुशलता से खेते हुए चले आ रहे हैं? आपने उसे डूबने नहीं दिया। मल्लाह बोला कि महाराज! यह नाव दूसरे ढंग की है। आप देख रहे हैं, इसके किनारे बहुत छोटे छोटे हैं। इसलिए पानी इसके भीतर रह नहीं सकता। यदि किनारे बड़े होते तो पानी भीतर रह जाता और नाव डूब जाती।

मल्लाह की बात में मुझे भारतीय दर्शन की जीवन-झांकी मिल

रही थी। जीवन में सुख की लहरें भी आती हैं और दुःख के तूफान भी आते हैं। किन्तु साधक धैर्य के साथ उनसे बचता हुआ अपनी नाव को खेता जाता है। वह सुख-दुख से सम्बन्धित राग द्वेष के पानी को अन्तर्मन में प्रवेश नहीं करने देता, अर्थात् जीवन की नाव में रहने नहीं देता। इस प्रकार अचल भाव से अपनी नाव को खेता हुआ इसे तट पर ले आता है। यह तट है—मुक्ति का। यहाँ पहुँचने पर साधक को अपना लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, मंजिल मिल जाती है।

भारतीय दर्शन ने संसार को सागर कहा है—"**संसारो अण्णवो वुत्तो।**" किन्तु यह सागर डूबने के लिए नहीं है, तैरने के लिए है। वीतराग भाव की साधना—यह तुम्हारी जीवन-नौका है। इस पर यात्रा करो, आनन्द से करो। दुःख के तूफान आयेंगे, सुख की लहरें भी आयेगी। तूफान और लहरें जब उछाल लगायेंगे तो देखने वाले देखेंगे कि बस, नाव डूब रही है, साधक भोग विलास में मग्न हो रहा हैं। पर, जो सच्चे साधक हैं, वे कुशल मल्लाह हैं। जीवन की नाव को संसार समुद्र की छाती पर थिरकते हुए आगे ही आगे खेते चले जाते हैं, लहरों और तूफानों से मोर्चा लेते हुए वे अपने तट की ओर बढ़ते जाते हैं, और एक दिक नाव को किनारे लगा देते हैं। साधना पूर्ण कर के सिद्धि के द्वार खोल देते हैं।

इस प्रकार संसार और मोक्ष, बन्धन और मुक्ति अन्यत्र नहीं हैं, हमारे ही भीतर हैं। हमारे मन की आसक्ति ही संसार है, और विरक्ति ही उसे पार करने वाली नाव है। जब आसक्ति, विकार और राग द्वेष से पार पहुँच कर आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर हो जाता है तो वहाँ परम शान्ति, परम स्थिरता प्रकट हो जाती है। परम शान्ति ही जीवन का अन्तिम तट है। स्थायी मंजिल है।

मुक्ति तुम से कहीं दूर नहीं हैं। वह स्थान नहीं, अपितु एक स्थिति है। आत्मा का अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाना ही स्वरूप स्थिति है और यही मुक्ति है। और यह मुक्ति साधक के जीवन में हर क्षण उपलब्ध रहती है। इसीलिए एक साधक ने कहा है—'मुक्तिः क्रीडति हस्तयोः'—मुक्ति तो मेरे हाथों में खेलती है।

✶

★ उपाध्याय अमरमुनि

मुक्तिः क्रीडति हस्तयोः !

मुक्ति हाथों में खेलती है !

जैन दर्शन के मनीषी आचार्यों ने एक सबसे बड़ी बात कही है और वह यह है कि—**'अप्पा सो परमप्पा'**—आत्मा ही परमात्मा है। अर्थात् आत्मा परमात्मा बन सकता है।

उक्त घोषणा से जैन धर्म ने मनुष्य की चरम-श्रेष्ठता को स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि मानव के डगमगाते हुए आत्म-विश्वास को बहुत बड़ा सहारा भी दिया है। उसने डंके की चोट पुकार के कहा है—**'बन्ध प्पमोक्खो अज्झत्थ एव'-आचारांग सूत्र।**

बन्धन और मुक्ति अन्दर में ही हैं। तुम्हारे बन्धन की बेड़ियाँ भी तुम्हारे अन्दर हैं, और उनसे छुटकारा दिलाने वाली शक्ति भी तुम्हारे में ही है। भगवान् महावीर ने मनुष्य की इस चरम श्रेष्ठता पर बहुत बल दिया है, बार-बार उसकी श्रद्धा और विश्वास को पुनरुज्जीवित किया है, उत्तेजित और प्रेरित किया है।

साहित्य के माध्यम से उस समय के लोक-मानस का अध्ययन करने पर पता चलता है कि तत्कालीन मानव जाति के विश्वास कुछ इस प्रकार की अन्ध धारणाओं से जकड़े हुए थे कि मनुष्य अपने को एक तुच्छ प्राणी समझता था। उसे प्रारम्भ से ही यह जन्मघुट्टी दी जाती थी कि तू एक पामर प्राणी है। तेरी जिन्दगी की डोर परमात्मा के हाथ में है। उसके इशारों पर कठपुतली की तरह नाचने के सिवा स्वतन्त्र रूप से तू कुछ नहीं कर सकता है। उसकी इच्छा होती है तो मनुष्य पाप करने लग जाता है, और उसकी इच्छा होती है तो पुण्य। मतलब यह कि हम जीवन की एक ऐसी नाव में बैठे हैं,

जिसकी पतवार ईश्वर के हाथ में है। वह जिधर चाहे हमें घुमा सकता है। डुबाना या तैराना उसी की मर्जी पर है। जो यह सृष्टि चलती है वह सब उसी के इंगित पर है। मनुष्य विचारा कुछ नहीं कर सकता। वह अज्ञानी है, असमर्थ है। एक बहुत बड़े आचार्य ने कहा है—

"अज्ञो जन्तुर नीशोऽयं आत्मनः सुख दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

अर्थात् यह मनुष्य स्वतः अज्ञ है, असमर्थ है, अपने भाग्य का निर्माण करना इसके हाथ में नहीं है। वह तो उस जगन्नियन्ता सर्वशक्तिमान् प्रभु की लीलाओं का एक खिलौना मात्र है। अपने चाहे वह न सुखी हो सकता है और न दुखी। सुख दुःख प्रभु के हाथ में हैं। ईश्वर की प्रसन्नता हुई तो उसे स्वर्ग के सुखों में भेज दिया और उसकी अप्रसन्नता हुई तो उठाकर नरक कुण्ड के दुःखों में गिरा दिया।

बात यह हुई कि हमारे चिंतन को प्राचीन काल में इस प्रकार कैद कर दिया गया था कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता के बारे में कभी सोचने का साहस ही नहीं कर पा रहा था। मनुष्य अपनी शक्ति पर, अपने अन्दर छिपी आत्म ज्योति पर कभी विश्वास ही नहीं कर सका। विश्वास तो दूर रहा, कहना चाहिए, चिन्तन भी नहीं कर सका। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि मानव की अपनी पुरुषार्थशक्ति निरन्तर क्षीण होने लगी। अनन्त चित् प्रकाश को वह भीतर में नहीं, किन्तु बाहर में खोजने लगा। और इस प्रकार वह निरंतर यही दुहराता रहा कि जो कुछ है वह ईश्वर है। जो कुछ भी होगा, वह सब उसी की इच्छा के द्वारा होगा। हम कुछ नहीं, हम तो सिर्फ उसकी इच्छा के द्वारा फेंकी हुई गेंद है। वह खिलाड़ी जहाँ जैसे उसे उछालेगा, वहीं जाकर गिरेगी।

कठपुतलीवाद :

इस सिद्धान्त ने सिर्फ विचारों को ही जकड़ के रखा हो, सो बात नहीं। इस पर आचरण भी शुरू हो गया। एक प्रकार से समग्र जीवन का व्यवहार ही इसी दृष्टिकोण पर आकर टिक गया। होता भी है, जिस विचार से मनुष्य को सहज सुख मिलने

लगता हो, पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता हो, वह विचार जल्दी ही मन में पैठ जाता है। पराश्रितता और आलस्य कुछ ऐसी मीठी-मीठी गोलियाँ हैं, जिन्हें हर कोई लेने को तैयार हो जाता है। मीठी गोली, भले ही उसमें जहर ही क्यों न हो, कड़वी गोली से जल्दी लोक प्रिय हो जाती है। अस्तु, पापाचार खुद करते और 'ईश्वरेच्छा' पर डाल देते। हम कहाँ कुछ कर रहे हैं? जो कुछ हो रहा है, वह सब उसी की प्रेरणा से है। तुम हम तो सिर्फ कठपुतली की तरह से कुछ करते दीख रहे हैं। कठपुतली किसी से लड़ रही है, किसी से प्यार कर रही है। उसका आना, जाना, घूमना, नाचना अपनी इच्छा से नहीं, सूत्रधार की इच्छा से होता है। वह चाहे तो एक कठपुतली को दूसरी कठपुतली से लड़ा सकता है, और वह चाहे तो प्रेम भी करा सकता है। जो प्रेम और लड़ाई चल रही है, वह कठपुतलियों की अपनी स्वयं की नहीं, बल्कि सूत्रधार के इशारे पर चल रही है। इस प्रकार यह 'कठपुतलीवाद' लोगों के मानस पर बुरी तरह छा गया था। इसका प्रयोग कुछ लोगों ने भूल-भुलैया में पड़कर किया होगा, और कुछ ने मक्कारी से, जिनका आज भी यही नारा है—

रोटी खानी शक्कर से, दुनिया ठगनो मक्कर से।

कुछ भी हो, मगर इतना स्पष्ट है कि इस विचारधारा ने मनुष्य के उत्थान में अनेक बाधाएँ खड़ी कीं, सदाचार और नीति के अनेक आदर्शों को भी इसने कचोट कर रख दिया। अपने स्वार्थ, अन्याय और दुराचार पर इस सिद्धान्त का लौह आवरण डालकर अपने को साफ बचाये रखने का प्रयत्न किया गया। महाभारत में दुर्योधन ने ही उक्त सिद्धान्त का खुल कर प्रयोग किया है।

भारतीय अनुश्रुति के पर्दे पर :

विद्यार्थी जीवन में एक अनुश्रुति सुनी थी। दुर्योधन जैसा अभिमानी योद्धा, उक्त सिद्धान्त को ऐसे ही चित्रित करता है, कि अपने को अन्याय और अत्याचार के लांछन से बचाकर सब ईश्वर पर डाल देता है। भारत के आकाश में दुर्योधन धूमकेतु की तरह उदय होता है। ज्योतिष के आचार्य कहते हैं—धूमकेतु का उदय विनाश

का सूचक है। दुर्योधन के जन्म के साथ ही कौरव कुल के सर्वनाश का सूत्रपात हो जाता है। असीम महत्वाकांक्षा, अनियंत्रित सत्ता और शक्ति उसके सर्वनाश के कारण बनते हैं। स्वार्थ तथा मान सम्मान के सिवाय उसे किसी की परवाह नहीं। स्वयं अपमान की चोट से घायल होकर छटपटा उठता है, मगर स्वयं खुले रूप में दूसरे का अपमान करता है तो इसका कभी कोई विचार नहीं करता। दुर्दान्त इच्छाओं का पिंड, दुस्साहस और धूर्तता का प्रतीक था दुर्योधन! हस्तिनापुर का साम्राज्य, जो परम्परागत न्याय के नाते युधिष्ठिर को प्राप्त होना चाहिए था, मगर दुर्योधन के कुचक्र उसे निगलने को मुँह फाड़ने लगे, न्याय से नहीं, तो अन्याय से सही, प्रेम से नहीं तो धोखे से सही, साम्राज्य हड़पने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। जुआ खेला गया और वह भी द्यूत नियमों के विरुद्ध धोखे से खेला गया, शकुनि की धूर्तता ने युधिष्ठिर के पासों को गलत कर दिया। युधिष्ठिर ने राज्य हारा, शरीर पर के आभूषण हारे। आखिर द्रौपदी को भी दाव पर लगा दिया। युधिष्ठिर की हार पर हार होती गई। अन्त में बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास दिया गया। अज्ञातवास के साथ भी शर्त यह कि यदि अज्ञातवास में यह मालूम हो गया कि पांडव यहाँ पर हैं, तो पुनः बारह वर्ष का वनवास और पुनः एक वर्ष का अज्ञातवास! कितनी विचित्र शर्त! दुर्योधन की दुराशा यही थी कि इस प्रकार पाण्डवों के भाग्य में जीवन भर के लिए जंगल-जंगल भटकना लिख दिया है। चूंकि पाण्डव कहीं अज्ञात रहें, यह कभी संभव ही नहीं है। कस्तूरी को कपड़ों की तह में दबाकर रखदें कि महके नहीं, यह कैसे संभव है। पाण्डव जहाँ भी होंगे, प्रकट हो ही जाएँगे और प्रकट होते ही पुनः वनवास का चक्र! इस प्रकार **"न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।"** पाण्डव कभी हस्तिनापुर के सिंहासन पर पुनः आ ही नहीं सकते। और तब उसको हमेशा के लिए निष्कंटक एवं अखण्ड साम्राज्य अपने आप ही मिल जाएगा। यह था दुर्योधन का दुश्चक्र।

नारी का त्याग :

पांचो भाई और द्रोपदी! जिन्होंने वैभव और विलास में जीवन गुजारा, वे निराश्रित भिक्षुक बने जंगल के कंकरीले कंटीले और

बीहड़ मार्ग पर निकल पड़े। जिस द्रौपदी ने पिता के यहाँ फूलों की शय्या में बचपन बिताया, जवानी में पाण्डव साम्राज्य की महारानी बनकर वैभव और ऐश्वर्य का भोग किया, उसी ने आज कर्तव्य की वेदी पर सब सुखों का त्याग करके काँटों की राह अपनाई। नारी के त्याग की यह अमर गाथा भारतीय संस्कृति का बहुमूल्य अध्याय है। महाभारत पढ़ने वाले सिर्फ कहानी पढ़ते हैं। लड़ाइयों का किस्सा पढ़ते हैं। खेद है, ये उज्वल चरित्र नहीं पढ़ते हैं। पढ़ने से मेरा अर्थ है—समझने की दृष्टि। इतिहास को पढ़कर यदि उसके आदर्श हृदय में अंकित नहीं हुए, उसकी शिक्षाएँ मनको तरंगित नहीं कर सकीं, तो समझना चाहिए कि वह पढ़ना नहीं, व्यर्थ ही समय का अपव्यय करना है।

सुख, आनन्द और भोग-विलास में पलने वाले को जब कर्तव्य के लिए सर्वस्व त्याग करने का समय आता है, तो अक्सर वह बगलें झांकने लग जाता है, कर्तव्य की पुकार दब जाती है और वह सुख एवं वैभव के पीछे पगला जाता है। यदि परिस्थितियों से मजबूर होकर कुछ छोड़ना भी पड़ता है, तब भी वह संकटों से कतराता रहता है। कर्तव्य की गर्म हवाओं से किनारा करता रहता है। महलों से निकल आने पर भी मनसे महल नहीं निकलते, ऐश्वर्य के छूट जाने पर भी मनसे ऐश्वर्य नहीं छूटते। वह उनके लिए मनमें तड़पता रहता है, बेचैन रहता है। और इस प्रकार वे संकट के क्षण और भी भयानक एवं दुस्सह हो जाते हैं।

अज्ञानता के कारण मनुष्य की वृत्ति ही कुछ ऐसी बन गयी है कि वह सुखों से चिपटा रहना चाहता है, किसी भी मूल्य पर उसे छोड़ना नहीं चाहता। यदि परिस्थितियों के झंझावात ने उसे सुखों से उछाल कर दुःखों के गर्त में फेंक भी दिया तब भी वह उन बिलुप्त सुखों की याद में विकल रहता है, इस प्रकार उसका दुःख कम होने की बजाय दुगुना हो जाता है। महाभारत में कहा है—'दुःख की दवा एक ही है, और वह है दुःख का स्मरण नहीं करना।' मैं सिर्फ आपकी ही बात नहीं करता, हम लोगों में (साधुओं में) भी कभी-कभी ऐसे प्रसंग आ जाते हैं। बड़े नगरों में श्रावकों की भक्ति है, आहार पानी की कोई दिक्कत नहीं, माताएँ और बहनें श्रद्धा भाव से प्रार्थना करती हुई अच्छे से अच्छे पदार्थ गोचरी में देती हैं।

आनन्द से चौमासे के चार-चार महीने गुजर जाते हैं। अब आया विहार का समय, जाना पड़ा छोटे देहातों में, गाँवों में। चलते-चलते थक गए, प्यास से गला सूखने लगा, और पेट में भूख के चूहे दंड पेलने लग गए। मगर गोचरी का कहीं ठौर-ठिकाना नहीं है। गाँव में घर-घर भिक्षा के लिए घूमते हैं, कुछ नहीं मिलता। कभी-कभी कुछ भक्त (?) तो ऐसे भी मिल जाते हैं, जो द्वार पर आते देखकर दूर से ही कहते हैं—जा जा! कमा कर खाया नहीं जाता, मांगने के लिए आ गया। मुंह तो बान्ध लिया, पेट क्यों नहीं बाँधा? एक रोटी के लिए इतनी बातें सुनने को मिलती हैं, फिर भी रोटी नहीं।

एक बार हम लोग इसी तरह एक गाँव में गए। कुछ ऐसी ही परिस्थिति में से गुजर रहे थे, तो दूसरे गाँव के एक परिचित व्यक्ति मिल गए, कहने लगे मुनि जी! आप कहाँ आगए? बड़ी मुसीबत में फंस गए? मैंने कहा—मुसीवत क्या? यह भी एक रंग है जीवन का! एक क्षण में इधर हैं तो दूसरे क्षण में उधर! कभी छाया में हैं तो कभी धूप में। कहीं श्रावकों की मान-मनुहार और भक्ति की प्रार्थना की झड़ी लगी है, तो कहीं गली-गली में घूमना, गालियाँ और तिरस्कार! इन दोनों परिस्थितियों में यदि मन का मेल विठा लिया, संतुलन रख लिया, तो कोई कष्ट नहीं होता, यदि वह संतुलन नहीं वनता है, सुख सुविधाएँ छूट जाने पर भी मनमें से उनकी कल्पनाएँ, उनके स्वप्न नहीं छूट पाते हैं, तो फिर बार-बार वे खटकते रहते हैं, और दुहरी पीड़ा सहनी पड़ती है। एक तो जो परिस्थितिओं ने पैदा करदी है वह, और दूसरी उन सुखों की, उन-सुखद स्थितिओं की याद! और ऐसी परिस्थिति में दुःख को सहन करना, बड़ा ही कठिन हो जाता है। हर क्षण मनकी प्रसन्नता वनी रहे तो दुःख भी सुख ही हो जाता है।

द्रौपदी का योग :

सुख की इस मनो-भूमिका पर यदि हम द्रौपदी का मनोविश्लेषण करें, तो देखेंगे कि उसकी मनोभूमि कितनी उच्च, कितनी महान् और कितनी योगमय है। मैंने द्रौपदी का जीवनचरित्र पढ़ा है, जैनाचार्य हेमचन्द्र का लिखा हुआ भी और महर्षि व्यास का लिखा हुआ भी। मैं देखता हूं, एक राजकुमारी, राजवधू वनती है, सुख से और अधिक सुख में आती है और फिर अकस्मात् ही एक दिन कष्टों

की गहराई में डूब जाती है, महल छोड़ कर जंगल-जंगल भटकती है, किन्तु कोई परवाह नहीं। उसका तेज क्षीण नहीं होता। उसका मुख-मंडल हर हालत में दीप्त रहता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि उसने वैभव और संपत्ति को तन से ही नहीं, मन से भी निकाल कर बाहर फेंक दिया है और हँसती-हँसती कष्टों के लिए सीना तान कर चल पड़ी है। युद्ध में प्राणों की आहुति देने की वीरता दिखाना एक सामान्य बात है, और निरंतर कष्टों से जूझकर तिल-तिल करके जलते जाना, बहुत बड़ी वीरता है। बात यह है कि निरंतर कष्टों को झेलते जाना और उनसे घबराए बिना मस्ती से मंजिल तय करते जाना, बहुत ही विकट कार्य है। द्रौपदी ने संकटों की इस लम्बी खाई को पार किया। वह बारह वर्ष तक जंगलों की खाक छानती रही। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी में अपने आपको गलाती रही, और फिर तेरहवें अज्ञात वर्ष में तो उसे इससे भी भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ा। वनवास के समय वह स्वतन्त्र थी। राज्य नहीं था, फिर भी वह रानी थी, किन्तु अब तो उसे दासी बनना पड़ा। विराट्-जैसे साधारण राजा की रानी की दासी। आप जानते हैं, नयी दासी को पुरानी दासियों की भी आज्ञा माननी पड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि रानी की ही दासी नहीं, दासी की भी दासी बनकर रहना पड़ा था द्रौपदी को। कल्पना कीजिए—एक ओर द्रुपद जैसे महान् राजा की लाड़ली राजकुमारी और पाण्डवों जैसे महा पराक्रमी पांच पतियों की एक प्राणप्रिय रानी। और उधर दूसरी ओर एक रानी की दासी, इतना ही नहीं, दासी की भी दासी! पर द्रौपदी है कि वह तब भी प्रसन्न थी, अब भी प्रसन्न है। कितना विचित्र है उसका धैर्य! कितनी महान् है उसकी सहिष्णुता!

द्रौपदी दासी का काम करती है, और प्रसन्नता पूर्वक करती है। यह नहीं कि वह अपने बीते सुखों की याद में रोती है, बिलखती है या अनमनी रहती है। वह काम करती है, तो यह मालूम नहीं होता कि यह पुराने सुखों में डूबी हुई है, या इस वर्तमान दुःख में डूबी हुई है? न वह इस दुःख में डूबी है और न उन पुराने सुखों में। सुख दुःख की भावना से अलग ही वह किनारे पर खड़ी लगती है, जहाँ सिर्फ कर्तव्य की ही पुकार सुनाई देती है। उसके हाथों ने कभी

नीचे रखा पानी पीने का पात्र भी, संभव है, नहीं उठाया होगा। मगर आज झाड़ू देने से लेकर पानी भरने तक के सब काम इस खूबी से करती है कि किसी को यह आभास तक नहीं होने दिया कि यह सैरंध्री नाम की दासी कभी राजकुमारी या साम्राज्ञी भी रही होगी? पानी पिलाने की आज्ञा हुई तो झटपट बड़ी तन्मयता से पानी का पात्र लेकर रानी के सन्मुख खड़ी हो गई। कभी उसके चेहरे पर दुःख की शिकन नहीं, पुराने ऐश्वर्य की तड़प नहीं! सत्य यह है कि उसने जो कुछ किया, वह तन्मयता से किया, कुशलता से किया और कर्तव्य बुद्धि से किया।

मैं समझता हूं, यह सबसे बड़ा योग है जीवन का। जिस योग की हम सबसे अधिक चर्चा करते हैं, चिन्तन मनन करते हैं, वह योग इस जीवन में एकाकार हो जाए, हमारे हर कर्म में मिल जाए, तो फिर कहना ही क्या? योग का अर्थ है—चित्त वृत्तियों, और संकल्प विकल्पों पर अनुशासन करना। अपने विचारों को, संकल्पों को परिस्थिति व आवश्यकता के अनुसर बदल सकने की क्षमता हमारे में जागृत हो जाय, यथावसर जो कर्तव्य करना है उसमें पूरी शक्ति व मनोयोग तत्काल जुट जाय—यह महान् सिद्धि है। गीता की भाषा में यही योग है—

"योगः कर्मसु कौशलम् ।"

कर्तव्य में कुशलता—अर्थात् तल्लीनता जब आती है, तब कठिन से कठिन कार्य करने में भी कष्ट नहीं, बल्कि आनन्द की अनुभूति होती है। द्रौपदी ने जो कर्तव्य किया वह मनोयोग पूर्वक किया। उस समय दासी के रूप में जो भी सेवा एवं परिचर्या की, वह अपने को ठीक दासी भाव में रखकर की। उस समय उसके संकल्प, विचार और मनोयोग महारानी भाव की ओर नहीं दौड़े—यही उसकी साधना थी, यही उसका सबसे बड़ा योग था। जीवन में जब जो अवस्था व्यवस्था रहे, सुख दुःख रहे, उसी के अनुरूप चित्त-वृत्तियों को रखने की क्षमता हमें द्रौपदी के जीवन से मिलती है।

दूसरी बात :-द्रौपदी ने जो सहिष्णुता का विराट् रूप प्रकट किया है, वह नारी जाति के सन्मुख सदा-सदा एक महान ज्योति का काम करेगा। अक्सर कहा जाता है कि पुरुष जाति कष्टों को हँसते-हँसते झेल लेती है, लेकिन नारी के लिए यह माना जाता

रहा है कि वह कोमल है, सुकुमार है, कष्टों में पुरुष के समान सहिष्णु नहीं होती। किन्तु द्रौपदी ने यह सचाई प्रकट कर दी है कि सहिष्णुता एक आन्तरिक आत्मिक शक्ति है। स्त्री और पुरुष शरीर के धर्म हैं, पिण्ड की रचना हैं, मगर उसमें जो चिद् शक्ति है, अखण्ड ज्योति है, अनन्त पराक्रम है, वह तो स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं करता। पुरुषों में राम मिलते हैं, तो स्त्रियों में भी सीता मिल सकती हैं। आत्म शक्ति में पिण्ड एवं आकृति का महत्व नहीं है। वहाँ मूल्यांकन होता है एक मात्र चित् शक्ति के विकास का। द्रौपदी ने जो अपनी क्षमताओं का विकास किया है, मानसिक संतुलन का जो ऐतिहासिक उदाहरण रखा है, वह बहुत ही उच्च-कोटि का है।

दैववाद :

हाँ तो मैं कह रहा था दुर्योधन की बात। किन्तु द्रौपदी का जिक्र आते ही मैं लंबी दूर तक फिसलता चला गया। प्रवचन की दृष्टि से यह गलत है। किन्तु द्रौपदी वह भारत की नारी है, जो सामने आजाए तो फिर जल्दी ही दूर नहीं होती है। गलती करके भी मैं प्रसन्न हूं कि मैंने द्रौपदी के प्रति अपनी सहज श्रद्धांजलि अर्पित करदी है। अब प्रस्तुत पर आजाएँ। इस प्रकार अज्ञात वास पूरा हुआ और पाण्डव लौट कर आए, और अपना राज्य मांगा तो दुर्योधन ने भ० कृष्ण तक को भी साफ कह दिया—मैं युद्ध के बिना एक इंच भूमि भी नहीं देने वाला हूं।

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि, विना युद्धेन केशव !"

अब दोनों ओर से शक्ति प्रयोग का प्रश्न आ गया, भयंकर युद्ध के बादल मंडराने लगे। विदुर जैसे तत्त्वज्ञ और नीतिज्ञ लोग दुर्योधन को समझाने गए, महा विनाश को टालने का प्रयत्न करने लगे, दुर्योधन के समक्ष नीति और धर्म के उपदेश देने लगे। दुर्योधन बहुत देर तक सुनता रहा, सुनता रहा। आखिर सुनते-सुनते अघा गया। बोला—क्या आप यह समझते हैं कि नीति और धर्म की बात दुर्योधन नहीं जानता ? क्या वह मिट्टी का एक जड़पिण्ड मात्र है ? ये सब शास्त्र और नीति वचन मैंने भी पढ़े हैं। मैं सब जानता हूं। पर करूँ क्या ? मुझसे कुछ हो नहीं सकता है। मेरे वस की बात ही नहीं है।

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि दंवेन हृदिस्थितेन,
यथ: नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात् मैं भी जानता हूं कि धर्म क्या है? न्याय नीति क्या है? किसी का अधिकार छीनना नहीं चाहिए, यह मैं भली भांति जानता हूं, किन्तु मैं इस सत्कर्म में अपने आपको संलग्न नहीं कर पा रहा हूं। और भाइयों का राज्य हड़प के बैठ जाना अधर्म है, अन्याय है, अत्याचार है—यह भी मैं अच्छी तरह जानता हूं, किन्तु अधर्म मे मैं निवृत्ति नहीं कर पा रहा हूं।

समझाने आए मनीषियों ने कहा--"भाई! जब धर्माधर्म की बात जानते हो, नीति और अनीति को भूले नहीं हो, शस्त्रविद्या और शास्त्र विद्या दोनों में तुम निपुण हो, तो फिर बात क्या है? क्यों नहीं धर्म में तुम्हारी प्रवृत्ति हो रही है? और अधर्म मे क्यों नहीं निवृत्ति ले रहे हो?"

मैं कह रहा था न आपको कि साधारण मनुष्य की कुछ वृत्ति ही ऐसी है कि वह अपनी कमजोरियों को, अपने दोषों को दूसरों पर डालकर किनारा लेने की कोशिश करता है। कोई अपनी गलती की जिम्मेदारी नहीं लेता। एक दूसरे पर डाल कर स्वयं उससे दूर रहना चाहते हैं। आज हमारे सिद्धान्तों की यह सबसे बड़ी छीछालेदर है, कि हम अपने उत्तर दायित्वों को दूसरों पर डालने का प्रयत्न करते हैं। दुर्योधन ने वही बात कही—

"केनापि दैवेन हृदिस्थितेन"

क्या करूं? मेरा हृदय मेरे अधीन नहीं है। तुम देखते होगे कि दुर्योधन यह सब कर रहा है? पर दुर्योधन कुछ नहीं कर रहा है, कोई अदृश्य शक्ति मेरे भीतर बैठी है! मेरे हृदय पर अधिकार किए हुए है। बस, जैसे भी जहाँ भी जरूरत होती है, वह महा शक्ति मुझे मोहरा बनाती है। वह जैसा इंगित करती है, प्रेरणा देती है, मैं वैसा ही करता जाता हूं। मैं तो उस अदृष्ट के द्वारा—"यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" की स्थिति में हूं।

तो इस प्रकार दुर्योधन ने अपनी दुर्वृत्ति को, दुष्टता और धूर्तता को उस महाशक्ति पर डालकर स्वयं बच निकलने का मार्ग निकाल लिया। बात यह है कि सत्कर्म किया हो, किसी की सेवा के लिए खुद को अर्पण किया हो, और जब उसका यश व्यक्ति को मिले, तब यदि वह कहे कि भाई! मैं तो केवल निमित्त हूं, करने वाला कोई और है, तो बात समझ में भी आती है, कि यह समर्पण भाव अभिमान को न जगने देने के लिए है। अहंकार त्याग की दृष्टि से इस प्रकार की बात का कुछ मूल्य भी है। मुझे महाकवि रहीम खानखाना याद आ जाते हैं। बहुत सम्पत्ति थी उनके पास, दिल भी उदार था। जो भी पाया, लुटाता चला गया। किन्तु जब भी किसी को दान देता, तो आँखें नीची कर लेता, जैसे कोई लजीली लड़की शर्मा कर आँखें नीची किए कुछ करती जाती हो। किसी ने पूछा उनसे— "यह क्या बात है? आप जब देते हैं तो खुलकर देते हैं, देते समय हाथ पीछे नहीं हटाते, फिर नीची आँखें कैसे कर लेते हैं? इसमें शर्म की क्या बात है?" उन्होंने कहा—"भाई! बात यह है—

देने वाला देत है, देता है दिन रैन।
लोग भरम हम पर धरें, तासे नीचे नैन।

देने वाला तो और है और वह खुले हाथ से खजाना लुटाता है, लेकिन लोग मुझे दाता कहते हैं, तो इससे बढ़कर शर्म की और क्या बात होगी? दाता कोई और, यश किसी और को?"

हम भले ही इस दर्शन को न मानें, परन्तु सत्कर्म के क्षेत्र में इस की उपयोगिता है। मनुष्य के सामने जब उसकी जय-जयकार होती है, पुष्पमालाएँ उछल-उछल कर गले में आने की तैयारियाँ करती हैं, उस समय इस फिलासफी को याद करलें, भक्ति योग के इस समर्पण-सिद्धान्त को याद रखें, तो एक बात है, इससे कर्तृत्व का अभिमान टूट जाता है, अहंकार की घटा मन पर से हट जाती है। पर देखते हैं, आज तो उल्टी गति हो रही है। जय जयकार के समय स्वयं सीना उठाकर खड़े हो जाते हैं। पुष्प मालाएँ आती हैं, तो सबसे पहले गर्दन बढ़ाकर पहनने को आगे आ जाते हैं। उस समय भगवान् को याद नहीं करते, अपने कर्तृत्व का ही बखान करते हैं। और जब कोई गलत काम हो जाता है, स्थिति बिगड़ जाती है, तब भगवान् पर डाल देते हैं—क्या करें, ईश्वर की यही इच्छा थी। भगवान् ने

बुरा कर दिया। मतलब हुआ कि भलाई के जिम्मेदार हम और बुराई के जिम्मेदार भगवान् ! यह तो **'मीठा-मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू'** वाली बात हुई।

हाथों में मुक्ति :

मैं समझता हूं, इस सिद्धान्त का दुरुपयोग जैसा दुर्योधन ने किया है, वैसा अन्य अनेक लोगों ने भी किया है। और इस प्रकार भगवान के नाम पर असत्कर्म, पापाचार और स्वार्थों का खेल रचा गया है।

जैन दर्शन के आचार्यों ने कहा है—मानव तू जो कुछ करता है, उसका उत्तरदायी तू स्वयं ही है। अपने कर्तृत्त्व की बुराई का भार समय पर ईश्वर पर डालकर छुटकारा पाने की कोशिश मत कर। एक सच्चे वीर की तरह अपना कर्म और भाग्य अपने हाथ में लेकर चल ! स्वर्ग, नरक, और मोक्ष तेरी आत्मा में हैं। उनका मनचाहा निर्माण करना तेरे हाथ में है।

एक आचार्य हो गए हैं, भोजसागर। उनका 'किं कर्पूरमयं' के नाम से प्रसिद्ध एक स्तोत्र हम पढ़ा करते हैं। उसमें कहा है—

'मुक्तिः क्रीडति हस्तयोर्बहुविधं।'

मुक्ति तो साधक के हाथों में खेलती है। बहुत पते की बात उन्होंने कही है। मुक्ति बाहर नहीं, हमारी आत्मा के कण-कण में है। मुक्ति हाथों में खेलती है, इसका अर्थ है—अपने अधिकार में है। यहाँ मुझे खलील जिब्रान की एक कहानी याद आ जाती है—

एक नर्तकी ने बहुत सुन्दर नृत्य किया। उसकी अद्भुत कला पर राजा, मंत्री, अधिकारी, सेठ साहूकार सभी लोग वाह वाह कर उठे। जब नृत्य समाप्त हुआ तो राजा ने पूछा—"तुमने इतनी सुन्दर कला कहाँ, किससे सीखी ?" नर्तकी ने उत्तर दिया—"महाराज ! मैं पढ़ी लिखी नहीं हूं ! पर एक बात जानती हूं—जो विद्वान होते हैं, तार्किक और दार्शनिक होते हैं, उनकी आत्मा मस्तिष्क में रहती है। जो कवि होते हैं, उनकी आत्मा हृदय में निवास करती है। जो गायक होते हैं उनकी आत्मा उनके कण्ठ में निवास करती है। पर जो नर्तक एवं नर्तकी होते हैं उनकी आत्मा उनके कण-कण में बास करती है। क्योंकि उन्हें शरीर के प्रत्येक अंग को साधना पड़ता है। इसलिए उनकी आत्मा शरीर के कण-कण में रहती है।"

कहानी समाप्त हो गई। पर, इसका भाव बहुत गहरा है। जो साधक होता है, वह भी एक आध्यात्मिक नर्तक है। जीवन का कण-कण उसकी साधना से ओत-प्रोत रहता है, उसके जीवन के कण-कण में आत्मा का निवास रहता है। उसकी प्रत्येक गति एवं प्रवृत्ति में आत्मा का दर्शन होता है। मैं समझता हूं, जैन दर्शन ने हमें इतना बड़ा अधिकार सौंप दिया है कि मुक्ति तो तुम्हारे हाथों में खेलती है, तुम्हारा लोक और परलोक, भाग्य और पुरुषार्थ तुम्हारे ही अधिकार में है। अतः सुख दुःख का दायित्व किसी अन्य पर मत डालो। अपने ही पूर्व कृत कर्म का परिणाम हमें सुख-दुःख के रूप में प्राप्त होता है। सुखों की भीख मांगने के लिये किसी के आगे पल्ला मत पसारो। और दुःखों से मुक्ति के लिए भी किसी के संमुख मत गिड़-गिड़ाओ। तुम्हारा कर्ता तुम्हारे अन्दर है, तुम्हारा भगवान् तुम्हारे अन्दर है। मुक्ति तुम्हारे हाथों में है। ज्योति तुम्हारे भीतर है। उसे जगाओ, बस, सब कुछ मिल जाएगा।

★

- **ताकत के बल पर मिलने वाली विजय ताकत के बल पर ही छीन भी ली जाती है।**
- **विरोधियों की ओर से की जाने वाली पत्थरों की मार उतनी घातक नहीं होती, जितनी कि अपने कहे जाने वालों की ओर से की जाने वाली फूलों की मार।**
- **दूर की लम्बी यात्रा में तेज चलने की नहीं, लगातार चलने की आवश्यकता है।**
- **कुछ पाने से पहले कुछ खोना ही पड़ता है।**
- **अच्छा या बुरा, कैसा भी हो, वक्त आखिर गुजर जाता है, रह जाती है तत्कालीन साथियों के व्यवहार की केवल कड़वी मीठी याद।**
- **हर काली रात के अन्त में सुनहला प्रभात खड़ा है! अपेक्षा है धैर्य से प्रतीक्षा करते रहने की।**

★

मृति-स्मृतिः शुद्धये

विनोबा

[गांधीजी के 'पांचवें पुत्र' श्री. जमनालालजी बजाज के ज्येष्ठ पुत्र श्री. कमलनयन बजाज का अहमदाबाद के राजभवन में दिनांक एक मई को प्रातःकाल देहावसान हुआ। श्री. कमलनयनजी तथा उनकी भगिनी, श्री. मदालसाबहन विनोबाजी के प्रथम विद्यार्थियों में से थे, जिन्होंने विनोबाजी से ज्ञान तथा स्नेह पाया। श्री. कमलनयनजी के स्वर्गवास के समाचार पाकर विनोबाजी ने सायंकालीन प्रार्थना के पश्चात् निम्नलिखित शब्द कहे।

दिनांक २ मई को सुबह विष्णुसहस्र-नाम पाठ के पूर्व विनोबाजी ने कहा- 'अभी कमलनयन का वहनविधि वहाँ (अहमदाबाद) होता होगा। उसकी आत्मा की उन्नति के लिए भगवान कृपा करें, ऐसी हम दो मिनिट मौन में भगवान से प्रार्थना करें और फिर पाठ करें।'—सं.]

सुबह अहमदाबाद, राजभवन से हमारे पास संदेशा आया कि कमलनयन स्वर्गवासी हुए। कमलनयन हमारा विद्यार्थी भी था। उसको हमने संस्कृत में से कुछ ब्रह्मविद्या पर अंश सिखाया था। तब से उसके मन में परोपकार की भावना स्थिर हुई थी। अभी आखिरी पुस्तक उसने लिखी है, उसमें बापू के साथ उसका जो संबंध आया; अपने पिताजी, जिन्हें वह काकाजी कहता था, के साथ जो संबंध आया और बाबा के साथ जो संबध आया और तीनों से क्या-क्या सीखने को मिला, इसका जिक्र है। अभी, दो-तीन महीने पहले ही वह छपी है। जिस दिन वह गया, उस दिन शाम को सब के साथ बैठ कर चर्चा चल रही थी उसकी, और वह कह रहा था कि इस पुस्तक में और कुछ बातें जोड़नी हैं। हंसते-खेलते चर्चा चल रही थी। चर्चा समाप्त हुई और निद्रा के लिए गया। बड़ी फजर लोग उठे, पांच बजे, और उन्होंने देखा

कि भला मनुष्य चला गया है। नीचे जमीन पर लेटा हुआ पाया। हार्टफेल में मनुष्य एक दम चला जाता है। उसको एकदम भान हुआ होगा कुछ, और लगा होगा कि ऊपर मरने के बजाय, नीचे मरना भला। भारतीय सभ्यता में यह है। तो उसे जमीन पर लेटा हुआ लोगों ने पाया। कब गया, लोगों को मालूम नहीं। उसने कह रखा था या लिख रखा था—किस तारीख को लिख रखा था, यह अभी मुझे मालूम नहीं हुआ है—मेरी अंतिम क्रिया, जहाँ मेरी देह गिरेगी, वहीं की जाये। जिस स्थान पर गिरेगी, वहाँ से दूसरे स्थान पर न ले जाया जाये। और उस दिन, उनकी जो दूकानें आदि हैं, जहाँ व्यापार चलता है, उसको छुट्टी न दी जाये, काम चालू रहे।

मृत्यु एक ऐसी घटना है, जिसके बारे में मनुष्य को खूब सोचना चाहिये। साम्यसूत्र में लिखा है—

मृति-स्मृतिः शुद्धये।

मरण की स्मृति चित्तशुद्धि के लिए बहुत उपयोगी है, इसलिए मृत्यु का सतत स्मरण होना चाहिए। हम मृत्यु का स्मरण टालते हैं, वह टालना गलत है। मृत्यु जीवन की एक हकीकत है और बहुत लाभदायी है। हम यहाँ जन्म पाते हैं, उसके पहले भी अव्यक्त में हमारा लंबा जीवन था। यह बीच में छोटा-सा मुकाम! आगे और पीछे बहुत लंबा काल है। बीच में यह छोटा-सा काल है। इस छोटे-से काल में एक बात याद रखें कि किसी के चित्त को कभी भी न दुखायें।

मरण का सतत स्मरण रहेगा तो यह बात हमेशा हमारे चित्त में जागृत रहेगी। जीवन में इतना साध लें कि किसी को दुखायेंगे नहीं। इसको पूर्वजों ने अहिंसा नाम दे दिया। अहिंसा यानी कत्ल करना नहीं, इतना ही नहीं, अहिंसा यानी किसी के चित्त को दुखाना नहीं। शेक्सपीअर का एक वाक्य है—अगर मेरा मित्र आज शाम को मरेगा, यह मुझे मालूम होता, तो सुबह उसे जो कटु बोला वह नहीं बोलता। मालूम हो कि यह शामको मरनेवाला है, तो सुबह उसके साथ झगड़ा नहीं करेंगे। इसलिए मनुष्य को हमेशा समझ लेना चाहिए कि हमारा या हमारे मित्र का अंत आज ही हो सकता है। **इसलिए किसी के चित्त को न दुखाना, हमारा बहुत बड़ा कर्तव्य मानना चाहिए।** दान-धर्म करते हैं, वह गौण वस्तु है, मुख्य वस्तु है किसी के चित्त को न दुखाना।

दूसरी बात, मरण का स्मरण हमेशा रहेगा तो उससे चित्त प्रसन्न रहेगा। चंद दिन रहना है, चंद दिन में हमारा संबंध प्रेममय बनाने की कोशिश हमेशा होगी। उसका परिणाम यह होगा कि आत्मा के अमरत्व का खयाल होगा। भागवत में वचन आता है, उसका आधार उपनिषद् में है। परमेश्वर ने अनेक प्राणी पैदा किये, उसका समाधान न हुआ। आखिर मनुष्य पैदा किया, और, **ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः**—परमेश्वर संतुष्ट हुआ। **तैस् तैर् अतुष्टहृदयः**। उसका हृदय असंतुष्ट था। **पुरुषं विधाय**। मनुष्य की आकृति बनायी और प्रसन्न हुआ। क्यों आनंद हुआ भगवान को? क्योंकि वह तनु ऐसी है कि उसमें ब्रह्म-साक्षात्कार की शक्ति है। मतलब, इस मानव-शरीर में पैदा होना और ब्रह्मसाक्षात्कार किये बिना मरना, यानी मानव जीवन का बिलकुल निरुपयोग हुआ। इसलिए जहाँ मृत्यु का स्मरण रहेगा निरंतर, वहां ब्रह्मविद्या का भान रहेगा। हमारा कर्तव्य आत्म-साक्षात्कार का है, वह कर के ही जायेंगे।

तीसरी बात, उसके लिए रोज साधना करनी चाहिए। वह कौनसी? उसको मैंने नाम दिया है, मेरा दिया हुआ नाम है, मृत्यु का पूर्वप्रयोग। जैसे कोई नाटक करते हैं, तो नाटक उत्तम होना चाहिए, इसलिए उसका पूर्वप्रयोग—रीहर्सल कर के देखते हैं; वैसे अगर हम चाहते हैं कि मृत्यु अच्छी तरह आये, मृत्यु के समय परमात्म-स्मरण हो, सावधान रहें, विकार सारे नष्ट हों, तो मृत्यु का पूर्वप्रयोग करना चाहिए। निद्रा मृत्यु का पूर्वप्रयोग है। रात को निद्रा के समय, मर रहे हैं, ऐसी भावना कर, परमात्मा की गोद में लेट रहे हैं, ऐसी भावना कर सो जायें। यानी सोते समय ध्यान, नामस्मरण करते, मृत्यु के समय हम जो करना चाहेंगे, वह करते सो जायें।

तीन बातें मैंने कही—एक, किसी का चित्त न दुखायें; दो, आत्म-साक्षात्कार का खयाल करें; तीन, निद्रा के समय ध्यान, भगवत् स्मरण करते सो जायें।

प्रेषक : **श्री चंपालाल बंब एम. कॉम, वर्धा**

★

सम्राट् अकबर और जैन धर्म

सम्राट् अकबर हुमायूँ के पुत्र थे। उनका जन्म ईस्वी सन् १५४२ में हुआ था। कहा जाता है, साढ़े तेरह वर्ष की अवस्था में ही वे गद्दी पर बैठे थे। बादशाह होते ही उन्होंने बड़ी योग्यता से राज-काज करना आरंभ कर दिया था और जीवन-भर उसे उसी योग्यता से चलाते रहे।

बादशाह अकबर अन्य मुसलमान बादशाहों की तरह धर्मान्ध नहीं थे। वे बड़े उदार हृदय के धनी थे। कहते हैं कि उन्होंने तटस्थ दृष्टि से सब धर्मों को जाना और जाँचा था। जैन धर्म के प्रति उनका विशेष प्रेम था। अहिंसा धर्म के प्रति उनका हार्दिक आकर्षण था। जैनाचार्य श्री हीर विजय सूरि को वे अपना गुरु मानते थे। बादशाह ने उन्हें 'जगद्गुरु' की पदवी दी थी।

एकबार बादशाह अकबर लाहौर में थे। जैन मुनि श्री शान्ति चन्द्र जी भी उन दिनों लाहौर में ही थे। ईद से एक दिन पहले उन्होंने लाहौर से प्रस्थान करने का विचार किया। बादशाह ने जब उनसे इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा—"कल ईद के दिन हजारों ही नहीं, लाखों जीवों का वध होने वाला है। मैं मूक पशुओं की यह हत्या नहीं देख सकता हूँ। इसलिए लाहौर से अन्यत्र जा रहा हूँ।"

साथ ही श्री शान्तिचन्द्र जी ने मुसलमानों के धर्म ग्रन्थ 'कुरान शरीफ' की आयतों का हवाला देकर यह भी बताया कि—"रोटी और शाक खाने से भी रोजे कबूल हो जाते हैं। कुरबानी कोई आवश्यक नहीं है।"

इस पर बादशाह ने अपने मन्त्रियों और सामन्तों के सामने कुरान और अन्य धर्म ग्रन्थ पढ़वाए। अन्त में सबको सत्य स्वीकार करना

पड़ा। तब बादशाह ने घोषणा करा दी कि—'ईद के दिन जानवरों की कुरबानी न की जाए।"

आईने अकबरी' नामक पुस्तक में लिखा है—"अकबर बादशाह कहा करता था कि—"मेरे लिए कितने सुख की बात होती, यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता कि मांसाहारी लोग केवल मेरे शरीर को ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते, ताकि वे फिर दूसरों को मार कर न खाते। अथवा ऐसा होता कि मेरे शरीर का एक एक अंश काट कर मांसाहारियों को खिला दिया जाता और वह अंश फिर वापस प्राप्त हो जाता, तो मैं बहुत प्रसन्न होता। इस प्रकार मैं अपने शरीर से ही मांसाहारियों को तृप्त कर सकता।"

इन सब बातों पर से मालूम होता है कि सम्राट् अकबर बड़े ही दयालु एवं धर्मपरायण बादशाह थे। मुसलमान होते हुए भी वे अन्य धर्म और धर्माचार्यों के प्रति आदर का भाव रखते थे। श्री हीर विजय सूरीश्वर के उपदेश से उन्होंने पक्षियों को पिंजरों से मुक्त कर दिया था। मछलियाँ मारने पर भी रोक लगा दी थी। जैनधर्म के पर्युषण पर्व के अवसर पर अपने समग्र देश में पशुवध की कठोर निषेधाज्ञा प्रचारित की थी। इस सम्बन्ध में उनके द्वारा दिए गए हुक्मनामे आज भी उपलब्ध हैं।

उक्त बातों पर से मालूम होता है कि सम्राट् अकबर का जैन धर्म के साथ कितना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध था। इसीलिए अकबर के समय के एक पोर्चुगीज पादरी ने अपने पत्र में लिखा था,—"अकबर जैन धर्म का अनुयायी है।"

★

- अविवेक, एवं अधीरता के कारण द्वार पर आते आते सुख के क्षण भी दुःख में बदल जाते हैं।
- ताप तन की पीड़ा है, संताप मन की व्यथा है, ताप की अपेक्षा संताप भयंकर है, उससे बचिए।
- कोमलता तन के लिए नहीं, मन के लिए चाहिए, तन वज्र-सा कठोर हो, और मन फूल-सा कोमल, तो फिर व्यक्तित्व के निखरने-उभरने में कुछ देर नहीं लगती।

निर्वाणोत्सव-राष्ट्रीय समति स्वीकृत कार्यक्रम की रूपरेखा

१. समारोह का समय—

(अ) यह महोत्सव समारोह १३ नवम्बर, १९७४ से १ वर्ष पर्यन्त चलेगा।

(ब) १३ नवम्बर से १५ नवम्बर १९७४ तक सार्वजनिक—सभाएँ सुविधानुसार होंगी।

(स) १५ नवम्बर, १९७५ को इस महोत्सव-समारोह का समापन होगा। इस समारोह समापन के समय सार्वजनिक सभाएँ भी सम्पन्न होंगी।

२. संगठन—

(अ) राष्ट्रीय समिति के कार्यक्रम को समायोजित एवं सम्पन्न करने के लिए २१ सदस्यों की एक 'कार्यवाहक समिति का गठन किया जाएगा, जिसकी अध्यक्ष प्रधान मंत्री होंगी। यह कार्यवाहक समिति अन्य पदाधिकारियों की भी नियुक्ति करेगी।

(ब) यह कार्य-वाहक समिति भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों को सम्पन्न करने के लिए आवश्यकतानुसार उप-समितियाँ भी गठित करेगी।

(स) राष्ट्रीय समिति के कार्यक्रम को सम्पन्न करने के लिए प्रान्तीय सरकारों से प्रार्थना की जायेगी कि वे राष्ट्रीय समिति के अनुसार प्रान्तीय समितियां गठित करें। ऐसी प्रान्तीय समितियों में राज्यपाल संरक्षक एवं मुख्य मंत्री अध्यक्ष होंगे। राष्ट्रीय समिति के सदस्य प्रान्तीय समितियों में भी सुविधानुसार सदस्य बन सकेंगे।

(द) कार्यवाहक समिति शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय में अच्छे कार्य-कर्त्ताओं से युक्त अपना स्वतन्त्र कार्यालय स्थापित करेगी।

३. भगवान महावीर स्मारक—

(अ) भगवान महावीर के स्मारक दिल्ली एवं अन्य महानगरों में स्थापित

किये जायेंगे। इस स्मारक में विविध-लक्षीय केन्द्र स्थापित किये जायेंगे जहाँ पर जैनॉलोजी के उच्चाध्ययन एवं दर्शन तथा धर्मशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था होगी।

(ब) इस स्मारक में जैन-कला, स्थापत्य एवं प्राचीन पाण्डुलिपियों का संग्रहालय भी होगा। इस संग्रहालय के साथ जैन-धर्म, जैन तत्त्वज्ञान, जैन साहित्य से सम्बन्धित एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी स्थापित किया जायेगा।

(स) इस स्मारक में जैनोलॉजी का अनुसंधान एवं धर्म तथा दर्शन-शास्त्र में तुलनात्मक अध्ययन करने वाले, भारतीय एवं विदेशी अनुसंधायको के लिए एक स्वतंत्र कक्ष स्थापित किया जायेगा, जहाँ पर उन्हें आवश्यक सुविधाएं दी जायेंगी।

४. शैक्षणिक एवं साहित्यिक–

(अ) भारत एवं विदेश के विश्व-विद्यालयों में जैनधर्म के विशेष अध्ययन के लिए विभाग एवं शिक्षा पीठ (Departments and Chairs) स्थापिता करना।

(ब) जैन-साधना-केन्द्र का निर्माण करना।

(स) जैन धर्म का एक ज्ञान-कोश प्रकाशित करना।

(द) इस निर्वाण-महोत्सव के प्रसंग पर कई जैन संस्थाएं इस प्रकार के कार्यक्रम को हाथ में लेकर सम्पन्न करने जा रही हैं जैसे—जैन विश्व-भारती, वीरायतन, महावीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्राकृत भाषाओं में उच्च अध्ययन के लिए भगवान महावीर—केन्द्र एवं संग्रहालय स्थापित करने वाली संस्थाओं के ऐसे प्रयासों का यह राष्ट्रीय समिति स्वागत करती है और उन्हें यथासंभव सहयोग देने का आश्वासन देती है।

५. साहित्य एवं प्रकाशन–

(अ) भगवान महावीर के जीवनोपदेश एवं जैनधर्म विषयक साहित्य का प्रकाशन करना।

(ब) जैनकला, स्थापत्य एवं साहित्य-ग्रन्थों का प्रकाशन।

(स) जैनधर्म के विशिष्ट ग्रन्थों (मूल और सटीक) को भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित करना।

(द) जैन-साहित्य, तत्वज्ञान एवं धर्म विषयक विशिष्ट ग्रन्थों की अनुवाद श्रेणी प्रकाशित करना।

(इ) जैन-धर्म के भिन्न-भिन्न विषयों पर जनोपयोगी पुस्तिकाएँ, पेम्फलेट एवं लोक साहित्य को प्रकाशित करना।

(इस साहित्य-प्रकाशन के लिए नेशनल बुक ट्रस्ट, साहित्य अकादमी एवं अन्य साहित्यिक संस्थाओं से सहयोग प्राप्त करना। साहित्य-प्रकाशन का विस्तृत कार्यक्रम उपसमिति निर्धारित करेगी।)

६. महोत्सव समारोह–

(१) जैनकला, साहित्य, चित्र, स्थापत्य, एवं प्राचीन पाण्डुलिपियों की चल-प्रदर्शिनी को आयोजित करना।

(२) भगवान महावीर के जीवनोपदेश एवं जैनधर्म से सम्बन्धित वार्तालाप, संवाद, संगोष्ठी महोत्सव-वर्ष दरमियान आकाशवाणी, टेलिबीजन तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय ऐजन्सी द्वारा नियमित प्रसारित करने की व्यवस्था करना।

(३) जैन कला, जैन स्थापत्य, जैन चित्र एव तीर्थ यात्रा के स्थानों के सचित्र फिल्म (Documenatry films) तैयार की जाय और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी द्वारा प्रदर्शित की जाय।

(४) ता० १३ नवम्बर १६७४ को सम्मान्य पोस्टल स्टेम्प्स तथा प्रथम दिवस के लिफाफे प्रसारित किये जांय।

(५) राष्ट्रीय समिति की योजना, कार्यकलाप एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र, युनेस्को एवं अन्य संस्थाओं से सहयोग प्राप्त किया जाय।

(६) राष्ट्रीय समिति के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए विश्वविद्यालयों एवं साहित्यिक संस्थाओं से सहयोग प्राप्त किया जाय।

(७) जैनधर्म विषयक भिन्न-भिन्न विषयों पर व्याख्यान देने के लिए जैन धर्म के विशिष्ट विद्वानों को विदेश भेजा जाय।

(८) भ० महावीर-निर्वाण-महोत्सव-समारोह-वर्ष अहिंसा-शांति वर्ष के रूप में घोषित किया जाय।

(९) १३ नवम्बर १९७४ का दिन निषिद्ध दिवस (Dry day) एवं सभी कत्लखाने बन्द रखे जांय। उस दिन सार्वजनिक भोजन गृहों में मांस परोसा न जाय।

(१०) इस महावीर-महापरिनिर्वाण दिवस पर मुख्य वर्तमान पत्र-एजेन्सियों को भारत में एवं विदेशों में विशेषांक प्रकाशित करने का अनुरोध किया जाय।

(११) समारोह-वर्ष दरमियान भगवान महावीर के अहिंसा, अनेकांत

एवं अपरिग्रह जैसे विश्वोपयोगी सिद्धांत राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के निराकरण करने में कैसे सहायक हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में एवं जैनधर्म के मौलिक तत्वों की उपयोगिता पर मुख्य-मुख्य नगरों में संगोष्ठी, परिसंवाद के आयोजन किये जांय।

(१२) जैनधर्म एवं तत्वज्ञान के अध्ययन में जिन्होंने योगदान दिया है ऐसे विदेशीय विद्वानों को भी ऐसे संगोष्ठी एवं परिसंवादों में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाय।

६. अन्य कार्य—

(१) महत्वपूर्ण जैन तीर्थस्थानों पर मार्ग, जल, बिजली, यातायात के आवश्यक साधनों को जुटाने के लिए केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों को साग्रह अनुरोध किया जावे।

(२) महत्वपूर्ण जैन केन्द्रों पर प्राचीन जैन पुरातत्वों को सुरक्षित रखा जावे और प्रसिद्ध संग्रहालयों में प्रदर्शित किया जाय।

(२) भगवान महावीर से सम्बन्धित महत्वपूर्ण स्थानों पर, विशेषतः ग्रामों में निर्वाण-महोत्सव के उपलक्ष में शिक्षण, औषधीय महायता एवं जल-व्यवस्था द्वारा सामाजिक कल्याण कार्य प्रारम्भ किया जाय।

वित्तीय व्यवस्था—

(१) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकार अपने-अपने मंत्रालयों एवं विभागों—जैसे शिक्षा मंत्रालय, आवास मंत्रालय, पर्यटन मंत्रालय, पुरातत्व-विभाग, आयोजन-विभाग एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि को महोत्सव के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए समुचित अनुदान देने की प्रार्थना की जाय।

(२) इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, फाउण्डेशन एवं अन्य कार्यालयों से वित्तीय सहयोग प्राप्त करने के लिए संपर्क स्थाति किया जाय।

समिति के नये सदस्य—

प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी ने राष्ट्रीय-समिति में निम्नलिखित महानुभावों को और मनोनीत किया है :—

१—श्री चन्द्रभानजी डाकलिया, श्रीरामपुर।
२—श्री खेलशंकरभाई दुर्लभजी जोहरी, जयपुर
३—श्री रतनलालजी जैन, एम० पी०, चंडीगढ़
४—श्री मन्नालाल सुराणा, जयपुर
५—श्री कन्हैयालाल दूगड़, कलकत्ता
६—श्री दौलतसिंहजी जैन, दिल्ली
७—श्री यशपालजी जैन, दिल्ली
८—श्री राजेन्द्रकुमार जैन, इन्दौर
९—श्री चांदमलजी सरावगी, गोहाटी

साहित्य-समीक्षा

वैशाली के राजकुमार

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर

लेखक—डॉ० नेमीचन्द जैन।

प्रकाशक—श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर।

मूल्य—दो रुपये, पृष्ठ संख्या २४४।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय है—भगवान् महावीर का जीवन। आज तक भगवान् महावीर के जीवन पर अनेक अधिकारी विद्वान् लिख चुके हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, कन्नड़ आदि अनेक भाषाओं में समय-समय पर विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से कभी संक्षेप में और कभी विस्तार में भगवान् महावीर का जीवन लिखा है। अँग्रेजी भाषा में भी कुछ देशी-विदेशी विद्वानों ने महावीर जीवन पर लिखा है।

प्रस्तुत पुस्तक की अपनी एक विशेषता है। विद्वान् लेखक ने अपने प्रतिपाद्य को ४ विभागों में विभक्त किया है। पूर्वाभास खण्ड में भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ पर अच्छा चिन्तन प्रस्तुत किया है। जैन धर्म और संस्कृति के सन्दर्भ में भी संक्षेप में सुन्दर प्रकाश डाला है। जीवन-खण्ड में भगवान् महावीर के जीवन का विस्तार से वर्णन है। प्रसंग-खण्ड में भगवान् महावीर के जीवन के अनेक प्रसंगों का, सुन्दर-शैली और मधुर भाषा में वर्णन किया है। चतुर्थ देशना खण्ड में भगवान् महावीर का तत्त्व-दर्शन—द्रव्य, तत्त्व, सम्यक्त्व, पुद्गल, परमाणु, भेद विज्ञान, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और आत्मविज्ञान आदि विषयों पर संक्षेप में बहुत ही सुन्दर लिखा है। पुस्तक के प्रत्येक विभाग में विद्वान् लेखक की गहरी दृष्टि और सुन्दर सूझबूझ का परिचय मिलता है। मुद्रण एवं प्रकाशन सुन्दर एवं आकर्षक है। पुस्तक का साइज पाकेट साइज है।

एक बात जो अध्येता को अवश्य खटकेगी, वह यह है कि विद्वान् लेखक ने पुस्तक की सामग्री एकमात्र दिगम्बर-साहित्य से ही ली है। प्रस्तुत विषय से संबद्ध श्वेताम्बर साहित्य का भी यदि आधार लिया जाता, और समन्वय-बुद्धि से प्रस्तुत पुस्तक को लिखा जाता, तो पुस्तक अधिक व्यापक और अधिक उपयोगी बन सकती थी।

—**वसन्त जैन शास्त्री**।

निर्मल आत्मा ही समयसार

लेखक—श्री विद्यानन्द मुनि ।

प्रकाशक—श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन समिति, इन्दौर ।

मूल्य—दो रुपये, पृष्ठ संख्या ६३ ।

प्रस्तुत पुस्तक, एक प्रवचन पुस्तक है। प्रवचनकार हैं—दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध वक्ता, प्रखर व्याख्याता श्री विद्यानन्द मुनि। मुनिजी ने 'समयसार' पर समय-समय पर जो महत्व पूर्ण प्रवचन दिये थे, उन्हीं का संकलन एवं सम्पादन प्रस्तुत में किया गया है। मुनि जी की प्रवचन-शैली आकर्षक और जन-मन मुग्धकारी है। समयसार के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विषयों का यथा-प्रसंग संक्षेप में वर्णन किया गया है। क्याही अच्छा होता, विद्वान् मुनि जी सम्पूर्ण समयसार पर ही इस में प्रवचन करते तो, नवयुग की नव-चेतना को अधिक उद्‌बोधन मिल सकता था। प्रस्तुत पुस्तक में जितना भी, और जो भी प्रस्तुत किया गया है, वह भी अत्यन्त सुन्दर है। विद्वान् मुनि जी ने समयसार के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों के प्रमाण उद्‌धृत करके विषय को व्यापक बनाया है। श्वेताम्बर-परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की प्रसिद्ध कृति सन्मति तर्क से भी अनेक गाथाएँ यथा प्रसंग उद्‌धृत की हैं। मुद्रण, प्रकाशन और सम्पादन चित्ताकर्षक है। पुस्तक ग्राह्य एवं संग्रहणीय है। —**वसन्त जैन शास्त्री ।**

★

उत्तराध्ययन सूत्र—१५ अध्ययन

सम्पादक—आत्मनिधि मुनि श्री त्रिलोकचन्द्रजी ।

प्रकाशक—पूज्य आत्माराम शोध संस्थान होशियारपुर पंजाब ।

मूल्य—४.२५ । पृष्ट ३४४ ।

पं० मुनिश्री त्रिलोकचन्द्र जी एक अध्यनशील आगमाभ्यासी विद्वान हैं। आजकल आप उत्तराध्ययन सूत्र का बड़ी योग्यता से संपादन कर रहे हैं। प्रस्तुत संस्करण में प्रारम्भ के १५ अध्ययनों का संग्रह है। शुद्ध मूल पाठ है। संस्कृत छाया है, हिन्दी अनुवाद है। नीचे पाद टिप्पणी में पाठान्तर एवं विशिष्ट प्राकृत शब्दों का व्याकरण है। अन्वयार्थ समझने के लिए मूल पाठ और हिन्दी अनुवाद में यथाक्रम अंक संख्या का उल्लेख है। मुनि श्री का श्रम प्रशंसनीय है। संस्करण आगमाभ्यासी सज्जनों के लिए उपयोगी रहेगा। आशा है, शेष अंश भी यथा शीघ्र प्रकाशित होगा।

महासती चन्दनबाला

रचयिता—आचार्य सम्राट पूज्य श्री आत्मारामजी म० के सुशिष्य पं० श्री ज्ञान मुनि जी ।

प्रकाशक—आचार्य श्री आत्माराम जैन माडल स्कूल २९ डी, कमलानगर, देहली ७ ।

मूल्य—१ रुपया । पृष्ठ संख्या ८६ ।

पं० श्री ज्ञानमुनिजी म० एक विद्वान् प्रवक्ता मनीषी हैं । आप एक अच्छे कवि भी हैं । अब तक आपकी अनेक गद्य तथा पद्य रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जो जन-समाज में काफी समादृत हैं । महासती चन्दनवाला, दोहा छन्द में, आपकी एक नयी रचना है । जैन इतिहास में महासती चन्दनवाला का महत्वपूर्ण स्थान है । इन पर संस्कृत, प्राकृत तथा लोक भाषाओं में अनेक कृतियों का निर्माण हुआ है । मुनि श्री की रचना भी उसी शृङ्खला की एक कड़ी है । पुस्तक सुन्दर है, संग्रहणीय है । चरित्र प्रेमी सज्जनों को लाभ उठाना चाहिए । ★

साहित्य परिचय : शैक्षिक उद्देश्य विशेषांक

सम्पादक—डा० रामसकल पांडेय तथा विनोदकुमार अग्रवाल ।

प्रकाशक—विनोद पुस्तक मंदिर, डॉ० रांगेयराघव मार्ग, आगरा ।

वार्षिक शुल्क ६ रु० । प्रस्तुत विशेषांक का मूल्य ५ रु० ।

'विनोद पुस्तक मन्दिर' आगरा का एक ख्यातिप्राप्त प्रकाशन एवं पुस्तक वितरक संस्थान है । प्रस्तुत विशेषांक उक्त संस्थान की ओर से षष्ट वार्षिक उपहार के रूप में १९७२ का एक ज्ञानवर्धक एवं सुरुचिपूर्ण प्रकाशन है ।

शिक्षा मानव जीवन का परिष्कार है । पशु और मानव में भेद की सीमा को स्पष्ट करने वाली रेखा एक मात्र शिक्षा ही है । किन्तु शिक्षा का उद्देश्य क्या हो, यह आज का ही नहीं, चिर अतीत और सुदूर भविष्य का एक अतीव अर्थवान् प्रश्न है, जो आज के विश्व का तो एक आलोच्य प्रश्न बन गया है । प्रस्तुत विशेषांक में इसी प्रश्न को व्यापक चिन्तन के साथ छुआ है । लेखक महानुभाव अधिकतर जाने माने प्रौढ़ शिक्षा शास्त्री हैं, अतः प्रतिपाद्य विषय के अधिकारी विद्वान् हैं । वैदिक काल से लेकर आज तक के बिभिन्न युगों में शिक्षा का क्या उद्देश्य रहा है, इस पर व्यापक प्रकाश डाला गया है । विशिष्ट विद्वानों एवं साधारण जिज्ञासुओं—दोनों के लिए ही प्रस्तुत विशेषांक एक गंभीर एवं विस्तृत चिन्तन-सामग्री उपस्थित करता है । विनोद पुस्तक मदिर के संचालकों ने अपने पहले के विशेषांकों के समान ही प्रस्तुत विशेषांक में भी अपने स्तरीय गौरव को सुरक्षित ही नहीं रखा है, अपितु उसमें विशिष्ट श्रीवृद्धि भी की है ।

—रामधन शर्मा एम० ए० साहित्य रत्न ।

ज्ञान-योग सत्र-शिविर

एक अनूठा और भव्य आयोजन

कलकत्ता महानगरी में पूज्य महासतीजी श्री सुमति कुंवरजी एवं विदुषी साध्वी श्री चन्दनाजी के सानिध्य में ज्ञान-योग सत्र शिविर का ११ दिवसीय अविस्मरणीय आयोजन, मई के अन्तिम सप्ताह में, सुकियसलेन स्थित जैन-भवन कलकत्ता में हुआ। आज के भौतिक युग में साध्वी श्री चन्दनाजी की प्रेरणा पर लगभग २५० बालक-बालिकाओं ने आध्यात्मिक कार्यक्रमों को बड़े ही शानदार ढंग से प्रस्तुत कर सारे समाज को विस्मय विमुग्ध कर दिया है। १२ वर्ष की उम्र तक के बच्चे और २० वर्ष की उम्र तक की लड़कियों ने बड़ी ही योग्यता एवं मधुरता के माहौल में धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक कार्य-क्रमों को व्यवहारिक ढंग में प्रस्तुत करके शिविर की शोभा को चार चांद लगा दिये, फलतः सारे समाज का ध्यान अपनी तरफ केन्द्रित कर लिया। शिविर की सफलता का अन्दाज तो बुजुर्गों की इस राय से आसानी से लगाया जा सकता है कि—ऐसा ही एक शिविर बड़े-बूढ़ों के लिए भी लगाने के लिए महासतीजी को आग्रह किया जाय, जिससे वर्तमान अशान्त कोलाहल में वे भी शान्ति का अनुभव कर सकें।

प्रस्तुत शिविर में धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी तरह के कार्य-क्रमों की व्यवस्था करके जहाँ महासतीजी ने बड़ी ही दूरदर्शिता का परिचय दिया है, वहां आत्मीयता की प्रेमभरी भाषा में भावी जीवन को सुन्दर बनाने की शिक्षा देकर एक प्रवीण कलाकार का परिचय भी दिया है। बच्चे विवेकी बनें, सदाचारी एवं सुसंस्कारी बनें, यही इनका दृष्टि-कोण है। और इस शिविर के आयोजन का अभिप्राय भी यही है कि समाज के होनहार बच्चे अच्छे नागरिक बनकर यथावसर समाज व राष्ट्र की सेवा कर सकें।

शिविर की सफलता के लिए महासतीजी ने कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी। प्रार्थना, योग, ध्यान, आसन और भक्तामर पाठ आदि इतने सुन्दर और सही ढंग से कराये जाते थे कि देखते ही बनता था। इस तरह के शिवरों से समाज को बहुत लाभ मिलता है। यही कारण है कि समापन-समारोह में बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने उपस्थित होकर जो उद्गार प्रकट किये, वे महासतीजी के प्रति हार्दिक भूरि-भूरि प्रसंसा से भरपूर थे। आयोजन बड़े ही सुन्दर एवं व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न हुआ, इसके लिए शिविर-व्यवस्थापक श्री स्थानकवासी गुजराती जैनसंघ बधाई का पात्र है।

बालक बालिकाओं को प्रोत्साहित करने के लिए सुमतिमहिलामंडल, ललित मंडल, श्राविका मंडल, श्रीअमरचंद जैन, मालाणी परिवार, मगनबापा, रसिकभाई सेठ, भोगीभाई खारा, नगीनभाई शाह, केसुभाई खंडेरिया आदि की तरफ से करीब ५००० रु० तक का इनाम घोषित करने में आया। एतदर्थ धन्यवाद।

—लच्छीराम पूगलिया
(कलकत्ता)

एक विचारोत्तेजक अभिमत

'श्री अमर भारती' का मई अंक प्राप्त हुआ। उपाध्याय कवि श्री जी का बृहत्साधु-सम्मेलन-अजमेर के अवसर पर सन् १६३३ में दिया गया महत्वपूर्ण वक्तव्य उद्धृत करके समाज का बड़ा उपकार किया है। कविश्री जी चिन्तन की गहराई में पहुंच कर ही अपने विचार मुनिराजों व श्रावकों के सम्मुख रखते हैं। आज इस सम्मेलन को ३९ वर्ष हो गए हैं, कितना लम्बा समय गुजर गया है। बहुत से नौजवान तो वृद्ध हो गए। गंगा का अरबों टन पानी बहकर सागर में पहुंच गया। विश्व की राजनीतिक स्थितियाँ कहाँ-से-कहाँ पहुंच गई। मानव का कदम चन्द्रमा तक पहुंच गया। और हम हैं कि जहाँ-के-तहाँ खड़े हैं। जहाँ-के-तहाँ भी नहीं, कुछ पीछे ही लौटे हैं। क्या इसका यह अर्थ नहीं कि हम कुछ विचारदरिद्र हैं, अच्छी तरह सिद्धान्त और स्थिति का जायजा नहीं ले सकते ! खुले मन मस्तिष्क से सोचने समझने के हम आदी नहीं हैं। यदि कोई स्पष्ट विचार उपस्थित करता भी है, तो हम उसे सुनने तक को तैय्यार नहीं। हमारा धर्म इतना दुर्बल है कि वह विरोधी विचार सुनने मात्र से घबराता है, कतराता है। जो विचार अपने ध्यान में नहीं बैठता हो, तो उसका प्रतिवाद भी हो सकता है। प्रतिवाद करना बुरा नहीं, परन्तु हमारे यहाँ तो प्रतिवाद का अर्थ विचार के बदले गालियाँ देना है। अतः विचार शून्य आचार एक तमाशा बन गया है। जैन परम्परा का इससे बढ़कर क्या उपहास होगा? अब जनता सब समझने लगी है। कम-से-कम समाज का प्रबुद्ध चिन्तन शील वर्ग तो समझने ही लगा है। इस सम्बन्ध में अनेक पत्र मेरे पास आते रहते हैं। एक पत्र तो अभी-अभी प्राप्त हुआ है, जिसे कुछ भी हेर फेर किए बिना, उसी भाषा में ज्यों-का-त्यों पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

बंबई

ता० १०-५-७२

आपकी भेजी हुई 'श्री अमर भारती' पत्रिका मिली व 'एक आचार : एक विचार' आपका लिखा हुआ लेख पढ़ा। समय के अनुसार विचार सुन्दर हैं। लेकिन

इस ओर साधु समाज में सन् १९३३ से कार्यवाही होने पर भी कोई नतीजा नहीं निकला। मैं तो आपसे एक कदम आगे सोचता हूं। साधु समाज का होना ही जैन धर्म के लिए निरर्थक है। उसकी जगह उपदेशक संघ ही रह जाना चाहिए। श्रावक धर्म साधु धर्म से कठिन माना गया है व श्रमण भगवान् महावीर ने श्रावकों को साधुओं से नीचे नहीं कहा है। इसलिए हम श्रावकों में बल होवे तो साधु समाज का ही त्याग कर देवें। जिस दिन श्रावक ऐसा कर सकेंगे साधु समाज अपने आप एक होकर अपने नियम बना लेवेंगे। आज रास्ते चलता आदमी साधु हो जाता है। सिर मुंडाया और ज्ञानी हो गया। आप सुधार कर सकते हैं तो इस दिशा में करें। मेरे से जो सहयोग बन सकेगा, जरूर दूंगा।"

आपका
पारसमल सर्राफ
एम.ए., एल-एल.बी.

आज का आर्य व ईसाई समाज कितना विस्तृत फैला हुआ है। यह सब किसके बल पर हुआ, केवल संगठन व उपदेशक संघ के बल पर ही। अत: वीरायतन में उपदेशकों को Trained करने की योजना भी सम्मिलित होनी चाहिए। एक दिन वह था जब हमारे पूर्वजों ने लाखों लोगों को जैन धर्म की दीक्षा देकर, जैन धर्म की आदर्श गौरववृद्धि की थी। और आज वह दिन है, जो हमसे कपूत पैदा हुए, जिनसे और तो क्या, अपने पूर्वजों की संचित सम्पत्ति भी नहीं रखी जाती। उसे अपनी आंखों के सामने बेदर्दी से लुटती हुई देख रहे हैं, किन्तु हम हैं कि टस से मस तक नहीं होते हैं।

क्या संयमी मुनिराज व रूढ़िचुस्त जैन इन महत्वपूर्ण विचारों पर लक्ष्य देगें? देंगे तो कब?

—डा० उम्मेदमल मुनोत
चौक, लखनऊ

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा-२

मंगल मन हो, मंगल वाणी,
मंगल हों सब कर्म अनूप ।
मनकी तमसा मिट जाए तो,
नर हो है नारायण-रूप ॥

★

—उपाध्याय अमरमुनि

अगस्त, १९७२

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०,

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन · एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष · इकतीस रुपये
तीन वर्ष · इक्कीस रुपये
वार्षिक · आठ रुपये
एक प्रति · पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ६ | अगस्त '७२ | अंक ८

★ उपाध्याय अमरमुनि

अन्तर्नाद

आत्ममात्ररुचिः सम्यग्-दर्शनं मोक्षहेतुकम् ।
तद्विरुद्धमतिर्मिथ्या-दर्शनं भवहेतुकम् ।।

—एक मात्र आत्मभाव में रुचि ही सम्यग्दर्शन है और वही मोक्ष का हेतु है। इसके विपरीत भाव में, अर्थात् अनात्मभाव में रुचि ही मिथ्यादर्शन है, और वह संसार का हेतु है।

सम्यग्दर्शन का मूल केन्द्र आत्मा है, निजस्वरूप है। अतः एकमात्र आत्मा में, आत्मभाव में, निज स्वरूप में अभिरुचि—प्रतीति—अनुभूति ही सच्चा सम्यग् दर्शन है। आत्मानुभूति—निजानुभूति के अतिरिक्त और किसी विकल्पात्मक बाह्य अनुभूति को सम्यग्दर्शन मानना भ्रान्ति है। सम्यग्दर्शन निर्विकल्प होता है। और निर्विकल्प आत्मानुभूति ही होती है। बाहर में देव, गुरु एवं धर्मादि की मान्यता विकल्पात्मक होती है, अतः उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भले ही कह सकते हैं, निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं। मान्यतारूप व्यवहार सम्यग्दर्शन पुण्यबन्ध का हेतु हो सकता है, कर्मक्षयरूप निर्जरा का हेतु नहीं। और जहाँ आश्रव है, भले ही वह पुण्याश्रव ही क्यों न हो, मोक्ष नहीं है। मोक्ष तो विशुद्ध संवर—अनाश्रव भाव और कर्मनिर्जरा में ही हो सकता है।

जिसकी रुचि आत्मा से भिन्न भाव में है, अर्थात् जिसे आत्मप्रतीति नहीं है, स्वरूप-बोध नहीं है, परस्वरूप को ही स्व-स्वरूप माने हुए है, देहादि में ही निजता का बोध रखता है, वह आत्मा मिथ्या दृष्टि है। उसका दर्शन मिथ्या-दर्शन है और यह मिथ्या अर्थात् गलत दर्शन ही संसार का, भवबन्धन का हेतु

है। जिस प्रकार पर घर में भटकने वाली नारी कुलटा एवं व्यभिचारिणी कहलाती है, उसी प्रकार निजात्मा के बोध से भिन्न देहादि पर पदार्थों में भटकने वाली अनुभूति भी एक प्रकार से कुलटा अनुभूति ही है। और यह अनुभूति का कुलटापन ही मिथ्यादर्शन है।

एकमेव परं ज्योतिः शुद्धचिन्मयमस्म्यहम् ।
इत्येवं निश्चिता दृष्टिर्यस्य सोऽस्ति सुदर्शनः ॥

—'मैं एकमात्र शुद्ध, चिन्मय परम ज्योति हूँ'—इस रूप में जिसकी अन्तर् दृष्टि निश्चित है, अर्थात् स्थिर है, वस्तुतः वही आत्मा 'सम्यग्दृष्टि' है।

'मैं कौन हूँ ?'—यह प्रश्न दर्शनशास्त्र का सबसे महान् प्रश्न है। 'मैं' की तलाश ही सबसे बड़ी तलाश है। इसी तलाश में से ही नरक, स्वर्ग और मोक्ष के प्रश्न हल होते हैं, लोक और परलोक की समस्याएँ समाधान पाती हैं।

'मैं कौन हूँ'—इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग समाधान देते हैं कि मैं देह हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं मन हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। और यह सब समाधान वस्तुतः पराश्रित हैं, स्वाश्रित नहीं। देहादि पर को और देहादि के आश्रित परधर्म को 'स्व' मानना सबसे बड़ी भ्रान्ति है। अतः कहा है कि एकमात्र शुद्ध—चिन्मय—चैतन्यस्वरूप—परम ज्योति की स्वरूपेण अनुभूति ही सच्चा सम्यग्दर्शन है। 'मैं' और कुछ नहीं है। देहादि एवं देहादि से सम्बन्धित सुख दुःखादि भी 'मैं' नहीं है। मैं तो एकमात्र शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही है।

'मैं शुद्ध चिन्मय आत्मा हूँ'—यह 'मैं' का व्यवहार भी केवल भाषात्मक व्यवहार है, मात्र भाषा का विकल्प है। सम्यग्दर्शन में मान्यता का विकल्प है ही नहीं। वह तो शुद्ध निर्विकल्प स्थिति है। अतः समझाने के लिए भाषा की दृष्टि से भले ही विकल्पात्मक भाषा का प्रयोग हो, किन्तु निश्चय में तो निर्विकल्प रूप शुद्ध चैतन्य की प्रतीति, अनुभूति ही सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन की स्थिति निर्वातकक्ष में प्रज्वलित दीपक की अकम्प ज्योति के समान स्थिर है। उसमें मान्यता रूप विकल्प का कुछ भी कम्पन नहीं है।



वीरायतन
जन कल्याण की भव्य-योजना

—विजय मुनि, शास्त्री

प्राचीनकाल का मगध एवं विदेह देश और वर्तमानकाल का विहार प्रान्त बड़ा ही विभूतिशाली है कि उसकी भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चेतना के मंगलस्वर मुखरित होते आए हैं। अनेक जैनतीर्थंकरों की यह जन्म-भूमि, तपोभूमि, वोध-भूमि तथा निर्वाण-भूमि है। उपनिषद्काल के महान् तत्वद्रष्टा महर्षि याज्ञवल्क्य का तत्त्वज्ञान यहाँ ही प्रकाशमान् हुआ था। आगे चलकर आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व एक ही काल में और एक ही साथ दो विश्व विभूति—श्रमण भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। इन दोनों विश्व विभूतियों ने विश्व को जो कुछ दिया, वह आज भी उतना ही उपयोगी है, जितना उस युग में था। भगवान् महावीर का मानव-मात्र के लिए सन्देश था—जीओ और जीने दो। वस्तुतः आज के अशान्त विश्व को अहिंसा और प्रेम की अत्यन्त आवश्यकता है। भगवान् महावीर के अहिंसा सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए राष्ट्रपिता गांधी जी ने जो प्रयत्न किया था, वह कितना अधिक लोकोपयोगी सिद्ध हुआ, यह सर्व विदित है। अतः वह परब्रह्म स्वरूपा अहिंसा इस अणुयुगी मानव को कुछ सान्त्वना दे सके, इस प्रकार की एक पूर्ण रचनात्मक एवं व्यावहारिक योजना की चिरकाल से प्रतीक्षा की जा रही थी। आज समय आ चुका है कि विश्व प्रेम की उस योजना को क्रियान्वित किया जाय। इस योजना को सफल बनाने का दायित्व भारतीय सरकार, विशेषतः बिहार-सरकार तथा भारतीय जनता और विशेषतः बिहार की जनता पर आ गया है।

वीरायतन योजना :

महान् दार्शनिक एवं सर्वधर्मसमन्वय के मुक्त सन्देशवाहक, राष्ट्र सन्त, परम श्रद्धेय, उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज ने राष्ट्र के सम्मुख

वीरायतन योजना के रूप में एक जनकल्याणकारी महान् संकल्प प्रस्तुत किया है। इस योजना को राष्ट्र के अनेक नेताओं ने तथा समाज के सुप्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओं ने पूर्ण रूप से पसन्द किया है। सभी की यह भावना है कि इस योजना को शीघ्र ही क्रियान्वित किया जाय। इस सम्बन्ध में भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी जी से और भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के अधिकारियों से पत्र व्यवहार चालू है, तथा वीरायतन के कुछ कार्यकर्त्ता बिहार सरकार से भी संपर्क सूत्र साधे हुए हैं। वीरायतन योजना का प्रारंभ बिहार की सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक तीर्थभूमि 'राजगृही' में करने का दृढ़ संकल्प है। एतदर्थ राजगृही में जमीन उपलब्ध करने का भी प्रयास वेग के साथ चल रहा है।

वीरायतन का उद्देश्य :

आध्यात्मिक जगत् के महान् सूर्य भगवान् महावीर के दिव्य जीवन-दर्शन को, जो समन्वयवादी अनेकान्त दर्शन है और जिसमें एक प्रकार से विश्व का समग्र तत्वदर्शन समाहित है, प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाना, इस योजना का प्रथम उद्देश्य है। इसके लिए आध्यात्मिक एवं सामाजिक परिवेश में स्वस्थ एवं रचनात्मक जीवन के विकास की व्यवस्था वीरायतन करेगा, प्रायोगिक जीवन शिक्षण का भी प्रबन्ध करेगा। शिक्षा के क्षेत्र में वीरायतन की योजना में प्राथमिक स्कूल से लेकर विश्व विद्यालय तक का संकल्प है। सार्वजनिक क्षेत्र में आरोग्य केन्द्र, कला केन्द्र और उद्योग केन्द्र आदि की योजना भी सम्मिलित है। साधना के क्षेत्र में स्वाध्याय मन्दिर, प्राच्य भारतीय विद्या का प्रकाशन, साधना केन्द्र, ध्यान के प्रयोग, लोक भोग्य साहित्य का प्रकाशन और नैतिक शिक्षण आदि योजनाओं पर प्राप्त शक्ति को केन्द्रित करके उन्हें यथा संभव शीघ्र ही सफल करने का प्रयास होगा।

वीरायतन योजना अपने आप में एक विराट योजना है। इस विराट योजना के अन्तर्गत् भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, भारतीय दर्शन, साहित्य और भारतीय परम्पराओं का गम्भीर अनुशीलन एवं परिशीलन करने-कराने की योजना मुख्य रहेगी। भारत धर्मप्रधान एवं अध्यात्मप्रधान देश रहा है, वस्तुतः यही भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता रही है। बिना किसी पक्ष-पात के सभी धर्मों के सत्य एवं तथ्यों का संकलन करके समन्वयात्मक पद्धति से उसे जन-चेतना के समक्ष प्रस्तुत करना, वीरायतन का प्रधान ध्येय रहेगा। भारत के वैदिक एवं अवैदिक आदि समग्र दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन

करना, और उसमें से जनोपयोगी एवं लोकभोग्य सर्वमान्य तथ्यों को विश्व-चेतना के समक्ष वर्तमान सन्दर्भ के साथ प्रस्तुत करना, भारत की विभिन्न संस्कृतियों में मूल समन्वय-सूत्र की खोज करना, भारत की विभिन्न परम्पराओं में अनेकान्तवाद के आधार पर सामंजस्य स्थापित करना, 'वीरायतन' का प्रारम्भ से अन्त तक लक्ष्य रहेगा। वीरायतन योजना में अन्य भी अनेक अवान्तर लघु योजनाएँ हैं, जिन्हें बड़ी योजनाओं के साथ ही धीरे-धीरे क्रियान्वित करने का लक्ष्य रहेगा।

साधना केन्द्र :

भारतीय धर्म और दर्शनों ने ज्ञान की उपासना के साथ-साथ साधना पर भी प्रभावकारी बल दिया है। साधना का अर्थ ही यह है कि जो कुछ समझा है, अथवा जो कुछ जाना है, उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करना। निश्चय ही भारत में बहुत प्राचीनकाल से ही अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित रही हैं। प्रत्येक धर्म और प्रत्येक दर्शन की अपनी-अपनी अनेक साधनाएँ हैं। परन्तु प्राचीन काल से लेकर आज तक आत्म-ज्ञान के लिए जो साधना सर्वजनप्रिय और प्रसिद्ध रही है, वह है—योग, ध्यान, और समाधि की साधना। वीरायतन योजना अपने प्राङ्गण में इस योग—साधना का भी एक मुख्य केन्द्र स्थापित करेगी, जिसमें योग के विभिन्न अंगों की साधना के साथ-साथ, ध्यानसाधना पर विशेष बल दिया जायगा। ध्यान साधना के क्षेत्र में भी दो प्रकार की पद्धतियाँ उक्त योजना के अन्तर्गत रहेंगी—प्राचीन पद्धति की ध्यान साधना और आधुनिक युग की ध्यान साधना। योग और ध्यान के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि का योग-सूत्र और उसकी व्याख्याएँ जैन-परंपरा के आचार्य हरिभद्र कृत योग शतक, योग दृष्टि समुच्चय, और योग विन्दु आदि योगग्रन्थ, तथा बौद्ध परंपरा के आचार्य बुद्ध घोष कृत विशुद्धि मार्ग आदि—जैसे योग-ग्रन्थों के आधार पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शिक्षण दिया जाएगा। इन तीनों परम्पराओं में ध्यान की साधना के कितने प्रकार रहे हैं और उनका क्या स्वरूप रहा है, यह बतलाते हुए आसन और प्राणायाम आदि योगाङ्गों पर विशेष शिक्षण देने की व्यवस्था रहेगी। भारत के पड़ौसी जापान, और वर्मा आदि देशों में ध्यान साधना का क्या स्वरूप रहा है, इस पर भी तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन एवं परिशालन करने की व्यवस्था रहेगी। यदि आवश्यक समझा गया तो उन-उन देशों के इस विषय के विशिष्ट विद्वानों को

समय-समय पर निमन्त्रण देकर उनके भाषण तथा गोष्ठी आदि का प्रबन्ध भी किया जायगा।

पुरातत्त्व संग्रहालय :

वीरायतन योजना अपने प्रांगण में एक विशाल और व्यापक रूप में पुरातत्त्व संग्रहालय की स्थापना का भी लक्ष्य रखती है। इसमें प्राचीन शिलालेख तथा हस्तलिखित ग्रन्थ—आदि पुरातत्व-सामग्री का व्यापक रूप में संग्रह होगा, और यथावसर उसका अध्ययन एवं परिशीलन भी किया जायगा। विशेष रूप में इस योजना के अन्तर्गत राजगृही के विभिन्न केन्द्रों पर ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण-कार्य भी केन्द्र तथा विहार प्रान्तीय सरकार की सहमति एवं सहयोग से किया जायगा, जिससे राजगृह नगर की प्राचीनता का समुज्ज्वल स्वरूप आज की जनता के समक्ष रखा जा सके। पौराणिक काल से हजारों वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजगृह नगर भारत के प्राचीनतम नगरों में से एक रहा है। और उसमें वैदिक, जैन और बौद्ध सभी धर्मों ने आश्रय पाया है, और अपनी संस्कृति के प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखने का सफल प्रयास भी किया है। पुरातत्त्व संग्रहालय में शिलालेख आदि से सम्बन्धित सामग्री के अतिरिक्त प्राचीन भण्डारों में से हस्तलिखित ग्रन्थों का एक उच्च स्तरीय व्यापक संग्रह भी किया जायगा, जिसके आधार पर प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन एवं प्रकाशन आधुनिक अनुसन्धान पद्धति के अनुसार किया जा सके। इस संग्रहालय का महत्त्व इस दृष्टि से भी अधिक उचित रहेगा कि इसके समीप ही प्राचीन नालन्दा भी स्थित है, और वहाँ पर किसी न किसी रूप में आज भी पुरातत्त्व के अन्वेषण का कार्य चालू है। फिर राजगृही में ही ऐसा क्यों न हो?

सार्वजनिक चिकित्सालय :

वीरायतन योजना के अन्तर्गत एक सार्वजनिक चिकित्सालय भी रहेगा। यह चिकित्सालय आस-पास की साधारण जनता की सेवा के लिए सदा प्रस्तुत रहेगा। इस चिकित्सालय के अन्तर्गत एक चल चिकित्सालय भी रहेगा, जो यथावसर आस-पास के ग्रामों में घूम फिर कर जनता की सेवा करता रहेगा। ग्राम्य प्रधान उस प्रदेश में इस प्रकार के चिकित्सालय की आज अत्यन्त आवश्यकता है। इस चिकित्सालय में इस बात का ध्यान रखा जायगा कि गरीब जनता को बिना मूल्य के दवा मिल सके और यदि किसी से दवा का मूल्य लिया भी जाय, तो वह कम

से कम हो। इस चिकित्सालय का उद्देश्य एक मात्र जन-सेवा ही रहेगा। इसकी चिकित्सा षद्धति में यथा प्रसंग तीनों ही पद्धतियाँ रहेंगीं—एलोपैथिक, होमियोपैथिक और आयुर्वेदिक पद्धति। इस चिकित्सालय में जाति-पांति आदि के रूप में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रहेगा।

शोधसंस्थान एवं समन्वय केन्द्र :

शोध संस्थान में भारत के समग्र दर्शनों का और समग्र धर्मों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जायगा। भारत के मुख्य धर्म तीन हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। इन तीन धाराओं में से अनेक उपधाराएँ समय-समय पर प्रस्फुटित हुई हैं। वैदिक धर्म एवं दर्शन ६ विभागों में विभक्त हैं—जैसे—मीमांसा दर्शन, वेदान्त दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, वैशेषिक दर्शन और न्याय दर्शन। कालान्तर में वेदान्त दर्शन में से अनेक शाखा-प्रशाखाए प्रस्फुटित होती रही हैं। जैसे—शैव दर्शन, वैष्णव दर्शन, भागवत धर्म आदि। इन सभी धाराओं एवं उपधाराओं का मूल स्रोत खोज निकालना और उनके बाह्य वैषम्य को दूर करके आन्तरिक साम्य को प्रगट करना।

जैन दर्शन एवं जैन धर्म में भी अनेक शाखाएँ एवं उपशाखाएँ पल्लवित होती रही हैं—श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, और तेरापंथी आदि। इनमें विभिन्नता कहाँ है, कितनी है, और एकता कहाँ है, कितनी है, इसका अनुसन्धान करना।

बौद्ध दर्शन एवं धर्म में भी अनेक शाखा एवं उपशाखाएँ निकलती रही हैं—जैसेकि हीनयान और महायान आदि। हीनयान की अपेक्षा महायान ने क्या प्रगति और क्या विकास किया, दोनों के मूल तत्त्व में कितना अन्तर हो गया, इसका अनुसंधान करना।

इतना ही नही, वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनों में भी कितना समन्वय रहा है, और कितना विरोध रहा है? उनके समन्वय और विरोध के कारणों की मौलिक खोज करना। अन्त में विरोधों का परिहार करके समन्वय को विकसित करना, वीरायतन योजना का मुख्य ध्येय रहेगा। वैदिक परंपरा के वेद-उपनिषद, जैन परंपरा के आगम सूत्र और बौद्ध परंपरा के पिटक—भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन के मुख्य स्रोत रहे हैं। कालान्तर में इन्हीं के आधार पर वैदिक परंपरा के षड् दर्शन आदि, जैन-परंपरा के तत्त्वार्थ सूत्र आदि, और बौद्ध परम्परा के तत्त्व संग्रह आदि जैसे आधारभूत मूल ग्रन्थ तथा उन पर रचे गये भाष्य, टीकाएँ, और वृत्तियों का

तलस्पर्शी अध्ययन करना, यह इस शोध संस्थान का ध्येय रहेगा। पक्षपात-मुक्त होकर मूल तत्त्व का समादर करते हुए उचित समन्वय करना ही हमारी चिन्तनधारा का मूल आदर्श है।

यद्यपि इस्लाम और क्रिश्चियन धर्म भारत के मूल धर्म नहीं हैं, वे बाहर से भारत की भूमि पर आए हैं किन्तु आज उनके अनुयायी बड़ी संख्या में भारत के नागरिक होकर रह रहे हैं। अतः यह आवश्यक हो गया है कि भारत के मूल धर्मों के सन्दर्भ में इन नवागत धर्मों के मूल तत्त्वों का भी समन्वय दृष्टि से अनुशीलन एवं परिशीलन हो। साथ ही मध्य युग में जो संत परम्परा ने साहित्य सृजन किया है उस सन्त-साहित्य का भी, फिर भले ही वह किसी भी प्रान्त एवं परम्पराविशेष का क्यों न हो, अध्ययन करके उसमें भी योग्य समन्वय स्थापित करना, इस शोध संस्थान का ध्येय रहेगा।

कला केन्द्र और उद्योग केन्द्र :

वीरायतन योजना के अन्तर्गत कला केन्द्र और उद्योग केन्द्र विभाग भी रहेंगे। जिनमें कला और उद्योग की शिक्षा आधुनिक पद्धति के आधार पर दी जायगी। राष्ट्रपिता गांधी जी की लघु गृहउद्योगों की जो कल्पना रही है, उसे व्यावहारिक और साकार रूप देने का पूरा प्रयास किया जायगा। इसमें मशीनों की अपेक्षा हस्त-उद्योग को अधिक महत्त्व देने का विचार है, जिससे आज के बेकारी के युग में सर्वसाधारण स्त्री-पुरुष शिक्षार्थी अल्प पूंजी से भी अधिक लाभ उठा सकें।

शिक्षण संस्था :

वीरायतन योजना के अन्तर्गत तीन प्रकार की शिक्षण संस्थाएं प्रचलित की जायेंगी :— (१) प्रारंभिक पाठशालाएँ, (२) लड़के और लड़कियों के लिए पृथक्-पृथक् हाई स्कूल तथा कालेज। इन में धर्म, दर्शन, इतिहास, विज्ञान, गणित, भूगोल, और भाषा शास्त्रीय आदि अध्ययन पर विशेष बल दिया जायगा। भारत की प्राचीन भाषाएं मुख्य रूप में तीन हैं— (१) वैदिक परम्परा की संस्कृत, (२) जैन परंपरा की प्राकृत और (३) बौद्ध परंपरा की पाली। इन तीनों भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आज के युग में अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ ही भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं का आवश्यक अध्ययन भी सुलभ रहेगा। बंगला,

गुजराती, मराठी, कन्नड़ और तामिल आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से भारतीय संस्कृति के बिखरे हुए सूत्र एकत्रित किए जा सकेंगे।

अन्य योजनाएँ :

वीरायतन योजना के अन्तर्गत कुछ छोटी बड़ी अन्य योजनाएँ भी हैं, जिन्हें यथा समय क्रियान्वित करने का संकल्प हैं, जैसे—सार्वजनिक पुस्तकालय, छात्रावास, साहित्य प्रकाशन, लोक भोग्य साहित्य का स्वल्प मूल्य में प्रकाशन, गोशाला, निवृत्तिआश्रम आदि-आदि ! संक्षेप में वीरायतन योजना का यही परिचय है।

मैंने जो कुछ संकेत दिए हैं, वे वीरायतन के माध्यम से देखे जाने वाले आज स्वप्न हैं। कार्यकर्त्ताओं से विचारचर्चा में जो जाना है, उसे मैंने केवल शब्दरूप दिया है। ये स्वप्न कितना मूर्त रूप लेंगे, यह प्राप्त साधनों पर आधारित है। और यह सब भविष्य बताएगा। हां, इतना इस से अवश्य जाना जा सकता है कि वीरायतन योजना के प्रस्तोता एवं प्रबन्धकों का चिन्तन कितना बहुमुखी, कितना व्यापक और कितना लोकभोग्य है। इस कार्य को सफल करने हेतु सरकार और सामान्य जनता के सहयोग की आवश्यकता तो रहेगी ही, साथ ही बुद्धिजीवी पूँजीपति और श्रम प्रदान करने वाले वर्ग के उचित सहयोग की भी अत्यन्त अपेक्षा है, जो किसी भी संस्थान के प्राणतत्त्व होते हैं।

●

सागर के तट पर बैठे रहने से मोती नहीं मिलते। मोतियों के लिए तो सागर की गहराई में डुबकी लगानी पड़ती है। सत्य को पाने के लिए भी चिन्तन के सागर में गहरे पैठना पड़ता है।

जिन खोजा तिन पाइया
गहरे पानी पैठ !

—अमर मुनि

●

★ उपाध्याय अमरमुनि

धर्म-मेघ की वर्षा

एक प्राचीन कहानी है कि किसी राजा ने परीक्षा की दृष्टि से एक विद्वान् से पूछा कि—"बारह में से यदि चार निकालें, तो शेष क्या बचा ?"

गणित की दृष्टि से तो प्रश्न सीधा-सा है। शायद आपका दिमाग भी उत्तर की खोज में हरकत करे और आप तपाक से कहदें कि "इस में पूछने जैसी क्या खास बात है ? बारह में से चार निकालें तो शेष बचे आठ !"

पर, अब सुन लीजिए, विद्वान् ने क्या उत्तर दिया—"शून्य !"

आप कहेंगे—"कैसा है यह गणित ? यदि यह गणित संसार में चालू हो जाए तो सब कुछ गोल-माल न हो जायेगा !"

बात यह है कि प्रश्न भी लाक्षणिक है, और उसका उत्तर भी लाक्षणिक ! वर्ष के बारह महीने होते हैं, उनमें से यदि चातुर्मास के, वर्षा के चार महीने बाद कर दिये जायँ, तो वर्ष में क्या बचेगा ? वही बचेगा, जो पिछले वर्षों में बिहार में हुआ, जहाँ की क्षुधासंतप्त करुण पुकार ने सारे देश को दहला दिया था। दुष्काल, भुखमरी, दरिद्रता और हाहाकार की इन करुण कथाओं से बचाने वाले वर्षा के ये चार मास ही हैं। सृष्टि में नव जीवन का संचार करने वाली, नई फसल से पृथ्वी के प्राणियों के क्षुधातुर उदर को परितृप्त करने वाली यह वर्षा ऋतु ही तो है। इसलिए यह उत्तर दिया गया कि वर्ष के बारह मास में से यदि वर्षा के चार महीने निकाल दिये गये, वर्षा ऋतु को बाद कर दिया गया, तो शेष पूरा वर्ष शून्य है। कुछ भी नहीं।

वर्षा ऋतु प्रकृति का निर्माण काल है। आकाश में जब जल से भरी काली-काली घटाएँ घिरती हैं, कभी धुंआधार तो कभी रिमझिम वर्षा से प्रकृति का ग्रीष्म से संतप्त अंचल आर्द्र हो उठता है, भूमि के गर्भ में पड़े वीज अंकुरित होने लगते हैं, तब ऐसा लगता है कि समूची सृष्टि निर्माण के महान् कार्य में जुट गई है। चारों ओर सरसता का वातावरण छा गया है। खेत क्या, उपवन क्या, जंगल क्या, सभी भीनी-भीनी सोंधी गंध से महकने लगते हैं।

अभी हम शौच से निवृत्त होकर जंगल से लौट रहे थे, तो पास के मैदान (जैपुर-हाउस) की ओर एक नजर चली गई। साथ में एक भाई थे, उन्होंने कहा—"देखिए महाराज ! इस मैदान में धूल उड़ती थी, वहाँ अव मखमल-सी हरी-हरी घास विछी हुई है।"

मैंने कहा—"मखमल-सी घास आकाश से तो नहीं टपक पड़ी ? इसके बीज तो भूमि के अन्तर में छिपे हुए थे ही। जल का स्पर्श पाकर वे अंकुरित हो उठे और पृथ्वी को अपनी हरीतिमा से ढक दिया।"

भाई ने कहा—"हाँ, बीज तो थे ही। तभी तो अंकुर फूटे, घास फैली।"

वाह्य जगत् की इस चर्चा पर से मैं जरा अन्तर्जगत् में गहरा उतर गया। मैंने कहा—"भाई ! वीज तो सर्वत्र पड़े हैं, कोई भूमि बीज से खाली नहीं है। साधक के अन्तर्जगत में भी बीज पड़े हैं, और पापी से पापी के अन्तर् में भी। जिसे हम रावण कहते हैं, उसके अन्तर् तम में भी राम होने के बीज छिपे हैं। भगवान् महावीर ने कहा था—कोई भी मानस-भूमि वीज से शून्य नहीं है। —**'निर्बीजं न मनोजगद'**—मन का जगत् कभी निर्वीज नहीं रहता। जो सत्ता है वह कभी असत्ता नहीं हो सकती। भगवती सूत्र में इसी सिद्धान्त से सम्बन्धित भगवान् महावीर का वचन है—**'अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमई'**—अस्तित्त्व, हमेशा अस्तित्त्व में ही परिणत होता है। वह कभी नास्तित्त्व में नहीं बदलता। दर्शन का यह ध्रुव सिद्धान्त है कि जो 'है' है, वह सदा 'है' ही रहता है। वह कभी भी 'नहीं' में नहीं बदल सकता। इसका मतलब यह हुआ कि आत्मा में

जो शुभ एवं शुद्ध के बीज छिपे हैं, वे कभी अभाव में शून्य नहीं हो सकते। आत्मा कभी भी बीज से खाली नहीं रह सकता।

आप पूछेंगे कि फिर क्या बात है कि किसी आत्मा में बीज प्रस्फुटित होकर महावृक्ष बन जाते हैं, और किसी में अंकुर भी नहीं फूटते ?

बात यह है कि बीज शक्ति रूप में तो हर आत्मा में छिपे हैं। **'अप्पा सो परमप्पा'** की जो बात जैन दर्शन ने कही है, उसका यही तो अभिप्राय है कि हर आत्मा में परमात्मा का स्वरूप छिपा पड़ा है। वह बीज शक्ति रूप में तो सर्वत्र है ही, उसे व्यक्ति रूप में विकसित होने की अपेक्षा है। और वह कहीं व्यक्ति रूप में विकसित भी हुआ है। बस, बीज का व्यक्ति रूप परमात्मा है, और शक्ति रूप आत्मा।

मैं प्रकृति की स्थूल बात से दर्शन की सूक्ष्म बात पर आ गया हूं। आप जरा गंभीरता से सुनेंगे तो बात ठीक तरह आपकी समझ में आ जायेगी। भारतीय दर्शन इस बात में विश्वास करता है कि—आत्मा अनन्त शक्ति का अक्षय भण्डार है। नन्हे से बीज में विशाल वट छिपा है। बाहर में वह भले ही दीन-हीन दिखाई पड़ता हो, अंधकार में सिमटा हुआ-सा प्रतीत होता हो, किन्तु भीतर में अखण्ड ज्योति पुंज है वह, अनन्त परम ऐश्वर्य से संपन्न है वह। बाहर में कोई भले ही रावण है, पर उसके भीतर में भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम का दिव्य रूप छिपा है। गोशालक के भीतर भी भगवान् महावीर ने अपने दिव्य महावीरत्व की छवि देखी है।

भगवान् महावीर से जब गोशालक के लिए पूछा गया कि वह दुष्टात्मा मर कर कहां जायेगा, तो उन्होंने बताया कि वह आयुष्य पूर्ण करके बारहवें देवलोक में जायेगा, और वहाँ से आगे अपने दुष्कृत्यों का फल भोगता हुआ वह भी आखिर में मेरे ही समान सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनेगा, समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

आपने देखा, यह है दर्शन की दिव्य दृष्टि ! वह बीज में वट का दर्शन करता है, आत्मा की अनन्त सत्ता का दर्शन करता है। उसका स्वर है—

बीज, बीज ही नहीं, बीज में तरुवर भी है।
मनुज, मनुज ही नहीं, मनुज में ईश्वर भी है।।

परमात्मा के दो रूप

इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने एक बहुत ही महत्त्व-पूर्ण बात कही है। उन्होंने बताया कि परमात्मा के दो रूप हैं--एक कारण परमात्मा और एक कार्य परमात्मा।

बीज कारण वृक्ष है, वह अभी शक्ति रूप है। जब वह पल्लवित होकर एक दिन वृक्ष के रूप में विशाल रूप धारण करेगा, तो वही कार्य वृक्ष बन जायेगा। बीज सूक्ष्म है, सूक्ष्म में विराट का दर्शन करना—यही तो दर्शन की कला है। ज्ञानी वह है जो बीज में भी वृक्ष का दर्शन करता है। वृक्ष को तो सभी वृक्ष रूप में देखते हैं, किंतु बीज में भी वृक्ष को देखना—यह वस्तुतः देखना है। आँखें वे नहीं, जो सिर्फ बाहर को ही देखें। अनंत गहराई को भेदकर देखने वाली आँखें ही वस्तुतः आँखें हैं। व्यक्त से परे अव्यक्त को देखना—दर्शन की बात है। बीज में वृक्ष को देखना—सिद्धान्त की चीज है। और मैं इसी बात की चर्चा आपसे कर रहा हूं।

हाँ तो, कारण परमात्मा जीव है, जिसकी शक्तियाँ सोई हुई हैं, बीज रूप में छिपी पड़ी हैं। जब वे जागृत होती हैं, आत्मा अंगड़ाई लेकर उठता है और अपने स्वरूप में पहुंच जाता है, तब वह कार्य परमात्मा बन जाता है, अपनी शक्तियों को पूर्ण रूप से व्यक्त कर चुका होता है।

कार्य परमात्मा की चर्चा तो बहुत बार हम कर चुके हैं, आज कारण परमात्मा की चर्चा मैं आपसे कर रहा हूं। कारण परमात्मा की चर्चा ही, बीज की चर्चा है। आज चातुर्मास प्रारम्भ की चतुर्दशी है, इसलिए हमने आपसे वर्षा और बीज की चर्चा भी सहज रूप से छेड़ दी है।

बीज तो सर्वत्र है, और वर्षा भी सर्वत्र होती है। घोड़े गधे के लिए भी वर्षा होती है, पर उन्हें तो सिर्फ अपनी घास से मतलब है। किसान को ही अपने खेत की फसल से मतलब है। हम अपने अन्त-र्जगत के खेत की बात कर रहे थे। हमें वहाँ की फसल तैयार करनी

है। देवत्त्व के अर्थात् परमात्मतत्त्व के बीज अंकुरित करने हैं, और सृष्टि के अद्‌भुत मानवीय सौंदर्य को अभिव्यक्त करना है।

सुप्त देवता को जगाइए

हमारे यहाँ भारत में एक बात बड़ी उलटी कहते हैं। जब वर्षा ऋतु शुरू होती है, तो कहते हैं, देवता सो गए। चार महीने के लिए वे गहरी नींद ले लेते हैं। बात वड़ी विचित्र है। यही तो अवसर है जब देवता को जगना चाहिए। वर्षभर देवता भले ही सोए रहें, पर अब चातुर्मास में तो उन्हें जगना चाहिए।

बात यह है कि वे देवता सोएँ तो भले ही सोजाएँ, पर, हमारे अन्दर के देवता नहीं सोने चाहिएँ। दया, प्रेम, तपस्या और करुणा के देवता को जगाने का यही अवसर है। भीतर में जो देवत्व के बीज बिखरे पड़े हैं, उन्हें स्वाध्याय, उपदेश एवं धर्माचरण की जल-धारा से पल्लवित-पुष्पित करना है, बीज को वृक्ष रूप में लहलहाना है। बस, चातुर्मास की यही मुख्य साधना है।

★

दीपक की लौ :

दीपक की लौ और उसका प्रकाश कभी एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते, इसी प्रकार आत्मा और आत्मा का ज्ञान कभी एक दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकते। दोनों में उभयमुखी व्याप्ति है। जैसे कि यत्र-यत्र आत्मा तत्र-तत्र ज्ञानम्, यत्र-यत्र ज्ञानं तत्र-तत्र आत्मा—जहाँ जहाँ आत्मा है, वहाँ वहाँ ज्ञान है और जहाँ जहाँ ज्ञान है वहाँ वहाँ आत्मा है।

—अमर मुनि

★

एक प्रवचन

★ उपाध्याय अमर मुनि

सृष्टि का मूल आधार : तप और त्याग

बहुत प्राचीन काल की बात है, कि एक दिन सृष्टि का सुरम्य एवं सुन्दर रूप देखकर, एक जिज्ञासु शिष्य के मन में कुतूहल हुआ, जिज्ञासा जगी, और गुरुचरणों में पहुँचकर उसने प्रश्न किया—"गुरुदेव ! इस सृष्टि का निर्माण किस आधार पर हुआ है ? कैसे इसका विकास हुआ ? और क्या कारण है कि यह विकास निरन्तर अवाध-गति से आगे बढ़ता जा रहा है ?"

गुरु ने गम्भीर वाणी में एक छोटा सा उत्तर दिया—"वत्स ! इस सृष्टि का निर्माण और विकास तप एवं त्याग के आधार पर हुआ है।"

वैदिक साहित्य का यह एक प्राचीन कथारूपक है। इसकी गहराई में उतरकर यदि हम तथ्य का विश्लेषण कर सकें, तो यह देखेंगे कि तप और त्याग सृष्टि का मूल आधार है। विश्व की स्थिति, गति और प्रगति का मूल तत्त्व तप और त्याग पर ही टिका है।

सृष्टि के दो रूप हैं—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। एक बाह्य रूप है, जो नाना प्रकार की सुन्दरता और असुन्दरताओं से भरा है। दूसरा रूप है आभ्यन्तर ! वह हमारी चैतन्य सृष्टि का जगत् है। दोनों ही द्रव्य दृष्टि से तत्त्वत: अनादि अनन्त हैं, पर पर्याय दृष्टि से दोनों ही जगत् का निर्माण और विकास निरन्तर होता रहा है, प्रगति के चरण समय की पदचाप के साथ-साथ आगे बढ़ते रहे

हैं। सूक्ष्मता से विचार करने पर दोनों ही प्रकार की सृष्टि का निर्माण एवं विकास तप एवं त्याग के आधार पर हुआ है और उसी पर टिका हुआ है।

तप, जीवन और जगत् का आधार है

जड़ और चेतन सृष्टि का यह भेदविज्ञान जब तक हमें प्राप्त नहीं होता, तव तक हम जीवन और जगत् के सम्वन्ध में सही विचार नहीं कर सकते। सम्यग्-दर्शन की भूमिका हमारी मुख्य धार्मिक भूमिका है, उसका मूल प्राण जड़-चैतन्य का भेद विज्ञान ही है। देव, गुरु, धर्म तो उस विज्ञान का व्यवहार है। निश्चय को छोड़कर केवल व्यवहार समाधान नहीं करता है, अपितु व्यर्थ के संघर्ष खड़े करदेता है। निश्चय दृष्टि से देव, गुरु और धर्म का गहराई से विचार नहीं किया गया है, इसीलिए वहाँ भी केवल व्यवहार पर बल देने के कारण देवता के नाम पर संघर्ष एवं द्वन्द्व खड़े हो गए, और परस्पर झगड़े होने लगे। किसी ने कहा हमारा देव वस्त्र नहीं पहनता, तो दूसरे ने उसे वस्त्र पहना दिया, संघर्ष छिड़ गया। एक ने कहा—भ० महावीर का विवाह हुआ, तो दूसरे ने कहा—विवाह नहीं हुआ, बस इसी वात पर झगड़ पड़े, संघर्ष और विग्रह की आग फैल गई। इसी प्रकार गुरु को लेकर भी संघर्ष और द्वन्द्व हुए। अपने मान्य गुरु की प्रतिष्ठा और प्रशंसा के लिए दूसरों के प्रति घृणा और विद्वेष का प्रचार शुरू होगया। एक ही वाप के बेटे अपनी-अपनी गद्दी और सिंहासन के लिए, बाह्य क्रियाओं के आधार पर, अलग-अलग मोर्चे खोलकर डट गए। यही वात धर्म के सम्वन्ध में हुई। एक शुद्ध एवं अनादि अनन्त सनातन धर्म को भिन्न-भिन्न टुकड़ों में विभक्त कर उसे विकृत रूप दे दिया। धर्म को मोहरा बनाकर हर कोई आचार्य और गुरु अपने अहंकार का खेल खेलने लग गया। मैं कहना चाहता हूं कि यह स्थिति क्यों पैदा हुई? सम्यक्दर्शन की जो मूल व्याख्या की गई थी, यदि हम उस पर टिके रहते, इधर उधर नहीं भटकते, तो हमारे जीवन का रूप कुछ और होता। उसका तेज और वर्चस्व कुछ दूसरा ही होता। पर, दुर्भाग्यवश हम इधर उधर भटक कर ऐसे अन्धकारपूर्ण रास्ते पर चल पड़े कि आज अपनों से ही टकरा रहे हैं, अपनों से ही संघर्ष और द्वन्द्व कर रहे हैं। और जो शक्ति खण्ड-खण्ड हो चुकी है, उसको और

भी क्षीण करते चले जा रहे हैं। सम्यक्दर्शन का प्रकाश जिसके हृदय में जग उठा, उसके हृदय में यह साम्प्रदायिक व्यामोह और विद्वेष का अन्धकार नहीं रह सकता। जड़ चेतन सृष्टि का भेद-विज्ञान उसकी बुद्धि को सन्तुलित रखेगा। अपने अन्तर में जिस चैतन्य तत्त्व की अनुभूति वह करता है, उसी चैतन्य के दर्शन प्राणीमात्र में वह करेगा। जव अपने समान ही दूसरे चैतन्य हैं, तव फिर घृणा, विद्वेष और संघर्ष किससे? अहंकार और दम्भ यहाँ आकर टूट जाते हैं। विश्वात्माओं के साथ एकानुभूति करने वाला सम्यक् द्रष्टा कभी किसी के साथ द्वेष और कलह नहीं कर सकता। इसके जीवन में संयम, तितिक्षा और सहिष्णुता का विकास होगा—तप, त्याग और अनासक्ति के आधार पर उसकी जीवन-चर्या का निर्माण होगा। तात्पर्य यह है कि चैतन्य सृष्टि का मूल आधार जो तप त्याग माना गया है, वह जैन दर्शन की भावना को मूलतः स्पर्श कर रहा है। जैनदर्शन ने सम्यक् दर्शन को जीवन में इसी आधार पर प्रमुखता दी है कि सम्यक् दृष्टि का जीवन एक निष्काम तपस्वी का जीवन है, त्यागी का जीवन है, और संसार की सर्वोच्च जीवनपद्धति का आदर्श जीवन है।

तप और तितिक्षा हमारे आध्यात्मिक जीवन में जितने महत्व-पूर्ण हैं उतने ही महत्व-पूर्ण भौतिक जीवन के लिए भी हैं। जीवन में इनका आधार नहीं रहा होता, तो यह सृष्टि विकसित नहीं हो पाती, आगे वढ़ नहीं पाती।

आज आप पचास-साठ वर्ष पूरे करके जीवन के किनारे पर आ रहे हैं, कुछ उसके मध्य में चल रहे हैं, पर क्या आप नहीं जानते कि इस जीवन के निर्माण में माता की कितनी महान् तपस्या काम करती रही है? पिता की कितनी तितिक्षा और सहिष्णुता ने इसे आगे वढ़ाया है। परिवार और समाज की तपस्या ने भी इसको कितना सहारा दिया है। याद करिए, जरा उन क्षणों को, जव आप करवट भी नहीं वदल सकते थे। आप उत्तान शायी थे—अर्थात् पालने में चित लेटे रहते थे। मक्खी-मच्छर तक को अपने हाथ से उड़ाना, तो क्या, खुजला भी नहीं सकते थे। एक मांसपिंड की भांति थे। सिर्फ माता की तपस्या के आश्रय में ही आप जी रहे थे! आज तो आपमें अहंकार जग रहा है, कि मैं ऐसा कर दूंगा, वैसा कर दूंगा,

यह हो जाएगा, वह हो जाएगा। मेरे हुक्म के विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। पर, एक दिन आप किस अवस्था में विकसित हो रहे थे, कुछ स्मृति है आज उसकी ? कल्पना कीजिए, माता की वह तितिक्षा और तपस्या आपके जीवन को नहीं मिली होती, तो क्या होता ? किन परिस्थितियों में माता ने आपका पालन-पोषण किया, उसकी कल्पना भी आज नहीं की जा सकती। आपकी बहन या भुवाएँ किस प्रकार आपको गोदी में चिपकाए इधर-उधर घुमाती थीं, लोरियां देकर सुलाती थीं। आपके पिता और बड़े भाई ने किस प्रकार बीमार होने पर आपकी परिचर्या की, पैसा पानी की तरह बहाया। माता ने, पिता ने, बहनों ने, भाइयों ने आपको एक-एक शब्द बोलना सिखाया, कितनी बार वोल-बोल कर आपका गलत उच्चारण बदला ? यह सब तपस्या यदि जीवन के प्रारंभ में आप को प्राप्त नहीं होती, तो आपके जीवन का विकास कितना और कैसा होता ? आज आपमें अपने वल, बुद्धि और पराक्रम का अहंकार जग रहा है, पर यदि माता पिता की तपस्या का आधार उस समय नहीं मिला होता, तो आज कितनी दीन-हीन अवस्था में होते आप ? आज होते भी या नहीं, इसका भी क्या पता ?

हमारे यहां एक कहानी प्रचलित है कि एक दूकानदार पिता अपने वच्चे को दूकान के थड़े पर धूप में लेकर बैठा था, वार-वार बोल कर उसे वोलना सिखा रहा था। इसी वीच सामने मकान की मुंडेर पर कौआ आ बैठा, और कुरां कुरां करने लगा। कौआ जब भी कुरां-कुरां करता, तो बच्चा उसकी ओर लपकता और पिता से पूछता—'यह क्या है ?' पिता उसे वताता—'यह कौआ है ?' पिता पुत्र के लिए 'कौआ' शब्द को सैकड़ों वार दुहराता रहा, और साथ ही पास पड़ी वही में दिनांक लिख कर जितनी वार 'कौआ' बताता गया, लिखता रहा। वही के पन्ने 'कौआ-कौआ' से भर गये।

स्थिति बदली। बच्चा बड़ा हुआ। वाप बूढ़ा हो गया। अब बाप की हर एक बात पर लड़का चिढ़ उठता, उसे बोलने से रोकता, और वात-वात में वाप के बुढ़ापे पर व्यंग्य कसता रहता। एक दिन बाप ने बेटे से सामने बैठे कौवे की ओर संकेत करके पूछा—"बेटा, यह क्या है ?"

बेटा झुंझला कर बोला—"दीखता नहीं है ? कौआ है, इसका क्या पूछना है ?"

बाप ने फिर पूछा—"बेटा, यह क्या है ?" अब तो बेटा तमक उठा—"चुप रहो न। कह तो दिया एक बार कि 'कौआ' है ? ऐसे पूछ रहे हो, जैसे कभी देखा ही नहीं हो ?"

बापने एक बार और पूछ लिया तो बस बेटा तो एकदम बौखला उठा—"मालूम होता है, अब पागल खाने में भेजना पड़ेगा। कब से दिमाग चाट रहे हैं, कि क्या है, क्या है ?"

पिता चुप हो गया। कुछ देर बाद बोला कि "बेटा, वह अमुक संवत् का पुराना खाता तो निकालो।"

बेटे ने कहा—'अब दिमाग ठिकाने आया है, क्या लेना देना है किसीका, बताओ।"

बूढ़े ने वह पुरानी वही निकलवाई और पन्ने उलटे तो सैकड़ों बार 'कौआ-कौआ' लिखा मिला। बेटा बोला—"आपका दिमाग खराब तो नहीं था ? 'कौआ-कौआ—' लिखकर वही खाता कितना गंदा कर रखा है ! इसमें क्या पड़ा है ! किसी से कुछ लेना निकलता हो, वह बताओ न ?"

बूढ़े ने कहा—"मेरा यही लेना बाकी है। मैंने तुझे इतनी बार 'कौआ' शब्द बोलकर 'कौआ' शब्द बोलना सिखाया है। इसका हिसाब करके देख लो, तुमने मुझ से 'कौआ' कितनी बार पूछा और मैंने तुमसे कितनी बार पूछा ? यह तो एक शब्द का हिसाब है। यदि जीवन में इस प्रकार का गणित किया जाए, तो कितनी बहियाँ भर जाएँगी ?"

कथा एक रूपक है, और वह समाप्त हो गई। पर आप कल्पना कर सकते हैं कि माता-पिता ने कितने धैर्य के साथ आपको बोलना सिखाया है ? किस प्रकार बार-बार लड़खड़ाकर गिरते हुए को उठा-उठा कर चलना सिखाया है ? यदि इसका हिसाब रखा गया होता तो आपको कुछ अनुमान होता ! यदि माता धैर्य खो देती, यदि पिता झुंझलाता रहता और यदि बड़ी बहन अथवा भुआ, जो तुम्हें गोदी में चिपकाए रखती थी वह भी अधीर हो जाती, तो आपका विकास

वहीं पर अवरुद्ध हो गया होता ? यह स्फुरणा और प्रगति आज इस स्थिति तक नहीं पहुँच पाती।

बात यह है कि सृष्टि के विकास का चक्र तप और त्याग की धुरी पर घूमता रहा है। इस सृष्टि के निर्माण और विकास में हमारे पूर्वजों का कितना तप और त्याग रहा है, कितनी अनवरत साधना रही है, यह मानव-सभ्यता के इतिहास को खोजने से आप जान पाएँगे। कष्टों और आपत्तियों से जूझते हुए उन्होंने अगली पीढ़ी के निर्माण के लिए अपने सुखों का बलिदान कर दिया, अपनी सन्तान के विकास के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया।

विज्ञान के अनुसन्धान की कहानियाँ आप पढ़ेंगे तो जान सकेंगे कि एक-एक वस्तु का नया आविष्कार करने में, उसका अनुसन्धान और परीक्षण करने में अतीत के महान् वैज्ञानिकों ने किस प्रकार अपने अमूल्य जीवन की आहुतियाँ दीं हैं। वैज्ञानिक शोध की धुन में दिन-रात का उन्हें कोई पता नहीं चला, भूख-प्यास का कोई खयाल नहीं रहा। बस, दिनरात आविष्कार की साधना में, खोज में मग्न थे वे। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक के बारे में तो कहा जाता है कि वह जीवनभर अनुसन्धान में इतना लीन और व्यस्त रहा कि एक दिन किसी ने उससे पूछा कि "तुमने शादी क्यों नहीं की ?" उक्त प्रश्न पर वैज्ञानिक ने सिर खुजलाते हुए कहा—"अरे हाँ, मैं यह बात तो भूल ही गया था। आज तक विवाह करने की बात याद ही नहीं आई। भले आदमी, बुढ़ापे में तुमने विवाह की याद खूब दिलाई।"

कितना एकाग्र संकल्प और कितनी गहरी लगन ! अपने कार्य में इतना तल्लीन हुआ कि विवाह जैसी बात की उसे स्मृति ही नहीं हुई। क्या यह तपस्या नहीं है ? यदि वैज्ञानिकों में इस प्रकार की साधना, तल्लीनता नहीं होती तो आज मानव के हाथ में विज्ञानके ये सर्व-सुलभ चमत्कारी साधन, सुख-सुविधाएँ कभी नहीं प्राप्त हो पातीं।"

तप, जीवन की आग है

उपनिषद् में एक जगह कहा है कि ब्रह्मा ने जब सृष्टि के निर्माण का संकल्प किया तो पहले हजारों वर्ष तक तपस्या की—**'तपस्तेपे'**। फिर भी सृष्टि रचना में पूर्णता नहीं आ सकी तो और तप किया,

इस प्रकार हजारों हजार वर्ष तक 'तपस्तेपे' 'तपस्तेपे' के बाद इस सुन्दर सृष्टि का निर्माण किया।

सृष्टि के निर्माण का तात्पर्य यह है कि धरती और आकाश का अस्तित्व होना एक बात है, पर उसका वास्तविक निर्माण कुछ और ही होता है। रत्नगर्भा पृथ्वी के गर्भ में छिपे हुए रत्नों को बाहर में प्रकट कर के सृष्टि का जो सर्वं सुरम्य एवं उपयोगी रूप बनाने की बात है, वह कुछ और है।

भगवान आदिनाथ ने भी सृष्टि के इसी विकासक्रम को नया रूप दिया था। धरती में छिपे रत्नों को बाहर निकाल कर मानव की सृष्टि को जगमगाया था उन्होंने। इस विकास का सूत्र जिन कर्मठ हाथों में रहा, संसार उन्हें ही ब्रह्मा, प्रजापति या आदिदेव के नाम से पुकारता है। मानव सृष्टि का वह सब से महान् उपकारी पुरुष था, जिसने अपनी तपस्या एवं तितिक्षा का सुखद और सुमधुर फल संसार को अर्पण किया था।

कल्पना कीजिए, यदि आकाश में सूर्य नहीं तपता तो इस धरती पर हजारों प्रकार की जीवनदायिनी वनस्पतियाँ उत्पन्न कैसे होतीं? ये सुमधुर एवं रसभरे फल, मधुर सुवास से गमकते-महकते फूल सृष्टि की गोद को उल्लास से कैसे भर देते? जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता है, ताप नहीं जाता है, वहाँ की धरती कितनी नीरस, और बंजर पड़ी रहती है?

हां, तो तन में भी, मन में भी, और जीवन में भी जब तक ताप रहता है, ऊष्मा रहती है, अग्नि रहती है, तभी तक कर्तृत्व एवं पुरुषार्थ का झरना बहता है, सुख और आनन्द के नव-पल्लव एवं नव-पुष्प खिलते हैं। नित नये सुख-भोग के फल प्राप्त होते रहते हैं। जिस तन की आग समाप्त हो गई, वह निष्प्राण होगया। जिस मन की आग क्षीण हो गई, वह विवेक बुद्धि से क्षीण हो गया। जिस जीवन की आग समाप्त हो गई, वह कर्तृत्वहीन हो गया, उसका पुरुषार्थ खत्म हो गया।

ऋग्वेद के प्रारम्भ में ही सर्व प्रथम एक मंत्र आता है कि सबसे बड़ा देवता अग्नि है, वह सृष्टि का अद्‌भुत रत्न है। लोक-जीवन के कल्याण का, सुख का सब से प्रमुख साधन अग्नि

को बताया, तो लोगों ने कहा—यह देवता है, इसकी पूजा करो। अग्नि को घी की आहुतियाँ दी जाने लगीं, हवन किये जाने लगे। विवाह आदि हर शुभ काम में अग्नि की पूजा शुरू होगई। मनुष्य के जीवन का सब से उपकारी तत्त्व उसके जीवन में देवता बन कर समा गया। पर, अग्नि को देवता मानने के मूल में वात कुछ दूसरी है। अग्नि जीवन और जगत् का सब से प्रमुख तत्त्व है। जिस जीवन में जब तक तपन एवं तैजस् है, तब तक वह निर्माण कर सकता है, सृष्टि के सौन्दर्य को विकसित कर सकता है। जिस जीवन में तैजस् समाप्त हो जाता है, ऊष्मा शान्त हो जाती है, वह जीवन किसी काम का नहीं रहता। उसका संसार के लिए कोई मूल्य नहीं रहता। परिवार, समाज और राष्ट्र का जो भी निर्माण होता है, वह उसके अपने तैजस् पर ही होता है, जब तक समाज और राष्ट्र में तेजस्विता कायम है, उसमें गर्मी है, तभी तक उसमें कर्म का प्राण है, चिन्तन की शक्ति है। वह विकास और उन्नति करता चला जाता है, नव-निर्माण के नये-नये द्वार खोलता जाता है। जब तैजस् शान्त हो गया, तो मानस शिथिल पड़ गया, उसकी कर्म-ज्योति समाप्त हो गई। मन भी शीतल, और तन भी शीतल! सर्वत्र शीतलता, जड़ता! बस, अब नव-निर्माण की कोई आशा और संभावना नहीं रह जाती।

राजस्थानी साहित्य में एक कहावत चली आती है, "**दीधी पण लागी नहो, रीते चूल्हे फूंक**"—चूल्हा खाली है, ठंडा पड़ गया है, अग्नि की एक भी चिनगारी शेष नहीं रही है, तो भोजन बनाने वाली बहन उसमें कितनी ही लकड़ियाँ डाले, फूंक लगाए, फूं-फूं करते हुए हैरान परेशान हो जाये, पर क्या वहाँ ज्योति जलेगी? अग्नि प्रकट होगी? भोजन पकेगा? जब चूल्हा ठंडा पड़ जाता है, तो हजारों क्या, लाखों फूंकों से भी वह प्रज्वलित नहीं हो सकता।

जीवन के क्षेत्र में भी यही वात है। जहाँ राष्ट्रीय, सामाजिक एवं व्यक्तिगत विचारचेतना एवं कर्मचेतना का तेजस् समाप्त हो जाता है, जीवन के चूल्हे में आग ठंडी पड़ी जाती है, वहाँ प्रेरणा को कितनी ही क्यों न फूंक मारी जाए, कर्म की शक्ति प्रज्वलित नहीं हो पाती। जब अन्दर में आग होगी, तभी बाहर में ज्योति जलेगी।

जव अन्दर में तेजस् होगा, तभी वाहर में प्रकाश होगा। यदि भीतर में आग है, तो वह जीवन के, परिवार के, समाज के, राष्ट्र के सव दोषों को, विकारों को, चिरकाल से जमा हुए कूड़े कचरे को जलाकर भस्म कर सकती है, और उस भूमि को पवित्र रख सकती है।

तप की भूमिका :

हमारी भौतिक सृष्टि में जो अग्नि का महत्त्व है, वही महत्त्व आन्तरिक सृष्टि में तप का है। आन्तरिक जगत् की अग्नि तपस्या है, वही इसका तैजस् है, ऊष्मा है। मैं वता चुका हूं आपको कि यदि हमारे जीवन को माता पिता की, परिवार की, पूर्वजों की और समाज के अन्य महान तपस्वियों की तपस्या का आधार नहीं मिला होता, तो आज हम किस स्थिति में होते ? मानवीय सभ्यता और संस्कृति पूर्वजों को तप और त्याग की ही कहानी तो है। उनके जीवन का तैजस् और तपन हमारे विकास का प्रेरणा स्रोत है।

तप की एक और भूमिका हमारे समक्ष आती है, वह है आध्यात्मिक, या धार्मिक भूमिका। अध्यात्म साधना भले ही व्यक्तिगत साधना हो, पर वह समाज के साथ सदा संपृक्त रहती है। उसका लाभ, उसका प्रकाश समाज के जीवन को प्रेरित एवं प्रकाशित करता आया है।

तपस्या के सम्बन्ध में मेरी कुछ अपनी अनुभूतियाँ हैं, और उनके आधार पर मेरी कुछ स्वतन्त्र धारणाएँ वन गई हैं, संभवतः परिपाटी से चलती आई धारणाएँ उससे टकराती हों, आपके मन को कुछ अटपटी लगती हों, वहनों और भाइयों को उनमें कुछ व्यंग्य और चोट की झलक भी दिखाई देती हो, पर उनमें कुछ सत्यता है। मेरे अनुभव उनके साथ हैं। मैं स्वयं किसी युग में हठयोग का साधक रहा हूं। अनेक प्रकार की तपस्याएं और कायक्लेश मैंने भी किए हैं। कई वर्षों तक पूरी सर्दियों में एक चादर में तो कभी नग्न रह कर शीत-परीषह सहने का अभ्यास करता रहा हूं। गर्मियों में, वैशाख जेठ के तपे-जलते महीनों में, दुपहर की चिलचिलाती धूप में दहकती शिला पर पद्मासन लगाए आतापना भी लेकर देखी हैं। लम्बे उपवास भी किये हैं। इस प्रकार समय समय पर तप के अनेक प्रयोग किये हैं, और इन सब के उपरान्त जो अनुभूतियाँ हुई हैं, जो निर्णय और

संकल्प मन में स्फुरित हुए हैं, उन्हीं के आधार पर मैं आपसे कुछ आलोचनात्मक भाषा में कहा करता हूं। बुद्ध की तरह मैं आपसे एकदम मध्यम मार्ग की बात नहीं कहूंगा, पर, हो सकता है आपको कुछ ऐसा ही लगे। बुद्ध ने भी तपस्या का कहीं निषेध नहीं किया है। कहा जाता है कि जब घोर तपस्या करते हुए उनका शरीर जीर्ण, शीर्ण, क्षीण हो गया, उनको इन्द्रियाँ दुर्बल हो गईं, पर मन को समाधि फिर भी नहीं प्राप्त हुई, तो बुद्ध एक दिन कुछ श्रान्त से चिन्तन में बैठे थे कि एक नृत्यमंडली उधर से गाती नाचती हुई निकली। एक स्त्री वीणा वजा रही थी, पर, उसने वीणा के तारों को वहुत अधिक कस रखा था, इसलिए वीणा के स्वर मधुर नहीं निकल रहे थे। उनकी आचार्या ने जब यह बेसुरा वाद्य सुना तो कहा—"सुन्दरी! वीणा को ठीक से वजाओ! इसके तारों को न ज्यादा कसो और न ज्यादा ढीले छोड़ो, बल्कि देखो कि ये कसे जाकर भी कहाँ तक लचकीले बने रहते हैं। इन्हें कसो, पर, कुछ लचक भी रखो, ताकि वीणा के मधुर स्वर झंकृत हो सकें।"

बुद्ध ने जब यह बात सुनी तो उनका चिन्तन स्फुरित हो उठा, एक प्रकाश-रेखा सी उनके मस्तिष्क में चमक गई। सोचने लगे—जीवन भी एक वीणा है। इस वीणा के तारों को, तन और इन्द्रियों को न इतना अधिक कसो कि वे नितान्त दुर्बल और क्षीण होकर शून्यवत् हो जाएँ, नित्य की धर्म साधना करने में भी समर्थ न रहें, और न उन्हें इतने ढ़ीले छोड़ो कि भोग-विलास की जड़ता ही व्याप्त हो जाये। अतः उन्हें कसते हुए भी उनकी कर्म-क्षमता की लचक को ध्यान में रखो।

मैं जहाँ तक समझ पाया हूं, बुद्ध ने जो यह मध्यम मार्ग अपनाया, वह तप का निषेध नहीं है, बल्कि अति का निषेध है। आप सोचते होंगे कि भगवान् महावीर ने तप पर वहुत वल दिया है, अतिभार दिया है। मेरी समझ में तो अतिभार वहां भी नहीं है। भगवान् महावीर ने अपने जीवन में छह मास तक का सर्वोत्कृष्ट तप किया था। यह उनकी क्षमता के लिए सहज था, भार नहीं था। इस से आगे की दीर्घ तपस्या के सम्बन्ध में उन्हें जो अनुभव हुए, उसके आधार पर यह निश्चित किया गया कि आगे आने वाले साधक

छह मास से अधिक लम्बा तप न करें। भगवान ऋषभदेव के युग में एक वर्ष की उत्कृष्ट तपस्या होती थी। उन्होंने स्वयं भी एक वर्ष का उग्र-तप किया था। वह सीमा भगवान महावीर के युग में छह महीने की हो गई। क्या कारण था इसका? भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर की आत्म-शक्ति में कोई अन्तर था क्या? नहीं, दोनों ही अध्यात्मशक्ति की दृष्टि से एक थे, किन्तु उस समय की शरीर-स्थिति में अवश्य अन्तर आ गया था। अतः तत्कालीन साधकों के मनोवल एवं शरीरवल को ध्यान में रख कर ही यह सीमा निश्चित की गई। तपस्या की सीमा? यह स्वयं एक प्रश्न है। साधक की शक्ति यदि प्रवल है, तो वह छह महीने से आगे भी क्यों न वढे? किन्तु सीमा बांधने के वाद वह आगे नहीं वढ़ सकता। उसकी शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसा क्यों किया गया? यदि तपस्या पर अति-भार दिया गया होता, तो जैन-परंपरा इस सीमा को स्वीकार नहीं करती। किन्तु तपस्या के साथ जो विवेक जोड़ा गया है, वही इसकी सीमा का कारण है। वह विवेक है, तपस्या उतनी ही की जाय, जिससे शरीर का वल, इन्द्रियों की शक्ति इतनी क्षीण न हो कि तपस्वी साधक जीवन की अन्य क्रियाओं को समभावपूर्वक पूर्ण न कर सके। तपस्याजन्य अशक्ति और क्षीणता के कारण मन में यदि किसी प्रकार की आकुलता, क्षुब्धता एवं व्यग्रता आती हो, तो वह तपस्या जैन धर्म को स्वीकार नहीं है। तन की तपस्या से भी वढ़कर मन की समाधि और समता का महत्व अधिक माना गया है। और तपस्या जव तक उसकी सहायक है, तव तक ही उपादेय है। जिस तपस्या से मनकी समाधि भंग होती हो, वह तपस्या वास्तव में तपस्या ही नहीं होती। आपके लिए जैन धर्म का स्वर भी वही है, जो कभी जीवन की वीणा के तार के लिए बुद्ध के स्वर थे। जैन धर्म तपस्या का महत्व स्वीकार करता है, उसके लिए प्रेरणा देता है, पर वह उस पर अतिभार नहीं देता।

यह ठीक है कि तप यथाप्रसंग होना चाहिए। किन्तु वह शक्ति की सीमा में ही अपेक्षित है। वह साधना का प्राण है, जीवन है। मानवजीवन में यदि तप की साधना नहीं हो, तो मनुष्य इन्द्रियों का दास वन जायेगा, विषयों के जंगल में भटक जायेगा। थोड़ा-सा

कष्ट आया कि बस घबरा गये! समय पर भोजन नहीं मिला, या मन चाहा नहीं मिला, तो बस मिजाज आसमान पर चढ़ गया। थोड़ी-सी प्यास लगी और बस पानी-पानी चिल्लाने लग गए। समय पर कभी थोड़ी बहुत सर्दी-गर्मी सहन करने का अवसर आया, तो हाय-हाय करने लग गए। ऐसी हीन एवं कातर स्थिति में जीवन का निर्माण कैसे होगा? जिस जीवन की बुनियाद में तितिक्षा और सहन-शीलता नहीं होती, वह जीवन कैसे आगे बढ़ सकेगा? संसार में सुख-दुख चलते रहते हैं, सर्दी-गर्मी आती रहती हैं। सभी जगह तो आपको वातानुकूलित भवन नहीं मिल सकते। सहिष्णुता और तितिक्षा का भाव तो जीवन में जगाना ही होगा, तप की साधना तो करनी ही होगी, और यही जीवन की प्रगति, उन्नति एवं सफलता का राज-मार्ग है।

तप का भावात्मक विस्तार

मैं कहना यह चाह रहा था कि हमारे जीवन में आज तपस्या तो चल रही है, पर, उसका क्षेत्र, उसका ध्येय सीमित हो गया है। एक सीमापत्थर हमने ऐसा गाड़ दिया है, जिसके बाहर हम नहीं जारहे हैं। बेला, तेला, चौला, पंचोला और कभी आगे बढ़कर अठाई करली कि कृत-कृत्य हो गए। अठाई से आठों कर्मों के वन्धन शिथिल कर डाले, अब और कुछ करने की जरूरत नहीं। ये जो कुछ विचार और विश्वास हमारे बन गये हैं, उनसे हमें आगे बढ़ना है।

तपस्या का बाह्य विस्तार हमने बहुत किया है, अब अन्दर में भावात्मक विस्तार की अपेक्षा है। बाह्य तप की साधना से अब अन्तरंग तप की ओर बढ़ने की जरूरत है। उपवास आदि कर रहे हैं, ठीक है, पर उससे आगे बढ़ो। जीवन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, तपस्या के वन में अभी पास-पास में ही साधारण लकड़ियाँ काट रहे हो, जैसे-जैसे आगे बढ़ोगे, निर्माण के लिये बहुमूल्य चन्दन मिलेगा।

मैं कभी-कभी एक कहानी कहा करता हूं कि एक लकड़हारा जंगल में लकड़ियाँ काटने के लिए जाता था। आगे नहीं बढ़ता था, आस-पास में वन के किनारे पर ही जो लकड़ियाँ मिल जातीं, बस, उन्हें ही काट कर ले आता, और जो दो-चार आने मिल जाते उससे गुजारा करता।

एक बार किसी ने पूछा उससे कि "कब से लकड़ियाँ काट रहा है ?" बोला—"इसी जंगल में मेरे बापने काटी, और मैं भी काटता-काटता बूढ़ा हो गया हूं।" वनके पारखी ने कहा—"यहीं किनारे ही काट रहा है, कभी आगे जंगल में नहीं गया ? जरा आगे बढ़ !"

दूसरे दिन लकड़हारा आगे गया। लकड़ियाँ कुछ अच्छी मिलीं, तो पैसे कुछ ज्यादा मिले। उसी व्यक्ति ने फिर पूछा कि "कैसी मिलीं लकड़ी ?" बोला—"कल तो अच्छी मिलीं !" इस पर कहा उसने—"और आगे बढ़।" इस प्रकार प्रति दिन वह आगे से आगे बढ़ता गया और निर्माण में काम आने वाली अच्छी-से-अच्छी लकड़ी मिलती गई। आगे बढ़ते-बढ़ते एक दिन चन्दन के वृक्ष भी मिल गये। उन्हें काट कर लाया, तो बस, जन्मभर की दरिद्रता धुल गई। बंगले और कोठियाँ झुक गईं। नौकर-चाकर सेवा में खड़े हो गए।

तो हम तपस्या के किनारे-किनारे घूम रहे हैं। सदियों से यहीं पर चक्कर काट रहे हैं। जब तक आगे नहीं बढ़ते, आध्यात्मिक अनुभूति का उत्तम चन्दन प्राप्त नहीं होगा। साधना का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसकी कोई सीमा नहीं। बाह्य तपस्या में भले ही छह महीने की या कुछ काल की मर्यादाएँ हैं, पर, आभ्यन्तर जगत में कोई मर्यादा नहीं है, सीमा नहीं है, बढ़नेवाला चाहिए। गुरु सदा से शिष्य को कहता आया है कि "और आगे बढ़ ! अभी कुछ नहीं मिला है, आगे बढ़ता जा।" पूछा गया—"इसका कोई पार है ?" तो उत्तर मिला—**'नेति ! नेति !'** भारतीय साधना और संस्कृति का यही नाद सर्वत्र गूंज रहा है। अनन्त ही हमारा लक्ष्य है, पूर्णता ही हमारी मंजिल है।

अविराम साधना

तपस्या और साधना के क्षेत्र में कोई विराम नहीं होता। वहाँ तो आगे बढ़ने की बुभुक्षा होती है। अनन्त को प्राप्त करने की लगन होती है।

महाभारत में एक प्रसंग है कि विदुला नाम की एक विदुषी मां अपने पुत्र को कर्म क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है। पुत्र भोग-विलास में मूढ़ होकर जीवन संग्राम से भाग रहा है, कर्तव्य

और प्रगति का मार्ग छोड़ रहा है। बस, रात-दिन ऐश्वर्य के भोग-विलास में डूबा रहता है। उसके निष्क्रिय और निष्प्राण जीवन में मां जागृति का मंत्र फूंकती हुई कहती है—"**असन्तोषः श्रियो मूलम्**" जीवन में समृद्धि और उन्नति का मूल 'असन्तोष' है। जब मन में विराम लग गया, तो बस प्रगति के मार्ग रुक गए। जीवन में दरिद्रता और कंगाली छा गई। मन में जब अप्राप्त को प्राप्त करने की लगन जगती है, तभी मनुष्य कष्टों से लड़ता है, परिस्थितियों से जूझता है, और समृद्धि एवं उन्नति के मार्ग पर बढ़ता है।

यदि मनुष्य के मन में यह असन्तोष नहीं होता, तो आज उसकी यह उन्नति, समृद्धि और विकास इस रूप में नहीं हुआ होता। अध्ययन करने लगे, दो-चार किताबें पढ़लीं कि बस ज्ञान मिल गया, अध्ययन पूर्ण हो गया? यह भी कोई अध्ययन है? जितने ही गहरे उतरते जाओगे, नये-नये उन्मेष जगते जाएँगे, प्रकाश फैलता जाएगा। समाज-सेवा के क्षेत्र में आए, दो-चार छोटे-मोटे काम कर दिए कि बस समाजसेवा हो गई। अपना काम पूरा हो गया। नहीं, यह नहीं है। सेवा का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि जितने आगे बढ़ोगे, उतने ही सेवा के महान अवसर आते रहेंगे। इसके विपरीत जीवन में जहां विराम लगा कि उन्नति समाप्त।

साधु जब दीक्षा लेता है, तो सब पापों से '**अप्पाणं वोसिरामि**' कहता है। बस, अब तो साधक बन गये, पूजा प्रतिष्ठा और वन्दना प्राप्त हो गई, बस हो गई हमारी साधना। '**अप्पाणं वोसिरामि**' कहते ही क्या साधना पूर्ण हो जाती है? यह तो स्कूल का दाखिला है, विद्यालय का प्रथम प्रवेश है। पढ़ाई तो अब शुरू होगी। साधना के क्षेत्र में अभी तो तुम आये ही हो। जब आगे बढ़ोगे, सत्य के दर्शन करोगे, आत्मा का साक्षात्कार करोगे, तब तुम्हारे जीवन में आध्यात्मिक सौन्दर्य के नये-नये द्वार खुलेंगे।

जब तक जीवन में जय-जयकार और तिरस्कार में समभाव की साधना नहीं होगी, तब तक '**अप्पाणं वोसिरामि**' का कोई अर्थ नहीं है। केशलोंच के समय शिर के बाल उखाड़ते हुए तुम मुस्कराते हो, पर, जब अहंकार के बाल नोंचे जाते हैं, तब मनमें कितना दर्द होता है, कितनी गहरी टीस उठती है? माता-पिता और परिवार का

सम्बन्ध तुमने तोड़ दिया, पर, जब तुम्हारे स्वार्थ और अहंकार के सम्बन्ध टूटते हैं, जाति और पंथ के घेरे जब टूटते नजर आते हैं, तो मन छटपटा उठता है। यह क्या साधना है? जब तक तन की साधना से आगे मनकी साधना में प्रवेश नहीं किया जाता, तब तक वास्तविक तपस्या और साधना नहीं हो सकती। तुमने घर में चन्दन का वृक्ष लगाया है, पर, जब वह तैयार होने पर आया तो उसे जला डाला, कोयला बनाकर बेचना शुरू कर दिया कि यह चन्दन का कोयला है, कीमती है। कोयला चाहे उत्तम चन्दन का हो या साधारण लकड़ी का, मूल्य उसका कोयले का ही होगा। जीवन में बड़ी-बड़ी तपस्याएँ कीं, साधनाएँ कीं, पर अहंकार और द्वन्द्व की लपट नहीं मिटी, क्रोध मान आदि की वृत्तियां शान्त नहीं हुईं, स्वार्थों के घेरे नहीं टूटे, तो तुम तपस्या करके वस्तुतः सिर्फ चन्दन के कोयले बेच रहे हो।

हमें जीवन में आगे बढ़ना है, तपस्या के क्षेत्र में विकास करना है, त्याग की परिभाषाएँ समझनी हैं। तभी हम अपना और विश्व का उत्थान कर सकते हैं। जीवन में तप का सच्चा महत्व सेवा में है, समर्पण में है, सद्भाव और शान्ति में है, और यही त्याग है। विकारों और स्वार्थों का त्याग ही सच्चा त्याग है। तप सोना है, त्याग उस की सुगंध है। जब दोनों मिलेंगे, तभी हमारे जीवन में सोना और सुगंध का सुयोग बैठेगा। यही तो तपस्या की कला है, यही तप तथा त्याग सुख और समृद्धि का द्वार है, यही सृष्टि का मूल आधार है।

★

ज्योति और ज्वाला

तप एक अन्तर् ज्योति भी है, ज्वाला भी है। ज्योति प्रकाश का प्रतीक है। अन्धकार में प्रकाश की एक किरण भी कितनी दीप्तिमान होती है, वह अन्धकाराच्छन्न हरएक वस्तु को प्रकाशमान कर देती है। ज्वाला संहार का प्रतीक है। तप की ज्वाला में मन के विकार जलकर भस्म हो जाते हैं।

—अमर मुनि

★

प्रयोगात्मक दर्शन अनेकान्त

(लेखक—सौभाग्यमल जैन एवम् डॉ० सागरमल जैन)

अनेकान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

भगवान महावीर के पूर्व भारत भूमि पर वैचारिक संघर्ष एवं दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर थे। जैनागमों[1] के अनुसार उस समय ३६३ और बौद्धागमों[2] के अनुसार ६२ दार्शनिक मत प्रचलित थे। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में जो दो महापुरुष आये, वे थे भगवान बुद्ध और भगवान महावीर। भगवान बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद-पराङ्मुखता को अपनाया। वे कहते हैं—"मैं विवाद के दो फल बताता हूँ, एक यह कि वह अपूर्ण एवं एकांगी होता है, दूसरे यह कि वह कलह या अशांतिकारक होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाले यह देखकर विवाद में न पड़ें[3]।" भगवान बुद्ध ने न तो अपने युग में प्रचलित उच्छेदवाद एवं शाश्वतवाद, नित्यवाद एवं अनित्यवाद, देहात्मवाद एवं देह-भिन्न-आत्मवाद के दार्शनिक विवादों में पड़ना उचित समझा और न ही उन्होंने इनमें से किसी एक दार्शनिक मान्यता के साथ अपने आप को बांधा। उन्होंने इन परस्पर विरोधा दृष्टिकोणों को सदोष बताया और साधक को इन विरोधी मतवादों में न पड़ते हुए साधना पथ पर चलते रहने की सलाह दी। वे कहते हैं कि पण्डित किसी एक दृष्टि, वाद या मत में नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को न ग्रहण करने वाला, आसक्ति-रहित वह क्या ग्रहण करे? लोग अपने धर्म को परिपूर्ण बताते हैं और दूसरे के धर्म को

१—सूत्रकृतांग टीका १—१२।

२—गौतम बुद्ध—धर्मानन्द कोसम्बी, पृष्ठ ६७।

३—सुत्त निपात ५१—२।

हीन बताते हैं। दूसरों की निन्दा से हीन हो जाने पर वह धर्मों में भी श्रेष्ठ नहीं होता[४]। बुद्ध की दृष्टि में वाद-विवाद निर्वाण मार्ग के पथिक के लिए उचित कार्य नहीं हैं। वे कहते हैं—यह तो मल्ल-विद्या है। राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह प्रतिवादी के प्रति ललकार लगाने वाले वादी को उस जैसे वादी के पास भेजना चाहिए, क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवाद रूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता[५]! यद्यपि बुद्ध आग्रह या मतान्धता को उचित नहीं मानते थे, फिर भी उन्होंने इस दिशा में समन्वय का कोई विधायक प्रयत्न नहीं किया। उनका योगदान मात्र निषेधात्मक था। इसके विपरीत भगवान महावीर विरोधसमन्वय की एक विधायक दृष्टि लेकर आये। विचार संकुलता के इस युग में उन्होंने स्पष्ट रूप मे कहा कि—"आग्रह, मतान्धता या एकांत ही मिथ्यात्व है। जो अपने मत को प्रशंसा और दूसरे के मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं, वे एकांतवादी संसार चक्र में भटकते रहते हैं[६]।

अनेकांत का आधार त्रिपदी :

महावीर ने न केवल दार्शनिक विवाद को अनुचित माना, वरन् उन विवादों के समाधान के लिए समन्वय का एक उदात्त सूत्र भी प्रस्तुत किया। महावीर के युग की दार्शनिक विचारधाराओं को मोटे रूप से दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—एक वे जो सत् (Reality) को विनाशी (उत्पाद-व्यय लक्षणयुक्त), विकारी, परिणामी और अनेक मानते थे और दूसरे वे जो सत् को अविनाशी, अव्यय, निर्विकार और अद्वय मानते थे। महावीर ने इन दोनों विरोधी विचार धाराओं के बीच समन्वय करते हुए "सत्" की एक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की। उन्होंने अपने प्रथम प्रवचन में सत् को उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक कह कर उसे समन्वयात्मक दृष्टि मे परिभाषित किया[७]।

४—सुत्त निपात ५१—३, १०, ११।

५—सुत्त निपात ४६—८-९।

६—सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति संसारे ते विउस्सिया॥ सूत्रकृतांग १—१—२—२३।

७—उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मकं सत्-तत्वार्थ सूत्र ५—२९।
विशेष विवेचना के देखिए—श्री कापडिया का सार्व सिद्धान्तनी जड़, नामक लेख—प्रकाशित जैन सत्यप्रकाश कार्तिक १९९३।

जिनोपदिष्ट यह "त्रिपदी" ही अनेकांतवादी विचारपद्धति का सार तत्व है। इसमें सत्-सम्बन्धी दो विरोधी दृष्टिकोणों के वीच समन्वय कर दिया गया। अनेकांत, स्याद्वाद और नयवाद सम्बन्धी विपुल साहित्य मात्र इसी मूल त्रिपदी का विस्तार है। "त्रिपदी" ही जिन-द्वारा वपित "वीज" है और अनेकांत उसी वीज से विकसित वट वृक्ष है। वैचारिक संघर्ष से श्रान्त मानव इसके नीचे आश्रय पा सकता है। वस्तुतः यह त्रिपदी ही वह आधार भूमि है, जिस पर जैन आचार्यों ने अनेकांत और स्याद्वाद के भव्य प्रासादों का निर्माण किया है।

अनेकांत को दार्शनिक पृष्ठभूमि

परमार्थ सत् (Reality) या वस्तुतत्व के यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान सीमित क्षमताओं से युक्त मानव-प्राणी (Finite Veing) के लिए सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से अधिक आगे नहीं जा पाये हैं और जव इसी आंशिकसत्य को पूर्णसत्य मान लिया जाता है तो वह मिथ्या हो जाता है और तव विवाद एवं वैचारिक संघर्षों का जन्म होता है। सत्य, न केवल उतना है जितना कि हम जानते हैं, अपितु वह एक व्यापक पूर्णता है। उसे तर्क, विचार, बुद्धि और वाणी का विषय नहीं वनाया जा सकता[८]। वह इनसे परे है। मानव-बुद्धि उसके एकांश का ग्रहण कर सकती है। तत्व अज्ञेय तो नहीं है किन्तु विना पूर्णता को प्राप्त किए उसे पूर्ण रूपेण नहीं जाना जा सकता है। जब तक हम अपूर्ण (Finite) हैं, हमारा ज्ञान भी अपूर्ण या आंशिक सत्य ही होगा। और आंशिक सत्य का ज्ञान दूसरों के द्वारा प्राप्त ज्ञान का निषेध नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में यह दाबा मिथ्या ही होगा कि मेरी दृष्टि ही सत्य है, सत्य मेरे पास ही है।

दूसरे सत् या वस्तुतत्व केवल सीमित गुणों का पुंज नहीं है। वह अनन्त गुणों का पुंज है। जैनाचार्यों ने कहा है कि वस्तुतत्त्व अनन्त धर्मात्मक है[९]। और जव वस्तुतत्त्व अनन्त धर्मात्मक है तो फिर सीमित

---

८. (अ) नैषा तर्केण मतिरापनेया-कठोपनिषद्
(ब) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन-मुण्डकोपनिषद्
(स) सव्वेसरा नियत्तंते, तक्का तत्थ न विज्जइ–आचारांग

९. अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्–आचार्य हेमचन्द्र।

मानव प्रज्ञा उसे पूर्ण रूपेण कैसे जान पाएगी? मात्र इतना ही नहीं, वस्तु में परस्पर विरोधी गुण भी एक साथ रहते हैं । ऐसी स्थिति में दो भिन्न दृष्टियों से परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं ।

आधुनिक विज्ञान और अनेकांत

आधुनिक विज्ञान ने भी अपनी खोजों के माध्यम से अनेकांत की पुष्टि की है। विज्ञान ने इस बात को भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि जिस पदार्थ को हम स्थित, नित्य और ठोस समझते हैं वह पदार्थ बड़े वेग से गतिशील है। न केवल गतिशील है, वरन् परिवर्तनशील और खोखला भी है । जो सूर्य हमें छोटासा और निकट दिखाई देता है वह पृथ्वी मण्डल से नौ करोड़ तीस लाख मील दूर और आकार में पृथ्वी से साढ़े बारह लाख गुना बड़ा है। इतनी वैज्ञानिक प्रगति के बाद भी विश्व का अन्तिम घटक आज भी अज्ञेय बना हुआ है । आज का प्रबुद्ध वैज्ञानिक भी ऐसा दावा नहीं करता है कि उसने सृष्टि का रहस्य और वस्तुतत्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया हैं। वास्तविकता तो यह है कि वैज्ञानिक प्रगति से सृष्टि की रहस्यात्मकता और अधिक बढ़ी है । प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइस्टीन ने कहा था कि हम तो केवल सापेक्षिक सत्यों (Relative truth) को जान सकते हैं, पूर्ण या निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा । इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों ही दृष्टियों से सामान्य मानवबुद्धि निरपेक्ष पूर्ण सत्य को जान पाने में असमर्थ है । यदि हमारा ज्ञान सापेक्षिक सत्यों तक सीमित है तो हमें दूसरों के द्वारा ज्ञात सत्यों को असत्य मानने का क्या अधिकार है ? अनेकांत विचारदृष्टि हमें यही बताती है कि परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो सापेक्षिक सत्य अपेक्षाभेद से सत्य हो सकते हैं। इस तथ्य को स्वीकार करते ही वैचारिक संघर्ष और विवाद के लिए शेष कुछ रह ही नहीं जाता है ।

अनेकांत का व्यावहारिक फलित

अनेकांत विचार पद्धति के व्यावहारिक क्षेत्र में तीन प्रमुख योगदान हो सकते हैं :

(१) विवाद पराङ्मुखता या वैचारिक संघर्ष का निराकरण ।

(२) वैचारिक सहिष्णुता या वैचारिक अनाग्रह।
(३) वैचारिक समन्वय और सत्य के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टि का निर्माण।

अनेकांत धार्मिक जीवन के क्षेत्र में

सभी धर्म साधनापद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं या तृष्णा की समाप्ति रहा है। जहाँ जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता है वहाँ बौद्ध धर्म की साधना का लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है। वेदान्त में इससे अहं और आसक्ति से ऊपर उठना वताया गया है। लेकिन क्या एकान्त या आग्रह- वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं के ही रूप नहीं हैं? और जब तक यह स्थिति है, धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया, उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से वैचारिक आसक्ति या आग्रह राग का ही रूप है, तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना आवश्यक है।

अनेकान्त, धार्मिक सहिष्णुता और सर्व धर्म समभाव का सृजक

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधना के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देश-कालगत परिस्थितियों और साधक की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्मसाधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आजाना स्वाभाविक ही था, और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्य के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार

We can know the relative truth, The Absolute is known only to the universal observer—Quoted in Consemology old and New—P 20/

ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एकमात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ। मुनि श्री नेमिचन्द्रजी ने धर्म सम्प्रदायों के उद्‌भव की एक सजीव व्याख्या प्रस्तुत की है। वे लिखते हैं कि "मनुष्य स्वभाव बड़ा विचित्र है। उसके अहं को जरासी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं धर्म सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है, तथापि वही एक मात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देश-काल गत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं। और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परम्पराओं में आई हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। उनके अनुसार सम्प्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं :—

१–ईर्ष्या। २–किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा। ३ वैचारिक मतभेद (मताग्रह)। ४–आचार सम्बन्धी नियमोपनियमों में अन्तर। ५–किसी व्यक्ति या पूर्व सम्प्रदाय के द्वारा अपमान या खींचातान। ५–किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि। ६–किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावानुसार संशोधन या परिवर्द्धन करने की दृष्टि। उपर्युक्त कारणों में अन्तिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न संप्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभांति जानता है कि धार्मिक असहिष्णुता के कारण विश्व में अनेक जघन्य दुष्कृत्य हुए हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस अमानवीय दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्त-पात को धर्म का जामा पहनाया गया। शान्तिप्रदाता धर्म को ही अशांति का कारण बनाया गया। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का मुख्य कारण यह भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में वाह्यभिन्नता परिलक्षित होती है, किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो भिन्नता में भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकान्त विचारदृष्टि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति के द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है, क्योंकि वैयक्तिक रुचिभेद, क्षमताभेद तथा देश काल गत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्मों

एवं विचारसम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक ही नहीं, अपितु अशांति और संघर्ष का कारण ही होगा। अतः विभिन्न धर्मसम्प्रदायों की समाप्ति की अपेक्षा, उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत-रूप से संयोजित करने का प्रयास ही अभिनन्दनीय है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है—धार्मिक सहिष्णुता और सर्व-धर्म समभाव की।

अनेकान्त के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी कारण धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहृष्णुता तो सर्वविदित ही है। अपने ग्रन्थ 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद एवं न्याय दर्शन के ईश्वर कर्तृत्व, वेदान्त के सर्वात्म-वाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। उन्हीं के ग्रन्थ षड्दर्शन समुच्चय की टीका में आचार्य मणिभद्र लिखते हैं :

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनि गणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्क संगत हो, उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्वदेव समभाव का परिचय देते हुए कहा था—

भव बीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै।

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि विकार जिसके क्षय हो चुके हैं उसे मैं प्रणाम करता हूं, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो।

उपाध्याय यशोविजयजी भी इसी धर्म सहिष्णुता और सर्वधर्म-समभाव का परिचय देते हुए लिखते हैं कि—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यता।
मोक्षोद्देशविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित्॥

माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो ह्येतच्चारु सिद्ध्यति ।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिशवल्गनम् ।।
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा ।
शास्त्रकोटिर् वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना ।।

—अध्यात्मसार ६९–७३

सच्चा अनेकांतवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता । वह सम्पूर्ण दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जैसे पिता अपने सब पुत्रों को । क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती । वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है, जो स्याद्वाद का आलम्वन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है । वास्तव में माध्यस्थ्य भाव ही शास्त्रों का गूढ रहस्य है, यही धर्मवाद है । माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है । अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है ।

पं० दलसुखभाई मालवणिया लिखते हैं कि "निस्सन्देह, सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है । वह आत्मा के राग द्वेष रूप विकारों पर विजय प्राप्त करने का सतत् प्रयास करता है । दूसरे के सिद्धान्तों को आदर की दृष्टि से देखता है और मध्यस्थ भाव से सम्पूर्ण विरोधों का समन्वय करता है ।

(शेष अगले अंक में)

★

'भी' और 'ही'

सत्य अनन्त है । अतः वह न शब्दों से अभिव्यक्त किया जा सकता है, और न शब्द प्रधान विचारों से ही । वह तो एकमात्र विशुद्ध ज्ञानालोक में ही प्रतिभासित होता है । अतः जब भी कभी सत्य का उद्घाटन करना हो, तो उसे 'भी' के माध्यम से ही करना चाहिए, 'ही' से नहीं । 'भी' अनाग्रह का प्रतीक है; तो 'ही' आग्रह का । यह भी सत्य है, यह ठीक है । यह ही सत्य है, यह ठीक नहीं है । 'भी' अनेकान्त है, 'ही' एकान्त ।

—अमर मुनि

★

साहित्य समीक्षा

नन्दिसुत्तं अणुओग दाराइं

सम्पादक—श्री पुण्य विजय मुनि, पं० दलसुख मालवणिया, पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक।

प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्तिमार्ग, गोवालिया टैंक रोड, मुंबई ३६

मूल्य—४०) रुपया।

श्री देववाचक विरचित नन्दिसूत्र और श्री आर्यरक्षित विरचित अनुयोगद्वार जैन आगम-साहित्य के सुप्रसिद्ध आगम ग्रन्थ हैं। नन्दिसूत्र में मति आदि पाँच ज्ञानों का और अनुयोगद्वार में नय, निक्षेप आदि का विस्तार से वर्णन है। अतः आगम साहित्य में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं के लिए सर्वप्रथम उक्त दोनों आगमों का अध्ययन चिरकाल से आवश्यक रहा है।

आगम प्रभाकर श्री पुण्य विजय जी आदि विद्वान् सम्पादकों द्वारा, प्रस्तुत आगमों का, आधुनिक समालोचना-प्रधान वैज्ञानिक पद्धति से सम्पादन हुआ है। अनेक प्राचीन ताडपत्र आदि की हस्तलिखित प्रतियों तथा चूर्णि एवं टीका आदि व्याख्या ग्रन्थों के आधार पर मूल पाठ का संशोधन किया है, जो अब तक अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। मूल पाठ के अक्षर-अक्षर पर सम्पादकों का संशोधन सम्बन्धी तलस्पर्शी गम्भीर ज्ञान प्रतिबिम्बित हो रहा है।

नन्दिसूत्र के साथ अणुण्णा नन्दी और जोगनन्दी का प्रकाशन उक्त संस्करण में ही पहली बार देखने को मिला है। यह नन्दीसूत्र के लघु संस्करण हैं।

गुजराती और अँग्रेजी में विस्तृत प्रस्तावना है। जिसमें सूत्रकार, सूत्र रचनाकाल, रचना शैली, प्रतिपाद्य विषय एवं सांस्कृतिक सामग्री आदि की

विद्वत्तापूर्ण गम्भीर विवेचना है। एक प्रकार से वह मूल सूत्रों का नवनीत ही है। वैदिक तथा बौद्ध व्याख्या पद्धति के साथ जैन अनुयोग की तुलना तो प्रस्तावना की एक विशिष्ट उपलब्धि है। प्रत्येक आगमाभ्यासी के लिए यह विराट प्रस्तावना अवश्य ही अध्ययन करने योग्य है।

अन्त में नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार दोनों ही आगमों के गाथानुक्रम, विशेषनामानुक्रम, एवं पाठान्तर आदि के परिशिष्ट हैं; जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। परिशिष्टों में सम्पादकों का अगाध श्रम, सूझ-बूझ तथा अद्यतन सम्पादन कला सम्बन्धी परिज्ञान स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

उक्त संस्करण के सम्बन्ध में उपाध्याय श्री अमरमुनि जी म० ने ठीक ही कहा था—"श्री पुण्य विजय जी म० भौतिक शरीर से नहीं रहे, परन्तु ज्ञान शरीर से मैं अब भी उन्हें उक्त संस्करणों में जीवित देख रहा हूँ। वह प्रज्ञापुंज आत्मा वस्तुतः आगम प्रभाकर था। आगम प्रभाकर अर्थात् आगमों के अन्धकाराच्छन्न अन्तरंग रहस्यों को सूर्य के समान प्रकाशमान करने वाला।

उनकी आगम सेवा महाकाल के प्रवाहमान क्षणभंगुर क्षणों में भी युगानुयुग चिरंजीव रहेगी।"

★

पण्णवणा सुत्तं १–२ भाग

सम्पादक—एवं प्रकाशक उपर्युक्त।

मूल्य—प्रथम भाग का ३० तथा दूसरे भाग का ४०) रुपया।

श्री श्यामार्य वाचक विरचित 'पण्णवणासुत्तं'-'प्रज्ञापना सूत्र' जैन तत्त्वज्ञान का उत्कृष्ट आकर ग्रन्थ है। अध्ययन सूचक ३६ पदों में जीव-अजीव, स्थान, स्थिति, लेश्या, अवधिज्ञान, शरीर, कषाय, क्रिया एवं उपयोग आदि गंभीर विषयों का वर्णन है, जो जैन तत्त्व-चिन्तन का प्राणतत्त्व है।

नन्दीसूत्र एवं अनुयोग द्वार के समान ही 'पण्णवणा सुत्तं' का सम्पादन भी सर्वोत्तम कोटि का है। सम्पादक मनीषियों की विलक्षण सम्पादन-प्रतिभा एवं पांडित्य का चमत्कार सर्वत्र दीप्तिमान है। प्राचीन से प्राचीन मूल एवं टीका के अनेक हस्तलेखों के आधार पर मूलपाठ की चिरागत अशुद्धियों का प्रमाणपुरःसर संशोधन कर मूल पाठ को इतना शुद्ध एवं परिष्कृत किया है कि देखते ही बनता है।

प्रथम खण्ड में विस्तृत विषयसूची के साथ शुद्ध एवं सुपाठ्य मूल पाठ है। दूसरे खण्ड में गुजराती तथा अँग्रेजी में विशालकाय प्रस्तावना है, जो स्वयं एक विराट ग्रन्थ का रूप ले चुकी है। प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकार के समय का निर्णय, प्रतिपाद्य विषयों का मर्मोद्घाटन, यत्र-तत्र दिगम्बर परम्परा के महान् सिद्धान्त ग्रन्थ षट् खण्डागम आदि के साथ तुलना आदि का विवेचन वस्तुतः विद्वज्जनों को प्रभावित करने वाला है। अन्त में नन्दीसूत्र एवं अनुयोग द्वार के समान ही तीन परिशिष्ट हैं, जो आगम साहित्य के शोधकर्ता विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी हैं। प्रकाशन सर्वाङ्ग सुन्दर है। ज्ञान भंडारों में एवं पुस्तकालयों में संग्रहणीय है। मूल्य कुछ अधिक लगता है। किन्तु सम्पादन एवं प्रकाशन की उत्कृष्टता को देखते हुए कुछ भी अधिक नहीं है।

★

चिन्तन के क्षण

मूल लेखक—श्री चिमनलाल सी० शाह

अनुवादक—श्री चन्दनमल 'चांद'

प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल १५—ए हार्निमन सर्कल फोर्ट, बम्बई १

मूल्य—चार रुपये मात्र।

श्री शाह एक गम्भीर विचारक एवं चिन्तक हैं। जितने अच्छे वे प्रभावशाली प्रवक्ता हैं, उतने ही अच्छे वे लेखक भी हैं। श्री शाह केवल विचारक ही नहीं, एक महान् कर्मठ कार्यकर्ता एवं समाजसेवी भी हैं। बम्बई प्रदेश में उनकी बौद्धिक एवं सामाजिक सेवाएँ इतिहास के एक नये अध्याय का सूत्रपात कर रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री शाह के विभिन्न विषयों पर लिखे गए १३ निबंधों का संग्रह है। प्रत्येक निबन्ध में लेखक के सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी चिन्तन की झलक मिलती है। अधिकतर लेख तर्क प्रधान हैं। लगता है, लेखक बौद्धिक पक्ष के समर्थन में कहीं-कहीं किनारे से परे भी पहुँच गया है। वैसे सभी निबन्ध पठनीय हैं। पाठक के बौद्धिक चिन्तन को नयी दिशा एवं नयी प्रेरणा देने वाले हैं। गुजराती का हिन्दी अनुवाद भी प्रांजल एवं प्रवाहमयी है।

—चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी

★

समाचार-दर्शन

● **पाली (मारवाड़)**—जैन परम्परा के महान् संत श्रमण—श्रेष्ठ श्री समर्थमल जी म० के पवित्र सांन्निध्य में गत १८ मई को श्री कंचन बहन एवं उर्मिलाकुमारी की, तथा २८ मई को सुश्रावक श्री गिरधारीलाल जी की भागवती दीक्षा बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुई।

● **स्वर्गवास**—स्थविररत्न श्री छोटमल जी म० राजस्थान तथा शान्त मूर्ति श्री प्रेमचन्द्र जी म० पंजाब विगत में समाधिपूर्वक काल धर्म को प्राप्त हुए, दोनों ही मुनिवरों ने अपनी साधु-चर्या निर्मलता के साथ पालन की। उपाध्याय श्री जी ने दोनों ही महान् आत्माओं के आदर्श व्यक्तित्व पर सुन्दर प्रकाश डाला था।

● **मद्रास**—राजस्थानी श्वे० स्था० जैन एसोशियन के पदाधिकारियों के चुनाव में अध्यक्ष श्री मोहनमल जी चोरडिया, उपाध्यक्ष श्री तेजराज जी सुराना, मन्त्री श्री कैलाशमल जी दूगड़, सहमन्त्री श्री पुखराजजी वाफणा और कोषाध्यक्ष श्री गुमानमल जी चोरडिया सम्मानपूर्वक निर्वाचित हुए।

● **जालंधर (पंजाब)**—एस. एस. जैनसभा (रजि.) जालंधर के वार्षिक चुनाव में प्रधान ला. दीवानचन्द जी, उपप्रधान ला. अनन्तराम जी. मन्त्री श्री योगेन्द्रपाल जी, संयुक्त मन्त्री श्री मदनलाल जी रावलपिंडी वाले, कोषाध्यक्ष श्री चमनलाल जी निर्वाचित हुए हैं। उपसमितियों के संयोजक सर्व श्रीदीनानाथ, केशरदास, कुंजलाल, देवराज, रतनचन्द, चमनलाल, सुदर्शन कुमार, प्रतूलचन्द्र तथा दीनानाथ जी नियुक्त किए गए।

● **प्रेमसुधा : निःशुल्क**—जैनभूषण श्री प्रेमचन्द्रजी म. की प्रवचन पुस्तक प्रेमसुधा का पूरा सेट सार्वजनिक तथा निजी पुस्तकालयों, व वाचनालयों को एस. एस. जैनसभा निःशुल्क वितरण कर रही है। पता—मदनलाल जैन, जैन स्टोरज, माई हीरागेट, जालन्धर (पंजाब)।

● **जवाजाः श्री जयचौथ जैन छात्रावास**—उक्त छात्रावास का उद्घाटन ४-७-७२ के दिन बड़े समारोह के साथ, रायसाहब श्री नारायणसिंह जी

शिक्षा मन्त्री, राजस्थान के कर कमलों द्वारा हुआ है। राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय में ११ वीं कक्षा तक अध्ययन की व्यवस्था है। छात्रावास में ३०) मासिक पर आवास, भोजन आदि का सुन्दर प्रबन्ध है। प्रवेशार्थी सम्पर्क साधें—श्री जयचौथ जैन छात्रावास, मु. जवाजा (वाया स्टे. ब्यावर पश्चिमी रेलवे) जि. अजमेर (राज.)।

● **जैननगर, मेरठ**—मित्रमिलन के वार्षिक चुनाव में ला. विमलचन्द्रजी प्रधान, श्री पुष्पदन्त जी मन्त्री, ला. टेकचन्द जी कोषाध्यक्ष सर्व सम्मति से निर्वाचित हुए हैं।

ला. जगदीशराम जैन (जालंधर छावनी वाले, वर्तमान कलकत्ता) के सुपुत्र चि. रणजीत राय का शुभ विवाह स्व. लाला लालचन्द जैन की सुपुत्री कुमारी आशा जैन के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। उक्त अवसर पर श्री जगदीशराय जैन ने एस. एस. जैन सभा जैन नगर, मेरठ को ५१००) रुपये का दान भवन-निर्माण के लिए दिया।

● **जैन युवक मण्डल (रजि.) जालंधर**—मंडल के अध्यक्ष श्री विमलकुमार जैन सूचित करते हैं कि "युवक मण्डल ने भगवान महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में पंजाब की जैन युवाशक्ति को संगठित कर एक मंच पर लाने का सक्रिय प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है। एतदर्थ साधुवाद !

● **एस. एस. जैन युवक संघ मद्रास**—उक्त संघ एक प्रभावशाली सक्रिय कर्मठ युवकों का संगठन है। संघ के तत्वावधान में अनेक धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियां मूर्तरूप ले रही हैं। दिनांक २८-५-७२ को, 'मानव जीवन में धर्म की आवश्यकता' पर एक विचारगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें पं० श्री केवलमुनि जी, श्री सुरेन्द्र एम० मेहता, ऋषभचन्द्र जी कर्णावट, श्री ताराचन्द्र जी दूगड आदि प्रवक्ताओं ने प्रतिपाद्य विषय पर प्रभावपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया।

● **जैन इंडस्ट्रीज ठाकुरगंज, लखनऊ** (उ. प्र.)—उक्त इण्डस्ट्रीज के संचालक श्री जयचन्द्र जैन एक अच्छे विचारक एवं उत्साही समाज सेवी सज्जन हैं। आप अपने निर्देशन में उक्त संस्था के द्वारा समाज के बेकार लोगों को शिक्षण देकर स्वावलम्वी बनाने की दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं— धन्यवाद !

● **विजय जैन छात्रालय, ब्यावर**—बलुन्दा व मद्रास निवासी श्री विजयराज जी मूथा द्वारा संस्थापित एवं संचालित यह छात्रालय ब्यावर की एक सुप्रसिद्ध संस्था है, जिसमें पोस्ट ग्रेजुएट कालेज के विद्यार्थियों को आवास एवं भोजन की निःशुल्क व्यवस्था है। शेष खर्च स्वयं उठाना होता है। हायर सेकंडरी परीक्षा में प्रथम श्रेणी एवं उच्चतम द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण छात्र ही प्रवेश के लिए निवेदन करें—संचालक श्री विजय जैन छात्रालय, बलुन्दा हाउस, चांगगेट, मु. ब्यावर (राज.)।

● **जैन विद्यालय संचालन समिति, डूंगला**—उक्त समिति के द्वारा चतुर्थ जैन धार्मिक शिक्षण शिविर का आयोजन सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। शिविर में डूंगला, खेरोदा आदि १३ जैन विद्यालयों के १२१ छात्र-छात्राओं ने, एक सप्ताह तक, भाग लिया। शिविर का कार्यक्रम प्रभावकारी सिद्ध हुआ। उदयपुर निवासी श्री कुन्दनमल जी खिमेसरा—अध्यक्ष ने ५०१ रु० पारितोषिक रूप में प्रदान किए।

★

● **'अग्निपरीक्षा' उपद्रव, चूरु (राजस्थान)**—आचार्य श्री तुलसी जी ने, बहुत वर्ष पहले जैन रामायण के आधार पर, 'अग्नि परीक्षा' नामक एक नवीन रचना की थी; जिसमें राम और सीता का मुक्तकंठ से गुणगान किया है। और महासती सीता के उदात्त-चरित्र को बड़ी ही श्रद्धा भावना से अभिव्यक्ति दी है। खेद है, इस पर भी रायपुर के कुछ धर्म असहिष्णु लोगों ने सामान्य मान्यता भेदों को लेकर विगत में उपद्रव किया था, और जबलपुर हाईकोर्ट तक केस पहुंचा था। विद्वान् जजों ने सर्वसम्मति से पुस्तक को सर्वथा निर्दोष प्रमाणित किया था। फलतः द्वन्द्व समाप्त हो गए थे। चुरु में अब फिर कुछ विघ्न-संतोषी लोगों द्वारा किए गए अनर्गल प्रचार के परिणामस्वरूप अनियंत्रित प्रदर्शनकारियों ने जैनों की अनेक मोटरगाड़ियां जला दीं, लाखों की संपत्ति नष्ट की, पत्थरबाजी से सैकड़ों ही व्यक्ति घायल हुए। उक्त घटना से समाज में सर्वत्र रोष व्याप्त है। जयपुर, अजमेर, दिल्ली, आगरा आदि अनेक स्थानों की जैन-अजैन समाजों ने मांग की है कि असामाजिक तत्त्वों द्वारा किये जाने वाले उक्त उपद्रवों को दृढ़ता से शान्त करने का प्रयत्न करे, और प्रबुद्ध जनता साम्प्रदायिक सद्भावना का वातावरण तैयार करे।

★

भगवान महावीर २५वीं निर्वाण-शताब्दी समारोह

राष्ट्रीय-समिति

संरक्षक—राष्ट्रपति व्ही० व्ही० गिरि

अध्यक्ष—प्रधान मंत्री श्री इन्दिरा गाँधी

कार्याध्यक्ष—एन० नूरुल हसन, शिक्षा मंत्री

विशिष्ट अतिथि—

१. आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी
२. आचार्य श्री धर्मसागर जी
३. आचार्य श्री तुलसी जी
४. आचार्य श्री विजय समुद्रसूरी जी
५. मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम'
६. मुनि श्री यशोविजय जी
७. मुनि श्री सुशीलकुमार जी
८. मुनि श्री विद्यानन्द जी

सदस्य—

१. श्री रामनिवास मिर्धा (राज्य मंत्री, गृह विभाग) भारत सरकार
२. श्री पी० सी० सेठी, मुख्य मंत्री, मध्य प्रदेश
३. डी० पी० यादव, उपमंत्री शिक्षा विभाग, भारत सरकार
४. श्री शांतिप्रसाद जी जैन, — नई दिल्ली
५. श्री लालचंद हीराचंद — मुम्बई
६. श्री श्रेयांसप्रसाद जी जैन — मुम्बई
७. श्री परसादीलाल पाटणी — दिल्ली
८. श्री डॉ० ए० एन० उपाध्ये — कोल्हापुर
९. श्री भागचन्द जी सोनी — अजमेर
१०. श्री अक्षयकुमार जैन, संपादक—नव भारत टाइम्स — देहली
११. श्रीमती कुसुमबाई मोतीचन्द शाह — मुम्बई

१२. श्री चंदूलाल कस्तूरचंद शाह — मुम्बई
१३. श्री जैनेन्द्र कुमार जी — दिल्ली
१४. श्री टी० के० तुकोल, कुलपति मैसूर विश्वविद्यालय — मैसूर
१५. श्री डॉ० दौलतसिंह जी कोठारी,
अध्यक्ष–विश्वविद्यालय अनुदान आयोग — दिल्ली
१६. श्री चिमनलाल चकुभाई शाह — मुम्बई
१७. श्री अचलसिंह जी जैन एम० पी० — आगरा
१८. श्री प्रो० के० एम० लोढ़ा — कलकत्ता
१९. श्री मोहनलाल जी चोरडिया — मद्रास
२०. श्री शादीलाल जी जैन — मुम्बई
२१. श्री डॉ० एल० एम० सिंघवी — दिल्ली
२२. श्री आनन्दराज जी सुराणा — दिल्ली
२३. श्री शांतिलाल वनमाली शेठ — दिल्ली
२४. श्री संचालाल जी बाफना — नागपुर
२५. श्री कस्तूरभाई लालभाई — अहमदाबाद
२६. श्री नथमल जी टाटिया — वैशाली
२७. श्री अमृतलाल कालीदास दोशी — अहमदाबाद
२८. श्री ऋषभदास जी रांका — मुम्बई
२९. श्री तिवतलाल प्रतापसिंह — मुम्बई
३०. श्री अगरचंदजी नाहटा — बीकानेर
३१. श्री आर० जे० शाह — मुम्बई
३२. श्री चन्द्रकान्त बकुभाई शेठ — अहमदाबाद
३३. श्री देवचन्द शाह — निपाणी
३४. श्री सुन्दरलाल जी जैन — दिल्ली
३५. श्री जी० एल० सरावगी — कलकत्ता
३६. श्री एस० एम० बेंगानी — दिल्ली
३७. श्री के० एम० झवेरी — सूरत
३८. श्री मोहनलाल जी कठौतिया — दिल्ली
३९. श्री श्रीचन्द्र रामपुरिया — कलकत्ता
४०. श्री पी० डी० डाबरीवाला — कलकत्ता
४१. श्री शुभकरण जी दस्सानी — कलकत्ता
४२. एम० सी० भंडारी — कलकत्ता

४३.	श्री जे० एम० झवेरी	मुम्बई
४४.	संपतकुमार जी गादिया	जयपुर
४५.	श्री प्रो० आर० एस० शर्मा	पटना
४६.	श्री उमाशंकर जी जोशी	दिल्ली
४७.	श्री जी० शंकर कुरूप	दिल्ली
४८.	श्री व्ही० एस० पागे	मुम्बई
४९.	श्री भक्तदर्शन	कानपुर
५०.	श्री डॉ० रइस अहमद	अलीगढ़
५१.	श्री जोकीन अल्वा एम० पी०	दिल्ली
५२.	श्री गुरुमुखसिंह मुसाफिर	दिल्ली
५३.	प्रो० रसिमुद्दीन खाँ	दिल्ली
५४.	श्रीमती ज्योत्स्ना चंदा	दिल्ली
५५.	श्री भदत आनंद कौशल्यायन	नागपुर
५६.	श्री भिक्षु जगदीश काश्यप	नालन्दा
५७.	श्री आर० डी० भंडारे	दिल्ली
५८.	श्री चाँदमल जी सरावगी	गोहाटी
५९.	श्री मन्नालाल जी सुराणा	जयपुर
६०.	श्री राजकुमार सिंह जी जैन	इन्दौर
६१.	श्री खेलशंकर दुर्लभजी जौहरी	जयपुर
६२.	श्री कन्हैयालाल जी दूगड़	कलकत्ता
६३.	श्री चन्द्रभान जी डाकलिया	श्रीरामपुर
६४.	श्री रतनलालजी जैन	दिल्ली
६५.	श्री दौलतसिंह जी जैन	दिल्ली
६६.	श्री यशपाल जैन	दिल्ली

★

● **स्वाध्याय संघ, जोधपुर**—विगत २६ वर्षों से समाज की सेवा में रत स्वाध्याय संघ जोधपुर द्वारा संत सतियों के चातुर्मास से रिक्त क्षेत्रों में धर्माराधन कराने एवं व्याख्यानादि देने के लिये स्वाध्यायियों को निःशुल्क भेजने की व्यवस्था की जाती रही है। इस वर्ष भी जिन क्षेत्रों में चातुर्मास न हों, वे स्वाध्यायियों को बुलाने के लिये निमंत्रण पत्र श्रावण शुक्ला ५ तक भेजने का ध्यान रखें। पत्र में पहुँचने का रास्ता, स्थानक का पता, संघाध्यक्ष एवं संघमंत्री का नाम एवं पता अवश्य लिखें।

निवेदक—**प्रसन्नचन्द बाफना**

संयोजक, स्वाध्याय संघ, जोधपुर, पता—बाफना दाल मिल्स, महामंदिर रेल्वे स्टेशन के सामने, जोधपुर। फोन : २०७७६

वीरायतन कर-मुक्ति प्रमाण-पत्र

BHARAT SARKAR

Karyalaya A Ayakar Ayukta, Bihar, Patna

No. C. C. 1/C I , V I - 1/72/

Dated Patna, the 16th June, 72

Telephone No. 23447

Telegram : "COMINTAK" Post Box No. 109

From,

The Commissioner of Income Tax,
Bihar, Patna.

To,

The Secretary of Society.
"VEERAYATAN"
Head Office–Rajgrih, Distt. Patna.

Sir,

Sub-Grant of Exemption U/S' SOG of the I. T. Act 1961.
Ref–Your Application Dated 11-4-72

Donations made to the Veerayatan Society Rajgrih will be eligihle to the Benefit of deduction. U/S SCG of the I. T. Act, 1961 in the hands of the donors subject of the I. T. Act, 1961 in the hands of the donors subject to the limits and conditions prescribed there in.

This Exemption is Valid up to 31-3-1973 subject to the following conditions :—

(I) Receipts issued to the donors should bear the number and date of the order. Where a mention is made of the Exemption certificate granted By the Commissioner of income Tax. The date of the validity order i. e. 31-3-1973 should Also be mentioned on the receipts issued of the donors.

(II) Staetment of accounts of receipts and Expenditure should be, submitted annually to the income Tax officer, administration, Patna.

(III) If further Renewal is required an application will be made to this office through the income-tax officer Adm. Patna

Yours Faithfully.
Sd, (Jagdish Chand)
Commissioner of income-tax Bihar
PATNA.

(Contd–2)

Memo No. GC - I/GD, VI - 1/72/29675 - 785
Dated, Patna, the 20th June 1972.

Copy to :—

1. The Secretary Central Board of direct taxes New Delhi.
2. The Director of inspection (R. S. & P.) New Delhi.
3. All Commissioners of income-tax.
4. All Asstt. Commissioners of income-tax and income-tax officers, Bihar charge.
5. The income-tax officer, Administration, Patna, He is requested to venifty and Satisfy him-self with reference to the annual statements that will be submitted by the Veerayatan Society Rajgrih that it continues to fulfil the conditions laid down in section SOG (5) and send a Report if it Applies for renewal.

Sd. (G. N. Kaul)
Asstt. Director of
Inspection (Int)

20 - 6 - 72

For Commissioner of income tax, Bihar,
Patna

वीरायतन बालिका संघ का राष्ट्रव्यापी प्रचार-अभियान

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर आयोजित [illegible]ोक मंगलकारी वीरायतन योजना को काफी उत्साहपूर्ण समर्थन प्राप्त हो रहा है। [illegible]हासती श्री सुमति कुंवर जी एवं श्री चन्दनाजी म. के सदुपदेश से स्थापित 'वीरायतन [illegible]ालिका संघ' कलकत्ता की उत्साही सचेतन बालिकाएं, वीरायतन के प्रचार, प्रसार [illegible]वं सहयोग के लिए, श्री कोकिला हेमाणी के नेतृत्त्व में, भ्रमणार्थ निकली हैं। [illegible]सन्नता की बात है कि जैन अजैन प्रायः सभी वर्ग के धर्म बन्धुओं का हार्दिक [illegible]हयोग इन्हें प्राप्त हो रहा है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :

१. **श्री कोकिला हेमाणी**—आप श्री चुनीभाई हेमाणी की सुपुत्री हैं। जब से 'वीरायतन' योजना का श्री गणेश हुआ है, आप इस में सक्रिय रस ले रही हैं। आप सुशिक्षित, व्यवहारकुशल एवं संगठनशक्ति में निपुण हैं। माता-पिता के सुसंस्कारों की सुगन्ध आपके हर व्यवहार में परिलक्षित है।

२. **श्री निर्मला गांधी**—आप महाराष्ट्र प्रान्तान्तर्गत 'मीरी' निवासी श्री गोकुलदास जी गांधी की कर्मठ सुपुत्री हैं। आप में अद्भुत कार्यक्षमता है।

३. **श्री आशा लाठिया**—आप कलकत्ता निवासी सुविख्यात श्री गाडुभाई लाठिया की सुपुत्री हैं। 'वीरायतन' कार्य में आपको अत्यंत रुचि है।

४. **श्री ऊषा दोशी**—आप श्री छबीलभाई दोशी की सुपुत्री हैं। आप स्पष्टवक्ता, मिष्टभाषी एवं सामाजिक कार्यों में समर्पण बुद्धि से कार्य करने वाली हैं।

५. **श्री कुमुद बशाणी**—आप श्री धीरजलाल बशाणी की सुपुत्री हैं। आप सेवा-कार्य में निपुण हैं। साथ ही तपस्विनी भी हैं। आपने वीरायतन के लिए अपनी सेवाएं सर्वतोभावेन समर्पित की हैं।

६. **श्री चारु देसाई**—सौम्य, सरल, हंसमुख और मिलनसार स्वभाव की आप एक सुशिक्षित बालिका हैं। आपके पिता श्री हरिशभाई देसाई हैं। आप वीरायतन बालिका संघ की अध्यक्ष हैं। आपसे संघ को महत्त्व पूर्ण आशाएं हैं।

७. **श्री रंजन संघवी**—आप श्री भगवान जी संघवी की सुपुत्री हैं। वीरायतन कार्य में आप तन्मयता पूर्वक लगी हुई हैं। आप बहुत मिलनसार एवं सेवाभावी हैं।

'वीरायतन बालिका संघ' की छात्राएं : प्रचार-यात्रा पर



आप देख रहे हैं, कितनी सौम्य एवं मृदुल बालिकाएं हैं। कलकत्ता जैसी सुदूर सागरतट की नगरी से सैरसपाटे को ये घर से नहीं निकली हैं। भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अन्तर्मन में दिव्य ज्योति जलाए, ये निकली हैं—उनकी पवित्र स्मृति में रूपायित होने वाली जनकल्याणी 'वीरायतन योजना' के हेतु प्रचार, प्रसार एवं जनसंपर्क के लिए —संपादक

●

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

पर्युषण की मधुबेला

आज जल पड़ा [illegible]
मानवता का [illegible]
वैर, दंभ, हिं[illegible]
धू-धू कर [illegible]

*

पर्युषण की मधु-[illegible]
बहे प्रेम की छल-छल धारा
शान्त, स्वच्छ, शीतल हो जनमन,
मिटे जगत का कल-मल सारा ।।

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०,

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन · एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष · इकतीस रुपये
तीन वर्ष · इक्कीस रुपये
वार्षिक · आठ रुपये
एक प्रति · पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ९ | सितम्बर ७२ | अंक ९

★ उपाध्याय अमरमुनि

पर्युषण का आदर्श

मन में कितने तीखे कांटे
विषधर - जैसे, शोणित - प्यासे
यत्र तत्र सर्वत्र
पड़े हैं,
उन्हें शीघ्र ही
इक - इक करके
चुनलो, फेंको,
और बीज दो
सद्‌भावों की पुष्प लताएं
खिलें पुष्प, फिर
महके, गमके
अन्तर्जीवन का जगतीतल !

●

जहर हलाहल
कितना कडुआ, कितना भीषण !
एक बिन्दु ही
शत - शत, शत - शत
प्राणों की बलि दे डाले जो,
एक पलक में स्वर्ग धरा को
रौरव की गति दे डाले जो,

भरा हुआ है
इस वाणी में !
साफ करो, बस
तिल - तिल, कण - कण
और शीघ्र ही पूर्ण लबालब
इसमें मधु अमृतरस भर दो,
ताकि
विमूर्छित हुई
चेतना, दिव्य भावना
जन - जन के
अन्तर्जीवन की
पुनः सजग हो !

●

जीवन के हर कर्म,
यत्न, उद्योग, परिश्रम
हुए, हो रहे
कितने गंदे, कितने मैले !
सड़ते हैं, बदबू देते हैं,
घृणा, वैर, हिंसा के
कितने सारे कीड़े
कुलबुल, कुलबुल करते इनमें
सद्विचार के गंगाजल में
एक - एक को
धो डालो सब,
ताकि, शुद्ध हों
खरे स्वर्ण - से
चमकें, दमकें
करें दैन्य से मुक्त
विश्व के जन को, मन को !

●

★ उपाध्याय अमरमुनि

पर्युषण जीवन का सर्वेक्षण

'पर्व' मानव-जीवन का एक विशिष्ट मंगल प्रसंग होता है। पर्व के क्षणों में अन्तर्मन का उल्लास, उत्साह, प्रमोद एवं रस इतनी तीव्रता से उभर कर आता है कि उससे मानव समाज का हर अंश, हर अंग आप्लावित हो जाता है। एक दिव्य जीवनरस मन की धरती पर उतर आता है। मानवहृदय के भाव पक्ष की एक महान् उत्कृष्ट एवं शिखर परिणति है—'पर्व'।

लोक चेतना के पर्वों का महत्व :

पर्वों के दो रूप हैं—एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर ! एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। एक बाह्य तो दूसरा आन्तरिक। लौकिक पर्व परिवार, समाज तथा राष्ट्र आदि की हृदयप्रधान प्रमोदचेतना से सम्बन्धित होते हैं। प्राचीन युग से चले आए शरद्-उत्सव, श्रावणी, दीपमाला और होलिका-वसन्तोत्सव आदि, और अभी के ये स्वतन्त्रता तथा गणतन्त्र दिवस आदि पर्व इसी श्रेणी में आते हैं। उक्त पर्वों में सरस्वती–शिक्षा, लक्ष्मी–धन संपत्ति, शक्ति–विजय श्री आदि का कोई न कोई ऐसा भौतिक ऐश्वर्य का पक्ष होता है, जो मानव समूह को हर्ष और उल्लास से तरंगित कर देता है। समाज की सामूहिक रसचेतना एक ऐसे प्रवाह में प्रवाहित होती है कि हजारों-लाखों मानव अपने क्षुद्र वैयक्तिक सीमाओं को लांघ कर एक धारा में बहने लगते हैं। इस प्रकार **'परस्परं भावयन्तः'** के रूप में जनजागरण के प्रतीक हैं—लोक पर्व भी। कम से कम लोकचेतना के इन पर्वों में द्वेष, घृणा, वैर और विग्रह की दुर्भावना से मुक्त होकर पारस्परिक स्नेह, सहयोग एवं सद्भाव की एकात्मरूप अनुराग-धारा में डुबकी लगाने लगता है—मानव समाज। अतः लोक चेतना के पर्वों की भी अपनी एक विशिष्ट उपदेयता है, जिसे योंही उपेक्षा की दृष्टि से नकारा नहीं जा सकता।

लोकचेतना के पर्व : एक खतरा :

लोकपर्वों की वेगवती धारा में एक खतरा भी है, जिसकी ओर लक्ष्य रखना अतीव आवश्यक है। लोक पर्वों में रजोगुण की प्रधानता रहती है। उनमें सक्रियता है, गति है, प्रवहणशीलता है, किन्तु वे कुछ दूर जा कर उल्लास के साथ विलास की दिशा भी पकड़ लेते हैं। मानव मन की भोग बुद्धि धीरे-धीरे अनियंत्रित होती जाती है, फलतः सांस्कृतिक पर्व सर्वथा असांस्कृतिक हो जाते हैं। जनता के स्वच्छ उल्लास को वासना के उन्माद में बदलते देर नहीं लगती है। समाचारपत्रों में आए दिन सांस्कृतिक लोक पर्वों के समय जिस मद्यपान, जूआ, अश्लील नृत्य-गान और महिलाओं के प्रति अभद्र व्यवहार आदि के समाचार आते हैं, वे इस बात के स्पष्ट साक्षी हैं कि लोक-पर्वों की जन-चेतना किस ओर जा रही है, कहाँ भटक रही है, दिग्भ्रान्त हो रही है। आज सभी देशों के समाज शास्त्री कितने चिन्तित हैं इस स्थिति पर, यह सर्व विदित है।

लोकोत्तर पर्व : जनमन का परिष्कार :

लोक-पर्वों की उक्त विषम स्थिति को, लगता है, भारतीय तत्त्वचिन्तक मनीषी महर्षियों ने पहले से ही ध्यान में रखा होगा। अतः उन्होंने लोक-पर्वों के साथ अध्यात्म-साधना को भी पर्वों का रूप दिया। अध्यात्म-साधना धर्म-साधना का एक सूक्ष्म, साथ ही दिव्यरूप है। वह व्यक्ति के धूमिल होते, मलिन होते अन्तर्हृदय का परिष्कार है, परिमार्जन है। बाहर की स्वच्छता ही स्वच्छता नहीं है। बाहर की स्वच्छता के साथ अन्तर्जीवन की स्वच्छता का होना परमावश्यक है। क्या पात्र को बाहर से धो लेना, मांज लेना ही पर्याप्त है? नहीं, पात्र को अन्दर से साफ करना, बाहर की सफाई से भी अधिक जरूरी है। भगवान् ऋषभदेव ने, मानव संस्कृति के उस आदि काल में, अपने जीवन के सन्ध्याकाल में इसीलिए धर्म साधना का उद्घोष किया था। राजनीति, एवं समाजनीति की स्थापना के बाद धर्मनीति की स्थापना करना, व्यक्ति के आन्तरिक अभ्युदय के लिए भगवान् ऋषभदेव ने बहुत आवश्यक समझा था। यदि ऐसा न होता, तो जनता अपने भोग-विलास के जाल में ही उलझ कर रह जाती। अनियंत्रित भोग अन्ततः विवेकशून्य प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है। और उसमें से अन्ततः घृणा, वैर, विद्वेष एवं विग्रह फूट पड़ता है। फलतः व्यक्ति तो दूषित होता ही है, समाज भी दूषित होता है। व्यक्ति ही तो अन्य व्यक्तियों से मिलकर समाज का रूप लेता है।

अतः समाज की शुद्धि के लिए व्यक्ति का शुद्ध होना प्रथम अपेक्षित है। और यह शुद्धि अध्यात्म-साधना के द्वारा—अहिंसा, सत्य, दया, करुणा, क्षमा, मैत्री तथा समत्व की आराधना के द्वारा ही हो सकती है। भारतीय चिन्तन का यह सबसे बड़ा महान् आविष्कार है, व्यक्ति के अन्तरतम की विशुद्धि के लिए। और जब व्यक्ति की उक्त वैयक्तिक विशुद्धि के कार्यक्रम को भारतीय दर्शन ने सामूहिक साधना के रूप में पर्व का रूप दिया तो यह भारतीय चिन्तन का एक तरह से सर्वोत्तम निष्कर्ष था।

लोकोत्तर पर्वों का मुकुटमणि : पर्युषण पर्व :

प्रायः प्रत्येक धर्म परम्परा में लोकोत्तर पर्वों का प्रचलन हुआ है। व्यक्तिनिष्ठ साधना को समूह के रूप में समाजनिष्ठ बनाने के अनेक उपक्रम हुए हैं, और वे सफल भी हुए हैं। परन्तु जैन परम्परा का पर्युषण पर्व इस दिशा में अपनी एक अलग ही विलक्षण विशेषता रखता है। पर्युषण पर्व वार्षिक पर्व है। यह अन्तरात्मा के निकट में होने का पर्व है। परि = सब ओर से लौट कर पूर्ण रूप से आत्मा के निकट में, निकट में क्या, आत्मा में ही आत्मा का उषण = समाहित हो जाना है। कर्मक्षेत्र में संघर्षरत होने के कारण साधारण साधक की आत्म-चेतना बाहर में फैल जाती है। अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक सीमाओं को लाँघ कर राग द्वेष के अविशुद्ध द्वन्द्वचक्र में उलझ जाती है। कर्म से इन्कार नहीं है। किन्तु वह राग-द्वेष मुक्त वीतराग धरातल पर होना चाहिए। गंगा को बहना है, ठीक है, पर गंगा को गंगा के रूप में ही बहना है, सड़ते और बदबू देते गंदे नाले के रूप में नहीं बहना है। किन्तु साधारण साधक कर्म की गंगा को निर्मल नहीं बनाये रख सकता है। कहीं-न-कहीं वह भूल ही जाता है, फलतः कोई-न-कोई गलत कदम उठा ही लेता है। पर्युषण पर्व उसी का समाधान प्रस्तुत करता है। पर्युषण पर्व पर साधक अपने विगत जीवन का सर्वेक्षण करता है, क्या खोया, क्या पाया का लेखा-जोखा लगाता है। अपने आध्यात्मिक आय-व्यय की, हानि-लाभ की जाँच करता है। कुशल व्यापारी प्रति दिन ही अपने आय-व्यय को परखता है। वर्ष भर के आय व्यय का तो अवश्य ही हिसाब करना होता है उसे। यदि वह ऐसा न करे, तो सारा व्यापार अन्धकार में डूबा रहेगा, और एक दिन सब चौपट हो जाएगा।

'पर्युषण' जीवन की डायरी का सिंहावलोकन है, जीवनरूपी बही-खाते की जाँच पड़ताल है। यह अतीत का स्मरण है कि बीता वर्ष कैसा बीता है?

वह पशुता में गुजरा है या मानवता में ? किसका कितना अंश रहा है ? पर्युषण पर्व में यह देखना होता है कि अहिंसा, सत्य, संयम और सदाचार की साधना में प्रगति के चरण कहाँ तक आगे बढ़े हैं ? आध्यात्मिक प्रगति में कहाँ क्या रोडा अटका है ? भगवान् महावीर ने कहा है—साधक को प्रतिदिन सुवह-शाम यह देखना है, विचार करना है कि मैंने अब तक क्या कर लिया हैं ? और क्या करना अभी बाकी है । और ऐसा कौनसा सत्कर्म शेष रहा है, जो मैं कर सकता था, करने की मेरी क्षमता थी, स्थिति अनुकूल भी थी, फिर भी मैं नहीं कर पाया ? और वह क्यों नहीं कर पाया ? यदि कोई साधक ऐसा विचार नहीं करता है, अपने अतीत और भविष्य के कर्तव्य कर्मों की जाँच पड़ताल नहीं करता है तो वह साधक ही नहीं है । **'किं मे कडं किच्च मे किच्च सेसं, न सक्कणिज्जं न समायरामि'** ।

वैदिक धर्म के महान् उपनिषद् ग्रन्थ 'ईशावास्य' में भी यही कहा है—**'कृतं स्मर'** । अर्थात् अपने किए को याद कर । अच्छाई को याद कर, बुराई को याद कर । जब साधक अपने किए को याद करता है, अपने अतीत पर दृष्टिनिक्षेप करता है, तो उसे पता लगता है कि मैंने क्या खोया है, क्या पाया है ? सत्कर्म के प्रति मुझ में कहाँ क्या शिथिलता है ? कौनसी त्रुटियां हैं मेरे जीवन में और वे क्यों हैं ! मुझे तन मन का आलस्य आगे नहीं बढ़ने देता ? या समाज का, सम्प्रदाय का, या पंथ का भय मुझे उठने नहीं देता ? या अन्दर की वासनाएँ ही कुछ ऐसी हैं, जो मुझे अन्दर-ही-अन्दर खोखला कर रही हैं ? पर्युषण इसी **'कृतं स्मर'** का महान् पर्व है ।

पर्युषण वैयक्तिक स्तर पर भी हो सकता है । ऐसा होता भी है । परन्तु जैन परंपरा के महर्षियों ने इसे सामाजिकता का विराट रूप देकर इसे पर्व ही नहीं, पर्वाधिराज बना दिया है । वैयक्तिक आध्यात्मिक चेतना को सामाजिक चेतना का रूप देना, हमारे दार्शनिक चिन्तन का नवनीत है । पर्युषण पर्व में हजारों-हजार साधक एक साथ बैठ कर जब प्रतिक्रमण करते हैं, अपने विगत की भूलों के प्रति **'मिच्छा मि दुक्कडं'** का समवेत उद्घोष करते हैं, अपने पूर्व के महान् अर्हन्तों एवं सिद्धों की भक्तिरस में झूमते हुए स्तुति वन्दना करते हैं, और **'मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ'** अर्थात् विश्व के सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है। किसी के साथ भी जाति, धर्म या राष्ट्र आदि के रूप में मेरा वैर और घृणा का भाव नहीं है, यह समवेत घोषणा करते हैं तो कितना अद्भुत दृश्य होता है वह ! लगता है सद्भाव, स्नेह और प्रेम की

पवित्र मानसी गंगा की अजस्र धारा बह निकली है, वैर और घृणा के दुर्विचार रूप कूड़े-करकट को अपनी चिदाकाश चूमती लहरों से बहा कर दूर फेंक रही है। प्रतिक्रमण की साधना के बाद क्षमा-याचना के समय जब हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाये साधक एक दूसरे से, अपने विरोधी से भी क्षमा मांगते हैं, तो मालूम होता है, जन-जन के मन में कब का सोया दिव्य देवत्व जाग उठा है। सामूहिक धर्म-साधना का कुछ रूप ही अनोखा होता है।

पर्युषण को व्यापकता चाहिए :

जब भी कोई साधना रूढि का रूप ले लेती है, तो वह निष्प्राण हो जाती है। अपना मूल अर्थ खो देने के बाद वह केवल समय पर दुहराने जैसा एक प्रदर्शनभर हो जाता है। पर्युषण भी जैन परंपरा में कुछ ऐसी ही स्थिति पर पहुंच रहा है। विश्व मैत्री का उद्घोष करने वाले अपनी ही शाखा-प्रशाखाओं में मैत्री भावना नहीं साध पाते है। खेद है, परस्पर में वही घृणा, निन्दा, कलह और एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति घटने की अपेक्षा बढ़ती ही जा रही है। अपेक्षा है, पर्युषण को अपने नाम के अनुसार यथार्थ आध्यात्मिक रूप देने की !

और जैन समाज ही क्यों, पर्युषण का विस्तार जैनेतर समाज में भी होना चाहिए। यह कोई साम्प्रदायिक क्रियाकाण्ड नहीं है। यह तो एक विशुद्ध आध्यात्मिक प्रक्रिया है। अन्तर्जीवन के परिमार्जन की एक आन्तरिक साधना है। मैं समझता हूं, पर्युषणपर्व की आध्यात्मिक चेतना के सम्बन्ध में किसी का कोई विवाद नहीं है। अतः अपेक्षा है, पर्युषण के ऊपर से बाह्य आवरण को हटा कर, उसके आन्तरिक विश्व-मंगल आदर्श को, बिना किसी भेद-भाव के, सर्वसाधारण जनता के समक्ष उपस्थित करने की।

●

पर्युषण की मधुवेला है,
मैत्री का विस्तार करो।
अपना और पराया क्या है,
सब से हंस-हंस प्यार करो॥

—उपाध्याय अमरमुनि

●

★ मुनि नेमिचन्द्र, आगरा

पर्युषण पर्व की साधना

प्रतिवर्ष पर्युषण-पर्व आता है और चला जाता है। वह अपनी ओर से सुन्दर प्रेरणा दे जाता है। परन्तु उस प्रेरणा को ग्रहण करने की रुचि, वृत्ति, योग्यता और क्षमता हर व्यक्ति में नहीं होती। सामान्य मानव तो भारत-वर्ष में मनाये जाने वाले दूसरे पर्वों की तरह इस पर्व को भी अच्छे कपड़े पहनने, गहनों से शरीर सुसज्जित करने, मिठाइयाँ और चटपटी चीजें खाने-पीने और आमोद-प्रमोद के रूप में मनाते हैं। कई लोग इनसे कुछ ऊपर उठ कर उपवास आदि तपश्चर्या करके, कुछ धार्मिक क्रियाएँ करके और जप आदि करके मनाते हैं। परन्तु जो विशिष्ट विचारक होते हैं, साधना में रुचि रखते हैं और उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहते हैं, वे इस पर्व से उत्तम प्रेरणा लेकर इन पर्व दिनों में अपना आत्म-निरीक्षण करते हैं, आत्म-शुद्धि करते हैं और साधना में आगे बढ़ने के लिए नये संकल्प भी करते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी जीवन साधना भी केवल स्वयं अकेले का विचार करने मात्र से सफल नहीं हो सकती। उसे अपने पारिपार्श्विक वातावरण, जगत् के जीवों, खास तौर से मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्धों, अनुबन्धों का विचार किये बिना कोई चारा नहीं। अकेली आत्मा भी तो साधना नहीं कर सकती। उसके साथ शरीर संलग्न हो, अनुकूल व्यक्तियों का सहयोग हो, अनुकूल वस्तुओं का संयोग हो, वातावरण भी आराधना के अनुकूल हो; तभी जीवनसाधना उचित रूप से की जा सकती है। इसीलिए पर्युषण के ८ दिन भाद्रपद मास में आते हैं, जिस समय वर्षा की सुहावनी ऋतु होती है, पाचन क्रिया बिगड़ जाने के भय से इन दिनों अल्पा-हार या आहार-त्याग भी कष्टप्रद नहीं होता, चारों तरफ हरियाली छा जाने से प्रकृति में भी सजीवता और सरसता आ जाती है। इन दिनों में न अधिक गर्मी होती है, न अधिक ठंड। इसलिए शरीर में न तो खुश्की पैदा होती है और न ठंड के कारण व्याकुलता। साधना के लिए, चिन्तन-मनन के लिए और आत्ममन्थन करके नवीन शुभ संकल्प के लिए ये दिन बहुत ही अनुकूल होते हैं। साधना के लिए सरस और अनुकूल वातावरण होने पर साधक का मन, उसकी रुचि और वृत्ति साधना में शीघ्र ही लग जाती है। उसका हृदय उस

समय साधना में आगे बढ़ने के लिए उछल पड़ता है। उसके जीवन में एक अजीब मस्ती छा जाती है। वह अपनी आत्मा में गहरी डुबकी लगा कर आत्मा से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु (जड़ या चेतन) का पर्यालोचन करता है। उसे इस प्रकार की साधना में सहजता और अनायासता लगती है। कोई अरुचि या घबराहट उसे साधना से विचलित नहीं कर पाती।

पर्युषणपर्व के दिनों में वर्षा की सुहावनी मौसम होने से सूर्य का प्रचण्ड ताप भी नहीं पड़ता, जो साधना करने वाले को घबराहट में डाल दे और न ही ठंढी हवा का इतना जोर होता है, जो सन्-सन् करती हुई कलेजा चीर दे। इस समय पृथ्वी भी न तो तवे की तरह तपी रहती है और न बर्फ की तरह ठंडी ही होती है। अत्यधिक गर्मी और अत्यन्त सर्दी न होने से ऐसे समय में दूसरे प्राणी भी शान्त हो जाते हैं। साधना में बैठे हुए व्यक्ति को कोई कष्ट नहीं देते, और गृहस्थ लोगों—खास कर व्यापारियों और किसानों को इन दिनों में वर्षा होने के कारण रोजगार धंधा कम चलने से काफी समय भी मिल जाता है। व्यापारादि झंझटों से थोड़ा अवकाश लेकर व निवृत्त होकर ही मनुष्य भलीभाँति साधना कर सकता है। यही कारण है कि पर्युषण का एक अर्थ उच्चकोटि के साधकों (साधु साध्वियों) के लिए अमुक दिनों तक जम कर एक जगह निवास करना भी बतलाया गया है। और ये दिन श्रावण और भाद्रपद के ही होते हैं, जो एक जगह स्थिर होकर साधना करने के लिए बहुत ही उपयुक्त होते हैं।

मनुष्य अपने शरीर और परिवार के अलावा अनेक लोगों के सम्पर्क में आता है। अपना शरीर भी कभी-कभी पूर्व-जन्म के कर्म-संस्कार-वश रोगी, इन्द्रियों और मन की विषयो के प्रति आसक्ति और चंचलता से ग्रस्त, क्रोधी, लोभी और अभिमानी होने से साधना के लिए अनुकूल नहीं होता। अपना परिवार या संघ भी कदाचित् पूर्वाग्रह, रागद्वेष, कषाय और अहितकर कुरूढ़ियों से घिरा हो तो साधक की साधना में बाधक बनता है। साथ ही अमुक धर्म, जाति, प्रान्त, राष्ट्र और भाषा वाला जनसमुदाय भी बहुधा कई बार पूर्वाग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, और वैर-विरोध से प्रेरित होकर साधक की साधना में अन्तराय डालता है।

पर्युषणपर्व की साधना का प्रारम्भ तो वातावरण की अनुकूलता से हो ही जाता है। इसके बाद शरीर, मन और इन्द्रियों की अशुद्धि को, साधना में बाधक प्रवृत्तियों को या शरीरादिगत प्रमाद कषाय वगैरह दोषों को दूर करने के लिए नियम, व्रत, तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान, प्रायश्चित्त, विनय,

प्रतिक्रमण, आलोचन (आत्मनिरीक्षण), पश्चात्ताप (आत्म-निन्दा, गर्हा), वैयावृत्य या व्युत्सर्ग आदि का अभ्यास करना आवश्यक है। तभी कषायों व दोषों का पर्युपशमन हो सकता है।

पर्युषणपर्व आठ दिनों का होता है। इन आठ दिनों में साधना का ऐसा अभ्यास किया जाय कि वर्षभर तक व्यवस्थित, नियमित व निर्विघ्न रूप से साधना चलती जाय।

अपने परिवार या संघ की प्रतिकूलता को मिटाने के लिए सर्व प्रथम तो आत्मनिरीक्षण करे कि कहीं मेरे में तो कोई ऐसा दोष—फिर वह चाहे स्वभावगत हो, स्वार्थ, लोभ, क्रोध, कपट या अभिमान आदि का हो—तो नहीं है, जिसके कारण परिवार या संघ प्रतिकूल है। उसके पश्चात् वह अपने निजी दोषों, अपनी भूलों और त्रुटियों के लिए परिवार या संघ से विनय पूर्वक क्षमायाचना करेगा; उसके प्रति सद्भावना रख कर अपनी भूलों को प्रायश्चित्तादि द्वारा सुधारेगा, अपने जीवन का चिन्तन-मनन करके ध्येय के प्रति जागरूक रह कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करेगा।

इसके पश्चात् विश्व के अन्य राष्ट्रों, प्रान्तों, जातियों, धर्मों या भाषाओं वाले मानवों या मानवेतर प्राणियो में जो विरोध या द्वेष आदि करने वाले हों, उनके प्रति सद्भावना, समन्वय, शान्ति, गुणग्रहण, सदाशयता, सहिष्णुता और उदारता रख कर विश्ववात्सल्य की भावना के शिखर पर चढ़ कर उन्हें अनुकूल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। साथ ही मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावना के यथायोग्य उपयोग द्वारा उनके कषायों को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैसे ईसाई धर्म में मानव सेवा की सक्रिय प्रवृत्ति है, वैसे ही पर्युषणपर्व का साधक भी भविष्य में मानव सेवा का संकल्प अपनी-अपनी भूमिका की मर्यादा के अनुसार करे। पर्युषण शब्द का एक रूपान्तर परिभूषणा होता है, जो इसी आशय को व्यक्त करता है। लेकिन इन सबके लिए आत्म-निरीक्षण, प्रतिक्रमण आदि होना अनिवार्य है।

पर्युषण पर्व की इन आठ दिनों की साधना में बाह्य-तप, ब्रह्मचर्य-पालन, पौषधग्रहण, व्रत-नियमों का पालन, त्याग-प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएँ, प्रवचन-श्रवण वगैरह बहुत ही सहायक हैं।

साधना की तीव्रता या मन्दता साधकों की रुचि, उत्साह, धृति, वृत्ति, योग्यता और कार्यक्षमता पर निर्भर है। यदि साधक में किसी पूर्व-संस्कारवश अरुचि हुई, वह साधना को भार रूप मानता रहा या लोक दिखावे के लिए साधना करता रहा तो साधक का उत्साह नष्ट हो जायगा, उसकी योग्यता

और कार्य-क्षमता नहीं बढ़ेगी, साधना के लिए जितना धैर्य और गाम्भीर्य चाहिये, उतना उसमें नहीं रहेगा, उसकी सहिष्णुता और उदारता भी समाप्त हो जायगी। उसकी पर्युपण पर्व की साधना रूढ़िगत और प्रवाहपतित होगी। उसमें कोई तेजस्विता और अग्रगामिता नहीं आएगी।

इसके विपरीत पूर्व सुसंस्कारवश जिन साधकों की रुचि साधना में होगी, वे उसके साधक-बाधक कारणों को जानने का प्रयत्न करेंगे। वे अपनी योग्यता और कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए उत्साहपूर्वक साधना में प्रवृत्त होंगे। उनमें कष्ट-सहिष्णुता, धृति, गम्भीरता और अन्य साधकों के प्रति उदारता होगी। ऐसे उदारचरित साधकों में दूसरों की आलोचना करने, त्रुटि देखने, दोष दर्शन करने के प्रति उपेक्षा होगी और अपनी छोटी-सी भूल या गलती को शीघ्र निकालने की तीव्रता होगी। वे साधना को भाररूप न समझ कर सहज भाव से तीव्रतापूर्वक साधना में अपने को तन्मय कर देंगे। ऐसे साधक प्रतिवर्ष आगे से आगे प्रगति करते जाते हैं, नवीन संकल्प लेकर उत्साह-पूर्वक आगे बढ़ते जाते हैं।

ऐसे उत्साही और तीव्र साधनापरायण व्यक्ति भी तीन प्रकार के होते हैं। लार्ड बेकन अपने युग का महान् बुद्धिशाली व्यक्ति हो गया है। उसने साधना की दृष्टि से तीन प्रकार के मनुष्यों का अपनी पुस्तक में जिक्र किया है :

प्रथम प्रकार के साधक वे हैं, जो चींटी की भांति संग्रह करने में लगे रहते हैं। वे साधना की केवल एक ही पद्धति या परिपाटी में बंद नहीं हो जाते। चूँकि साधना किसी देश या व्यक्ति की बपौती नहीं है। वे साधना की प्राचीन और अर्वाचीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य, जैनधर्म और इतरधर्मों की विभिन्न पद्धतियों, परम्पराओं और परिपाटियों का अध्ययन करते हैं। पर्युषण पर्व की साधना—ज्ञानदर्शनचारित्र की दिशा प्रगति करने की विशिष्ट साधना—के अनुकूल उन सभी पद्धतियों में से अन्वेषण और समन्वय करके अपना लेते हैं। जहाँ से भी उन्हें साधना के कण सुलभ होते हैं, वहाँ से वे उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। चींटी का विशेष गुण यही है कि शक्कर का कोई कण कितनी ही दूर पड़ा हो, वह उसके पास पहुँच ही जाती है और उसे लाकर अपने बिल में इकट्ठा कर लेती है। साधना के क्षेत्र में विचरण करने वाला साधक भी चींटी की भांति ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना के कणों को एकत्र करे। विश्व में जितने भी महान् साधक हो गए हैं, उनके प्रति आदर-

भाव (प्रमोदभावना) रखते हुए उनके साधना-गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करे।

दूसरे प्रकार के साधकों को बेकन ने मकड़ी की उपमा दी है। जिस प्रकार मकड़ी अपने अंदर से जाला निकाल कर अपने चारों ओर पूर लेती है और सुरक्षा का अनुभव करती है, उसी प्रकार जो साधक मननशील हैं, युग-द्रष्टा और विचारक हैं, वे अपने अन्तस्तल में छिपी हुई साधना की अनुभूति को, साधना के विशिष्ट अनुभवों की निधि को, अपने मनन और चिन्तन द्वारा जिज्ञासु साधकों के सामने रखते हैं। मन के रत्नाकर में निहित अनुभव रत्नों को, युगदर्शन को और विचारकणों की अतुल्य संपत्ति को साधक जगत् के सामने प्रकट करते हैं। हम सबके अन्दर जन्म-जन्मान्तर की स्मृतियों के रूप में न जाने कितनी अनुभवज्ञानराशि संचित पड़ी है। सतत साधना करते रहने से तो अनुभवों का पुंज इकट्ठा होता ही है, परन्तु अन्त-मंनन के द्वारा वह विशेष रूप से बाहर आता है। चिन्तन विगत का होता है, मनन समक्ष आये हुए का। दोनों ही साधनानुभूति के प्रगट करने के लिए साधन हैं।

तीसरे प्रकार के साधक लार्ड बेकन की दृष्टि में मधुमक्खी के समान हैं। मधुमक्खियाँ सतत परिश्रम करके फूल-फूल से रस लाकर अपने छत्ते में इकट्ठा करती हैं और अपनी विलक्षण रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा उसे मधु में परिणत कर देती हैं। वह मधु स्वास्थ्यवर्द्धक, शक्तिवर्द्धक और स्फूर्तिवर्द्धक होता है। इसी प्रकार कई साधक मधुमक्खी के समान विविध ज्ञानी और अनुभवी पुरुषरूपी पौधों से साधना का अनुभवरस लेकर इकट्ठा करते हैं, किन्तु देने का समय आता है, तब अपनी अन्तःस्थ अनुभवशाला से विशिष्ट रासायनिक प्रकिया के द्वारा द्रव्यक्षेत्रकाल-भाव के अनुकूल, युगलक्षी दृष्टि से तोलकर उस अनुभव रस का स्वयं सेवन करते हैं और जगत् के जिज्ञासु साधकों को भी लुटाते हैं। इस रस के सेवन करने से सबकी साधना में शक्ति, स्फूर्ति और तेजस्विता बढ़ जाती है।

पर्युषण पर्व के महान् दिवसों में हम ऐसी साधना करें, जिससे सारा जगत् चमत्कृत हो उठे, विश्व इन साधकों से प्रेरणा लेकर सुख शान्ति के मार्ग पर आगे बढ़े, प्राणिमात्र में मैत्रीभाव पैदा हो, अपने जीवन की उन्नति के साथ-साथ समाज-जीवन की भी उन्नति हो। ये पर्व ऐसी साधना का संदेश लेकर ही आते हैं। परम कृपालु वीतरागप्रभु सबको ऐसी साधना करने का बल दें।

●

★ उपाध्याय अमरमुनि

जीवन शुद्धि का महामंत्र मिच्छा मि दुक्कडं !

'मिच्छामि दुक्कडं' जैन संस्कृति की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। जैन धर्म का समग्र साधना-साहित्य 'मिच्छामि दुक्कडं' से भरा हुआ है। साधक अपनी भूल के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' देता है और पापमल को धोकर पवित्र बन जाता है। भूल हो जाने के बाद, यदि साधक 'मिच्छामि दुक्कडं' दे लेता है, तो वह आराधक कहा जाता है। इसके विपरीत यदि अभिमानवश अपनी भूल नहीं स्वीकार करता एवं उसके लिए मिच्छामि दुक्कडं नहीं कहता, तो वह धर्म का विराधक रहता है, आराधक नहीं।

मन में किसी के प्रति द्वेष आए तो 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना चाहिए। लोभ या छल की दुर्भावना आए, तो 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना चाहिए। विचार में कालिमा हो, वाणी में मलिनता हो, आचरण में कलुषता हो, अर्थात् खाने में, पीने में, जाने में, आने में, उठने में, बैठने में, सोने में, बोलने में, सोचने में, कहीं भी कोई भूल हो तो जैन-धर्म का साधक 'मिच्छामि दुक्कडं' का आश्रय लेता है। उसके यहाँ 'मिच्छामि दुक्कडं' प्रतिक्रमणरूप[1] प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त साधना को पवित्र, निर्मल, स्वच्छ तथा शुद्ध बनाता है।

आप विचार करते होंगे कि क्या 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने से ही सब पाप धुल जाते हैं? यह क्या कोई छूमन्तर है, जो 'मिच्छामि दुक्कडं' कहा और सभी पाप हवा हो गए। समाधान है कि केवल कथनमात्र से ही पाप दूर हो जाते हों, यह बात नहीं है। खाली शब्द में किसी को पवित्र या अपवित्र

१—'मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्ति प्रतिक्रिया, प्रतिक्रमणम्।
—राजवार्तिक ६।२२।३।

करने जैसी कोई शक्ति नहीं है। वह एक जड़ वस्तु है, क्या किसी को पवित्र बनाएगा। परन्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मन का भाव ही सबसे बड़ी शक्ति है। वाणी को मन का प्रतीक माना गया है। अतः 'मिच्छामि दुक्कड' महा-वाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भाव रहा हुआ होता है, उसी में दूषित अन्तर्मन को पवित्र बनाने की शक्ति है और वह अपने में एक बहुत बड़ी शक्ति है। पश्चात्ताप का दिव्य निर्झर आत्मा पर लगे पापमल को बहाकर साफ कर देता है। यदि साधक परम्परागत निष्प्राण रूढ़ि के फेर में न पड़कर, सच्चे मन से पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करे, पश्चात्ताप करे, तो वह पाप-कालिमा को सहज ही धोकर साफ कर सकता है। आखिर दोष एवं अपराध की निष्कृति के लिए तपश्चरण आदि के रूप में विहित दण्ड मूल में पश्चात्ताप ही तो है? यदि मन में पश्चात्ताप न हो और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त बाहर में ग्रहण कर भी लिया जाए तो क्या आत्मशुद्धि हो सकती है? कदापि नहीं। दण्ड का उद्देश्य देह का दण्ड नहीं है, अपितु मन का दण्ड है। और यह मन का दण्ड क्या है? अपनी भूल को स्वीकार कर लेना, सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर लेना ही तो मन का दण्ड है। यही कारण है कि जैन एवं अन्य भारतीय साहित्य में साधना के क्षेत्र में पाप के लिए प्रायश्चित का विधान किया है, दण्ड का नहीं। दण्ड प्रायः बाहर ही अटक कर रह जाता है, अन्तरंग में प्रवेश नहीं कर पाता, पश्चात्ताप का झरना नहीं बहाता। दण्ड में दण्डदाता की ओर से बलात् विवशता की प्रधानता होती है और प्रायश्चित साधक की स्वयं अपनी सहज तैयारी होती है। वह अपने स्वयं के पापों का परिशोधन करने के लिए साधक के अन्तर्हृदय का सहज सात्विक उल्लास है। अतः वह अपराधी को पश्चात्ताप के द्वारा भावुक बनाता है, विनीत बनाता है, सरल एवं निष्कपट बनाता है, दण्ड पाने वाले के समान लाचार, धृष्ट या क्षुब्ध नहीं। हाँ, तो 'मिच्छामि दुक्कडं' भी एक प्रायश्चित्त है। इसके मूल में पश्चात्ताप की भावना है, यदि वह सच्चे मन से हो तो?

ऊपर में बार-बार सच्चे मन और पश्चात्ताप की भावना का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि आजकल 'मिच्छामि दुक्कडं' काफी बदनाम हो चुका है। आज के साधकों की साधना के लिए, आत्मशुद्धि के लिए तैयारी तो होती नहीं है। प्रतिक्रमण का मूल आशय समझा तो जाता नहीं है। अथवा समझकर भी नैतिक दुर्बलता के कारण आध्यात्मिक विकास तक नहीं पहुंचा जाता है। अतः आज का साधक लोकरूढि के कारण

प्रतिक्रमण तो करता है, 'मिच्छामि दुक्कडं' भी देता है, परन्तु उसी पाप को फिर करता रहता है, उसमें निवृत्त नहीं होता। पाप करना और मिच्छामि दुक्कडं देना, फिर पाप करना और फिर मिच्छामि दुक्कडं देना—यह सिलसिला जीवन के अन्त तक चलता रहता है। और यह स्पष्ट है कि इससे आत्मशुद्धि के पथ पर जरा भी प्रगति नहीं हो पाती।

जैन धर्म इस प्रकार की बाह्य साधना को द्रव्य साधना कहता है। विगत पाप की शुद्धि के लिए केवल वाणी से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना और फिर उसी पाप को करते जाना, वह ठीक नहीं समझता है। मन के मैल को साफ किये विना और उस पाप को पुनः नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना, खाली ऊपर-ऊपर से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरे के दिल को दुखाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें, अन्याय अत्याचार करते रहें और दूसरी ओर 'मिच्छामि दुक्कडं' की रट लगाते रहें, तो यह साधना का मजाक नहीं तो और क्या है ? यह आत्मवंचना है, साधना नहीं है। इस प्रकार के 'मिच्छामि दुक्कडं' की जैन धर्म ने कठोर आलोचना की है। इसके लिए आवश्यक चूर्णि में आचार्य जिनदास, कुम्हार के पात्र फोड़ने वाले एक शिष्य का उदाहरण देते हैं :

एक बार एक आचार्य किसी गाँव में पहुँचे और कुम्हार के पड़ौस में ठहरे। आचार्य का एक छोटा शिष्य चंचल प्रकृति का खिलाड़ी व्यक्ति था। कुम्हार ज्योंही चाक पर से पात्र उतार कर भूमि पर रखता और वह शिष्य ताक कर कंकड़ का ऐसा निशाना मारता कि कच्चे पात्र को झट फोड़ देता। कुम्हार शिकायत करता तो वह 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने लगता। परन्तु वह रुकता नहीं था, बार-बार 'मिच्छामि दुक्कडं' देता रहा और पात्र तोड़ता रहा। आखिर कुम्हार को आवेश आ गया। उसने एक कंकड उठाकर क्षुल्लक के कान पर रखा, और ज्योंही जोर से दबाया, कि वह पीड़ा से तिलमिला उठा। उसने कहा—'अरे, यह क्या कर रहा है ?' कुम्हार ने कहा—'मिच्छामि दुक्कडं'। कुम्हार कान को दबाता जाता, और मिच्छामि दुक्कडं कहता जाता, अन्ततः क्षुल्लक को अपने 'मिच्छामि दुक्कडं' की भूल स्वीकार करनी पड़ी।

जब तक पश्चात्ताप न हो, तबतक केवल वाणी का 'मिच्छामि दुक्कडं' कुम्हार का मिच्छामि दुक्कडं है। यह मिच्छामि दुक्कडं आत्मा को शुद्ध तो क्या करेगा, प्रत्युत, और अधिक अशुद्ध बना देता है। यह मार्ग पाप के

प्रतिकार का नहीं, प्रत्युत पाप के प्रचार का है। देखिए, आवश्यक निर्युक्ति में, आचार्य भद्रबाहु, इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

जइ य पडिक्कमियव्वं,
अवस्स काऊण पावयं कम्मं।
तं चेव न कायव्वं,
तो होइ पए पडिक्कंतो ॥६८३॥

—पाप कर्म करने के पश्चात् जब प्रतिक्रमण अवश्य करणीय है, तब सरल मार्ग तो यह है कि वह पाप कर्म किया ही न जाए। आध्यात्मिक दृष्टि से वस्तुतः यह सच्चा 'प्रतिक्रमण' है।

जं दुक्कडं ति मिच्छा,
तं भुज्जो कारणं अपूरेंतो।
तिविहेण पडिक्कन्तो,
तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥६८४॥

—जो साधक मन, बचन, काय के त्रिविध योग से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के लिए मिच्छामि दुक्कडं देता है फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, वस्तुतः उसी का दुष्कृत—पाप मिथ्या अर्थात् निष्फल होता है।

जं दुक्कडं ति मिच्छा,
तं चेव निसेवए पुणो पावं।
पच्चक्ख— मुसावाई,
मायानियडी—पसंगो य ॥६८५॥

—साधक पाप के प्रति एक बार मिच्छामि दुक्कडं देकर यदि फिर उसी पाप का सेवन करता है, तो वह प्रत्यक्षतः झूठ बोलता है, दम्भ का जाल बुनता है।[1]

१. जैन जगत् के महान् दार्शनिक वाचक यशोविजय भी गुर्जर भाषा की अपनी एक रचना में इसी भावना को व्यक्त करते हैं—

'मूलपदे पडिकमणुं भाख्युं, पापतणुं अणकरवूं।
मिच्छा दुक्कडं देई, पातक,
ते भावे जे सेवे रे।
आवश्यक साखे ते परगट,
माया-मोसो सेवे रे ॥'

आचार्य धर्मदास तो 'उपदेश माला' में इस प्रकार के धर्मध्वजी एवं बकवृत्ति लोगों के लिए बड़ी कठोर भर्त्सना करते हैं। उन्हें मिथ्यादृष्टि तक कहते हैं।

जो जहावायं न कुणइ,
मिच्छाविट्ठी तओ हु को अन्नो ?
बुड्ढेइ य मिच्छत्तं,
परस्स संकं जणेमाणो ॥५०६॥

—जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा करता नहीं है, तो उससे बढ़कर मिथ्या दृष्टि और कौन होगा ? वह दूसरे भद्र लोगों के मन में धर्म के प्रति शंका का भाव पैदा करता है। और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि ही करता है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आवश्यक निर्युक्ति में, 'मिच्छामि दुक्कडं' के एक-एक अक्षर का अर्थ ही इस रूप में करते हैं कि यदि साधक 'मिच्छामि दुक्कडं' कहते समय उस पर गहराई से विचार कर ले, तो फिर दुबारा वह पापाचरण कर ही नहीं सकेगा।

'मि'त्ति मिउमद्दवत्ते,
'छ'त्ति य दोसाण छायणे होइ।
'मि'त्ति य मेराए ठिओ,
'दु'त्ति य दुगुंछामि अप्पाणं ॥६८६॥
'क'त्ति कडं मे पावं,
'ड'त्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छा—दुक्कड-
पयक्खरत्थो समासेणं ॥६८७॥

—'मि' का अर्थ मृदुता और मार्दवता है। काय-नम्रता को मृदुता कहते हैं और भाव नम्रता को मार्दवता। 'छ' का अर्थ असंयमयोग-रूप दोषों को छादन करना है, अर्थात् रोकना है। 'मि' का अर्थ मर्यादा है, अर्थात् मैं चारित्र रूप मर्यादा में स्थित हूँ। 'दु' का अर्थ निन्दा है, अर्थात् मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्मपर्याय की निन्दा करता हूँ। 'क' का भाव पापकर्म की स्वीकृति है, अर्थात् मैंने पाप किया है, इस रूप में अपने पापों को मुक्त मन से स्वीकार करना है। 'ड' का अर्थ उपशम भाव के द्वारा पाप कर्म का प्रतिक्रमण करना है, पाप क्षेत्र को लाँघ जाना है। यह संक्षेप में 'मिच्छामि दुक्कडं' पद का अक्षरार्थ है।

हाँ, तो संयमयात्रा के पथ पर प्रगति करते हुए यदि कहीं साधक से भूल हो जाए तो सर्वप्रथम उसके लिए सच्चे मन से पश्चात्ताप होना चाहिए। फिर से उस भूल की आवृत्ति न होने देने के लिए सतत सजग प्रयत्न भी चालू रहना चाहिए। मन का साफ होना अत्यन्त आवश्यक है। दिल में घुन्डी रखकर कुछ भी आध्यात्मिक सफलता नहीं मिल सकती है। इस प्रकार पश्चात्ताप के उज्ज्वल प्रकाश में, यदि मन, वाणी और कर्म से 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाए तो वह कदापि निष्फल नहीं हो सकता। वह अन्तर्मन के पाप की कालिमा को अवश्य ही धोएगा, उसे स्वच्छ, निर्मल एवं विशुद्ध बनाएगा।

●

पापाचार एक शल्य है, जो उसे बाहर न निकाल कर उसे मन में ही छिपाए रहता है, वह अन्दर में पीड़ित रहता है, बर्बाद होता है।

\+ + +

प्रतिक्रमण संयम के छेदों को बन्द करने के लिए है। प्रतिक्रमण से आश्रव रुकता है, संयम में सावधानता होती है, फलतः चारित्र की शुद्धि होती है।

\+ + +

सरल हृदय निष्कपट साधक ही शुद्ध हो सकता है। शुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण में ही धर्म ठहर सकता है। शुद्ध हृदय साधक घी से सिंचित अग्नि की तरह शुद्ध होकर परम निर्वाण अर्थात् उत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त होता है।

\+ + +

तू अपने किए पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़ दे तो स्वयं शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपने में ही हैं। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

\+ + +

यदि शल्य से मनुष्य विधा हुआ है तो, वह भाग-दौड़ मचायेगा ही। परन्तु यदि वह अन्तर में विधा हुआ बाण खींचकर निकाल लिया जाय, तो वह शान्ति से चुप बैठ जायेगा।

—भगवान् महावीर

प्रयोगात्मक दर्शन अनेकान्त

(लेखक—सौभाग्यमल जैन एवं डा० सागरमल जैन)

[गतांक से आगे]

अनेकान्त और जैन सम्प्रदायों की एकता का प्रश्न :

यह दुर्भाग्य प्रत्येक महापुरुष के साथ रहा है कि उसके ही अनुयायियों ने उसके सिद्धान्त के ठीक विपरीत आचरण किया। ईसा ने प्रेम और मानवता का जो सन्देश दिया था, ईसाईयों ने उसके विपरीत खून की होली खेली और वह भी धर्म के नाम पर। महावीर के साथ भी ऐसा ही हुआ। अनेकान्त और अपरिग्रह का राग अलापने वाला जैन समाज स्वयं ही अनेक सम्प्रदायों और उप सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। जिस अनेकान्त के माध्यम से जैन आचार्यों ने परस्पर विरोधी दर्शनों में समन्वय करने का प्रयास किया था, और षट्दर्शनों की समन्वित आराधना का पक्ष उपस्थित करते हुए कहा था :—

> **षट दर्शन जिन-अंग भणीजे,**
> **न्याय षडंग जे साधे रे।**
> **नमि जिनवर ना चरणउपासक,**
> **षट् दर्शन आराधे रे॥**

उसी में पारस्परिक मत विभिन्नता और लह देखकर उन्हें दो आँसू भी बहाने पड़े। आध्यात्मिक सन्त आनन्दघनजी इस स्थिति पर अपनी सारी पीड़ा उँड़ेलते हुए कहते हैं—

> **गच्छना बहुभेद नयने निहालता।**
> **तत्व नी बात करता न लाजे।**

आज जैन समाज को इस उपहास से बचने के लिए सक्रिय

होकर कुछ करना है। हमें अनेकान्त के माध्यम से व्यावहारिक रूप से समन्वय की आधार भूमि बनानी होगी।

प्रथमत: जैन-समाज मोटे रूप से दो सम्प्रदायों में विभाजित है— श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों में मुख्य विवाद निम्न तीन प्रश्नों पर है—

१ स्त्री मुक्ति, २ केवली भुक्ति और (३) मुनि का निर्वस्त्र होना।

प्रथम दो प्रश्न व्यावहारिक दृष्टि से आधुनिक सन्दर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते हैं। क्योंकि वर्तमान में भरत क्षेत्र में न तो कोई केवली हो सकता है और न कोई मुक्त हो सकता है। अत: इस विवाद को वर्तमान में अप्रासंगिक होने से चर्चा के क्षेत्र से ही अलग कर दिया जाए। जहाँ तक मुनि के निर्वस्त्र या सवस्त्र होने का प्रश्न है, मुनि की दो कोटियां मान ली जाएँ—(१) निर्वस्त्र और (२) सवस्त्र। वैसे भी यह कोटियां दिगम्बर समाज में मुनि और ऐलक तथा छुल्लक के रूप में पूर्व स्वीकृत हैं। वैसे व्यावहारिक रूप से जो मुनि सवस्त्र रहते हैं वे भी वस्त्रों के प्रति ममत्व भाव नहीं रखते हैं। जिस प्रकार दिगम्बर मुनि वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य कमंडलु, पुस्तक आदि वस्तुओं पर ममत्व भाव रखे बिना अपने पास रखकर उनका उपयोग करते हैं, ठीक उसी प्रकार श्वेताम्बर मुनि भी वस्त्र के प्रति ममत्व भाव रखे बिना उनका उपयोग करते हैं। मोरपिच्छ या रजोहरण में से किसी को भी सर्वसम्मत रूप से अपनाया जा सकता है। अन्य आचार नियमों को युग के अनुरूप तथा संयम की निर्विघ्न साधना की दृष्टि से निश्चित कर लिया जाए। श्वेताम्बर परम्परा के यतिवर्ग और दिगम्बर परम्परा के ब्रह्मचारी वर्ग को समन्वित कर गृहस्थ और मुनि के बीच एक वर्ग बना लिया जाए, जो सामाजिक-जीवन हेतु भी कार्य करे।

जैन परम्परा में दूसरा विवाद मूर्ति पूजा के प्रश्न को लेकर है। इस आधार पर श्वेताम्बर परम्परा में मूर्तिपूजक और स्थानकवासी में तथा दिगम्बर परम्परा में बीसपंथी, तेरापंथी और तारण पंथ में विवाद है। अमूर्ति पूजक सम्प्रदाय अर्थात् स्थानकवासी, तेरापंथी (श्वे०) तथा तारण पंथी यह आग्रह छोड़ दें कि साधना के क्षेत्र में निमित्त के रूप में भूमि का कोई उपयोग ही नहीं हो सकता। दूसरी

ओर मूर्ति पूजक सम्प्रदाय इस आग्रह को छोड़ दे कि मूर्ति के अभाव में या बिना निमित्त के साधना सम्भव ही नहीं है। निराकार उपासना भी साधना की एक पद्धति हो सकती है। साथ ही मूर्तिपूजक सम्प्रदायों को मूर्ति का अलंकरण, सचित्त द्रव्यों से पूजा और अन्य आडम्बरों का परित्याग कर देना चाहिए। पूजा की पद्धति को दिगम्वर आम्नाय के तेरापंथ के आधार पर वनाया जा सकता है, जससे भाव-शुद्धि मुख्य लक्ष्य रहे।

राजनैतिक क्षेत्र में अनेकांत दृष्टि का उपयोग :

आज का राजनैतिक जगत भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनैतिक विचार धाराएँ तथा राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलतंत्र, अधिनायक तंत्र आदि अनेकानेक शासनप्रणालियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक एक दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। विश्व के राष्ट्र खेमों में बँटे हुए हैं, और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभावक्षेत्र वढ़ाने के हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य वात यह है कि आज का राजनैतिक संघर्ष आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वंचारिकता का संघर्ष है। आज अमेरिका और रूस अपनी वैचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को वढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक दूसरे को नामशेष करने की उनकी यह महत्वाकांक्षा कहीं मानव जातिको ही नामशेष न कर द।

आज के राजनैतिक जीवन में अनेकांत के दो व्यावहारिक फलित वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय हैं। मानवजाति ने राजनैतिक जगत् में राजतंत्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है, उसकी सार्थकता अनेकान्त दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे वड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है, इस विचार दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र

का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र (पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी) वस्तुतः राजनैतिक अनेकांतवाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथासम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहाँ भारत अनेकान्तवाद का सर्जक है, वहीं वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र का भी समर्थक है। अतः आज अनेकांत का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है।

पारिवारिक जोवन में अनेकांत दृष्टि का उपयोग :

कौटुम्बिक क्षत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कौटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं—पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में वड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिन मान्यताओं को स्वयं मानकर बैठा है उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभवप्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित है, तो दूसरा उन्हें सर्वथा ही समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था। जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जीये, जैसा वह अपने माता पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत श्वसुरपक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टि भेद है उसे अनेकांत पद्धति से सम्यक् प्रकार जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें, तो हमें स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर के सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है, उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ाकर के विचार कर ले। अधिकारी भी अपने कर्मचारी से जिस ढंग से काम लेना चाहता है, उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करके ही फिर समयोचित निर्णय ले।

यही एक ऐसी दृष्टि है, जिसके अभाव में लोक व्यवहार असंभव और जिसके आधार पर अनेकांतवाद जगत्गुरु होने का दावा करता है।

जेण विणा लोगस्सवि, ववहारो सव्वहा न निव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणगंतवायस्स॥

यह देखकर बड़ा दुःख अनुभव होता है कि अनेकान्त का हामी जैन समाज स्वयं परस्पर वैचारिक *भिन्नता तथा आचार भिन्नता* के कारण विभाजित है। वस्तु स्थिति यह है कि अनेकांत का सिद्धान्त गत शताब्दियों से पुस्तक-ग्रन्थों में ही सुरक्षित है। आवश्यकता यह है कि अनेकांत का हमारे धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक क्षेत्र में प्रयोग करके परस्पर प्रेम, स्नेह का वातावरण निर्माण किया जाए कि जिससे न केवल जैन समाज, अपितु समस्त भारतीय धर्मों से सम्बन्धित अन्य समाज के प्रति भी अनेकांत का प्रयोग करके सहिष्णुता की गंगा बहाई जा सके। सन १९७४ में भगवान महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी निकट आ रही है। ऐसी दशा में यदि हम उस समय तक ऐसा वातावरण निर्माण कर सके और इस दिशा में सक्रिय कार्य करने के लिए कोई प्राणवान संस्था को कार्य-रत कर सके, तो यह भगवान् के श्री चरणों में ठोस तथा सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

●

★ श्री विजयमुनि शास्त्री

आचार्य कुन्दकुन्द की दार्शनिक दृष्टि :

आचार्य कुन्दकुन्द का श्रेष्ठ ग्रन्थ समयसार है। उसमें उन्होंने नव-तत्त्वों का विवेचन मुख्य रूप से निश्चय-दृष्टि का अवलम्बन लेकर किया है। समय-सार में उन्होंने आत्मा के उपाधिशून्य शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है, कि व्यवहार दृष्टि के आश्रय से यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञान आदि गुणों में परस्पर भेद का प्रतिपादन किया जाता है, तथापि निश्चय दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त है, कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है, अथवा आत्मा ज्ञायक है, अन्य कुछ नहीं।[1] इस प्रकार आचार्य की अभेद गामिनी-दृष्टि में आत्मा के सभी गुणों का अभेद, ज्ञान गुण में कर दिया है। और अपने मन्तव्य का स्पष्टतया समर्थन किया है, कि सम्पूर्ण-ज्ञान ही एकांत सुख है।[2] इतना ही नहीं, किन्तु द्रव्य और गुण में अर्थात् ज्ञान और ज्ञानी में भी कोई भेद नहीं है।[3] उनका कहना है, कि आत्मा कर्ता हो, ज्ञान करण हो, यह बात भी नहीं है। उन्होंने आत्मा को ही उपनिषद् की भाषा में सर्वस्व बताया है, और प्रतिपादन किया है, कि आत्मा का अवलम्बन ही मुक्ति है।[4]

आचार्य कुन्दकुन्द की अभेद दृष्टि को इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ। उनके सामने बौद्धों के विज्ञानाद्वैत का तथा वेदान्त के आत्माद्वैत का आदर्श भी था। विज्ञानाद्वैत का कथन है, कि ज्ञान में ज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थों का प्रतिभास नहीं होता, स्व का ही प्रतिभास होता है। ब्रह्माद्वैत का भी यही अभिप्राय है, कि संसार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि सभी प्रतिभासों में ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है। इन दोनों मतों के समन्वय की दृष्टि से आचार्य ने कहदिया, कि निश्चय-दृष्टि से केवल-ज्ञानी आत्मा को ही

---

१. समयसार, ६–७। २. प्रवचनसार, १, ५९, ६०। ३. समयसार, १०, ११, और ४३३। ४. समयसार, १६, २१, नियमसार, ९५ और १००।

जानता है, बाह्य पदार्थों को नहीं।[1] यह कहकर आचार्य ने जैन-दर्शन और अद्वैतवाद का अन्तर बहुत कम कर दिया है, और जैन-दर्शन को अद्वैतवाद के निकट रख दिया है।

भारतीय-दर्शनों का द्वन्द्व :

आचार्य कुन्दकुन्द के समय भारतीय-दर्शनों में एक विचार-क्रान्ति चल रही थी। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक शाखा इस क्रान्ति से प्रभावित हो चुकी थी। जैन-दर्शन पर भी उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था, और वह पड़ा भी। आचार्य कुन्दकुन्द के समय में अद्वैतवादों का एक तूफान-सा आ गया था। उपनिषद् के ब्रह्म-अद्वैत के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के शून्य-अद्वैत और विज्ञान-अद्वैत जैसे वाद भी दार्शनिक जगत में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार के विरोधी वादों के मध्य में जैनों के द्वैतवाद की रक्षा करना एक कठिनतम कार्य था। अद्वैतवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद के विरोध में आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन-दर्शन के निश्चय प्रधान अध्यात्मवाद को उस युगकी दार्शनिक चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया। जैन-आगमों में निश्चय-नय प्रसिद्ध था ही, और निक्षेपों में भाव-निक्षेप भी विद्यमान था ही। भाव-निक्षेप और निश्चय-नय की प्रधानता से जैन-तत्त्वों के निरूपण द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन-दर्शन को अन्य दार्शनिकों के सामने एक अभिनव रूप में उपस्थित किया। इसका अर्थ यह हुआ कि वेदान्त का अद्वैतवाद और बौद्ध-परंपरा का विज्ञानवाद जैन पाठकों को उनके अपने घर में ही मिल गया। निश्चय-नय और भाव-निक्षेप का आश्रय लेने पर द्रव्य और पर्याय, द्रव्य और गुण, धर्म और धर्मी तथा अवयव और अवयवी का भेद मिटकर अभेद हो गया। आचार्य कुन्दकुन्द को इसी अभेद का निरूपण परिस्थितिवश करना था। यही कारण है, कि उनके ग्रन्थों में निश्चय-नयप्रधान वर्णन हुआ है, और निश्चय-नय की अपेक्षा से जैन-आत्मवाद ब्रह्मवाद के समीप पहुँच गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थों के अध्ययन के समय उनकी इस निश्चय-नय और भाव-निक्षेप प्रधान दृष्टि को सामने रखने से सभी समस्याओं का समाधान मिल जाता है, और आचार्य कुन्दकुन्द का तात्पर्य सहज ही पाठक की समझ में आ जाता है।

नयों का वर्गीकरण :

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार में नय के दो भेद स्वीकार किए

---

१. नियमसार १५८।

हैं—निश्चय और व्यवहार। आगम में निश्चय और व्यवहार का वर्णन बीज रूप में पहले से ही था। आचार्य ने निश्चय और व्यवहार की व्याख्या आगमानुकूल ही की है, किन्तु उन नयों के आधार से ही विचारणीय विषयों की अधिकता आचार्य के ग्रन्थों में स्पष्ट है। इन विषयों में आत्मा आदि कुछ विषय तो इस प्रकार के हैं, जो आगम में भी हैं। किन्तु आगमिक वर्णन में यह नहीं बताया गया, कि यह वचन किस नय की अपेक्षा से है। जब कि आचार्य ने प्रत्येक वर्णन के समय उसे स्पष्ट रूप से निश्चय और व्यवहार में घटाने का सफल प्रयत्न किया है। तात्पर्य इतना ही है, कि वस्तु के पारमार्थिक एवं तात्त्विक शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चय से होता है। और अपारमार्थिक एवं अतात्त्विक अशुद्ध स्वरूप का ग्रहण व्यवहार से होता है। वस्तुतः षड्द्रव्यों में जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों के विषय में सांसारिक जीवों को भ्रम होता है। जीव संसारावस्था में प्रायः पुद्गल से भिन्न उपलब्ध नहीं होता है, अतः साधारण लोग जीव में इस प्रकार के अनेक धर्मों का आभास कर लेते हैं जो वस्तुतः उसके नहीं होते। इसी प्रकार पुद्गल के विषय में भी विपर्यास हो जाता है। इस विपर्यास की दृष्टि से व्यवहार को अभूतार्थ-ग्राही कहा गया है, और निश्चय को भूतार्थ-ग्राही।[१] परन्तु आचार्य इस बात को मानते हैं, कि विपर्यास निर्मूल नहीं है। क्योंकि जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीनों परिणामों से परिणत होता है।[२] इन्हीं परिणामों के कारण यह संसार का सारा विपर्यास है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि हम संसार का अस्तित्व मानते हैं, तो व्यवहार-नय के विषय का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। वस्तुतः निश्चय-नय तभी एक स्वतन्त्र-नय है, जबकि उसका प्रतिपक्षी व्यवहार-नय विद्यमान है। यदि व्यवहार-नय नहीं है, तो निश्चय-नय भी नहीं। यदि संसार नहीं है तो मोक्ष भी नहीं। संसार और मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष हैं, वैसे ही व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष हैं।[३] आचार्य कुन्दकुन्द ने परम-तत्त्व का वर्णन करते हुए इन दोनों नयों की सापेक्षता को ध्यान में रखकर ही कहा है, कि वस्तुतः तत्त्व का वर्णन न निश्चय से हो सकता है, और न व्यवहार से। दोनों के द्वारा ही वस्तुतत्त्व का परिपूर्ण वर्णन किया जा सकता है। क्योंकि ये दोनों नय अमर्यादित को एवं अवाच्य को मर्यादित

१. समय-सार, १३। २. समय-सार. ८६। ३. समय-सार तात्पर्य वृत्ति पृ० ६७।

और वाच्य बना कर वर्णन करते हैं। वस्तु का परम शुद्ध स्वरूप तो सभी पक्षों से अतिक्रान्त है। वह न व्यवहार-ग्राह्य है और न निश्चय-ग्राह्य। जैसे जीव को व्यवहार के आश्रय से बद्ध कहा जाता है, और निश्चय के आश्रय से अबद्ध कहा जाता है। स्पष्ट है, कि जीव में अबद्ध का व्यवहार भी बद्ध की अपेक्षा से ही होता है। इसी आशय से आचार्य ने कहा है, कि जीव न बद्ध है, और न अबद्ध, किन्तु पक्षातिक्रान्त है। यही समय सार है, यही परमात्मा है।[1] व्यवहार-नय के निराकरण के लिए निश्चय-नय का का अवलम्बन है। परन्तु निश्चय-नय का अवलम्बन ही सब-कुछ सत्य है, यह नहीं समझ लेना चाहिए। उसके आश्रय से आत्मा के स्वरूप का बोध करके उसे छोड़ देने पर ही तत्त्व का साक्षात्कार संभव हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस अपेक्षा से निश्चय और व्यवहार का वर्णन किया है, वह इससे स्पष्ट हो जाता है। आचार्य का तात्पर्य समझ लेने पर समय-सार जैसे आध्यात्मिक-ग्रन्थ से भय रखने का कोई कारण शेष नहीं रहता। समय सार में जिस अपेक्षा से नव तत्त्वों का वर्णन किया गया है, उस मूल दृष्टि को समझने के बाद उसमें विवाद जैसी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो सकती।

संसार के सभी पदार्थों का समावेश आचार्य कुन्दकुन्द के मत से द्रव्य, गुण और पर्याय में हो जाता है।[2] इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका स्पष्टीकरण करने के लिए प्रथम तो पृथक्त्व और अन्यत्व की व्याख्या की है—जिन दो वस्तुओं के प्रदेश भिन्न होते हैं, वे पृथक् कही जाती हैं, किन्तु जिनमें अतद्-भाव होता है, अर्थात् वह यह नहीं है, इस प्रकार का प्रत्यय होता है, वह अन्य कही जाती है।[3]

द्रव्य, गुण और पर्याय में प्रदेशभेद तो नहीं है, अतएव वे पृथक् नहीं कहे जा सकते, किन्तु अन्य तो कहे जा सकते हैं। क्योंकि जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, तथा जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है, इस प्रकार का प्रत्यय होता है।[3] इसका विशेष स्पष्टीकरण आचार्य ने इस प्रकार से किया है, कि यह कोई नियम नहीं है, कि जहाँ अत्यन्त भेद हो, वहीं अन्यत्व का व्यवहार हो। अभिन्न में भी व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय के कारण भेद ज्ञान हो सकता है।[2] आचार्य के कहने का अभिप्राय यह है, कि द्रव्य, गुण और

---

१. समय सार, १५२-१५३। २. प्रवचन सार, १, ८७, ३. प्रवचन सार, २, १४।

पर्याय में भेद होने पर भी वस्तुतः भेद नहीं है। क्योंकि ज्ञानी से ज्ञान गुण को धनी से धन के समान अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आचार्य ने द्रव्य, गुण और पर्याय का भेदाभेद स्वीकार किया है।

पुद्‌गल-द्रव्य की परिभाषा :

आचार्य ने व्यवहार और निश्चय से पुद्‌गल-द्रव्य की जो व्याख्या की है, वह अपूर्व है। उनका कहना है कि निश्चय नय की अपेक्षा से परमाणु को ही पुद्‌गल-द्रव्य कहा जाना चाहिए, और व्यवहार-नय की अपेक्षा से स्कन्ध को पुद्‌गल कहना चाहिए।[3] पुद्‌गल-द्रव्य की जब यह व्याख्या की गई, तब पुद्‌गल के गुण और पर्यायों में भी आचार्य को स्वभाव और विभाव, इस प्रकार के दो भेद करना आवश्यक हो गया। इसी आधार पर आचार्य ने कहा है, कि परमाणु के गुण स्वाभाविक हैं, और स्कन्ध के गुण वैभाविक हैं। इसी प्रकार परमाणु का अन्यनिरपेक्ष परिणमन स्वभाव पर्याय है, और परमाणु का स्कन्धरूप परिणमन अन्यसापेक्ष होने से विभाव-पर्याय है।[4] प्रस्तुत में अन्यनिरपेक्ष परिणमन को जो स्वभाव पर्याय कहा गया है, उसका तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए, कि वह परिणमन कालभिन्न अन्य किसी निमित्त-कारण की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि स्वयं कुन्दकुन्द के मत से भी सभी प्रकार के परिणामों में काल कारण होता ही है।

आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन :

जैन-आगमों में आत्मा को शरीर से भिन्न भी कहा है, और अभिन्न भी। जीव का परिणमन ज्ञान भी माना है, और गति आदि भी। जीव को कृष्ण वर्ण भी कहा है, और अवर्ण भी कहा है। जीव को नित्य भी कहा है, और अनित्य भी कहा गया है। जीव को मूर्त भी कहा है, और अमूर्त भी कहा है। इस प्रकार जीव के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों का वर्णन आगमों में उपलब्ध होता है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के आगमोक्त वर्णन को समझने की चाबी बना दी है। जिसका उपयोग करके आगम के प्रत्येक वर्णन को हम समझ सकते हैं, कि आत्मा के विषय में आगम में जो अमुक स्थान पर अमुक बात कही गई है, वह किस दृष्टि से है। जीव का जो शुद्ध रूप आचार्य ने बतलाया है, वह आगम-काल में अज्ञात नहीं था। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के आत्म-निरूपण की जो विशेषता है, वह यह है, कि उन्होंने अपने युग के दार्शनिकों की प्रसिद्ध निरूपण-शैली को जैन आत्म-निरूपण में सफलता के साथ अपनाया है। यही आचार्य की सफलता है। ●

---

१. प्रवचन सार २, १६। २. पंचास्तिकाय, ५२, ३. नियमसार, २६। ४. नियमसार, २७, २८।

★ श्री विजयमुनि शास्त्री, कानपुर

वीरायतन-योजना : एक परिचय

जहाँ-कहीं पर मैं गया हूँ, और जहाँ कहीं पर मैं रहता हूँ, वहाँ सर्वत्र आबाल-वृद्ध जनों के मुख पर एक ही प्रश्न है कि 'वीरायतना योजना क्या है ?' मैं इसे एक शुभ लक्षण ही मानता हूं कि, इतने दिनों के बाद कम से कम जन-चेतना ने 'वीरायतन' के सम्बन्ध में कुछ सोचना एवं विचारना प्रारम्भ तो कर ही दिया है। आज सर्वत्र समाज में, वीरायतन-योजना की परिचर्चाएँ होने लगी हैं। पर अभी तक यह परिचर्चाएँ ग्राम्य एवं नगर-स्तर पर ही हो रही हैं। अब समय आ चुका है कि 'वीरायतन' के सम्बन्ध में प्रान्तीय और राष्ट्रीय-स्तर पर भी विचार होना चाहिए। वीरायतन-योजना को जितना भी विराट्-रूप दिया जा सके, अवश्य ही देना चाहिए। प्रत्येक जैन एवं अजैन के घर में 'वीरायतन' योजना का सन्देश पहुँचाने का दायित्व निभाना आवश्यक है।

वीरायतन :

वीरायतन शब्द 'वीर' और 'आयतन' के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है—महावीर का सदन, अर्थात् भगवान् महावीर की स्मृति से सम्बन्धित पवित्र स्थान एवं पुण्य-भूमि। राष्ट्र संत, उपाध्याय परम श्रद्धेय श्री अमर चन्द्र जी महाराज ने 'वीरायतन' शब्द को इस प्रकार से परिभाषित किया है—"वीरायतन का लाक्षणिक अर्थ है—निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर भगवान् महावीर की पुण्य-स्मृति में, हमारी आस्था एवं श्रद्धा का प्रतीकात्मक एक आदर्श ज्योतिर्मय-केन्द्र, जो धर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज एवं राष्ट्र की समस्याओं के समाधान में, भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन की दृष्टि से यथोचित योग दान दे सके।" उपाध्याय श्री जी ने स्वयं अपने ही शब्दों में वीरायतन की जो परिभाषा की है, उसका फलितार्थ यह है कि वे एक ऐसे

केन्द्र की अपेक्षा करते हैं, जो भगवान् महावीर के दर्शन, भगवान् महावीर के ज्ञान और भगवान् महावीर के आचार को जन-जन के जीवन में उतारने की प्रयोगशाला बन सके। भगवान् महावीर के अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह के दिव्य-सिद्धान्त का जन-जीवन में उपयोग एवं प्रयोग किया जा सके। कवि श्री जी जब अपने लेखों में अथवा प्रवचनों में वीरायतन शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उसका अर्थ होता है कि वे राजगृही में पांडीचेरी, शांति निकेतन एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसा संस्थान ही राजगृही में देखना चाहते हैं। उनकी गहरी कल्पना को समझने के लिए ये तीन निदर्शन यहाँ दिये गए हैं। इसका अर्थ यह नहीं होता कि जो कुछ उपरिकथित स्थानों में होता है, वैसा ही वीरायतन में भी हो। वे अपने लेखों और प्रवचनों में इन तीन स्थानों का उल्लेख करके जिज्ञासा-शील व्यक्तियों को एक साकार रूप बतला देना चाहते हैं। अतीत के जिन क्षणों में उक्त तीन संस्थाओं का आविर्भाव हुआ, आज वे स्थितियाँ बदल चुकी हैं, अतः उनकी अपेक्षा कुछ अधिक ही 'वीरायतन' में करना होगा। कवि श्री जी ने वीरायतन योजना को एक दूसरा भी सांस्कृतिक नाम दिया है—जीवन-विकास का ज्योति केन्द्र, जिसका अर्थ होता है "धर्म का विकास, जीवन विकास पर आधारित है। जीवन को एक अखण्ड इकाई के रूप में मानते हुए, हमें इसके समस्त महत्त्वपूर्ण अगों का विकास करना है। चाहे पुरुष हो, अथवा स्त्री, बालक हो, युवा हो, अथवा वृद्ध, त्यागी वर्ग हो या गृहस्थ-समाज के समस्त वर्ग एवं समस्त अंग धर्म की आधार-भूमि बनें, उनका सार्वदेशिक, सार्वकालिक एव सर्वतोमुखी विकास हो। आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक एवं शारीरिक आदि समस्त जीवनपक्ष समुन्नत एवं स्वस्थ होंगे, तभी धर्म का स्वस्थ रूप हमारे जीवन में अभिव्यक्त हो सकेगा। सम्पूर्ण जीवन के उक्त ऊर्ध्वमुखी विकास के लिए प्रेरणा-स्रोतस्वरूप एक इस प्रकार का विराट्, विशाल एवं बहुमुखी केन्द्र होना अपेक्षित है, जहाँ से जीवन-विकास हेतु न केवल मार्ग-दर्शन मिले, अपितु सक्रिय एवं सचेतन संस्कार भी प्राप्त हों। आज आवश्यकता इस बात की है कि शुद्ध संस्कारों का निर्माण, विकास और विस्तार करने का एक सुदृढ़ आधार स्थित किया जाए।" उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज की वीरायतन-योजना की परिकल्पना यही है। इसी को वे 'राजगृही' में 'भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण-शताब्दी के शुभ अवसर पर साकार रूप देना चाहते हैं। इसके लिए वे सुदृढ़ आस्था एवं संकल्प ले कर चल रहे हैं।

क्या, कहाँ और क्यों ?

यह वही प्रश्न है, जिसे समय-समय पर दर्शनार्थ आने वाले सज्जन कवि-श्री जी से पूछा करते है। प्रश्नकर्त्ता का पहला प्रश्न होता है—वीरायतन क्या है ? वह कहाँ रहेगा ? और इसकी आवश्यकता ही क्यों है ? इन तीनों प्रश्नों का जो कुछ उत्तर होगा वह 'वीरायतन' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होगा। प्रथम प्रश्न का उत्तर और तृतीय प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है कि वीरायतन का उद्देश्य क्या है ? वह किस लक्ष्य की पूर्त्ति करना चाहता है ? अब प्रश्न शेष रहता है, कहाँ हो ? इसके उत्तर में कवि श्री जी हर व्यक्ति को एक ही उत्तर देते हैं, और वह भी नपी-तुली भाषा में—'राजगृही में।' कुछ लोग पूछते रहे हैं, और आज भी पूछ रहे हैं कि 'राजगृही' का ही आग्रह क्यों ? निश्चय ही इसके पीछे एक सुनिश्चित भूमिका है। और वह है हमारी संस्कृति, हमारे अध्यात्म, हमारे दर्शन एवं धर्म की। प्रत्येक समाज की एक सांस्कृतिक भूमिका होती है, जहाँ उसकी संस्कृति के बीज डाले जाते हैं और जहाँ वह अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाने के तुरन्त बाद भगवान् महावीर ने अपने विचार और आचार के बीजों का वपन 'राजगृही' की उर्वर भूमि में ही किया था। जैन-इतिहास और जैन-परम्परा में 'राजगृही' का स्थान निर्विवाद रूप से अद्भुत, अनुपम एवं विलक्षण रहा है। । अत: वीरायतन योजना के लिए जितना उपयुक्त स्थान 'राजगृही' हो सकता है, उतना अन्य कोई स्थान नहीं हो सकता। राजगृही का अपना ही एक वैशिष्ट्य है।

कवि श्री जी के समक्ष कुछ प्रेमीजनों ने यह प्रार्थना की थी कि 'वीरायतन' दिल्ली, आगरा, इन्दौर, पूना, और बम्बई जैसे विशाल नगरों में होना चाहिए, जिससे कि सहज ही वहाँपर अनुकूल साधन जुटाए जा सकें और अधिक से अधिक व्यक्ति इस योजना से लाभान्वित हो सकें। कुछ स्थानों के लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि यदि हमारे यहाँ पर यह प्रारंभ हो, तो हम इसका समग्र भार उठाने को तैयार हैं। पर कवि श्री जी का प्रारंभ से आज तक यही तर्क रहा है कि इन स्थानों पर साधन मिल सकेंगे, किन्तु जो सांस्कृतिक भूमिका राजगृही' की है, उसे यहाँ हजार-हजार प्रयत्नों से भी उत्पन्न नहीं किया जा सकेगा। यही कारण है कि कवि श्री जी अपने वज्र-संकल्प को 'राजगृही' की पावन-भूमि में ही सफल और साकार करना चाहते हैं। अब अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रहा है।

स्रष्टा और सृष्टि :

कवि के कवित्व की तीन विशेषताएँ होती हैं—प्रतिभा, मेधा और कल्पना। इन तीनों का योग ही कवि का कवित्व होता है। संस्कृत के काव्य-मीमांसा ग्रन्थ में पं० राजशेखर ने कहा है कि—जिस प्रकार ब्रह्मा सृष्टि का स्रष्टा माना जाता है, उसी प्रकार काव्य-जगत् का स्रष्टा कवि ही होता है—**कविरेव-प्रजापतिः**। वीरायतन सृष्टि के स्रष्टा राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज हैं। उनके उर्वर मस्तिष्क में वीरायतन की परिकल्पना कैसे जागृत एवं स्फुरित हुई? इसके सम्बन्ध में स्वयं उनके शब्दों में ही आप उन्हें सुनने का एवं समझने का प्रयत्न करें—'भगवान् महावीर के परिनिर्वाण को निकट भविष्य में २५०० वर्ष पूरे हो रहे हैं। २५ वीं निर्वाण-शताब्दी का महान ऐतिहासिक अवसर हमारे समक्ष आ रहा है। अतएव महावीर के उपासकों एवं श्रद्धालु-जनों के सामने आज यह प्रश्न खड़ा है कि इस ऐतिहासिक अवसर पर उनकी अपनी क्या विशिष्ट उपलब्धि है? महावीर के जिन आदर्शों पर हमारी आस्था है, उनको मूर्त्त रूप देने के लिए हमने अब तक क्या किया है और क्या करना शेष है?'

यह वह विचार है, जो कवि श्री जी के जागृत मन के स्तर पर सर्व-प्रथम स्फुरित हुआ था। कुछ न कुछ सोचना और सोचते-सोचते गहरे उतर जाना, यह उनका मज्जागत संस्कार रहा है। अपने स्वभाव के अनुसार कवि श्री जी अपने उसी विचार को वाणी देते हैं, अथवा उसे शब्द-चित्र मे उतारते हैं, जिसके सम्बन्ध में वे सर्वतोभावेन उस पर पूर्ण विचार कर लेते हैं। वे नूतन विचारों के स्रष्टा रहे हैं। उधार विचारों में उन्हें विश्वास नहीं है। निर्वाण-शताब्दी के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"महावीर निर्वाण शताब्दी के सन्दर्भ में अनेक योजनाएं बनी हैं, बन रही हैं, पर एक-दो अपवादों को छोड़ कर प्रायः उनका अस्तित्व कागजों में एवं निरन्तर फैलती-फूलती और मोटी होती जाती फाइलों में ही सिमट कर रह गया है। योजना प्राणवती हो और वह समय पर मूर्त्तरूप ले सके, तो हमारा कृतित्व सार्थक हो सकता है।" कितने स्पष्ट हैं विचार उनके।

और जब उनसे यह पूछा गया कि आपके मस्तिष्क में वीरायतन योजना का जन्म कैसे हुआ? तब उन्होंने मुस्कान के साथ कहा—"विगत वर्ष जब मैं दिल्ली में था तो प्रत्यक्ष परिचय में दिल्ली के सामाजिक कार्य-कर्त्ताओं से,

राष्ट्रीय नेताओं से तथा प्रधानमन्त्री श्री इन्दिरा गांधी आदि से इस सम्बन्ध में परिचर्चा चलती रही थी। मैं अतीत में जीवन के उन क्षणों में रहा हूँ, जब विचारों को तूफानी गति से कार्यान्वित कर सकता था। उस युग में ऐसे कुछ कार्य हुए भी हैं, परन्तु वर्त्तमान की स्थिति कुछ और है। मैं संप्रति दुर्बल स्वास्थ्य तथा आयु की दृष्टि से जिस स्थिति में हूँ, कुछ अधिक सक्रियता से काम नहीं कर सकता हूँ। मेरे पास तो कुछ विचार हैं, उन्हें उपस्थित कर रहा हूँ। उन्हें मूर्त्तरूप देना तो अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार वीर-शासन के अनन्य निष्ठावान श्रमण-श्रमणी, श्रावक और श्राविकाओं के तथा महावीर के प्रति श्रद्धा रखने वाले जैनेतर बन्धुओं के सहज सहयोग एवं सद्‌भावना पर निर्भर है। बड़ी बात कुछ नहीं है। संकल्प की आवश्यकता है। यदि जीवट के साथ छोटे-बड़े सभी शासन प्रेमी वीर-भक्त कर्त्तव्य में जुट जाएँ तो फिर संभव तो क्या, असंभव भी संभव हो सकता है। मेरा विश्वास है—देर-सवेर ऐसा कुछ होगा ही।" इस प्रकार के विचार कवि श्री जी आज से दो वर्ष पूर्व दिल्ली में प्रकट कर चुके थे। उसके बाद आगरा में कॉन्फरेन्स की जनरल कमेटी की बैठक के समय भी इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किए थे। कवि श्री जी के इन विचारों के साथ ही 'वीरायतन' योजना का नन्दा-दीप प्रज्वलित हो उठा था। आज आवश्यकता है कि उनकी वीरायतन की परिकल्पना को समाज आस्था के साथ ग्रहण करे और उसे सफल बनाने के लिए तन-मन और धन तीनों अर्पण करे। बिना समर्पण के और बिना त्याग के कुछ होना-जाना नहीं है। वीरायतन की योजना अब क्रियान्वय के क्षणों में पहुँच रही है, अतः जो संकल्प किया है, वह अवश्य ही पूरा होगा। कवि श्री जी ने अपने निकट के सहयोगियों के साथ जिस वीरायतन योजना की सृष्टि की है, वह अवश्य ही सफल होगी। पर प्रश्न यह है कि इस अवसर पर समाज का अपना कर्तव्य क्या है और वह उसे किस रूप में पूरा करना चाहता है। इस योजना की सफलता के लिए सभी प्रकार के सहयोग और सहकार की अपेक्षा है। प्रसन्नता है कि समाज का प्रबुद्ध वर्ग इसे सफल करने का सुदृढ़ संकल्प कर चुका है।

योजना का विभाजन :

वीरायतन-योजना अपने आप में एक विराट एवं विशाल योजना है। अतः एक साथ क्रियान्वित कर सकना, सम्भवित नहीं है। धीरे-धीरे और समझदारी के साथ सुदृढ़ कदमों से चलते हुए उसके एक-एक अंग को, तथा उसके एक-एक प्रारूप को क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। वीरायतन

योजना के ४ विभाग हैं—आध्यात्मिक विकास, सामाजिक विकास, राष्ट्रीय विकास, और जागतिक विकास। मानव जीवन का कोई ऐसा दृष्टिकोण नहीं है, जो इस योजना के अन्तर्गत न आ गया हो। जीवन को व्यापक दृष्टिकोण से समझने का कविश्री जी ने जो प्रयत्न किया है, अथवा कर रहे हैं, उसी का यह परिणाम है कि उन्होंने वीरातन-योजना को ४ विभागों में इस प्रकार विभक्त किया है कि जिसमें मानव-जीवन के दोनों पक्षों का समावेश हो जाता है—आध्यात्मिक और भौतिक। जीवन न अकेला भौतिक रह सकता है, और न अकेला आध्यात्मिक। दोनों पक्ष एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। एक मात्र अध्यात्मवाद से हमारे वर्तमान लोक जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता, इसी प्रकार भौतिकवाद में भी जीवन की आन्तरिक समस्याओं का समाधान उपलब्ध नहीं होता। मानव-जीवन के दोनों अङ्गों का समुचित विकास और विस्तार हो सके, इसी दृष्टि को सामने रखकर राष्ट्र सन्त ने 'वीरायतन' योजना को ४ भागों में विभाजित कर दिया है, जिससे कि उसे क्रियान्वित करने के लिए आसानी हो सके। वीरायतन योजना के ४ विभागों के सम्बन्ध में, संभव है, आगामी लेखों में स्पष्टीकरण हो सके।

●

जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समाहित और स्थितात्मा होकर संसार-सागर को लांघ जाता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

\+ \+ \+

जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुखी होगा और जितनी ही उसकी वृत्ति सात्विक एवं निर्मल होगी, उतनी ही वह दूर की सोच सकेगा और उतने ही दूर के परिणाम को कह सकेगा।

—तथागत बुद्ध

★ उपाध्याय अमरमुनि

सत्य का तकाजा : एक पत्र

अग्नि परीक्षा के सन्दर्भ में

महामहिम, जगद्गुरु, शंकराचार्य श्री निरंजनदेवतीर्थजी !

सादर यथायोग्य !

आप श्री को मैं जानता हूँ। आप मुझे जानते भी हों, या नहीं भी जानते हों। कोई बात नहीं। आपका परोक्ष परिचय तो मुझे काफी गहरा है, और व्यापक भी। प्रत्यक्ष परिचय भी है, अत्यल्प-सा। बहुत वर्षों पहले, जब आप पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्री के नाम से रामराज्य परिषद् में थे, एक बार दिल्ली में मिले थे किसी पत्रकार परिषद् में।

परिचय की बात पहले इसलिए की है कि आपसे कुछ विचार-चर्चा करनी है, निकट से। वैसे तो हम साधुओं का परिचय क्या, और अपरिचय क्या ? सदा ही सबके लिए द्वार खुला है हमारा। फिर भी व्यवहार दृष्टि से कुछ परिचय भी निकल आए तो अच्छा ही है, सोने में सुगन्ध है।

आचार्य श्री तुलसी जैनों की एक तेरापंथ शाखा के आचार्य हैं। अच्छे मनीषी हैं, प्रसिद्धि भी उनकी काफी है। अणुव्रत आन्दोलन के नाम से एक ख्यातनामा नैतिक आन्दोलन के आविष्कारक हैं वे। आप स्वयं उनसे परिचित हैं। उन्होंने बहुत वर्षों पहले कभी प्राचीन जैन रामायण पर आधारित एक काव्य लिखा था—'अग्नि परीक्षा।' काव्य सुन्दर है। उसमें यत्र-तत्र श्रद्धा-स्निग्ध हृदय से माता सीता का गुणगान किया है। उनके उदात्त एवं निर्मल चरित्र को वह अभिव्यक्ति दी है कि सहसा आचार्य श्री के प्रति साधुवाद मुखरित हो उठता है। तेरापंथ परम्परा से हमारे काफी गहरे मतभेद रहे हैं, उनको लेकर हम संघर्ष में भी उतरे हैं, जिसे शास्त्रार्थ या वाद या और कुछ कहा जाता है। पर वितण्डावाद नहीं। जैसा कि आप जानते हैं, शाखाभेद को लेकर कुछ कटुता भी है, इधर-उधर के लोगों में। परन्तु अच्छाई को तो अच्छाई कहना ही चाहिए। अतः मैं कहता हूँ कि पुस्तक अच्छी है। उसमें माता सीता के लिए एक भी अपशब्द आचार्य श्री की तरफ का नहीं है।

उनकी ओर से तो स्तुति ही स्तुति है। सीताजी, जैन इतिहास की १६ 'महासती' कही जाने वाली पवित्र माताओं में एक महातिमहान् दिव्य माता जो हैं। परन्तु 'अग्नि परीक्षा' के कुछ शब्दों को लेकर, जो धोबी आदि के द्वारा सीताजी पर लांछन लगाते समय कहे गए थे, वस्तुतः तत्कालीन भ्रान्त जनता के हैं, आचार्यजी के नहीं हैं, कुछ राजनीतिक कारणों की छाया में विवाद उठ खड़ा हुआ था, मध्य प्रदेश के रायपुर नगर में। तब क्या-क्या हुआ, यह आप जानते ही हैं। आप और मैं क्या, काफी दूर-दूर तक की जनता जानती है। वह हुआ, जो नहीं होना चाहिए था। और वह भी धर्म के नाम पर तो बिल्कुल भी नहीं। खैर, वह आन्दोलन आखिर शान्त हुआ। जबलपुर हाईकोर्ट में विवाद पहुँचा तो विद्वान न्यायाधीशों ने भी पुस्तक को दोषमुक्त घोषित कर दिया था। बात आई-गई हो गई। फिर से जैन अजैन समाज में परस्पर सद्भावना का वातावरण स्थापित होने लगा था, जिसकी सदैव आवश्यकता रही है, वर्तमान में तो सविशेष ही।

परन्तु⋯परन्तु⋯अन्तर्मन कहना नहीं चाहता, पर कहना ही होगा, चूरू (राजस्थान) में फिर उसी दबी आग को भड़काया गया है। और भड़काने में नाम लिया जा रहा है आपका। सच तो नहीं लगता। पर, जब तक आपकी ओर से कोई सार्वजनिक स्पष्टीकरण न हो जाए, तब तक देश के जाने-माने समाचार-पत्रों के आधार पर सच मानना ही होगा। मैं चाहता हूँ हृदय से, यह बात बिलकुल झूठ निकले। पर, यह सब तो अब आप पर निर्भर है। समाचार पत्र पढ़े हैं, व्यक्तिगत खबरें भी मिली हैं। वहाँ जैन समाज के साथ बहुत ही अभद्र व्यवहार हुआ है। आगजनी, लूट-पाट, मारपीट हुई है। मकानों-दूकानों को आग लगा देने से लाखों की सम्पत्ति स्वाहा हो चुकी है। भद्र महिलाओं के साथ भी आपत्तिजनक आचरण किया गया है। और तो क्या, एक जैन साध्वी का भी पत्थरों से सिर फोड़ दिया है। क्या यह सीता के उन भक्तों के द्वारा एक सीता का अपमान नहीं है, जिनका धर्म और दर्शन मातृ-जाति की हर व्यक्ति में सीता के दर्शन की बात कहता है। और ये भक्त आपके अनुयायी कहे जाते हैं, आपसे प्रेरित भी हैं। मुझे कुछ भी पीड़ा नहीं होती, यदि ऐसा कोई और वर्ग करता। पीड़ा इस बात की है कि ये सब सनातनधर्मी हिन्दू हैं, आपके अनुयायी हैं। और यह व्यवहार भी उन जैनों के साथ कर रहे हैं, जो हिन्दू समाज के ही एक अंग हैं, जिनमें परस्पर बहुत ही निकटतम रोटी-बेटी का व्यवहार है, जो हजारों वर्षों से साथ-साथ

रहते चले आये हैं, भद्र पड़ौसी बन्धु के रूप में। आप गम्भीरता से विचार कीजिए, क्या यह सब ठीक है ? आप क्यों नहीं सचाई को सार्वजनिक रूप में उजागर कर देते कि पुस्तक में आचार्यश्री ने अपनी ओर से माता सीता का मुक्तकण्ठ से गुणगान किया है। उनकी ओर से सीताजी के लिए एक भी अपशब्द नहीं है। जो है वह सब उस जनता की ओर का है, जो सीताजी के निष्कासन का हेतु है, और अजैन, जैन सभी रामायणों में थोड़े बहुत हेरफेर के साथ उपलब्ध है। और अब अग्निपरीक्षा के दूसरे संस्करण में, तो वह सब अंश भी परिमार्जित कर दिया गया है। मुझे आश्चर्य है, आप क्यों नहीं, ऐसा उद्घोषित करते हैं ? सत्य को छुपाये रखना अच्छा तो नहीं है। और फिर आप तो महान् आचार्य हैं अपनी विराट परम्परा के। आप पर हिन्दू जाति की गरिमा का बहुत बड़ा दायित्व है। और हिन्दू जाति ही क्यों ? आप तो 'जगद्गुरु' का व्यापक बिरुद रखते हैं। जगत् कुछ सनातन धर्मी हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं है। जगत् बहुत बड़ा है। क्या उसमें जैन समाज नहीं आता है, जिस पर सर्वथा मिथ्या एवं अर्थहीन बातों को लेकर हिंसात्मक आक्रमण किए जा रहे हैं। मैं आपका नाम आग बुझाने वालों में लेना चाहता हूँ, आग लगाने वालों में नहीं। धारा बदलिए, पासा पलटिए। कृपया, भगवान् राम और भगवती सीता के पवित्र नाम पर भाई-भाई को आपस में मत लड़ाइए। इसके बड़े ही भयंकर परिणाम होंगे। भारत अतीत में इन जातीय एवं साम्प्रदायिक द्वन्द्वों के विनाशकारी कटु परिणाम भोग चुका है। इतिहास साक्षी है, भारत और पाकिस्तान के रूप में अखण्ड भारत का विभाजन भी इसी मनोवृत्ति का दुष्परिणाम है। आप बहुसंख्यक वर्ग के धर्मनेता हैं। आप पर जैनों जैसे अल्पसंख्यक वर्ग के प्रति भी सद्भावना बनाए रखने का बहुत बड़ा दायित्व है। यदि ऐसा कुछ नहीं होता है, तो मुसलमान, ईसाई आदि कुछ दूर के अल्पसंख्यकों से बहुसंख्यक वर्ग पर विश्वास रखने की बात किस मुंह से कही जाती है ? जो निकट वालों के साथी नहीं हो सकते, वे दूर वालों के क्या होंगे ? हालांकि हम साधुओं के लिए अपना-पराया जैसा भेद कुछ नहीं है। सभी अपने हैं। कोई भी पराया नहीं है। आपने पढ़ा ही है—
'बान्धवाः प्राणिनः सर्वे'।

मृत विग्रह को पुनर्जीवित करते समय अब की बार एक और नई बात सामने आई है, जिसका खूब प्रचार किया जा रहा है, धर्म के नाम पर जनता को मूर्ख बनाया जा रहा है। बात क्या है, मेरे मन में तो हँसी फूट पड़ती है। 'अग्निपरीक्षा' में भगवान राम के अनेक पत्नियाँ लिखी हैं। और इस

पर शोर मचाया जा रहा है कि "यह असत्य है, अधर्म है। सनातन धर्म का अपमान है। बस, इसे वापस लो ! निकालो पुस्तक में से। अन्यथा आगजनी, पत्थरबाजी, लूटपाट, हड़ताल, भूख हड़ताल।" मैं पूछता हूँ, क्या यह अभी-अभी तेरापंथी आचार्य तुलसी ने अपनी कल्पना से लिखा है ? यह तो जैन समाज की सभी प्राकृत-संस्कृत रामायणों में है, जो हजारों वर्ष पूर्व लिखी गयी हैं। इससे पूर्व आपके हजारों पूर्वजों ने तो इस सम्बन्ध में कभी कोई विरोध नहीं किया ! विरोध कैसे करते ? जानते थे कि—"यह तो वर्षों पूर्व घटी पौराणिक घटनाओं का कथाभेद है, जो दूसरी परंपराओं में तो क्या, एक परम्परा में भी हो जाता है।" क्या आपश्री को मालूम नहीं है, कि सनातन वैदिक परम्परा में भी रामकथाओं में परस्पर विरोधी कितने दूर के आश्चर्य एवं सन्देह में डाल देने वाले मतभेद हैं। इतिहासकारों ने अनेक बार अपने लेखों के द्वारा ये सब शिक्षित जनता के सम्मुख रखे भी हैं।

एक बात और है, जो मेरी समझ में नहीं आई है। बहुपत्नित्व की बात का सनातन धर्म के किस सिद्धान्त के साथ विरोध है ? विरोध तो तब होता, जब सनातन हिन्दू धर्म का यह सिद्धान्त होता कि भगवद्रूप महापुरुषों को केवल एक ही पत्नी हो सकती है, अनेक नहीं। राम तो आपके मतानुसार पूर्णावतार नहीं हैं। श्री कृष्ण हैं पूर्णावतार, और उनके आप भी १६ हजार पत्नियां मानते हैं। तब यदि जैन-पुराणों में, श्रीराम के अनेक पत्नियाँ मान रखी हैं, तो कौनसी आफत आगई है। कोई भी विचारक समझ सकता है कि इसमें सिवा दुराग्रह या हठ के और कोई तत्व नहीं है।

आप कहते हैं, इसे निकाल दो। क्या सचमुच ही आप ऐसा कहते हैं ? प्राचीन ग्रन्थों में से किसी सन्दर्भ को निकाल देने का आज किसी को कोई अधिकार है क्या ? कौन होते हैं निकालने वाले तेरापंथ के एक आचार्य तुलसी। क्या आप अपने प्राचीन ग्रन्थों में से जैन एवं बौद्धों के सम्बन्ध में लिखे गये गलत सन्दर्भ निकालने को तैयार हैं ? क्या आप अपने प्राचीन कल्पसूत्र, गृह्य सूत्र तथा पुराण आदि से यज्ञयागादि में विहित पशुहत्या, अश्वालंभ, गवालम्भ, स्त्री और शूद्रों के प्रति अमानवीय व्यवहार आदि के उल्लेख निकाल सकेंगे ? मैंने भी वैदिक साहित्य पढ़ा है। वह भी आपकी ही परम्परा के प्राचीन भाष्यों एवं टीकाओं द्वारा किए गए अर्थों के आलोक में। मैं उस पर विचार चर्चा भी कर सकता हूँ। आज के बदलते परिवेश में किए जाने वाले मनःकल्पित अर्थ मुझे मान्य नहीं होंगे। मान्य होंगे सायण एवं

माधव आदि चुस्त सनातनधर्मी प्राचीन आचार्यों के द्वारा किए गए अर्थ ! आप विद्वान हैं ! जानते हैं आप यह सब। साधारण कथाभेद के चक्र में न उलझिए। ये पौराणिक गाथाएँ हैं, सिद्धान्त नहीं हैं। और 'अग्निपरीक्षा' में वह अपनी परम्परागत कथा के आधार पर लिखा है, सनातन धर्म के ग्रन्थों के नाम से नहीं। आपके नाम से लिखा होता तो कुछ बात भी थी। और यदि केवल 'अग्निपरीक्षा' नामक एक पुस्तक में से ही निकलवाना चाहते हैं, तो यह तो बिलकुल ही बेतुकी-सी बात है। जब सैकड़ों ही अन्य ग्रन्थों में यह बात है, तब एक 'अग्निपरीक्षा' में से निकाल देने से क्या हो जाएगा। इसका अर्थ यह तो नहीं है कि आपका और श्री तुलसीजी का कोई वैयक्तिक मानापमान का गुप्त द्वन्द्व है, जिसे धर्म के नाम पर व्यापक रूप दिया जा रहा है, व्यर्थ ही समाज का विशुद्ध वातावरण दूषित किया जा रहा है। यह पथ, जो आप जैसे जगद्गुरू के नाम से अपनाया जा रहा है, शत-प्रतिशत गलत है। साम्प्रदायिक कदाग्रह का विष-बीज बो देना तो सरल है, किन्तु फिर उसके दूषित परिणामों से समाज को बचा लेना सरल नहीं होता है।

यदि आपके आग्रह में ही कोई सार है, तो उसके लिए लेख आदि के माध्यम से चर्चा कर लेना ठीक है। हम साधुओं के लिए समाधान का यही एक उपयुक्त मार्ग है। आज की यह सड़कों पर की प्रदर्शन सम्बन्धी राजनीति सर्वथा अभद्र है। इसे राजनीति कहना भी राजनीति का अपमान है। **'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'** मेरे प्रस्तावित मार्ग में है। चुरू, बीदासर, सुजानगढ़ आदि में चल रहे अनियंत्रित प्रदर्शनों में नहीं। आप कहेंगे मैंने तो शान्तिपूर्वक आन्दोलन चलाने के लिए कहा है। मैं पूछता हूँ, क्या यह आन्दोलन शान्तिपूर्वक हो रहा है ? क्या आगजनी, लूटमार आदि के उपद्रव शान्तिमूलक हैं ? भद्र महिलाओं और पवित्र साध्वियों तक पर पत्थर फेंकना, उन्हें घायल कर देना, शान्ति है क्या ? यदि यही शान्ति है तो फिर आपकी भाषा में अशान्ति क्या होती है ? हर प्रदर्शन और आन्दोलन के पहले शान्ति का विशेषण लगा देना, आज का एक दंभभरा फैशन हो गया है, चालाक राजनीतिज्ञों का भाषाछल हो गया है। जब ऐसे आन्दोलनों में हिंसा फूट पड़ती है, और वह प्रायः फूटती ही है, तब असामाजिक तत्वों का नाम ले देना, सामने वाले विरोधी पक्ष के ऊपर ही उत्तेजना पैदा करने का मिथ्या आरोप लगा देना, और इस प्रकार दंभ एवं असत्य के सहारे अपने आपको बचाये रखना, यह आये दिन की बात हो गई है, जिसे आप भी जानते हैं, मैं भी जानता हूँ। मेरा अन्तर्हृदय नहीं मानता कि राजस्थान में हुए इन अभद्र

हिंसक काण्डों में आपका प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हाथ है। पर स्वामीजी ; यह हुआ तो है। आपको चाहिए था कि आप सार्वजनिक रूप से उक्त काण्डों की स्पष्ट निन्दा करते और आन्दोलन को तुरन्त वापस लेते। इतना ही नहीं, अनशन आदि के रूप में सार्वजनिक प्रायश्चित भी करते। महात्मा गांधीजी ने स्वतंत्रता आन्दोलन के समय हिंसा भड़कने पर ऐसा किया था। बड़ी बात तो नहीं कहता, परन्तु आपकी जगह यदि मैं होता तो मैं ऐसा ही करता। आप **'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे'** के विश्वमंगल सिद्धान्त पथ के यात्री हैं। केवल यात्री ही नहीं, साधु हैं। साधु ही नहीं, आचार्य हैं। आचार्य ही नहीं, जगद्‌गुरु भी हैं। अस्तु

आपके नाम पर जो हो रहा है, वह नहीं, अपितु कुछ और अपेक्षा है। कुछ अधिक देर नहीं हुई है। आप अब भी यह अपेक्षा पूरी कर सकते हैं। और यह आपको जल्दी से जल्दी करनी ही चाहिए। इतिहास आपको श्रद्धा से याद करेगा—कि एक आग बुझाने वाले ने गलत हवाओं के कारण दावानल के रूप में फैलती आग को, अपने मानापमान की कुछ भी चिन्ता किए बिना, तत्काल बुझा दिया था। कुछ क्षणों के लिए ही नहीं, सदा-सदा के लिए। ऊपर के अधूरे मन से नहीं, अन्दर के पूरे और सच्चे मन से। आप इस बेतुके बढ़ते हुए विग्रह को पूरी शक्ति के साथ रोकें, इसी सद्‌भावना के साथ....।

जैन भवन,
आगरा (उ.प्र.)
७–८–७२

—उपाध्याय अमर मुनि

●

उक्त पत्र का सांप्रदायिक सद्‌भावना एवं सत्य के समर्थन की दृष्टि से अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है। उपाध्याय श्रीजी साम्प्रदायिक सद्‌भावना तथा सत्य के प्रबल पक्षधर रहे हैं। जैन, वैदिक, बौद्ध—तीनों ही परम्पराओं के साहित्य का आपने गंभीर, साथ ही सद्‌भावनापूर्ण अध्ययन किया है। सूक्तित्रिवेणी नामक विराट् ग्रन्थ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह पत्र भी इसी सद्‌भावना के रूप में है। इसे सभी परम्परा के महानुभावों ने काफी सराहा है। अणुव्रत समिति आगरा ने इसे हजारों की संख्या में छपाकर प्रचारित किया है। अमर भारती के पाठकों की सेवा में भी विचारार्थ प्रस्तुत है।

—संपादक

●

उत्तर प्रदेश शासन द्वारा

'महावीर निर्वाण समिति' का गठन

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के विश्रुत शिष्य मुनिश्री महेन्द्र-कुमार जी 'प्रथम' बीकानेर से कलकत्ता के विहार के बीच लखनऊ पधारे। वहाँ मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम' के साथ उ० प्र० के मुख्यमन्त्री पं० कमलापति त्रिपाठी का भगवान् महावीर की २५०० वीं निर्वाण जयन्ती के बारे में विस्तृत चिन्तन हुआ। मुख्यमन्त्री ने तत्काल निर्णय लिया। और सरकारी स्तर पर 'महावीर निर्वाण समिति' का गठन किया। उ० प्र० शासन के राष्ट्रीय एकीकरण अनुभाग के सचिव श्री त्रिभुवनप्रसाद द्वारा दो बार प्रसारित विज्ञप्ति के अनुसार समिति के पदाधिकारी तथा मनोनीत सदस्य अग्रांकित हैं :—

संरक्षक—माननीय राजपाल महोदय

अध्यक्ष—माननीय श्री कमलापति त्रिपाठी, मुख्यमन्त्री

कार्यवाहक अध्यक्ष—शिक्षा मन्त्री

मंत्री—शिक्षा-सचिव

विशिष्ट अतिथि—उपाध्याय कविश्री अमरमुनि जी[1]

सदस्य :

१. श्री भगवतीचरण वर्मा,
२. ,, लक्ष्मीरमण आचार्य
३. ,, के० एल० श्रीमाली, कुलपति, हिन्दू विश्वविद्यालय
४. ,, राधाकृष्ण, उपकुलपति, कानपुर विश्वविद्यालय

१. **उपाध्याय श्री जी ने कहा है—साधुओं का समिति में होने का अर्थ विचार देना है। यह वैसे भी हो ही जाता है। मैं समितियों के व्यूह से अलग रह कर यथावसर एवं यथोचित वीरशासन की सेवा करने में विश्वास रखता हूँ—सं०**

५. श्री पी० सी० जैन, विशेष सचिव, वित्त विभाग उत्तर प्रदेश
६. „ एस० एन० घोष, सम्पादक–पायनियर
७. „ चन्द्रभानु गुप्त
८. „ आत्माराम गोविन्द खेर, अध्यक्ष–विधान सभा
९. „ वीरेन्द्रस्वरूप, सभापति–विधान परिषद्
१०. „ राजेन्द्रकुमारी बाजपेयी, अध्यक्ष–उ० प्र० कांग्रेस
११. „ पदमपतजी सिंहानियाँ
१२. „ सीताराम जी जयपुरिया, एम० पी०
१३. „ जे० मेहता, मैनेजर, पायनियर
१४. „ परिपूर्णानन्द वर्मा, कानपुर
१५. „ डा० आर० आर० भण्डारी, कानपुर
१६. „ रामेश्वर टाटिया, कानपुर
१७. „ शरतकुमार 'साधक' वाराणसी
१८ „ श्रीचन्द सुराणा 'सरस', आगरा

जैन समाज के प्रतिनिधि :

१९. श्री सुनहरीलाल जैन, आगरा
२०. " छिदामीलाल जैन, फिरोजाबाद
२१. " इन्द्रजीत जैन, कानपुर
२२. " डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ
२३. " डा० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, अलीगढ़
२४. " डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत
२५. " सुकुमालचन्द जैन, मेरठ
२६. " वीरनन्दन जिन्दल, लखनऊ
२७. " लक्ष्मीचन्द जैन, मथुरा
२८. " पण्डित कैलाशचन्द शास्त्री, वाराणसी
२९. " अभिनन्दनप्रसाद टलैया, वाराणसी
३०. " प्रो० खुशालचन्द गोरावाला, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
३१. " कल्याणकुमार 'शशि', रायपुर
३२. " दीपचन्द खजांची, देहरादून
३३. " मंगलकिरन जैन, सहारनपुर
३४. " रतनलाल जैन, बिजनौर
३५. " मोतीलाल जैन, कानपुर

३६. श्री शुभकरण जैन, कानपुर
३७. " महावीरप्रसाद जैन, लखनऊ
३८. " सागरमल चौरड़िया, वाराणसी
३९. " हंसराज जैन, रायबरेली
४०. " बुधमल जी सुराणा, आगरा
४१. " केशरीचन्द सिन्धी, हाथरस
४२. " बी० एल० सेठिया, मैनपुरी
४३. " विजयसिंह बोकड़िया, कानपुर
४४. " भँवरलाल सेठिया, कानपुर
४५. " मांगीलाल बैंगाणी,कानपुर
४६. " सन्तोकचन्द सेठिया, कानपुर
४७. " कल्याणदास जैन, आगरा
४८. " राजमुकुट जैन, आगरा
४९. " पवनकुमार जैन, कानपुर
५०. " डा० मोहनलाल मेहता, वाराणसी
५१. " जवाहरलाल लोढ़ा, आगरा
५२. " फकीरचन्द जैन, आगरा
५३. " विजयसिंह भण्डारी, कानपुर
५४. " सी० रमनलाल गुजराती, कानपुर
५५. " जे० पी० जैन, लखनऊ
५६. " सुमेरचन्द जैन, लखनऊ
५७. " एस० पी० जैन, लखनऊ
५८. " रोशनलाल जैन, जैननगर मेरठ
५९. " डा० उम्मेदमल मुनोत, लखनऊ
६०. " पलटूमल जी जैन, कांधला (मुजफरनगर)
६१. " चन्द्रकान्त भाई, वाराणसी
६२. ,, प्रो० मोतीचन्द जैन, आगरा।

●

भ० महावीर की २५००वीं निर्वाण जयन्ती

के उपलक्ष में प्रस्तावित कार्य-योजना

बिहार प्रदेश को भगवान श्री महावीर की जन्म-भूमि, साधना-भूमि तथा विहरण-भूमि होने का गौरव प्राप्त है। इसी भूमि में ऋजु बालिका नदी के तट पर उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर अनेक प्रदेशों में उन्होंने विचरण किया तथा जनता को भावात्मक एकता का सन्देश दिया। उत्तर प्रदेश को भी साधनाकाल तथा उसके अनन्तर अनेक बार भगवान श्री महावीर को अपने बीच पाने का सौभाग्य मिला था। कुछ विद्वानों के अभिमतानुसार तो उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले को उनकी निर्वाण भूमि होने का भी गौरव प्राप्त है।

उत्तर प्रदेश हजारों वर्षों से प्रायः ऐतिहासिक काल से जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की जन्म-भूमि अयोध्या थी। उन्होंने अपने साधना-काल का अधिकांश समय उत्तराखण्ड के हिमाच्छादित पर्वतों में बिताया था। बद्रिकाश्रम की प्रतिमा एक नया ही संकेत हमें प्रदान कर रही है। तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, जो कि ऐतिहासिक महापुरुषों की कोटि में हैं, वाराणसी में ही अवतरित हुए थे। बावीसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, जो कि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे, शौर्यपुर उनके ऐतिहासिक जन्म-स्थान की ओर संकेत कर रहा है। इस प्रकार अनेक तीर्थंकरों, आचार्यों तथा प्रभावक मुनियों का केन्द्र स्थान उत्तर प्रदेश रहा है।

वर्तमान में इस प्रदेश में जैन समाज की संख्या बीस लाख से भी अधिक है। प्राचीनता तथा अर्वाचीनता को लक्षित करते हुए एवं भगवान श्री महावीर की विहार-भूमि होने के कारण उत्तर प्रदेश शासन को २५०० वीं निर्वाण जयन्ती मनाने हेतु कुछ ठोस कदम उठाने चाहिएँ। कुछ सुझाव नीचे अंकित हैं—

१. चार सेमिनारों का आयोजन।

२. साहित्य प्रकाशन।

३. महावीर-स्मृति-भवन।

४. जिला स्तर पर कमेटियों का निर्माण।

५. महावीर विश्वविद्यालय की स्थापना।

६. महावीर निर्वाण भूमि का पुरातत्व विभाग के द्वारा उत्खनन।

७. जैन उपासना केन्द्रों का निर्माण।

(१) सेमिनारों का आयोजन—उत्तर प्रदेश बहुत बड़ा प्रान्त है, अतः वाराणसी, लखनऊ, आगरा तथा मेरठ में प्रस्तुत वर्ष में चार सेमिनार हों। चारों सेमिनारों के विषय इस प्रकार रह सकते हैं—(१) वर्तमान युग के सन्दर्भ में महावीर के सन्देश, (२) मानवीय मूल्यों की प्रतिस्थापना में महावीर का योगदान, (३) सामाजिक क्रान्ति के सूत्रधार महावीर, (४) साम्प्रदायिक सौहार्द के अग्रदूत महावीर अथवा (१) महावीर का दर्शन, (२) ऐतिहासिक पुराणों में महावीर तथा जैन धर्म, (३) महावीर तथा जैन प्राकृत, अपभ्रंश व संस्कृत साहित्य, (४) जैन कला।

इस कार्य को व्यवस्थित रूप से सम्पादित करने के लिए उप समिति आवश्यक होगी। सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त अग्रांकित विद्वानों का सहयोग इस कार्य के लिए मूल्यवान होगा—

१. डा. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ।

१. डा. मोहनलाल मेहता, वाराणसी।

३. डा. आर. आर. भण्डारी, कानपुर।

४. श्री भँवरलाल सेठिया, कानपुर।

५. डा. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, अलीगढ़।

६. श्री श्रीचन्द सुराणा 'सरस', आगरा।

७. श्री जवाहरलाल लोढ़ा, आगरा।

८. आचार्य लक्ष्मीरमण।

६. श्री राधाकृष्ण, उप-कुलपति कानपुर।

(२) साहित्य-प्रकाशन—हिन्दी समिति के माध्यम से चार पुस्तकों का प्रकाशन—(१) उत्तर प्रदेश के जैन तीर्थ, (२) महावीर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, (३) उत्तर प्रदेश को जैन धर्म की देन, ४. जैन कला।

इस कार्य के क्रियान्वयन के लिए एक उप समिति अपेक्षित होगी। सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त अग्रांकित विद्वानों का मन्त्रणा-मण्डल विशेष उपयोगी रह सकता है—

१. उपाध्याय श्री अमरमुनि जी ।
२. श्री भगवतीचरण वर्मा ।
३. पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ।
४. पं. कैलाशचन्द शास्त्री, वाराणसी ।
५. श्री प्रेमसागर जैन, बड़ौत ।
६. श्री शुभकरण जैन, कानपुर ।
७. „ शरतकुमार 'साधक', वाराणसी ।
८. „ जे. मेहता, लखनऊ ।

(३) **महावीर स्मृति-भवन**—भगवान श्री महावीर के निर्वाण महोत्सव की स्थायी स्मृति के लिए लखनऊ में पाँच मंजिल का एक भवन बनाया जाये, जहां प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं, कलाओं तथा सांस्कृतिक समन्वय का नाना विद्वानों द्वारा अनुसन्धान कार्य हो। पाँच मंजिलों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है, (१) विशाल आडिटोरियम, (२) संग्रहालय (म्यूजियम), (३) पुस्तकालय, (४) कार्यालय, (५) अतिथि कक्ष आदि ।

सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त इक्कीस व्यक्तियों की एक उपसमिति अपेक्षित होगी । । उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. श्री छिदामीलाल जैन, फिरोजाबाद ।
२. श्री कल्याणदास जैन, आगरा ।
३. „ मांगीलाल बैंगाणी, कानपुर ।
४. „ डा. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ ।
५. „ सुमेरचन्द जैन, लखनऊ ।
६. डा. मोहनलाल मेहता, वाराणसी ।
७. श्री रामेश्वरजी टाटिया, कानपुर ।
८. „ इन्द्रजीत जैन, कानपुर ।
९. „ विनयचन्द भण्डारी, कानपुर ।
१०. „ चन्द्रकान्त भाई, बाराणसी, आदि ।

(४) **जिला स्तर पर कमेटियों का निर्माण**—उत्तर प्रदेश के देहातों एवं कसबों में जैन तथा अजैन करोड़ों व्यक्तियों को भगवान श्री महावीर में दृढ़ आस्था है । उन तक महावीर का सन्देश पहुँचाने का प्रयत्न करना, इसका मुख्य कार्य होगा। प्रत्येक जिलाधीश पदेन इस समिति के अध्यक्ष होंगे ।

(५) **महावीर विश्वविद्यालय की स्थापना**—बुन्देलखण्ड में विश्वविद्यालय न होने से जनता की विशेष मांग है। सरकार उस आवश्यकता को महत्त्व देकर इस अवसर पर उसकी पूर्ति करे और विश्वविद्यालय का नामकरण भगवान महावीर विद्यालय हो।

भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण जयन्ती सन् ७४ नवम्बर १३ से प्रारम्भ होगी और पूरे एक वर्ष तक भारत में तथा बाहर विशेष कार्यक्रम चलते रहेंगे।

६. कुछ विद्वानों का अभिमत है कि देवरिया जिला में भगवान महावीर की वास्तविक निर्वाण-भूमि है। पुरातत्त्व विभाग के द्वारा उस स्थान का उत्खनन तथा अनुसंधान होने से नया तथ्य प्रगट हो सकता है, जिस पर उत्तरप्रदेश को विशेष गौरव हो सकता है।

(७) जिला मुख्यालयों में जैन उपासना केन्द्रों का निर्माण किया जाये। इस कार्य के लिए ५० प्रतिशत आर्थिक दायित्व स्थानीय जनता वहन करे तथा ५० प्रतिशत सरकार।

—प्रस्तोता—महावीर प्रसाद जैन

●

वही राष्ट्र जीवित है जग में,
जिसके पूर्वज जीवित हैं।
महापुरुषों की सम्यक् स्मृति में,
जिसका सर्व समर्पित है॥

—उपाध्याय अमरमुनि

●

अग्निपरीक्षा के संदर्भ में शंकराचार्य जी के नाम पत्र

कुछ सहज प्रतिध्वनियां

[उपाध्याय श्रीजी जैन जगत् के एक समन्वय दृष्टि-प्रधान मनीषी हैं। विभिन्न परम्पराओं के बीच कलह, घृणा, विद्वेष में आपका विश्वास नहीं है। उनका विश्वास है परस्पर के सहज प्रेम और सहयोग में। अग्नि परीक्षा के सम्बन्ध में श्री शंकराचार्य जी को ७ अगस्त ७२ को दिया पत्र, इसी भावना का प्रतीक है। पत्र में जहाँ सत्य का निर्भय समर्थन है, वहाँ जैन, अजैन सभी परम्पराओं में सद्भावना का मुक्त स्वर भी है।

पत्र को सभी जैन अजैन मनीषियों ने सराहा है। उसकी बहुत ही मधुर एवं सद्भावनापूर्ण प्रतिक्रिया हुई है, जिसकी वर्तमान में सर्वाधिक अपेक्षा है। स्थानाभाव से कुछ पत्र और पत्रांश ही यहाँ उद्धृत हैं, पाठकों की जानकारी के लिए—संपादक]

प्रबुद्ध चेता कवि उपाध्याय श्री अमरचन्द जी ने पिछली बार रायपुर की घटना के समय और इस बार भी जिस मैत्री का परिचय दिया है, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। पुरी के शंकराचार्य जी ने अग्नि-परीक्षा के बहाने जैन-सनातन का प्रश्न खड़ा कर दिया था। उससे अकल्पित हिंसा और वैमनस्य का वातावरण निर्मित हो गया। यह हम जैनों के लिए आत्म-विश्लेषण का समय था। इस समय जिन आत्मीय-जनों ने सहानुभूति प्रकट की, उनमें आपका नाम विशेष उल्लेखनीय है। हमने इस समस्या को एक अहिंसक प्रक्रिया से सदा के लिए समाप्त कर दिया है। इससे भविष्य के लिए एक प्रकाश मिला है और शक्ति को संगठित कर कार्य करने का अवकाश।

—**आचार्य तुलसी**

चूरु
१७-८-७२

मुनि श्री (शतावधानी महेन्द्रकुमार जी प्रथम) जब अस्वस्थ थे, एक दिन यकायक श्री शंकराचार्य के नाम दिये गये आपके पत्र की मुद्रित पुस्तिका मुनि श्री के हाथों में आई, तो मुनि श्री को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। एक ही सांस में मुनि श्री उसे पढ़ गये। आपकी लेखनी में सत्य और अभय का जो स्पष्ट विवेचन है वह अन्यत्र दुर्लभ है। मुनि श्री ने उस लेख की यहाँ के वृहत् तेरापंथ समाज के बीच मुक्त चर्चाएँ कीं। समाज भी उससे आपके प्रति बहुत कृतज्ञता का अनुभव करता है।

—महावीरप्रसाद जैन,
श्री तेरापंथ महासभा, कलकत्ता।

आपका पत्र जगद्गुरु श्री शंकराचार्य के नाम 'अग्निपरीक्षा के सन्दर्भ में सत्य का तकाजा' अणुव्रत समिति आगरा द्वारा प्रकाशित देखा। पढ़कर आनन्द-विभोर हो उठा। आपके प्रति श्रद्धा व सम्मान की भावना पहले भी बहुत थी। वह और भी वृद्धिगत हुई। रायपुर के प्रसंग में आपका अग्नि-परीक्षा से सम्बन्धित लेख अमरभारती में पढ़ा था, और इस समय यह पत्र पढ़कर हमें लग रहा है कि इस विषय में आपका सहयोग सर्वाधिक रहा है।

आचार्य श्री तुलसी व आप जैसे सुलझे हुए विचारक व विद्वान् व्यक्तियों के हाथों में जैन संघ सर्वथा सुरक्षित है। और भी इस की प्रभावना होगी, हमें ऐसी आशा है।

शंकराचार्य जी को दिया गया पत्र अमरभारती में भी प्रकाशित होना चाहिए।

—गुलाबचन्द्र महनौत,
अध्यक्ष तेरापंथ सभा, अजमेर

पत्र बहुत सुन्दर लिखा गया है। वास्तविक स्थिति का इतना अच्छा स्पष्टीकरण अन्यत्र नहीं देखा गया। साम्प्रदायिक सद्भावना के रूप में आपका पत्र चिरस्मरणीय रहेगा........।

—धीरेन्द्र, हरिद्वार।

इतना विनम्र, साथही इतना ओजस्वी पत्र कि पढ़ते ही अन्तर्मन प्रसन्न हो गया। जिस अभयभाव से सत्य का समर्थन किया है, वह अपने में एक आदर्श है।

—चन्द्रकान्त, शास्त्री।

●

समाचार-दर्शन

● **गुजालपुर : आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी म० का ७३ वां जन्मोत्सव**, १० अगस्त ७२ के दिन, बड़े समारोह से मनाया गया। भूतपूर्व वित्तमंत्री श्री सौभाग्यमल जैन आदि प्रवक्ताओं ने आचार्यचरणों में भावभीनी श्रद्धा सुमनांजलियां अर्पण कीं। श्री फकीरचन्द्र जी मेहता ने 'आनन्द प्रवचन द्वितीय भाग' का अनावरण किया।

● **बुन्देलखण्ड झांसी में महावीर विश्व विद्यालय** के निर्माण का प्रयत्न चल रहा है। लगभग ४५ एकड़ भूमि संस्थान को प्राप्त हो गई है। महावीर शोध संस्थान के भवन का शिलान्यास साहू श्री शान्तिप्रसाद जी के कर कमलों से हो चुका है। श्री महेन्द्रकुमार जैन अध्यक्ष, डा० श्री कृष्ण-पाद भट्टाचार्य शिक्षा-निदेशक, श्री शिखरचन्द्र जैन प्रधानमंत्री विश्व विद्यालय के लिए कृतसंकल्प हैं।

● **महावीर पब्लिक स्कूल फरीद कोट :** पंजाब के मुख्य मंत्री ज्ञानी जैलसिंह जी के कर कमलों से ७ अगस्त ७२ को, कमला नेहरू जैन गर्ल्ज हायर सेकेण्डरी स्कूल के विशाल भवन की ऊपरी मंजिल पर निर्मित भवन में महावीर पब्लिक स्कूल का बड़े समारोह के साथ उद्घाटन सम्पन्न हुआ।

● **रामपुर जैन समाज** के अर्थ मंत्री श्री टेकचन्द जी की माता श्री इन्दुमती जैन का ३०-७-७२ को स्वर्गवास हो गया। माता जी धर्मनिष्ठ थी। दिन में एकबार ही भोजन लेती थी। श्री टेकचन्द्र जी ने स्व० माताजी की स्मृति में अनेक संस्थाओं को ३०००) का दान किया है। अमर भारती को भी ११ अर्पण किए हैं।

● **आरा १३ अगस्त :** प्रातःकाल दिगम्बर मुनि श्री शान्तिसागर जी म० का ६३ वर्ष की आयु में संलेखनापूर्वक समाधिमरण हुआ। आचार्य श्री सुमति सागर जी गुरुदेव से १० अगस्त की संध्या को विधवत् संलेखना

ग्रहण कर ली थी। अन्तिम यात्रा में जैन अजैन जनता ने हजारों की संख्या में भाग लिया।

—पद्मराज जैन

● **श्री मरुधर केशरी उच्च माध्यमिक विद्यालय, राणावास :** स्वतन्त्रता-रजत जयन्ती के उपलक्ष में, सोजत नगर में आयोजित हिन्दी वाद विवाद प्रतियोगिता में विद्यालय के मेधावी छात्र पारसमल दक ने प्रथम स्थान प्राप्त किया। प्रतियोगिता में पाली जिले के १६ विद्यालयों ने भाग लिया था।

● **जैन इंडस्ट्रीज, ठाकुरगंज, लखनऊ (उ० प्र०)** उक्त संस्थान के संचालक श्री जयचन्द्र जैन सूचित करते हैं कि हमारे यहाँ समाज के बेकार भाई शिक्षण प्राप्त कर स्वयं कुटीर एवं लघु उद्योग खोलकर अपने पैरों खड़े हो सकते हैं। यहाँ निवास आदि की उचित व्यवस्था है।

● **आन्ध्रप्रदेश, विजयवाड़ा में मांस-भक्षण का कार्यक्रम**—स्वतंत्रता की २५वीं रजतजयन्ती के पुनीत अवसर पर श्री गोरा नामक व्यक्ति द्वारा सार्वजनिक रूप से गो-मांस और सूअर के मांस के भोजन की घोषणा की गई है। इसे हिन्दू मुसलिम एकता का प्रतीक बताया गया है। यह कितना घृणित और बेतुका आयोजन है। भविष्य में इस प्रकार के आयोजन न होने पाएँ, इसके लिए एक व्यापक आन्दोलन की अपेक्षा है।

● **बेंगलोर, हिन्दी हाईस्कूल, कालेज की ओर**—हिंदी शिक्षण संघ के तत्वावधान में चलने वाली संस्थाओं का २४वाँ वार्षिकोत्सव बड़े समारोह के साथ दि० ३१-७-७२ को मैसूर के राज्यपाल श्री मोहनलाल जी सुखाडिया के सांनिध्य में सम्पन्न हुआ।

उक्त उत्साहवर्धक वातावरण में सोजत सिटी वाले श्री मांगीलाल जी गोदावत ने हिन्दी माध्यम का जूनियर कॉलेज प्रारंभ करने के लिए २ लाख ७५ हजार के, तथा चन्दनमलजी जुगराजजी कोठारी की ओर से श्री बस्तीमल जी कोठारी ने ३११११ के, एवं उपस्थित जनता ने १ लाख २५ हजार के दान की घोषणा की। आयोजन काफी शानदार रहा।

● **श्री जैन सेवा संघ, सुलतान बाजार, हैदराबाद तथा सिकंदराबाद**—के जैन समाज की एक प्रतिनिधि संस्था है। जैन साहित्य प्रकाशन, जीवदया प्रचार, अध्ययन गोष्ठी, छात्रवृत्ति, धर्म पर्वों का सामूहिक आयोजन आदि कार्य सेवा संघ के प्रमुख आदर्श हैं।

●

साहित्य-समीक्षा

जैन लक्षण वली : जैन पारिभाषिक शब्द कोष

सम्पादक—श्री बालचन्द्र शास्त्री ।

प्रकाशक—वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली—६ ।

मूल्य—२५.००

जिसकी चिरकाल से प्रतीक्षा थी, वह सौभाग्य से आज हमें उपलब्ध है। 'जैन-लक्षणावली' प्राचीन जैन-साहित्य का एक ऐसा प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दकोष है, जिससे एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। श्वेताम्बर, दिगम्बर परम्पराओं के लगभग ४०० प्राचीन संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों से लक्षणों का प्रामाणिक संकलन किया गया है। एक-ही ग्रन्थ में एक-ही जगह अधिकृत पारिभाषिक शब्दों के विभिन्न अर्थ एवं लक्षण हिन्दी अनुवाद के साथ प्राप्त हो जाते हैं। अनुवाद तटस्थ यथार्थानुलक्षी दृष्टि से किया गया है। साधारण जिज्ञासुओं से लेकर शोधकर्ता विद्वानों तक के लिए यह संकलन उपयोगी रहेगा। अतः प्रत्येक ज्ञान भंडार एवं पुस्तकालयों में 'जैन-लक्षणावली' को समादर के साथ स्थान मिलना चाहिए।

प्रारम्भ में ग्रन्थ परिचय से सम्बन्धित एक विस्तृत समीक्षात्मक प्रस्तावना है। प्रस्तावना में 'लक्षण वैशिष्ट्य' के शीर्षक से अकर्म भूमिक, अचेलक आदि शब्दों की विवेचना भी काफी ज्ञानवर्धक है। परिशिष्ट में ग्रन्थानुक्रमणिका है, जिससे ग्रन्थ, ग्रन्थकार, प्रकाशक एवं प्रकाशनकाल आदि की महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है। यह प्रथम भाग 'अ' से औ तक है। अगले भागों के प्रकाशन की शीघ्र ही अपेक्षा है।

ग्रन्थ के संपादक श्री बालचन्द्र शास्त्री जैन-विद्वज्जगत में जाने-माने लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं। उनकी प्रतिभा, शास्त्राभ्यास, विद्वत्ता एवं प्रामाणिकता सन्देह से परे है।

—संपादक

●

वीरायतन बालिका संघ का प्रचार कार्य

आदरणीया पूज्य महासती श्री सुमतिकुंवर जी से मांगलिक सुनकर वीरायतन की जनकल्याणी भव्य योजना के सम्बन्ध में विशाल जनसमुदाय को परिचित कराने के लिए वीरायतन बालिका संघ, कलकत्ता ने राष्ट्रव्यापी प्रचार यात्रा प्रारंभ की।

आगरा में सर्वप्रथम शुभ आरंभ के लिए वीरायतन बालिका संघ श्री नेम-कुमार जी व सौ० सुश्री प्रेमबाई के घर पर गया। निवेदन किया कि इस विराट कार्य का श्रीगणेश हम आपसे करना चाहती हैं। उन्होंने बड़े स्नेह एवं सद् भावना से बात की और क्षणभर में हाथ से पाँच का इशारा किया। हमने जो समझा, तद-नुसार प्रसन्न मुद्रा में ५०१ की रसीद बनाई जाने लगी, तो वे मुस्कराते हुए बोले—"बेटी, पांच सौ एक नहीं, पांच हजार एक।" हम बालिकाओं के आनन्द का कोई ठिकाना न था। एक विराट शक्ति व महान् संकल्प-शक्ति स्पष्ट ही हमारे-साथ है, ऐसा बोध होता था। पूज्य गुरुदेव का पुनीत आशीर्वाद हमें उत्साह से आगे बढ़ा रहा था। आगरा में वीरायतन के लिए पहले ही काफी काम हो रहा है, अतः आगरा में Collection का तो कोई खास विचार नहीं था, पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ ही आगरा उतरे थे। उस दिन शाम को ही Taj Express से हम दिल्ली पहुँचे।

दिल्ली में भारतीय गणतन्त्र की माननीया प्रधानमंत्री श्री इन्दिरा गांधी जी से मिले। उन्हें राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष पद की स्वीकृति के लिए वीरायतनबालिका संघ ने धन्यवाद दिया। और, आपसे ५० लाख के प्रस्ताव को एक करोड़ का करने के लिए निवेदन किया। वीरायतन का भी परिचय प्रस्तुत किया। उन्होंने हमें प्रसन्न मन से शुभकामनाएँ देते हुए कहा—"तुम्हारे जैसी छोटी-छोटी लड़कियां इतनी उत्साह से कार्यरत हैं, तो यह महान् कार्य अवश्य ही सफल होगा। हम जरूर आपकी बात पर विचार करेंगे।"

दिल्ली में आदरणीय पं० श्री सुशीलमुनिजी व महासती श्री प्रीति सुधाजी की प्रीति वर्षा भी कम न रही। दिल्ली के कार्य को यशस्वी करने में श्री शान्तिदेवी जी, श्री कमला जी व श्री विमलाजी बहन का सहयोग अपूर्व था। आपके द्वारा हम अपरिचित नन्ही बालिकाओं को दिल्ली में जो सहयोग मिला, उसका श्रेय आप बहनों को है। दिल्ली का कार्यक्रम पूराकरके हम मेरठ पहुँचे। मेरठ में एस. एस. जैन सभा, महिला संघ, पंचशील आदि संस्थाओं से तथा श्री रोशनलाल जी, श्री केदारनाथ जी आदि बन्धुओं से जो सहयोग और आश्वासन मिला, वह अवर्ण-नीय ही है। साथ ही दिगम्बर-मूर्ति पूजक जैन समाज तथा जैनेतर (जिनमें सिक्ख बन्धु भी सम्मिलित थे) समाज ने भी, जिनका परिचय मात्र कुछ वर्ष पूर्व दर्शनाचार्य श्री चन्दना जी के कुछ लेक्चर्स सुनने से हुआ था, जिस उत्साह से वीरायतन में तन मन धन से हर प्रकार का सहयोग देने की जो आकांक्षा व्यक्त की, और सहयोग दिया है, वह भी अभिनन्दनीय है। मेरठ में 'वीरायतन समिति' की भी स्थापना हो गयी है।

कलकत्ता के लिए वापस लौटते हुए कानपुर में महान् मनीषी श्री विजय मुनिजी के दर्शन किए। मुनि जी की प्रेरणा से कानपुर में वीरायतन के लिए जो उत्साह-

पूर्वक कार्य हो रहा है, वह वीरायतन के इतिहास में चिर स्मरणीय होगा। वीरायतन बालिका संघ को भी उत्साह वर्धक सहयोग मिला है।

वीरायतन बालिका संघ : प्रधानमंत्री के साथ



वीरायतन बालिका संघ का दूसरा ग्रुप श्री भावना रूपानी के नेतृत्व में, नागपुर आदि क्षेत्रों के लिए, कलकत्ता से २१ अगस्त को प्रस्थान कर रहा है। हमें आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है वहाँ पर भी हमें उत्साहवर्धक सहयोग प्राप्त होगा। हम बालिकाओं का इस प्रकार सामाजिक कार्य करने का, यह पहला ही प्रसंग है। प्रभु भक्ति की प्रेरणा ही हमारे अबोध मन को तरंगित कर रही है।

—चारु देसाई—अध्यक्ष, वीरायतन बालिका संघ, कलकत्ता

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
रामधन शर्मा, बी०ए०, एल०टी०,

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन · एक सौ एक रुपये
पाँच वर्ष · इकतीस रुपये
तीन वर्ष · इक्कीस रुपये
वार्षिक · आठ रुपये
एक प्रति · पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ६ | अक्तूबर ७२ | अंक १०

अन्तर्नाद

स्वात्मबोधोदये जाते स्वतः स्याद् भवविप्लवः ।
उदिते तु सहस्रांशौ कुतो नैशतमः स्थितिः ॥

—ज्योंही अन्तर्जगत् के चिदाकाश में अपनी आत्मा के बोध का उदय होता है, स्वतः ही संसार का विप्लव अर्थात् विनाश हो जाता है । क्षितिज पर सूर्य का उदय होते ही रात्रि का अन्धकार कैसे रह सकता है ?

आत्मबोधरूप सम्यग्दर्शन अन्तर्जगत का सूर्य है । इसके उदय होते ही संसार स्वतः ही नष्ट हो जाता है । सबसे बड़ा संसार, जिसके आधार पर अविरत, प्रमाद आदि अन्य आश्रव विस्तार पाते हैं, मिथ्या दर्शन है । यही अनादिकाल से चला आनेवाला सघन अन्धकार है, जो आत्मा को अनन्तकाल से भटका रहा है । सम्यग्दर्शन सूर्य के प्रकाश में मिथ्यादर्शन रूप अन्धकार कहां रह सकता है ? इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा है—**'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं'** अर्थात् सम्यग् दृष्टि आत्मा कोई पाप नहीं करता । कौनसा पाप ? मिथ्यादर्शन ही तो वह पाप है, जो सब पापों का बाप है । सम्यग्दर्शन में यह पाप नहीं होता है ।

अद्वैतानुभवः सम्यग्-दर्शनं हि सुनिर्मलम् ।
तद्विरुद्धमतं मिथ्या-दर्शनं चातिकल्मषम् ॥

—अद्वैत की, एक मात्र स्वचैतन्य की अनुभूति ही निर्मल सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन है, जो अत्यन्त मलिन है ।

सम्यग्दर्शन ही वस्तुतः वह दर्शन है, जो साधना का प्राणतत्त्व है । सम्यग्दर्शन के अभाव में आचार , आचार नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है । क्यों नहीं है ? इसलिए कि जब दृष्टि ही निश्चित नहीं है तब कैसे पता चले कि मार्ग क्या है और मंजिल क्या है ?

और वह सम्यग्दर्शन क्या है ? अद्वैत की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है। पर परिणति के मिथ्या विकल्पों से हटकर जब चेतना अन्तर्मुख होती है, एक मात्र स्व में, निज में श्रद्धा जागृत होती है, आत्मानुभूति होती है, वह सम्यग्-दर्शन है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी सन्दर्भ में कहा है—**'दर्शनमात्मविनिश्चितिः।'**

सर्वत्र शुद्धताऽखण्डा सम्यग्दर्शनचेतसाम्।
मिथ्यामतिमतामेव शुद्धाशुद्धविकल्पना॥

—सम्यग्दर्शन की चेतनावाले साधकों को सर्वत्र अर्थात् प्राणिमात्र में अखण्ड शुद्धता के दर्शन होते हैं। मिथ्या दृष्टि जीवों को ही 'यह शुद्ध है और यह अशुद्ध है'—इस प्रकार भेदविकल्पना होती है।

विश्व के अनन्त प्राणियों का अन्तर् चैतन्य शुद्ध है या अशुद्ध, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ ने इसे शुद्ध कहा है, कुछ ने अशुद्ध। जैनतत्त्व ज्ञान की दृष्टि से वह शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है। गति, योनि आदि के अशुद्ध पर्यायनय के विकल्पों से अशुद्ध है। और सदा शुद्ध रहनेवाले मूल द्रव्य की दृष्टि से सब शुद्ध हैं। शुद्धनय सबको शुद्ध मानता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है—**'सव्वे सुद्धा हु सुद्धनया।'** सम्यग्दर्शन चैतन्यमात्र को द्रव्यदृष्टि से देखता है, अतः उसे सर्वत्र शुद्धता ही प्रतिभासित होती है।

निवासो नरके श्रेष्ठः, सम्यक्त्वसहितस्य मे।
परं सम्यक्त्वशून्यस्य, स्वर्गवासोऽप्यशोभनः॥

—सम्यग्दर्शन के साथ नरक में रहना भी अच्छा है। किन्तु सम्यग्दर्शन गँवाकर स्वर्ग का निवास भी खराब है।

स्वर्ग मिलता है या नरक, अपने में कोई खास बात नहीं है। यह तो केवल सुख दुःख के भोगकेन्द्र हैं, और कुछ नहीं हैं। और सुख दुख का सम्बन्ध जीवन की शुद्धि-अशुद्धि से नहीं है। मूल प्रश्न जीवनशुद्धि का है और उसका सीधा सम्बन्ध सम्यग्दर्शन से है, जो धर्म का मूल है। अतएव सच्चा साधक सम्यग्दर्शन के सद्भाव में नरक को भी श्रेष्ठ समझता है, और सम्यग्-दर्शन के अभाव में स्वर्ग को भी खराब मानता है। यह शुद्ध अध्यात्म दृष्टि है, जो अन्तरंग शुद्धि को महत्त्व देती है। बाहर का सुख दुःख उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता।

●

श्री अमर भारती, अक्तूबर १९७२

एक प्रवचन

★ उपाध्याय अमर मुनि

शास्त्र : एक समीक्षा

साधक जब साधना पथ पर आगे बढ़ता है तब उसके सामने अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएं उपस्थित होती हैं। साधना के पथ पर आगे बढ़ने का अर्थ है—अपने जीवन को विकार और विकल्पों से मुक्त कर लेना। जीवन-विकास के लिए दो तत्वों की आवश्यकता है—विवेक और वैराग्य। विवेक जितना निर्मल होता है, वैराग्य उतना ही गहरा होगा। भगवान् महावीर ने विवेक के सम्बन्ध में कहा था, कि विवेक ही धर्म है और विवेक ही मोक्ष है। विवेकशील साधक जब अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ करता है, तब साधना-पथ को देखने के लिए उसकी अपनी एक आँख होती है। अपना स्वयं का निर्मल विवेक और अपना स्वयं का सम्यग् ज्ञान होता है। साधक का नेत्र क्या है? इसके उत्तर में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—"**आगम चक्खू साहू।**" साधक शास्त्र की आँख लगाकर चलता है। जो कुछ उसे देखना, समझना, सोचना और विचारना होता है, तो वह शास्त्र की आँख के द्वारा होता है। शास्त्र क्या है, श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान साधक की शास्त्रनिमित्तक अपनी स्वयं की एक अन्तरंग सत्य की अनुभूति है।

जिसे देखना है, वह तत्व दो ही प्रकार का है-चेतन और अचेतन। जगत् में जड़का स्वरूप क्या है और जीव का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में साधारण साधक को स्वयं का कोई अलौकिक ज्ञान नहीं होता। स्वयं को अलौकिक ज्ञान हो तो उसको शास्त्रों की जरूरत ही नहीं रहे। उसे स्वयं का कोई अपना विशिष्ट ज्ञान नहीं होता। अतः वह शास्त्र से जगत के पदार्थों को जानना चाहता है—जड़ क्या है? चैतन्य क्या है? आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? लोक क्या है? परलोक क्या है? कर्म क्या है? बन्धन क्या है? संवर-निर्जरा और मोक्ष क्या हैं? इन सबके स्वरूप को जानने का एक ही

साधन है और वह है शास्त्र। इन सबके स्वरूप का ज्ञान करने के लिए शास्त्रों के अन्दर में वह खोज करता है और शास्त्रों के माध्यम से मालूम करता है, कि ये सब क्या हैं?

साधक अपने से भिन्न पर पदार्थों को भी जानना चाहता है और स्वयं अपने को भी। मैं कौन हूँ? 'मैं' यह शरीरमात्र ही है या और कुछ है? ये इन्द्रियाँ, यह मन और मनके विकल्प—यही मैं है अथवा मैं इन सबसे भिन्न है। अन्दर में कभी राग तो कभी द्वेष की, कभी क्रोध, मोह, लोभ और वैर की धाराएँ बहती रहती हैं। कभी शुभ में बहती है तो कभी अशुभ में, तो क्या यही मैं है अथवा इनसे भिन्न है। शास्त्र के माध्यम से साधक निश्चय करता है, कि शरीर, इन्द्रियाँ और मन से परे कोई और तत्व है, और वह मैं हूँ। राग और द्वेष तो विकार हैं, वह मैं नहीं हूँ। क्योंकि ये तो कर्मजन्य विकार हैं। यह मेरा अपना स्वरूप नहीं है। मनुष्य के अन्तर में जो दान, दया एवं करुणा के शुभ विकल्प हैं, जिनसे कर्म का बन्ध होता है, वह भी मैं नहीं हूँ। अगर पुण्य है तो स्वर्ग खड़ा हो जायगा। राजा, महाराजा एवं धन्नासेठ बन जायगा। अगर पुण्य प्रकृति का उदय हुआ, तो सुन्दर और मजबूत शरीर प्राप्त हो जायगा। पुण्य के उदय से भौतिक चीजें ही मिलेंगी। उससे आध्यात्मिक तत्त्व प्राप्त नहीं होगा। इसीलिए यह कहा गया है, कि साधक अपने साधना-पथ का निर्णय शास्त्र के आधार पर करता है।

शास्त्र के माध्यम से ही वह अपने स्वरूप को तथा अपने से भिन्न तत्वों के स्वरूप को भली-भांति समझ सकता है। जब तक छद्मस्थ अवस्था है, तब तक साधक के लिए शास्त्र अवलम्बन रहेगा ही। सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने के बाद शास्त्र की उसे आवश्यकता नहीं रहेगी। उस स्थिति में तो उसका स्वयं का साक्षात्कारमूलक निर्णय ही शास्त्र होगा। भगवान् वीतराग, जिन्होंने राग और द्वेप के बन्धन तोड़ दिए, ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों कर्मों का जिन्होंने समूल क्षय कर दिया, उनके जीवन में एक परम तत्त्व जागृत हो गया। जिसकी ज्ञानज्योति में पाताल, पृथ्वी और आकाश के सब लोक एक साथ झलक जाते हैं, जिसकी देहज्योति में एक अनन्त दिव्यरूप झलकता रहता है, जिसकी शब्द ज्योति में अर्थों का भावोद्घाटन लगातार होता रहता है, उस स्थिति में साधक परम ज्योति में पहुँच जाता है, फिर वहाँ शास्त्रों की आवश्यकता नहीं रहती। जब तक अनन्त ज्ञान के नेत्र नहीं खुलते हैं, तब तक ही साधक शास्त्र की आँखों से विश्व के सत्य का दर्शन करेगा, अपने जीवन के साधना-मार्ग को प्रशस्त करेगा।

अन्धकार मे भरे हुए अपने पथ पर प्रकाश की किरणें डालता जाएगा और आगे बढ़ता जायगा। केवल ज्ञान हो जाने पर उसे शास्त्र के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती।

मति और श्रुत :

हमारे यहाँ ज्ञान के सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण चर्चा है। मति-ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन, इनके द्वारा होता है। श्रुत ज्ञान मुख्य रूप से शास्त्रों के आधार पर शब्दनिमित्तक ज्ञान की धारा है। मति ज्ञान की अपेक्षा श्रुत ज्ञान की परिभाषा, लक्षण और स्वरूप अधिक पेचीदा हैं। अगर विस्तार में गया तो आप लोग कलकी तरह फिर गड़बड़ाएँगे, इसलिए शास्त्र तक ही इसकी व्याख्या को सीमित रखना उचित होगा। शास्त्र में जिन पाँच ज्ञानों का वर्णन किया गया है उनमें से मति-ज्ञान और श्रुत ज्ञान संसार के प्रत्येक प्राणी को होते हैं। इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान ही मति ज्ञान है। श्रुत ज्ञान, जिसे मैंने अभी मुख्यरूप से शास्त्र ज्ञान कहा है, वह मतिपूर्वक ही होता है। यह दोनों ज्ञान सहयात्री हैं। एक दूसरे के साथ रहते हैं, एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते। पर यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि श्रुति और श्रुत इन दोनोंका एक ही अर्थ है। गुरु परम्परा से जो सुना जाता है, उसे श्रुति अथवा श्रुत कहा जाता है। वैदिक परंपरा में श्रुति और जैन परंपरा में 'श्रुत' शब्द अधिक प्रचलित है।

अवधि और मनः पर्याय :

जैन शास्त्रों में जिन पाँच ज्ञानो का वर्णन उपलब्ध होता है, उनमें तृतीय और चतुर्थ ज्ञान अवधि ज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान हैं। अवधि ज्ञान का अर्थ है, कि जिन पदार्थों के देखने और जानने के लिए पाँचों इन्द्रियों और मन की जरूरत है, उन इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही सीधे आत्मा के माध्यम से रूपी पदार्थों का एक सीमा एवं अवधि तक जो ज्ञान होता है उसे अवधि ज्ञान कहा जाता है। अवधि ज्ञान में अपने विषय को जानने के लिए पाँच इन्द्रिय और मन के उपयोग करने की आवश्यकता नहीं रहती। आत्मा के सीधे माध्यम से रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधि ज्ञान से होता है। पर, इस ज्ञान मे आत्मा का पता नहीं लगता, चैतन्य के दर्शन नहीं होते, अरूपी तत्वों का पता नहीं लगता। रूपी शब्द का सीधा अर्थ है—रूप वाला। पर, जैन दर्शन के अनुसार इसका अर्थ होगा–रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हों, उसे रूपी अथवा मूर्त कहा जाता है। रूपी तत्त्व का अर्थ है—पुद्गल। पुद्गल के अतिरिक्त ये चार गुण

अन्य किसी द्रव्य में नहीं मिलते। इसका अर्थ यह होगा कि अवधि ज्ञान से पुद्गल को ही जाना जा सकता है, अन्य आत्मा आदि अरूपी द्रव्यों को नहीं।

मुझे एक बार एक सज्जन मिले। उन्होंने कहा कि महाराज! आजकल इतनी साधना करते हैं पर अवधि ज्ञान नहीं होता। मैंने कहा कि अवधि ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है? आध्यात्मिक दृष्टि से जो महत्व श्रुत ज्ञान का है, वह अवधि ज्ञान का नहीं हो सकता। यह आवश्यक नहीं है कि केवल ज्ञान से पूर्व अवधि ज्ञान और मन: पर्याय ज्ञान हों ही। इन दोनों के बिना भी साधक मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान से सीधा केवल ज्ञान पर पहुँच सकता है? अवधि ज्ञान और मन: पर्याय ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। किसी को यह हो जाते हैं, किसी को नहीं होते, अतः इनके बिना भी साधक सीधा केवल ज्ञानी हो जाता है। आत्मा का ज्ञान तो अवधि ज्ञान नहीं करा सकता। केवल जड़ पदार्थों का ज्ञान ही करा सकता है। विचार करो कि आप अपनी आँखों के सामने ग्राम, नगर एवं सरिता आदि पदार्थों को देखते हैं उसी प्रकार अवधि ज्ञानी लवण सागर, सुमेरु पर्वत, स्वर्ग एवं नरक आदि को देख लेता है। तब दोनों के देखने में अन्तर क्या रहा? दोनों ने ही पुद्गल को देखा। आत्मा तक अवधि की पहुँच नहीं है। क्योंकि आत्मा एक अरूपी और अमूर्त द्रव्य है।

मन: पर्याय ज्ञान का अर्थ है—मन की पर्यायों को जानने वाला ज्ञान। मन के विकल्पों को जानने वाला ज्ञान मन: पर्याय ज्ञान कहा जाता है। मनुष्य के मन में संख्यातीत विकल्प उत्पन्न होते हैं। एक भी क्षण इस प्रकार का नहीं होता, जबकि विकल्प उत्पन्न न होते हों। मन में उठने वाले सभी प्रकार के विकल्प, फिर भले ही वे शुभ हों या अशुभ हों, सूक्ष्म हों या स्थूल हों, सब मन: पर्याय ज्ञान के विषय हैं। मन एक रूपी द्रव्य है, अतः उसके पर्याय भी रूपी ही होंगे। अतः मन: पर्याय भी रूपी द्रव्य का ही ज्ञान करता है, अरूपी आत्मा का नहीं।

केवल ज्ञान :

केवल ज्ञान पाँच ज्ञानों में सबसे अन्तिम ज्ञान है। केवल ज्ञान अनन्त है। जगत के सभी पदार्थ रूपी और अरूपी, मूर्त और अमूर्त तथा स्थूल और सूक्ष्म सभी केवल ज्ञान के विषय हैं। जगत में कोई ऐसा ज्ञेय पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह पाता, जो केवल ज्ञान का विषय न हो। समग्र द्रव्य, द्रव्यों के समग्र गुण और उनके समग्र पर्याय केवल ज्ञान के विषय हैं।

विभिन्न विचारपरंपराएँ :

शास्त्रों में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न उठा है, कि मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय तथा केवल ज्ञान, इन पाँच ज्ञानों में से कितने ज्ञान एक व्यक्ति को एक समय में हो सकते हैं ? इस सम्बन्ध में एक लम्बी विचार-चर्चा शास्त्र के पृष्ठों पर देखने को मिलती है। इस चर्चा का सार इतना ही है, कि एक व्यक्ति को एक साथ एक, दो, तीन और चार ज्ञान तक हो सकते हैं। किसी को भी पाँचों ज्ञान एक साथ नहीं होते। इस चर्चा का प्रारम्भ कब से हुआ, यह कह सकना कठिन होगा। पर, यह निश्चित है, कि दो हजार वर्ष इस पर विचार करते-करते निकल गये हैं। पहले के तो कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, पर जिस समय से ग्रन्थों में यह चर्चा लिखी गई है, तब से तो यह चर्चा का विषय रहा ही है, इसमे जरा भी सन्देह नहीं है।

यह तो निश्चय ही है कि ग्रन्थों में किसी भी विषय का उल्लेख तभी किया जाता है, जबकि उस विषय पर काफी लम्बे समय तक विचार चर्चा हो चुकी होती है। ग्रन्थों में वह बात तभी लिखी जाती है जबकि वह पहले से चर्चा का विषय रही हो। कम से कम एक दो शताब्दी तक तो उस विषय पर चर्चा चलती रही हो, तभी वह ग्रन्थ में लिखी जाती है। शास्त्रों को लिपि-बद्ध करने का काल लगभग सोलह सतरह सौ वर्षोंका हो चुका है। शास्त्रों में अनेक अलग अलग मत हैं। वे सब एक दिन में बन कर तैय्यार नहीं हुए। आज से दो हजार वर्ष पहले भी मत बन चुके थे, क्योंकि कोई प्रश्न जब अड़ जाता है तब उस पर गहरा चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है। एक आचार्य उस चिन्तन का एक रूप ग्रहण करता है तो दूसरा, दूसरा रूप। और सभी आचार्य अपने युग के गण्यमान्य महान् आचार्य होते हैं। उस स्थिति में हम साहसपूर्वक एकान्त यह नहीं कह सकते कि यह सही है और यह गलत है। विभिन्न आचार्यों के विचारों के समन्वय का कभी कभी कोई आधार ही नहीं मिलता। इस स्थिति में बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी बुद्धि से ही वास्तविक निर्णय करना चाहिए।

दूसरों की बात जाने दीजिए। मुझसे ही अनेक प्रसंगों पर अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे जाते रहे हैं। हालांकि मेरा अध्ययन सिन्धु में बिन्दु के बराबर है, फिर भी विचारचर्चा चल पड़ती है तो बता दिया करता हूँ कि इस सम्बन्ध में अमुक आचार्य ने, अमुक बात कही है और अमुक आचार्य ने अमुक। उदाहरण के लिए शय्यातर का प्रश्न है। जिसके मकान में साधू रहते हैं,

उसे शास्त्रीय भाषा में शय्यातर कहते हैं। मकान का नाम है 'शय्या' और मकान देने वाले का नाम है 'शय्यातर'। प्रश्न है कि शय्यातर किसे कहा जाए? इस सम्बन्ध में निशीथ भाष्य में अनेक मत बताए हैं। किसी ने कुछ कहा है तो किसी ने कुछ। अब विचार करेंगे तो पता चलेगा कि प्राचीन युग में ही आचार्यों के विभिन्न मत बन चुके थे। मैं पूछने वालों से कहता हूँ कि यह मत अमुक-अमुक आचार्य का है, तो लोग कहते हैं कि हमें तो एक बात बताइए। मैं कहता हूँ कि मैंने तो यह मत मतान्तर आपके सामने रख दिए हैं, अब आप ही विचार करें कि आपके मन का समाधान कौनसा मत कर पाता है। बहुत कुछ सम्भव है कि आपके मन का समाधान एक आचार्य कर जाए और दूसरे का दूसरा आचार्य।

एक दूसरा उदाहरण भी आपको दे दूँ, जो प्रस्तुत मुख्य विषय से सम्बद्ध है। केवल ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। शास्त्र के पृष्ठों पर युग-युग से यह प्रश्न मुखर होता रहा है, कि केवल ज्ञान के समय मति आदि छद्मस्थ ज्ञान रहते हैं या नहीं? जैनशास्त्र की परिभाषा के अनुसार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञान को छद्मस्थ ज्ञान कहते हैं। एक आचार्य कहते हैं कि केवल ज्ञान के समय मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान रहते हैं, केवल ज्ञान हो जाने पर भी ये नष्ट नहीं होते। पर केवल ज्ञान के प्रकाश में दब जाते हैं। उनका स्वतन्त्र प्रकाश, उनकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती। उन्होंने उदाहरण दिया कि आकाश में ग्रह एवं नक्षत्र हैं, तथा हजारों एवं लाखों तारे भी हैं, किन्तु बात यह है कि वे अभी दिन में आपको नजर नहीं आ रहे हैं। न उनकी ज्योति, न उनकी चमक और न उनका अलग अस्तित्व ही नजर आता है। क्योंकि सूर्य के महाप्रकाश में वे सबके सब अभिभूत हो गये हैं। सूर्य के इस महाप्रकाश में उनके छोटे-छोटे प्रकाशों का भान नहीं हो रहा है, इसलिए कि महाप्रकाश में दूसरे प्रकाश डूब जाते हैं। वे रहते तो हैं, उनका प्रकाश भी है, पर, वे सब सूर्य के महाप्रकाश में दब गये हैं, छुप गए हैं, उनका अलग से भान नहीं हो रहा है। उन्होंने कहा कि ठीक यही बात केवल ज्ञान के सम्बन्ध में भी है। जब केवल ज्ञानरूपी महा-प्रकाश प्रकट हो जाता है तो मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान दब जाते हैं, प्रच्छन्न हो जाते हैं। पर इनका नाश नहीं होता। इनका अस्तित्व रहता ही है। प्राचीन युग में भी यह मान्यता रही है। और आज भी आपके बहुत से बर्तमान साधु इस प्रकार की उपमा देते हैं, शायद आपने सुना भी होगा। अपना समाधान वे इस युक्ति से कर लेते हैं।

लेकिन इस के विरुद्ध दूसरे आचार्य भी हैं। उनके विचारों को यदि आप पढ़ेंगे तो पता चलेगा, कि यह समाधान अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। उनका तर्क यह है कि मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान तभी होते हैं, जबकि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपसम होता है। कुछ आवरण के पुद्गल जो उदय में आए हैं, उनका क्षय कर दिया जाता है और कुछ का उपशम हो जाता है। ज्ञानावरण कर्म के पुद्गल मौजूद रहते हैं, पर उनको दबा दिया जाता है। उपशम का अर्थ ही यह है कि कर्म पुद्गलों की उदय शक्ति को जागृत न होने देना। अत. उपशम में ज्ञानावरण का सर्वथा अभाव नहीं होता। मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान में ज्ञान को ढकने वाले कर्म का सर्वथा अभाव नहीं होता है। यदि ज्ञान को ढकने वाले कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाए तो उनमें और केवल ज्ञान में भेद ही क्या रहेगा। पाँच ज्ञानों में केवल ज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जहाँ ज्ञानावरण का सर्वथा अभाव हो जाता है। केवल ज्ञान पूर्ण ज्ञान है, उस में ज्ञानावरण कर्म का एक पुद्गल भी ज्ञान को आच्छन्न करने वाला नहीं रहता। जबकि मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान में ज्ञानावरण के पुद्गल रहते हैं। पूर्ण रूप से ज्ञानावरण का नाश हो जाने पर ही केवल ज्ञान होता है। अस्तु दार्शनिक आचार्यों का कहना है, कि मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान ये चारों क्षयोपशमजन्य ज्ञान हैं, छद्मस्थ ज्ञान हैं, अतः इन चारों ज्ञानों की स्थिति केवल ज्ञान के समय नहीं रहती। केवल ज्ञान होने पर इन की स्थिति नष्ट हो जाती है। मैं स्वयं भी इसी मत को पसन्द करता हूँ। आप लोग किस विचार को पसन्द करते हैं, इसका निर्णय आप लोग करें। मैं तो अपनी बात कह रहा था कि इन आचार्यों के सिद्धान्त के अनुसार जब क्षायिक केवल ज्ञान हो गया, तब शेष चार छद्मस्थ ज्ञान नहीं रहते। क्योंकि केवल ज्ञान होने पर इनकी उपयोगिता ही नहीं रहती। क्या कोई भी केवल ज्ञानी अपने आचार व्यवहार का पालन शास्त्रों को देखकर करता है? यदि किसी केवल ज्ञानी से यह प्रश्न पूछा जाए कि आपका आचार एवं व्यवहार आचाराङ्ग सूत्र के अनुसार है अथवा अन्य किसी शास्त्र के अनुसार तो यह प्रश्न उचित नहीं होगा। क्योंकि केवल ज्ञानी के लिए किसी भी शास्त्र की आवश्यकता नहीं।

साधक जीवन दो प्रकार के होते हैं—कल्प और कल्पातीत। कल्प वह है जिसमें साधक शास्त्र के अनुसार अपनी जीवनचर्या बनाता है। कल्पातीत

वह है जिसकी जीवनचर्या शास्त्र के अनुसार नहीं होती, बल्कि वह जो कुछ करता है, जो कुछ बोलता है, जो कुछ विचार देता है वह सब कल्प हो जाता है। कल्प के भी दो भेद हैं—स्थविर कल्प और जिन कल्प। जिन कल्पी साधक वह है जो एकान्त निर्जन वनों में रहता है। संघ और गच्छ से बाहर रहता है। न वह शिष्य बनाता है और न वह किसी को उपदेश ही देता है। अखण्ड साधना ही उसके जीवन का लक्ष्य होता है। स्थविर कल्पी साधक ग्राम और नगर में रहते हैं, उपदेश देते हैं, शिष्य बनाते हैं और संघ और गच्छ की परम्परा एवं मर्यादा का भी पालन करते हैं। इस प्रकार साधक जीवन के दो रूप कहे गए हैं। प्राचीन युग में ये दोनों ही रूप प्रचलित थे। इनमें उत्कृष्टता और निकृष्टता का कोई प्रश्न नहीं था। साधना करने के दो रास्ते थे, जिसको जो पसन्द आता, उस पर वह चलता था। पर विशेष उपयोगिता स्थविर कल्प की थी, क्योंकि उसके जीवन पर दोहरा दायित्व था। स्वयम् अपने कल्याण का और साथ ही समाज एव संघ के कल्याण का भी। जबकि जिन कल्प पर एक मात्र अपने ही कल्याण का दायित्व था। कुछ साधना के अन्य प्रकार भी रहे हैं जिनका वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

साधक जीवन से सम्बन्धित दूसरा प्रश्न है, उत्सर्ग और अपवाद का। भगवान् महावीर ने उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग दोनों को ही धर्म कहा है और दोनों को समान माना है। कुछ जड़ क्रियाकाण्डी लोग जिन्होंने शास्त्र के रहस्य को समझने का प्रयत्न ही नही किया, वे मानते हैं कि उत्सर्ग ही धर्म है, और अपवाद धर्म नहीं है। परन्तु इन्हें मालूम नहीं कि मार्ग के रूप में कुछ अपवादों का भी शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है। अमुक प्रकार की परिस्थिति आ पड़े तो अमुक प्रकार की छूट ली जा सकती है। उदाहरण के रूप में साधु जीवन का यह विधान है कि साधु को पानी में प्रवेश नही करना चाहिए, उसे कच्चे पानी को नहीं छूना चाहिए, पर ऐसी स्थिति आजाए कि कोई साधु बिहार कर रहा है, रास्ते में नदी और नाला आ जाए, दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है तो उस स्थिति में साधु उस पानी में से भी निकल सकता है। पैरों से पार करने जैसी नदी है तो पैरों से पार कर सकता है। यदि जल बहुत गहरा है, नाव से पार करने लायक है, जैसे गंगा जैसी नदी, तो उसे नाव से भी पार कर सकता है। भगवान् महावीर ने अपने साधना काल में और केवल ज्ञान की अवस्था में भी गंगा नदी को कितनी ही बार नाव से पार किया

था। भगवान् महावीर ने बारह चातुर्मास वैशाली में किए, जो गंगा से उत्तर में है। और चौदह चातुर्मास राजगृह एवं नालन्दा में किए, जो गंगा से दक्षिण में है। इन दोनों के बीच में दक्षिण बिहार और उत्तर बिहार को विभाजित करने वाली गंगा नदी बहती है। वैशाली की ओर जाएँ तो गंगा पार करनी पड़ती है। वैशाली से इधर आएँ तो भी गंगा पार करनी पड़ती है। इस प्रकार वैशाली के बारह और राजगृह के चौदह चातुर्मास में भगवान् महावीर ने गंगा को पार किया। छद्मस्थ दशा में भी पार किया और केवली दशा में भी, क्योंकि गंगा जैसी महा नदी को पैरों से तो पार किया ही नहीं जा सकता। प्राचीन साहित्य में कथाएँ भी है और विधान भी हैं कि भगवान् महावीर ने गंगा जैसी महानदियों को नाव से पार किया था।

एक दूसरा उदाहरण भी है। एक तरफ शास्त्रों में विधान है, कि कच्चे पानी की एक बूंद को भी नहीं छुआ जाए। पर गोचरी के लिए जाते हैं गृहस्थों के यहाँ, तब जल की बूंदें पड़ने लग जाएँ और वहाँ आहार देने वाली अकेली बाई ही अपने मकान में हो तो साधु के लिए विधान है कि वह वहाँ से चला आए, फिर वर्षा चाहे जोर की ही क्यों न हो। जैनधर्म जड़ धर्म नहीं है। वह मुर्दों का धर्म नहीं है कि जिस करवट डाल दिया, उसी करवट पड़ा रहा। शास्त्रों में लिखा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसे परिवर्तन अतीत में हुए हैं, भविष्य में भी होते रहेंगे। इन परिवर्तनों को रोक सकना सम्भव नहीं है। कुछ परिवर्तनों का आगमों में स्पष्ट उल्लेख है और कुछ का आचार्यों के ग्रन्थों में उल्लेख है। शास्त्र की एक सीमा है, पर जीवन की घटनाओं की एवं जीवन की परिस्थितियों की कोई सीमा नहीं है। आजकल लोग कहते हैं कि ये शब्द भगवान ने कहे हैं, यह बड़ी भ्रान्ति है। बात यह है कि भगवान् अनन्त काल की सब बात जानते थे पर, हजारों वर्षों के बाद किस भाषा का प्रयोग किया जायगा, कैसी-कैसी भाषाएँ आएँगी, अमुक शब्द का अर्थ समझने की सम्भावनाएँ रहेंगी या नहीं रहेंगी, अतः ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाए जिसको सभी काल के लोग आसानी से समझ सकें, तो यह असंभव है। भाषा तो वर्तमान युग की ही प्रयोग में आती है। अतः भाषा मुख्य नहीं है, मुख्य हैं, विचार। उन विचारों की अभिव्यक्ति जिस किसी भी भाषा में और शब्दों में हो सकती है। एक ही समय में हजारों लाखों व्यक्तियों के मन में अनेक प्रकार

की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। अनेक तरह की विचारधाराएँ पैदा होती हैं। सभी देश और कालके सब लोगों को सब तरह की शंकाओं का समाधान एक ही भाषा में किया जाए, यह असंभव है, आखिर भाषा की भी तो अपनी कोई सीमा होती है।

यह जो शास्त्र हैं, वे जिन कल्प और स्थविर कल्प के लिए हैं। परन्तु कल्पातीत केवली भगवान् के लिए नहीं हैं। उनका कथन, हमारे लिए शास्त्र बना, यह सत्य है। पर वे स्वयं शास्त्र के आधार पर नहीं चलते रहे हैं। अतः शास्त्र की उपयोगिता तभी तक है, जब तक कि अपने स्वयम् के ज्ञान के नेत्र नहीं खुल जाते, अन्तर में ज्ञान का महा प्रकाश प्रकट नहीं हो जाता, अन्दर में विवेक जागृत नहीं हो जाता। साधारण साधक शास्त्र की आँख के द्वारा ही वस्तु तत्व को देखने समझने का प्रयास करते हैं। शास्त्र ने कुछ मर्यादाएँ बनायी हैं। उनमें कुछ मतभेद भी हो सकते हैं। देश एवं काल की परिस्थिति के अनुसार कुछ नूतन पंथ भी खड़े हो जाते हैं। अतीत काल में यह सब कुछ होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। मनुष्य यदि बुद्धिमान है तो उसकी प्रगति के द्वार बन्द नहीं हो सकते। विकास की गति को रोक सकना सम्भव नहीं है। इतिहास कभी पीछे नहीं लौटता। मनुष्य की विचारशक्ति समय-समय पर देशकालानुसारी शास्त्रीय विधानों को परिवर्तित करती रही है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

परन्तु यदि आप सिद्धान्त की बातों पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि शास्त्रों के द्वारा हमारी आत्मा के रहस्य का, ईश्वर के रहस्य का, लोक और परलोक के रहस्य का तथा आत्मा से परमात्मा बनने के रहस्य का भी पता चलेगा। शास्त्रों में पर्वत, नदी एवं सरोवरों की अमुक-अमुक प्रकार की चर्चाएँ हैं, उनकी अपेक्षा आत्मा की बात ही अधिक उपयोगी एवं कल्याण करने वाली है। वस्तुतः जीवन के लिए आत्मज्ञान ही विशेष उपयोगी है। वीतराग भगवान् ने कहा है कि इतना समय तुम्हारे पास नहीं है कि जो चीजें तुम्हारे जीवन के लिए उपयोगी नहीं हैं उनकी भी चर्चा करते चले जाओ। तुम्हारा जीवन एक आध्यात्मिक जीवन है। शास्त्रों में जहाँ जड़ एवं चेतन का वर्णन किया है, वह जड़ के लिए नहीं, चैतन्य को समझाने के लिए ही किया गया है। पृथ्वी क्या है? आकाश क्या है? काल क्या है और पुद्गल क्या है? इन जड़ तत्वों को समझना, इसलिए आवश्यक है कि इन सबसे जो भिन्न

है, वही चैतन्य है, वही मैं हूँ। अतः जड़ का वर्णन जड़ के लिए नहीं, चेतन को समझने के लिए किया गया है ? जो हमारे आत्म श्रेय के लिए उपयोगी हो, वही हमारे अध्ययन करने योग्य है। शास्त्र में से अनेक वैचारिक धाराएँ फूट सकती हैं, परन्तु आगे चलकर पुनः सब मिल जाती हैं। सबका लक्ष्य मुक्ति, सिद्धत्व भाव और आध्यात्मिक जीवन की शुद्धि ही है, आत्मा के स्व-स्वरूप की उपलब्धि ही है। माध्यम अलग-अलग हो सकते हैं पर उनके द्वारा हमारा मूल लक्ष्य सिद्धत्व प्राप्त करना है, महान् तेजोमय चिदानन्द परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करना है।

●

- पाप और आलस्य ये ऐसे दो कीड़े हैं, जो मनुष्य को खा डालते हैं। — गान्धी जी
- आलस्य जीवित मनुष्य की कब्र है। — कूपर
- भय सदैव अज्ञानता से उत्पन्न होता है। — इमर्सन
- हमारे हृदय का पागलपन ही घृणा है। — बायरन
- अग्नि सोने को परखती है, आपत्ति वीर पुरुष को। — सेनेका
- प्रकाश स्वर्ग है, तो अन्धकार नरक। — उपाध्याय अमर मुनि

●

एक प्रवचन

★ उपाध्याय अमर मुनि

तन और मन

मनुष्य के पास एक है तन और दूसरा है मन। तन सभी को प्रत्यक्ष है। और मन सूक्ष्म होने के कारण सत् होने पर भी देखा नहीं जा सकता। हम देखते हैं कि मनुष्यों के तन भी एक जैसे नहीं हैं। किसी का तन गोरा है, तो किसी का काला, किसी का कृश है तो किसी का स्थूल, किसी का लम्बा है तो किसी का ठिगना। तन की रचना और उसका आकार प्रकार एक जैसा नहीं होता। स्थूल तन की भी जब यह स्थिति है, तब मन की स्थिति क्या होगी, यह आप स्वयं सोच सकते हैं। मनुष्य अपने इस तन की कितनी सँभाल रखता है, इसे कितना सजाता है, और इसे कितना खिलाता पिलाता है—रोज स्नान कराना, सुन्दर वस्त्र पहनाना, कीमती आभूषण सजाना, सरस भोजन कराना। यदि तन रुग्ण हो जाए तो डाक्टर या वैद्य के पास जाकर उसे स्वस्थ करने के लिए दवा भी ली जाती है। मनुष्य का अधिकांश समय इस तन के पोषण में ही व्यतीत होता है, फिर भी तन रोगों का घर बना रहता है। मनुष्य ने जितना अपने तन को समझने का प्रयत्न किया है, उतना अपने मन को समझने का प्रयत्न नहीं किया। और जब तक मन को नहीं समझा जायगा, जीवन की उलझनें मिटेंगी नहीं। राजयोग मनुष्य के सामने यही आदर्श रखता है कि तुम अपने मन को समझने का प्रयत्न करो। तन की समस्याएँ सीमित हैं, जबकि मन की समस्याएँ असीमित हैं। युग-युग से धर्मशास्त्रों ने मनुष्य को यही प्रेरणा दी है।

मन को समझिए :

निश्चय ही तन से बड़ा है मन। जिस मन के अन्दर से तन आता है, जिस मन की हरकतों से हमारा तन इधर-उधर गति करता है, जिस मन

से जगत् का ज्ञान होता है, क्या वह मन तन से अधिक शक्तिशाली नहीं है ? मूल में क्या है, तन है कि मन ? तन तो बाहर की दीवार है, किन्तु मन अन्दर में है। वही इस तन की कठपुतली को नचाए जा रहा है। आप देखते हैं, सूत्रधार कठपुतली को नचाता है, घुमाता है और फिराता है, कभी प्रेम कराता है और कभी घृणा। हमारे तन के अन्दर रहने वाला मन भी सूत्रधार के समान है। जगत् के जितने भी खेल हैं, वे सब मन के ही खेल हैं।

तन का रोग : मन का रोग :

किसी डाक्टर से पूछा जाए कि तन में कितने रोग हैं तो डाक्टर यही कहेगा कि शरीर में जितने रोम हैं, उतने ही रोग हैं। फिर भी तन के रोगों की एक सीमा है, पर मन के रोगों की तो कोई सीमा ही नहीं है। राग और द्वेष, मोह और घृणा, क्रोध, मान माया और लोभ, ईर्ष्या और असहिष्णुता आदि असंख्य रोग हैं मन के। मनुष्य जितनी चिन्ता तन के रोगों की करता है, उतनी मन के रोगों की नहीं। यही कारण है कि मनुष्य को उसके जीवन में सुख-शान्ति और समाधि उपलब्ध नहीं होती। यह एक निश्चित बात है कि तन के रोग प्रायः भोजन से उत्पन्न होते हैं और मन के रोग विकार एवं विकल्पों से। अतः आज सब से बड़ी आवश्यकता यह है कि मनुष्य अपने मन को समझने का प्रयत्न करे। मनुष्य अपने तन की रक्षा के लिए कितना और क्या-क्या करता है, किन्तु अपने मन को, मन के विकार को नहीं समझ पाता है, इस सम्बन्ध में मुझे एक कहानी याद आ रही है।

राजा जनमेजय :

महाभारत की यह कहानी है। राजा जनमेजय को अभिशाप था कि उसकी मृत्यु सर्प के दंश से होगी। राजा बड़ा भयभीत हुआ। जीवन-रक्षण का प्रश्न बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा है। राजा ने विचार किया कि इस प्रकार की व्यवस्था करली जाए कि सर्प महल में प्रवेश ही न कर सके। एक नया राज प्रासाद बनवाया गया। उसमें एक भी छिद्र न रखा, जिसमें होकर सर्प प्रवेश कर सके। राजा अब निश्चिन्त हो गया कि मेरे शरीर में सर्प-दंश अब सम्भव ही नहीं है। एक दिन का प्रसंग है कि उपवन का माली आया। वह अपनी डलिया में फूलों के बाग से ताजा और महकते फूल चुनकर लाया था। डलिया उसने राजा के सामने रख दी। राजा ने उसे उठाया और जैसे ही फूलों को सूँघा, फूलों में छुपे सर्प ने दंश मार

दिया। राजा की मृत्यु हो गयी। नियति को टालना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। बचने के कितने ही प्रयत्न किए गए, किन्तु सभी निष्फल रहे। संसारी आत्मा मोहमुग्ध होकर, संसार के जिन सुन्दर पदार्थों को प्यार करता है, उन्हीं में उसका विनाश भी छुपा है। संसार की मोह माया से बच सकना उतना आसान नहीं है जितना कि समझ लिया जाता है। जीवन में इस प्रकार की स्थिति आती है कि मानव का मन धोखा खा जाता है। वह बाहर के सौन्दर्य में अपने को भूल जाता है। वह यह नहीं देखता कि मोहक फूल में सर्प छिपा बैठा है।

सुख और दुःख :

गुलाब की जिस डाली पर मुस्कराता फूल बैठा है, वहीं पर काँटा भी रहता है। इसी प्रकार जीवन की जिस डाली पर सुख का गुलाब है, वहीं पर दुःख का काँटा भी है। भगवान महावीर के दर्शन में सुख एवं दुःख का सम्बन्ध आठ कर्मों में से वेदनीय कर्म में है। उस कर्म के दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीय को सुख कहते हैं और असातावेदनीय को दुःख। वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि अनुकूलता में जिसका वेदन हो वह सुख और प्रतिकूलता से जिसका वेदन हो वह दुःख। सातावेदनीय को समझने के लिए जैनाचार्यों ने एक अत्यन्त ही सुन्दर उपमा दी है—मधुलिप्त खड्गधारा। तलवार की वह धार, जिस पर मधु लगा दिया गया है। तलवार की तेज धार पर संलग्न मधु को जब मनुष्य अपनी जिह्वा से चाटेगा तब उसे माधुर्य का अनुभव तो होगा ही, पर साथ में खड्ग की तीक्ष्ण धार से जीभ के कटने का दुःख भी उसे अनुभव होगा। इसका अर्थ यही है कि जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी छुपा रहता है। भारत के एक ऋषि ने कहा है कि सुख और दुःख ये दोनों सगे भाई हैं। अध्यात्म भाषा में अनाकुलता सुख है और आकुलता दुःख।

भोग और त्याग :

कुछ लोग हैं, जो संसार के भोगों में ही सुख मानते हैं। भोग ही उनके जीवन का अन्तिम लक्ष्य बन जाता है। उनका समग्र जीवन ही भोग के लिए अर्पित हो जाता है। भोग और भोग के साधन मिलें तो उन्हें सुख है, नहीं तो दुःख। कुछ इस प्रकार की दिव्य आत्माएँ भी संसार में रही हैं कि जिन्होंने भोग को ठुकरा दिया। उनका जीवन आदि से अन्त तक त्याग-मय रहा। वे जीवन भर त्याग ही त्याग में लीन रहे, फलतः उन्होंने जीवन की अन्तिम सांस भी त्याग में ही ली। प्राचीन काल से लेकर आजतक के मानव-

जीवन का इतिहास उठा कर देखें तो ज्ञात होगा, कि कुछ व्यक्ति राजा, महाराजा, तथा सेठ साहूकार के रूप में इस प्रकार का भोगमय जीवन लेकर आए, जो जीवन भर भोग ही भोगते रहे, जीवन की अन्तिम संध्या में भी वे अतृप्त रह कर ही संसार से विदा हुए। महाभारत में कहा गया है कि भोग की अग्नि जल रही है, वासना के अंगारे धधक रहे हैं, उसमें कितना भी घी डाला जाए, आग शान्त नहीं होगी, बल्कि और अधिक उग्र होगी। भोगाग्नि को बुझाने का साधन भोग नहीं, त्याग ही हो सकता है। देखा जाता है कि जिस प्रकार आग और जल दोनो एक स्थान पर नहीं रह सकते, उसी प्रकार भोग और त्याग भी एक स्थान पर नहीं रह सकते। जहाँ भोग है वहाँ त्याग नहीं, और जहाँ त्याग है वहां भोग नहीं। हृदय की गली इतनी संकरी है कि उसमें भोग और त्याग एक साथ नहीं रह सकते। चुनाव एक का ही करना होगा। भारतीय संस्कृति की मूल चेतना भोग से त्याग की ओर प्रवाहित रही है। भारतीय संस्कृति भोगासक्त सम्राटों की संस्कृति नहीं, बल्कि, त्यागमूर्ति संतों की संस्कृति रही है।

अध्यात्म दर्शन :

भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य दुःख एवं क्लेशों से मुक्त होना है। बुद्ध ने इस विश्व के सम्बन्ध में कहा था, "**सर्वं दुःखमयं**"—मैं जो कुछ देख रहा है वह सभी दुःखमय है। कुछ इस प्रकार के भी चिन्तक उस समय विद्यमान थे, जो यह मानते रहे कि समग्र संसार सुखरूप है। पर, जैन दर्शन ने कहा है कि संसार तो संसार है, वह न सुख रूप है, न दुःख रूप। संसार के प्रति व्यक्ति की जैसी भी दृष्टि होती है, संसार उसी रूप में उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। अभिप्राय यह है कि सुख-दुःख संसार में नहीं, मनुष्य की अन्तर्दृष्टि में ही हैं। जैसा मनुष्य का अन्तस्तल होता है उसी रूप में संसार अभिव्यक्त हो जाता है। अध्यात्म दर्शन की, विशेषत: जैन दर्शन की बात मैं आपसे कह रहा था। इसमें सबसे बड़ा आश्वासन मानव को यह है कि सुख और दुःख दोनों का दायित्व तुम्हारे स्वयं के ऊपर है। दुःख से मुक्त होने का एक ही उपाय है कि अपने मूल स्वरूप को समझा जाय। भगवान महावीर ने कहा था, '**अप्पाणं समभिजाणाइ**'—जो स्वयं अपने को समझ गया, वह निश्चय ही सुखी हो गया। उपनिषदों में कहा गया है कि '**आत्मानं विद्धि**'—तुम अपने आपको समझो। क्राइस्ट ने कहा था, Know the self—तू अपने को जानले। इन तीनों कथनों में जरा भी अन्तर नहीं है। अध्यात्मवाद का मूल लक्ष्य यही है

कि व्यक्ति जो इधर-उधर भटक गया है उसे उसके केन्द्र पर लाकर खड़ा कर दिया जाए। इस प्रकार जो अध्यात्म चेतना है वह बहुत बड़ा आश्वासन देती है कि हे विश्व की आत्माओं! तुम आत्मा हो। इतना ही नहीं, तुम परमात्मा भी हो। इस विश्व में आत्मा से बढ़कर कोई दूसरा अन्य तत्व नहीं हो सकता।

संयोग और वियोग :

विश्व क्या है, संयोग और वियोग का खेल है। प्रायः संयोग के बाद वियोग और वियोग के बाद संयोग का चक्र चलता रहता है। संयोग और वियोग का यह चक्र ही तो संसार है। जन्म संयोग है तो मरण वियोग। वस्तु का आना संयोग है तो वस्तु का जाना वियोग। जिस प्रकार वृक्ष का पुराना पत्ता चला जाता है और नया पत्ता आता है, संसार की डाली पर रहने वाली आत्मा की भी यही अवस्था है। आने वाला जाने के लिए ही आता है। भारतीय दर्शन ने साधकों को सब से बड़ा आश्वासन यह दिया कि हे विश्व आत्माओ! तुम्हारे में जो क्रोध और मोह है, यह तुम्हारा निज रूप नहीं है, जिसे दूर न किया जा सकता हो। अग्नि में जो गर्मी है वह बाहर से नहीं डाली गयी है। अग्नि अपने उष्ण स्वभाव को लेकर ही अस्तित्व में है। अतः अग्नि से उष्णता को दूर नहीं किया जा सकता। किन्तु पानी की उष्णता वैभाविक है, वह संयोगजन्य है। अतः जब तक पानी का संयोग आग से रहेगा उसकी उष्णता दूर नहीं होगी। अतः स्पष्ट है कि उष्णता जल का स्वभाव नहीं है, वह अग्नि के संयोग से जल में आगई है। आग से जल का संयोग हटा दिया जाए तो जल धीरे-धीरे अपने मूल स्वरूप में प्रकट हो जाएगा। आत्मा में भी काम, क्रोध एवं मद आदि विकार उसके अपने स्वभाव नहीं हैं, कर्मपुद्गल के संयोग से उसमें आ गए हैं। जैसे ही पुद्गल का संयोग आत्मा से दूर होगा, आत्मा स्वच्छ, निर्मल, पवित्र एवं पावन हो जाएगा। आत्मा की विशुद्धि, आत्मा का अपना स्वरूप है। मलिनता उसका निजस्वरूप नहीं है। वह विजातीय तत्व के संयोग से उत्पन्न हो गई है। संयोग दूर हुआ कि कि मलिनता मिटी। आत्मा का अपने स्वरूप में आजाना ही परम सुख एवं परम शान्ति है।

तुम स्वयं ही भगवान हो। वेदान्त दर्शन और जैन दर्शन जगत् के सामने यही आदर्श प्रस्तुत करते हैं, कि तुम, तुम नहीं हो, तुम तो वह (ईश्वर) हो। वेदान्त और जैन दर्शन की प्रतिपादन शैली निश्चय ही भिन्न हो सकती है,

पर दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक ही रहा है, कि तुम स्वयं ही भगवान हो, तुम स्वयं ही परब्रह्म हो। भगवान् महावीर ने कहा था, **'अप्पा सो परमप्पा'** आत्मा स्वयं ही परमात्मा है। वेदान्त कहता है, कि **'तत्त्वमसि'** तू जीव नहीं, परब्रह्म है। पर एक बात ध्यान में रहे कि जो व्यक्ति तन में आबद्ध रहता है, वह इस स्थिति पर नहीं पहुँच सकता। जो साधक तन की सीमा को पार करके, और उस से भी आगे मन की सीमा को भी पार करके, जो आत्मदेव के समीप पहुँच जाता है अर्थात् जो आत्मभाव में रम जाता है, वही व्यक्ति भगवान है।

●

मैं कौन हूँ, तू कौन है ?

- कौन मैं हूँ, कौन तू, इस
  प्रश्न पर जग मौन है !
  मैं स्वयं ही लो बता दूँ,
  कौन मैं, तू कौन है ?
- मैं सदानन्दी निरंजन,
  आत्मा हूँ चिन्मयी।
  अस्थि, मज्जा, मांस का तू,
  देह है जड़ मृण्मयी॥
- मैं अमर हूँ, तू विनश्वर,
  साथ क्या मेरे चलेगा।
  जानता हूँ मैं तुझे, तू—
  क्या मुझे पागल छलेगा ?

— उपाध्याय अमरमुनि

✶

एक प्रवचन

★ उपाध्याय अमर मुनि

कषायवृत्ति

अनन्तकाल से यह आत्मा संसार में परिभ्रमण कर रहा है। कहीं पर भी शान्त एवं स्थिर होकर नहीं बैठ सका। नरक में तो उसे दुःख एवं पीड़ा मिली ही, पर स्वर्ग में भी शान्ति नहीं मिली। मनुष्यजीवन की तस्वीर तो आपके सामने ही है। कहाँ है उसको शान्ति ? कहाँ है उसको आनन्द ? ऊपर से भले ही मनुष्य शान्त रहता हो, पर, अन्दर में तो भयंकर सर्वग्रासी दावानल धधक रहा है। दुःख एवं क्लेश का मूल यह है कि राग और द्वेष की वृत्तियाँ अन्तर में पड़ी रहती है। वे समय पाकर कभी बाहर में ऐसे उग्ररूप में व्यक्त होती हैं कि परिवार, समाज और राष्ट्र का सारा जीवन ही अस्तव्यस्त हो जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय सबसे तीव्र कषाय माना जाता है। अनन्तानुबन्धी का अर्थ है–अनन्त-अनुबन्धी अर्थात् अनन्त संसार का अनुबन्ध करने वाला कषाय। क्रोध, मान, माया और लोभ चारों ही कषाय उग्र स्थिति में अनन्तानुबन्धी हो जाते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय अनन्त संसार का कारण है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ-जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ वहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय है और जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ पर अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं है। कषाय भाव की उग्रता मिथ्यात्व की द्योतक है।

शास्त्रकार कहते हैं, कि आप जो बाहर में देखा करते हैं, केवल वही जीवन नहीं है। उसका वास्तविक मूल आत्मा के अन्दर में रहता है। कषाय अन्तरंग में वैभाविक वृत्ति है। उसकी अभिव्यक्ति बाहर में हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। प्रकट होने का निमित्त मिलने पर बाहर में प्रकट हो जाती है, अन्यथा नहीं भी होती। जिस प्रकार मयूर का जो अण्डा है, उसमें प्रत्यक्षतः आपको कोई रंगरूप नजर नहीं आता। लेकिन रंगों का जादूगर मयूर, उसी अण्डे में छिपा बैठा है। उसके जितने भी रंग हैं, पंखों का जो सौन्दर्य है, वह सबका सब प्रारंभ से ही उस अण्डे में अन्तर्निहित है। पर जैसे-जैसे उसका विकास होता है, वह अव्यक्त रूप व्यक्त होता जाता है।

कषाय के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू पड़ता है। कषाय संसारी आत्मा में सर्वत्र सत्तारूप से निहित है। बस, बात इतनी है कि अव्यक्त दशा में वह बाहर में प्रगट नहीं हो पाता। वैसे विश्वका एक भी संसारी आत्मा ऐसा नहीं है, जिसमें व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में संसार का मूल कारण कषाय रूप वैभाविक भाव न हो।

पुण्य और पाप :

सुख-दुःख के मूल कारण पुण्य और पाप हैं। पाप और पुण्य दोनों का बन्ध कषाय से होता है। यदि कषाय न हो तो फिर पुण्य एवं पाप का बन्ध कभी होगा ही नहीं। शायद आप सोचते होंगे कि पाप के साथ तो कषाय का सम्बन्ध ठीक है पर, पुण्य के साथ कषाय का क्या सम्बन्ध ? मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि पुण्य के साथ कषाय का मेल यदि नहीं है, तो इसका अर्थ यह रहा कि जहाँ अकषाय भाव हो, वहाँ भी पुण्य का बन्ध होना चाहिए। और यदि अकषाय भाव में भी पुण्य का बन्ध होता है, तो इसका अर्थ यह माना जायगा कि जो शुद्ध वीतराग दशा है, उसमें भी कर्मबन्ध चालू रहेगा। कर्म का बन्ध जब वीतराग दशा में भी चालू रहेगा, तब तो बन्ध का चक्र फिर कभी टूटेगा ही नहीं। जब जीव मुक्त हो जाएगा, तब भी अकषाय अर्थात् वीतराग भाव होने से पुण्य कर्म बंधता रहेगा और उस पुण्य कर्म का फल मुक्त आत्माओं को भी भोगना होगा। इस प्रकार वीतराग भावसे भी पुण्य का बन्ध होता रहेगा तो फिर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन और निर्विकार जैसी परमात्मस्थिति कभी आत्मा की होगी ही नहीं। पुण्य-बन्ध होगा, तो उसका उदय भी अवश्य होगा, क्योंकि जिसका बन्ध हुआ है उसका उदय भी अवश्य होता है। और जब पुण्य का उदय होगा तो पुण्य के भोग के हेतु धन, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, परिवार आदि भी रहेंगे। फिर तो मुक्ति और संसार में कोई अन्तर नहीं रहेगा। संसार का कभी अन्त आएगा ही नहीं।

बन्ध का अभाव :

साधक के जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है— कर्म के बन्ध का अभाव। यह तभी सम्भव है, जबकि बन्ध के हेतु न रहें। यदि बन्ध के हेतु हैं, तो बन्ध अवश्य ही होगा। कषाय भाव कर्मबन्ध का मुख्य हेतु है और अकषाय भाव अबन्ध का। अकषाय भाव, जिसको हम वीतराग भाव कहते हैं, उसके प्रकट होने पर कर्म बन्ध नहीं होता। यदि जीवन्मुक्त अर्हन्त दशा में होता भी है तो वह प्रदेशबन्ध एवं प्रकृतिबन्ध ही होता है, स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्ध नहीं। राग एवं द्वेष की समस्त वृत्तियों का अभाव जब हो जाता है,

तब प्रथम तो कर्मबन्ध होना नहीं है। यदि देहस्थ वीतरागता में होता भी है, तो वह एक समयमात्र का होता है। अतः वह बन्ध होते हुए भी बन्ध नहीं है। आध्यात्मिक विकास की चौदहवीं गुणस्थान भूमि में और देहमुक्त वीतरागता में तो पूर्ण अबन्ध अवस्था आ जाती है। और पूर्ण अबन्ध अवस्था आयी, कि आगे के लिए कर्मों का बन्ध समाप्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि चाहे पाप हो, चाहे पुण्य हो, उसमें कषाय भावका अंश रहेगा ही। जहाँ-जहाँ कषाय भाव है, वहाँ-वहाँ पुण्य और पाप हैं ही। और जहाँ पुण्य पाप हैं, वहाँ संसार रहेगा ही। इस प्रकार कषाय का पुण्य पाप के साथ, और पुण्य पापका संसार के साथ गहन सम्बन्ध है।

एक से दो कार्य कैसे ?

आप अपने मन में यह विचार करते होंगे कि एक ही कारण से दो विपरीत कार्य कैसे होंगे। एक ही कषाय से पुण्य भी और पाप भी कैसे हो सकते हैं। यदि आप इस विषय पर गम्भीरता से विचार करेंगे, तो समाधान होते देर नहीं लगेगी।

अग्नि एक ही है, फिर भी वह दो कार्य करती है—अच्छा भी और बुरा भी। यदि जलते हुए अँगारे को किसी के शरीर पर रखदें तो उससे चमड़ी जल-जायगी, छाले पड़ जायँगे। लेकिन वही अग्नि जब पात्र में होती है और उसके द्वारा जो हल्का-हल्का सेक होता है, उससे न छाले पड़ते हैं, न चमड़ी जलती है। अपितु आराम मिलता है, पीड़ा दूर हो जाती है। इस प्रकार एक ही अग्नि तत्त्व आपके सुखका हेतु और दुःख का हेतु बन सकता है। इसका मुख्य कारण यही है कि अग्नि की तीव्रता और मन्दता से उसके परिणाम में भी अवश्य ही अन्तर आता है। अग्नि स्वयं में सुख रूप और दुःख रूप नहीं है। उसकी तीव्रता और मन्दता ही सुख-दुःख का कारण है। तीव्रता की स्थिति में अग्नि दाह को उत्पन्न करेगी और मन्दता की स्थिति में वह सुख भी पहुँचा सकती है। अतः एक ही अग्नि के दो कार्य सम्भव हैं।

तीव्र और मन्द कषाय :

जो बात अग्नि के सम्बन्ध में है वही कषाय भाव के सम्बन्ध में भी है। कषाय कारण रूप में एक है, किन्तु उससे परिणतिविशेष में पुण्य पाप रूप दो कार्य होते हैं। कषाय की आग जब मन्द होती है, तब मुख्य रूप में पुण्य प्रकृति का ही बन्ध होता है। और कषाय की आग जब तीव्र होती है, तब मुख्य रूप में पाप प्रकृति का बन्ध होता है। शास्त्रों में कहा गया है कि जो तीव्र कषाय है वह पाप के बन्ध का हेतु होता है और जो मन्द कषाय है वह पुण्य के बन्ध का हेतु बन जाता है। जितने-जितने अंश में तीव्र कषाय होगा

जितने-उतने अंश में पाप प्रकृतियों का बन्ध तीव्र होता चला जाएगा। और कषाय जितना मन्द होता जाएगा उतना ही पुण्य प्रकृतियों का बन्ध तीव्र होता चला जायगा। यहां फिर एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि उस स्थिति में, जबकि कषाय न तीव्र हो न मन्द, बल्कि कषाय का सर्वथ अभाव हो, तब क्या होगा। इस प्रश्न का उत्तर है कि जब कषाय भाव बिल्कुल नहीं रहेगा, तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जायगा, वीतराग भाव प्रकट हो जाएगा। संसार दशा का मुख्य कारण यह कषायभाव ही है। कषाय भाव में ही पुण्य और पाप दोनों उत्पन्न होते हैं। अतः अकषाय भाव में ही आत्मा की परम शुद्ध दशा परमात्मदशा प्रकट होती है।

कषाय के प्रकार :

कषाय चार प्रकार का है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। अनन्तानुबन्धी कषाय वाले आत्मा की नरक गति होती है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय वाले की तिर्यंच गति है। प्रत्याख्यानावरण कषाय वाले की मनुष्य गति, और संज्वलन कषाय वाले की देव गति होती है। अनन्तानुबन्धी कषाय की स्थिति जन्म भर एवं जन्मान्तर में भी रहती है। अप्रत्याख्यानावरण की स्थिति एक वर्ष तक रहती है। प्रत्याख्यानावरण की स्थिति चार मास तक रहती है। और संज्वलन की स्थिति एक पक्ष तक रहती है। इस प्रकार शास्त्रों में कषाय का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। शास्त्र में यह भी कहा गया है कि अनन्तानुबन्धी कषाय आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातक है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय देश चारित्र का, श्रावक धर्म का घातक है। प्रत्याख्यानावरण कषाय सर्व चारित्र (मुनि धर्म) का घातक है। संज्वलन कषाय केवल ज्ञान का घातक है।

कषाय भाव के सम्बन्ध में यहाँ जो कुछ वर्णन किया गया है, उसका मूल उद्देश्य यह है कि कषाय का स्वरूप समझ कर साधक उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे। चार प्रकार के कषायों में से किसी भी प्रकार का कषाय हो, वह आत्म-साधना में बाधक ही है और कर्मबन्ध का कारण ही है। जब तक कषाय वृत्ति दूर नहीं होगी, साधक की साधना शुद्ध एवं सफल नहीं हो सकेगी। कषाय वृत्ति प्रत्येक संसारी आत्मा में होती है, पर किसी में वह तीव्र होती है तो किसी में मन्द। कषाय चाहे मन्द हो अथवा तीव्र, वह संसार का ही कारण है। पुण्य और पाप दोनों ही आत्मा के विकारजन्य भाव हैं। और जब तक ये विकारी भाव हैं, तब तक संसार के बन्धनों से मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति के लिए सर्वथा निर्विकार भाव की अपेक्षा है, और वह निर्विकार भाव है अकषायता—वीतरागता। ●

एक प्रवचन

★ उपाध्याय अमर मुनि

उपादान और निमित्त

कारण के अभाव में कोई कार्य नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य का कोई-न- कोई कारण अवश्य होता है। कारण के दो रूप होते हैं—उपादान और निमित्त। जो कारण अन्ततः स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है, उसे उपादान कारण कहा जाता है। और कार्य की सम्पन्नता में जो कारण सहयोगी रहता है, उसे निमित्त कारण कहा जाता है। निमित्त कारण के भी दो भेद हैं—प्रेरक निमित्त और तटस्थ निमित्त। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए, आपके सामने एक मिट्टी का घड़ा रखा है। यह घड़ा एक कार्य है। मिट्टी उसमें उपादान कारण है, क्योंकि स्वयं मिट्टी ही घट रूप में परिणत होती है। घड़े का बनाने वाला जो है, वह प्रेरक निमित्त है। चाक आदि जो अन्य साधन हैं, वे भी उसमें सहकारी निमित्त हैं। आकाश, काल आदि तटस्थ निमित्त हैं। इस उदाहरण में हमने देखा कि उपादान और निमित्त में क्या भेद है तथा दोनों का क्या कार्य है? कार्य की सम्पन्नता के लिए दोनों ही कारण आवश्यक हैं, पर मुख्यता उपादान की है। उपादान के होने पर कोई-न-कोई निमित्त अवश्य रहेगा ही। अध्यात्म शास्त्र में उपादान मुख्य है।

जीव और पुद्गल

जैन दर्शन में षट् द्रव्य स्वीकार किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन षट द्रव्यों में जीव और पुद्गल गतिमान् और क्रियावान द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रिया में उपादान कारण स्वयं होता है और निमित्त कोई भी हो सकता है। जीव और पुद्गल में जो क्रिया और गति होती है, उसका उपादान वह स्वयं है। निमित्त के सम्बन्ध में कुछ भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उपादान तो एक ही होता

है, जबकि निमित्त अनेक हो सकते हैं। उपादान का कार्य रूप में परिणत होने का यदि निश्चित कालक्षण आ चुका है तो निमित्त भी उस क्षण मिल ही जाएंगे। यदि उपादान शुद्ध नहीं है, तो निमित्त कितना भी शुद्ध रहे, उससे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। परिवर्तन निमित्त में नहीं, उपादान में होना चाहिए। निमित्त बलवान् नहीं है। बलवान् तो उपादान ही है।

आकाश में सूर्य जब उदित होता है, उसका प्रकाश धीरे-धीरे फैलना प्रारम्भ होता है, तब कमल स्वतः ही खिलने लगते हैं। सूर्य ने न तो कमल-पुष्प को खिलाया और न उन मुर्झाए हुए फूलों के अन्दर उसने कोई साक्षात् सीधा परिवर्तन ही किया। फूल का खिलना, फूल की अपनी ही क्रिया है। सूर्य यहाँ प्रेरक निमित्त नहीं, तटस्थ निमित्त है। किन्तु एक कुम्भकार जिस समय घड़ा बनाता है, तो वह इच्छापूर्वक ही बनाता है, अतः वह तटस्थ निमित्त नहीं, बल्कि प्रेरक निमित्त है। जब मछली जल में तैरती है, तो तैरने का काम कौन करता है? मछली ही करती है। तैरने की क्रिया किसमें हो रही है? मछली में हो रही है। तैरने की क्रिया का उपादान कौन हुआ? वह मछली ही हुई। जिसमें क्रिया हुई वही उपादान हुआ न। फिर निमित्त कौन हुआ? निमित्त तो निश्चय में धर्मास्तिकाय है, व्यवहार में जल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निमित्त और उपादान की समस्या इतनी गहन है कि उसे समझना कुछ आसान नहीं है। फिर भी यदि एक बात को ध्यान में रखा जाए तो समस्या उतनी पेचीदा नहीं रहेगी। सम्यक् दृष्टि आत्मा की मूल दृष्टि उपादान पर केन्द्रित रहती है। यद्यपि निमित्त का तिरस्कार नहीं है, फिर भी निमित्त में उलझ कर बैठ जाना नहीं है। निमित्त तो सदा उपस्थित रहता ही है। देर उपादान की ही होती है।

शक्ति बाहर में नहीं, अपने अन्दर में ही होती है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति को जागृत कर लेता है, वह जगत् में असाधारण कार्य कर सकता है। अन्दर की शक्ति को जागृत करने का अर्थ है—उपादान को जागृत करना। जिस आत्मा ने अपने उपादान को समझ लिया, उस आत्मा के लिए कोई भी साधना कठिन नहीं है।

भगवान् महावीर ने कहा है, कि निमित्त कोई भी हो सकता है। किसी एक निमित्त का क्या आग्रह? सारी सृष्टि सहयोगी बन कर खड़ी हुई है। लेकिन वह कब, जबकि तू अपनी आँखें खोलेगा। जब अपनी ही आँखें नहीं

बोल पाता है, तो फिर कुछ भी नहीं होगा। हजार सूर्य उदय हो जाएँ, अपनी नेत्र ज्योति के अभाव में उनके प्रकाश का कुछ भी मूल्य नहीं है। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जीव का स्वभाव है—दर्शन. ज्ञान और चारित्र। आत्मा में मूलतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र है। पर कर्मों के आवरण से वे प्रच्छन्न हैं प्रकट नहीं हो पाते। जब साधक स्वयम् में जागृत होगा तो आवरण नहीं रह सकेगा। आपने देखा कि वृक्ष पर से पत्ता पीला होकर नीचे गिर पड़ता है। एक दिन यह पत्ता कैसा ताम्र वर्ण का सौन्दर्य लेकर जन्मा था और हरे भरे वृक्ष पर मस्ती से झूमता रहा था, पर रस के सूखते ही पत्ता पीला पड़ गया और वृक्ष से अलग जा पड़ा। पत्ते में वृक्ष से अलग होने की जो शक्ति है वह निमित्त की नहीं, उपादान की है। असीम आकाश सूर्य के प्रकाश से भर उठता है। पर, कोई व्यक्ति अपने कमरे की खिड़कियाँ बन्द करके बैठा रहे तो उसे प्रकाश कैसे मिलेगा ?

शास्त्रों में वर्णन आता है, कि राजा प्रदेशी एक घोर नास्तिक व्यक्ति था। उसे धर्म पर जरा भी श्रद्धा नहीं थी। किसी भी धार्मिक व्यक्ति को वह घृणा की दृष्टि से देखता था। पर, जब वह केशिकुमार श्रमण के सानिध्य में आया, तो उसकी दृष्टि में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। जीवन के प्रारम्भ से ही जो व्यक्ति कठोर और क्रूर चला आरहा था, जीवन के अन्त में वह अत्यन्त कोमल और मृदु कैसे बन गया ? यह सब कुछ उपादान के परिवर्तन से हुआ। दृष्टि बदली तो जीवन का सारा प्रवाह ही बदल गया। राजा प्रदेशी का उपादान प्रसुप्त पड़ा था। केशीकुमार के सानिध्य से वह जागृत हो गया। हम देखते हैं—रानी सूर्यकान्ता ने धर्म साधना में संलग्न राजा को विष दे दिया, तब भी राजा शान्त बना रहा। वह उत्तेजित और अशान्त नहीं हुआ। यह सब कुछ इस तथ्य को सूचित करता है कि यह सब कुछ परिवर्तन इसके अन्दर का था, उसके उपादान का था, उपादान को निज शक्ति भी कहा जाता है। निज शक्ति ही वास्तविक शक्ति है।

अर्जुन मालाकार कितना पापी था। प्रतिदिन छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या करता था। राजगृही का समस्त जनजीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। उसके सामने आने की किसी में भी हिम्मत न थी। अर्जुन मालाकार के सामने आने का अर्थ था, अपनी मौत को स्वयम् निमन्त्रण देना। स्वयम् राजा श्रेणिक अपने महल में बन्द होकर बैठा रहा, और प्रजा के विनाश की कहानियाँ सुनता रहा, पर अर्जुन को पकड़ने का साहस नहीं कर सका। उसी राजगृही का सुदर्शन सेठ भगवान् महावीर के दर्शनों के लिए निर्भीक

बन कर अपने घर से चल पड़ा। अर्जुन मालाकार उसे देखते ही दौड़ा, पर उसके आध्यात्मिक तेज के समक्ष वह हतप्रभ और नतमस्तक हो गया। हत्यारा दयालु बन गया, क्रूर मृदु बन गया। यह सब कुछ कैसे हुआ? यह भी उपादान जागृत होने का ही उदाहरण है। उपादान के बदलते ही सब कुछ बदल जाता है। उपादान में अनन्त शक्ति है, उसे जागृत करने की आवश्यकता है। सुदर्शन का निमित्त अवश्य है। पर, अर्जुन का उपादान न आया हुआ होता तो सुदर्शन क्या कर सकता था। भगवान महावीर का निमित्त गौतम को भी मिला था और गोशाला को भी। गौतम को मिला तो उनका जीवन कितना महान् हो गया था। किन्तु गोशाला छह वर्ष तक प्रभु महावीर के साथ रह कर भी श्रेष्ठता अर्जित न कर सका। भगवान् का जैसा महान् निमित्त क्यों निष्फल रहा? इसलिए निष्फल रहा कि गोशाला का उपादान शुद्ध नहीं था। एक दो क्या, सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। आध्यात्मिक दर्शन में कहा है कि साधक, तू क्यों निमित्तों के पीछे पागल बना भटक रहा है। तुझे निमित्तों से क्या मिलने वाला है? तू स्वयं में जो है, वही तो बनेगा। उपादान मुख्य है। अपनी योग्यता मुख्य है। अपनी योग्यता है, तो निमित्त साधक कारण बन जाएगा, अन्यथा वह उपस्थित होकर भी अकारण बना रहेगा। मन्थनक्रिया दही में से मक्खन को उपलब्ध कर सकती है, इसलिए कि दही में मक्खन की योग्यता है। जल को मथने से मक्खन नहीं निकलता। क्यों नहीं निकलता, इसलिए कि जल में मक्खन की योग्यता ही नहीं है। अस्तु, योग्यता मुख्य है। अपनी योग्यता को जागृत करें, शेष सब कुछ स्वतः होता जाएगा।

●

नर और नारायण

वृक्ष बीज में छिपा हुआ है,
देखो अन्तर्मन से।
नर में नारायण सोया है,
जागेगा चिन्तन से॥

—उपाध्याय अमरमुनि

●

★ विजय मुनि शास्त्री

वीरायतन-योजना की रूप-रेखा

भारतीय-संस्कृति के विकास में श्रमण-संस्कृति का और विशेषतः जैन-संस्कृति का महान योग-दान रहा है। भारत विश्व में एक इस प्रकार का देश है, जिसे धर्म-प्रधान देश कहा जाता है। धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में भारत की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ रही हैं। भारत का प्रत्येक व्यक्ति, फिर भले ही वह किसी भी वर्ग का एवं किसी भी समाज का क्यों न हो, वह किसी-न-किसी धर्म में अवश्य ही आस्था रखता है, किसी-न-किसी दर्शन के तत्त्वों का अवश्य ही चिन्तन करता है, और किसी-न-किसी प्रकार की संस्कृति में अपना जीवन-यापन करता है। भारतीय संस्कृति मूल में अध्यात्मवादी संस्कृति रही है। अध्यात्म भारतीय संस्कृति का अमृत तत्त्व है। युग-युग से प्रत्येक परम्परा ने इसी अध्यात्म से पावन-प्रेरणा ली है और यही भारतीय संस्कृति का अपना एक महान् आधारभूत तत्त्व है। अतः भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्ट देन—अध्यात्म प्रधान दर्शन, धर्म, योग, ध्यान और समाधि रहे हैं, और आज भी ये सभी तत्त्व किसी-न-किसी रूप में, भारतीय जन-जीवन में परिलक्षित हो रहे हैं।

महाश्रमण महावीर :

मेरा अपना विचार यह है कि भारतीय संस्कृति को समझने के लिए तीन महा व्यक्तित्वों को समझना परम आवश्यक है—कर्मयोगी कृष्ण, महाश्रमण महावीर, तथागत बुद्ध। श्रीकृष्ण की अनासक्ति, महावीर की वीतरागता और बुद्ध की उपेक्षा—इन तीन तत्त्वों को समझ लेने पर भारतीय-संस्कृति में अन्य किसी को समझने की आवश्यकता शेष नहीं रहेगी। अनासक्त जीवन एक पवित्र और विशुद्ध जीवन माना जाता है। वीतरागता ही हमारे जीवन का सर्वोच्च एवं परमलक्ष्य हो सकता है, उपेक्षा एवं तटस्थता ही जीवन का साध्य-तत्त्व रहा है। घूम-फिरकर भारतीय दर्शनों का केन्द्रीय विचार ये तीन तत्त्व ही रहे हैं। इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त कोई इस प्रकार का तत्त्व शेष नहीं रहता, जिसका अन्तर्भाव इन तीन तत्त्वों में न हो जाता हो। और तीन तत्त्व भी मूल में एक ज्योति-बिन्दु के रूप में प्रतिभासित होते हैं। शब्दों की अनेकता में अर्थ की एकता स्पष्टतः परिलक्षित होती है, यदि चिन्तन की गहराई में उतरें तो।

वीतरागता एक ध्येय :

जैन-साधना के अनुसार मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य एवं साध्य वीतरागता है। वीतराग होने का अर्थ है—न किसी के प्रति रागी होना, और न किसी के प्रति द्वेषी होना। राग और द्वेष के मध्य में निर्लिप्त भाव से मध्यस्थ अर्थात् सम हो जाने का नाम, वस्तुतः वीतरागता है। वीतरागता के व्यापक अर्थों में अनासक्ति और उपेक्षा का समावेश स्वतः हो ही जाता है। यदि महावीर से यह पूछा जाय, कि आपकी वीतरागता को प्राप्त करने के साधन क्या हैं, तो महावीर कहेंगे—अहिंसा, संयम और तप—ये ही वीतरागता के अन्यतम साधन हैं। अहिंसा संयम और तप—ये तीनों धर्म जिस किसी व्यक्ति के जीवन में साकार हो जाते हैं, भगवान् महावीर के शब्दों में वह जीवन धन्य हो जाता है। यही जीवन की परिपूर्णता है।

आज का विज्ञानवादी युग :

आज के युग में व्यक्ति किसी भी तत्त्व को तब-तक स्वीकार नहीं करता, जब-तक कि उसे विज्ञान की कसौटी पर न कस ले। विज्ञान और दर्शन में मौलिक भेद यह है कि दर्शन का मूल आधार अन्तरंग योग रहता है, जबकि विज्ञान का मूल आधार प्रयोग है। बिना प्रयोग के विज्ञान किसी भी तत्त्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। यदि आज के जैनों को भगवान् महावीर के धर्म और दर्शन को जीवित रखना है, तो यह आवश्यक है कि उनको प्रयोग की वैज्ञानिक भूमि पर उतारा जाय, उनके जीवनलक्षी प्रयोग किए जायें। आज के योग में प्रयोग और उपयोग के बिना कोई तत्त्व स्वीकृत नहीं हो सकेगा। भगवान् महावीर के अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के विश्व-मंगलकारी सिद्धान्त के अपने घर की चहारदीवारी के अन्दर गीत गा लेना, और उसमें ही जीवन की सफलता मान लेने का युग समाप्त हो चुका है। अहिंसा अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धान्त कितने भी उच्चतम हों, और कितने भी पवित्रतम हों, आजका मानस उनकी पवित्रता और उच्चता के आघोष-मात्र को स्वीकृत करने की मनोदशा में नहीं है। वह यह जानना चाहता है कि वर्त्तमान जीवन में वीतरागता का प्रयोग कैसे किया जाय? अहिंसा, संयम और तप को जीवन के धरातल पर कैसे उतारा जाय? अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का आज के अशान्त-जीवन में उपयोग कैसे हो? उसके उपयोग और प्रयोग की स्पष्ट व्यावहारिक विधि आजका जन-मानस जानना चाहता है।

अध्यात्म-साधना-केन्द्र :

निश्चय ही आज एक इस प्रकार के अध्यात्म-साधना केन्द्र की आवश्यकता ही नहीं, परम आवश्यकता है, जहाँ शान्त वातावरण में हर कोई अशान्त व्यक्ति कुछ दिनों टिककर महावीर प्रतिपादित तत्त्वों का अपने जीवन में प्रयोग करके उनका साक्षात्कार कर सके, उन्हें समझ सके, उन्हें जान सके, और उन्हें जीवन में उतार सके। जैन-परम्परा के प्रत्येक संप्रदाय ने आज तक जो एक बड़ी भूल की है, वह यही रही है कि उसने कोई कभी अध्यात्म साधना-केन्द्र खोलने की दिशा में प्रयास और प्रयत्न तो क्या, विचार तक भी नहीं किया। भगवान् महावीर से लेकर आज तक, जबकि हम इन ढाईहजार वर्षों की यात्रा करते-करते उनकी निर्वाण-शताब्दी के पवित्र दिवस तक भी आ पहुँचे हैं कभी हमने इतने दीर्घकाल में आज तक नालंदा और तक्षशिला जैसे विशाल विद्यालय खोलने का विचार तो क्या, स्वप्न मात्र भी कभी देखा नहीं। अपने घर की दीवारों में बन्द रहकर ही हमने महावीर के धर्म और दर्शन को विश्व-धर्म और विश्व-दर्शन मान बैठने की शेखी अवश्य बघारी, पर, उसे जन-जीवन में साक्षात् अवतरित अथवा रूपान्तरित करने का, कोई सार्वजनिक प्रयोग नहीं किया। जैसा कि वैदिक परम्परा तक्षशिला में और बौद्ध-परम्परा नालन्दा में हजारों वर्ष पहले यह प्रयोग कर चुकी है। शायद, इसका कारण यही हो, कि इन सभी प्रवृत्तियों में हम पाप की परिकल्पना कर बैठे, अतः निवृत्ति के नाम पर सर्वथा निष्क्रिय होकर बैठे रहे। पर, वह युग कुछ दूसरा था, और आजका युग कुछ दूसरा ही है। आजके युग में मात्र उपदेशों और प्रवचनों से समस्या का समाधान होने वाला नहीं है। कुछ करके दिखाना ही होगा, कुछ करना ही होगा, क्योंकि अब बोलने का युग नहीं, कुछ करके दिखाने का युग प्रारम्भ हो चुका है। यही वह समय है, जब आप कुछ करके दिखा सकें।

सावधान और सजग :

भगवान् महावीर के उत्तराधिकारियों का, फिर भले ही वे श्वेताम्बर हों कि दिगम्बर हों, स्थानकवासी हों कि तेरापंथी हों, सबका यह परमकर्तव्य है कि, वे सब परस्पर के मनोभेद एवं मतभेदों को मिटाकर कम से कम इस मोर्चे पर एक हो जायँ कि आगामी दो वर्षों में जो निर्वाण-शताब्दी आ-रही है, उस शुभ अवसर पर हम कोई ऐसा-अध्यात्म-साधना-केन्द्र खोलें, जहाँ पर हम अपने उच्चतम सिद्धान्तों का प्रयोग करके विश्व की जन-चेतना के समक्ष इन तत्त्वों को सार्थक सिद्ध कर सकें, जो भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित

हुए हैं। और जैसा कि अभी मैंने कहा है, उसके लिए ऐसी एक विशाल योजना की, एवं तदनुरूप विशाल संस्था की आवश्यकता है। पर, शायद हम इतने प्रसुप्त हैं, बे-भान हैं, कि निकट आने वाली उस शुभ-घड़ी का भी हम कुछ लाभ न उठा सकें। बहुत सो चुके हैं, बहुत कुछ खो चुके हैं। अब आवश्यकता है, प्राप्त कर्तव्य के प्रति सावधान, सजग एव सचेत होने की। यदि हम सब मिलकर एक मन से प्रयत्नशील हों, तो बहुत खो चुकने के बाद भी, जो कुछ समय शेष बचा है उसे सफल बनाया जा सकता है। आइए, हम सब मिलकर आज यह वज्र संकल्प कर लें कि मन, वाणी, कर्म से एक-निष्ठ होकर हम सब उस लक्ष्य की पूर्ति करेंगे, जो भगवान् महावीर के पक्ष-मुक्त धर्म, सर्वोदयी दर्शन और तत्त्वज्ञान को व्यापक बनाने की दिशा में किए जाने चाहिएँ।

वीरायतन योजना :

जैन परम्परा का सद्भाग्य है कि इस दिशा में प्रबुद्धचेता महान् मनीषी, तत्त्वज्ञ श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज ने, सर्व प्रथम सोचने का ही नहीं, अपितु कदम उठाने का भी शुभ संकल्प किया है। उपाध्याय श्री जी का यह सहज स्वभाव रहा है कि जब तक वे वस्तु के मूल तत्व को न पकड़ लें, और उस पर तल-स्पर्शी गंभीर एवं व्यापक विचार न करलें, तब तक अपने किसी भी सकल्प एवं विचार को न वाणी में उतारते हैं और न लेखनी मे अंकित करते हैं। अत: काफी गंभीर चिन्तन-मनन के बाद उपाध्याय श्री जी ने वीरायतन योजना का प्रारूप तैयार किया है।

वीरायतन-योजना के रूप में उन्होंने समस्त जैन समाज के समक्ष, भगवान् महावीर के निर्वाण-शताब्दी के उपलक्ष में कुछ करने का, जो एक सचेतन संकेत एवं दिशा-दर्शन दिया है, उसे समाज समझे, और समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसमें सहभागी बने, एक मात्र यही उनकी उक्त मंगल प्रसंग पर कामना है। किसी भी योजना में, विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करना, जितना आसान है, उसमें सहयोग देना निश्चय ही उतना आसान नहीं है। जैन-परम्परा की प्रत्येक शाखा एवं संप्रदाय, कतिपय उदाहरणों को छोड़कर संगठन की अपेक्षा विघटन की ओर ही अधिक तीव्रगति से प्रभावित रही है। समाज की इस स्थिति और मनोदशा को ध्यान में रख कर ही, यह समझा गया और सोचा गया कि वीरायतन-योजना को क्रियान्वित करने के लिए व्यापक और विशाल दृष्टिकोण की आवश्यकता है। उपाध्याय श्री जी की

यह हार्दिक भावना है कि इसमें सर्वसाधारण जनता की ओर से बिना किसी भेदभाव एवं पक्ष-विपक्ष से मुक्त सहकार हमें उपलब्ध हो। यही कारण है कि इन्होंने वीरायतन-योजना को संकुचित दृष्टिकोण से प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि व्यापक दृष्टिकोण से आज की प्रबुद्ध जन-चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया है। और इसका परिणाम भी काफी अनुकूल मिल रहा है, जैन-जैनेतर सभी वर्गों की ओर से योजना का सहर्ष स्वागत हो रहा है, और उचित सहयोग भी प्राप्त हो रहा है।

वीरायतन का स्थान :

वीरायतन-योजना को किस स्थान पर साकार-रूप दिया जाय, इस प्रश्न को लेकर काफी ऊहापोह हुआ है, हो रहा है। यद्यपि वीरायतन एक अखिल भारतीय संस्थान रहेगा, फिर भी उसे भारत के किसी-न-किसी प्रान्तविशेष में ही स्थापित होना है। अतः इस विषय पर पर्याप्त विचार-विनिमय करने के बाद भारत देश के **'विहार प्रान्त'** में पटना से ६२ मील दूर **'राजगृह'** नगर में इसकी स्थापना का विचार अन्तिम रूपसे कर लिया गया है। इसका कारण यह है कि अन्य प्रान्तों तथा स्थानों में अनुकूलताएँ एवं सुविधाएँ भले ही प्राप्त हो सकें, पर वहाँ राजगृही जैसी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि नहीं है. जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, विहार प्रदेश की और राजगृह नगर की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक भूमिका है।

राजगृही को भगवान् महावीर के १४ वर्षावास होने का ऐतिहासिक सु-अवसर मिला है। वीर-प्रभु के पावन चरण-स्पर्श से वह वीर-भूमि अनेक बार गौरवान्वित रही है। भगवान् महावीर की दिव्य-वाणी वहां से मुखरित होकर दूर-दूर तक धरती के अनेक देशों तक पहुँची है। इतिहास की दृष्टि से तत्कालीन मगध और विदेह का विहार प्रान्त ही भगवान् महावीर की जन्म-भूमि, तपोभूमि, देशनाभूमि और निर्वाणभूमि रहा है। राजगृह गणधर गौतम तथा सुधर्मा आदि ग्यारह गणधरों की भी तपोभूमि एवं निर्वाणभूमि है। अतः भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण-शताब्दी पर जन-हित की मंगलदिशा में कुछ रचनात्मक कार्य करने के लिए समग्र जैन समाज की ऐतिहासिक चेतना समाज के प्रबुद्ध विचार-शील वर्ग को सहज ही राजगृह नगर का चुनाव करने को प्रेरित करती है।

राजगृह श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों का पुनीत संगम-स्थल है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का हजारों—हजार वर्षों का पुरातन इतिहास

अपने में समेटे हुए हैं—राजगृह के वन, पर्वत और मैदान। जहाँ कहीं भी उत्खनन होता है, इतिहास की कोई न कोई भूली-बिसरी कड़ी उपलब्ध हो ही जाती है। धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व तो राजगृह का रहा ही है, साथ ही राजगृही में विपुलाचल, रत्नगिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि और वैभारगिरि आदि सुरम्य पर्वतों, गुफाओं, वनों और गरम पानी के विशाल झरनों के कारण इसका प्राकृतिक वातावरण भी उतना ही सुरम्य, आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक-साधना, ध्यानयोग, गंभीर अध्ययन तथा स्वास्थ्य के लिए भी राजगृही का स्थान एकान्त और शान्त होने के कारण अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इन्हीं सब कारणों को ध्यान में रखकर परम श्रद्धेय राष्ट्रसंत, उपाध्याय श्री अमरचन्द जी महाराज ने राजगृही को ही वीरायतन के लिए पसन्द किया है। ध्यानसाधना के लिए किए राजगृही के अपने ऐतिहासिक वर्षावास काल (सन् १९६२) में उपाध्याय श्री को कुछ ऐसा मानसिक आभास मिलता था कि यहाँ पर कुछ करने जैसा है। उक्त वर्षावास में वे प्रत्येक मास के अन्तिम ३ दिनों में वैभारगिरि और विपुलाचल पर तथा सप्तपर्णी और स्वर्ण गुफाओं में ध्यान-साधना करते रहे हैं। जब वीरायतन-योजना का उद्भव हुआ, तब उस समय के वे संस्कार फिर उद्बुद्ध हुए, फलतः राजगृही में ही वीरायतन-योजना को क्रियान्वित करने का विचार प्रस्तुत किया है।

वीरायतन योजना के मुख्य अंग :

बहुधा बात-चीत और पत्र-व्यवहार आदि के प्रसंग में यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता रहा है कि 'वीरायतन' योजना क्या है? उसकी रूप-रेखा क्या है? उसमें क्या कुछ होगा? उक्त प्रश्नों का समाधान आवश्यक है। वीरायत-योजना एक विशाल, एक व्यापक और सर्वतोमुखी योजना है। सम्पूर्ण योजना को एक साथ क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, यह एक स्पष्ट सत्य है। फिर भी वीरायतन-योजना को क्रियान्वित करने के लिए सर्व प्रथम इसके चार अंगों को, जो कि इस योजना के मुख्य अंग हैं, और साथ ही महत्त्वपूर्ण भी, उन्हें एक साथ क्रियान्वित किया जा सकेगा। वीरायतन योजना के वे मुख्य अंग, जिन्हें एक साथ क्रियान्वित करना है, वे इस प्रकार हैं

(क) अध्यात्म-साधना एवं योग-साधना :

आज के इस समस्यामूलक युग में व्यक्ति बड़ा ही अशान्त नजर आता है। प्रत्येक व्यक्ति को सर्वत्र आज शांति की खोज है। और इस खोज में

आज व्यक्ति इधर-उधर भटक रहा है। मूल समस्या असन, वसन और भवन की नहीं है। मूल समस्या है—मानसिक उलझनों की। अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र के व्यक्ति भी, जिनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति प्राय: हो चुकी है, वे भी अपने मन की उलझनों में उतने ही उलझे हुए हैं, जितने कि भारत जैसे विकासमान देश के व्यक्ति उलझे हुए हैं। यही कारण है कि यूरोप के लोग अपने देश की धरती पर योग-आश्रमों की तथा अध्यात्म-साधना केन्द्रों की भारी संख्या में स्थापना कर रहे हैं। भारत-भूमि तो अपने मूल रूप में ही आध्यात्मिक रही है, और आज भी उसके वे चिरागत संस्कार इस दिशा में मृत नहीं कहे जा सकते। अत: एक इस प्रकार के अध्यात्म-केन्द्र की आज अत्यन्त आवश्यकता है, जहाँ पर अध्यात्म-मूलक योग, ध्यान, मनोविज्ञान, धर्म एवं दर्शन के सम्बन्ध में, कुछ क्रियात्मक यथार्थ प्रयोग किए जा सकें। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—इन आध्यात्मिक योग-तत्त्वों का प्रशिक्षण ही प्राप्त न हो, अपितु उस शिक्षण को सर्वसाधारण जन-जीवन में ढालने की पद्धति का भी प्रयोगात्मक उपयोग हो सके। आज योग के सम्बन्ध में प्राय: अखिल विश्वस्तर पर मानव-मन की जिज्ञासाएँ प्रबुद्ध हो चुकी हैं। वैदिक, जैन और बौद्ध सभी परम्पराओं के प्राचीन धर्म ग्रन्थों में ध्यान-योग का उल्लेख भी है, पर उसे वर्तमान परिवेश में उजागर करने की पद्धति का अभाव है उस विलुप्त ध्यान-पद्धति को फिर से उज्जीवित करना, वीरायतन योजना का मुख्य अंग रहेगा।

ध्यान-पद्धति को विकसित करने के लिए वर्ष भर में तीन-चार बार अन्तर्भारतीय अध्यात्म-साधना शिविर किए जायेंगे, जिनमें भाग लेने वाले व्यक्ति सुविधानुसार १ सप्ताह, १ पक्ष, अथवा १ मास तक निरंतर वहाँ रह कर ध्यान साधना कर सकेंगे। इन शिविरों में तद्विषयों के विशिष्ट विद्वानों को प्रवचन के लिए आमंत्रित किया जायगा, और इस प्रकार के कुछ विशिष्ट अनुभवी विद्वान् भी वहाँ स्थायी रूप में रखे जायेंगे, जो ध्यान-साधना के प्रत्यक्ष प्रयोग करा सकें।

(ख) शोध संस्थान एवं सार्वजनिक पुस्तकालय :

इस धारा के अन्तर्गत जैन-दर्शन की पृष्ठ-भूमि में अन्य भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक, समन्वयात्मक, एवं गंभीर अध्ययन की व्यवस्था होगी। सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिक, तथा मीमांसा और वेदान्त दर्शन का ही नहीं, बौद्ध दर्शन एवं भक्ति दर्शनों का भी जैन-दर्शन के सम्बन्ध में तुल-

नात्मक अध्ययन कराया जायगा, हो सका तो यूनानी और योरोपीय आदि दर्शनों का भी अध्ययन करने की उचित व्यवस्था की जायगी, जिससे अध्येता छात्र और छात्राओं का दार्शनिक ज्ञान परिपक्व हो सके। जैन-दर्शन के विशिष्ट अध्ययन के लिए अनेकान्तवाद, नयवाद, कर्मवाद एवं आचारवाद जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों का इतर भारतीय दर्शनों के व्यापक सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक होगा। इस पद्धति के अध्ययन से अतीत काल को धार्मिक तथा दार्शनिक परम्पराओं में जो कटुता उत्पन्न हो गई थी, और राष्ट्र के लिए घातक एक संकुचित दृष्टिकोण उपस्थित हो गया था, उसे आसानी से दूर किया जा सकेगा। इस शोध-संस्थान के अन्तर्गत वे ही छात्र-छात्राएं प्रवेश पा सकेंगे, जो किसी यूनिवर्सिटी मे दर्शन और मनोविज्ञान में B. A. या M. A. परीक्षाएँ अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण कर चुके होंगे। उनके रहने के लिए प्राचीन गुरुकुल पद्धति पर अलग-अलग दो छात्रावास होंगे—एक छात्राओं का और दूसरा छात्रों का। उनके द्वारा जो शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किए जाएँगे, यथावसर उनके प्रकाशन की व्यवस्था भी वीरायतन करेगा।

जो छात्र एवं छात्राएँ विशिष्ट अध्ययन के बाद अपना जीवन ज्ञान-साधना में ही समर्पित करने की भावना रखते हों, उन्हें विदेशों में विशुद्ध भारतीय एवं जैन-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए भी भेजने की व्यवस्था वीरायतन करेगा।

वीरायतन की इस दूसरी धारा के अन्तर्गत एक विशाल पुस्तकालय स्थापित किया जायगा, जिसमें समस्त धर्म एवं संप्रदायों के धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों का व्यापक दृष्टिकोण से संग्रह किया जायगा। शोध कार्य करने वाले छात्र-छात्राओं के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रान्तों में भी यदि कोई विद्वान् जैन-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों के विषय पर ग्रन्थ लिखना चाहेगा, तो वह भी इस पुस्तकालय से लाभान्वित हो सकेगा। पुस्तकालय में हस्तलिखित एवं मुद्रित सभी प्रकार के प्राचीन एवं आधुनिक ग्रन्थों का एक विशाल संग्रह करने का विचार है।

इस पुस्तकालय से संबद्ध एक प्रकाशन विभाग भी रहेगा, जिसमें धर्म, दर्शन, योग, मनोविज्ञान, संस्कृति और इतिहास आदि विषयों पर लिखे गए श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रकाशन किया जायगा। वही ग्रन्थ प्रकाशन की स्वीकृति पा सकेगा, जो तुलनात्मक एवं समन्वय पद्धति पर लिखा गया होगा। इसके लिए एक विद्वत्परिषद् की संरचना की जायगी, जो प्रकाशन योग्य ग्रन्थों का

निर्णय कर सकेगी। इस प्रकाशन-विभाग के अन्तर्गत सस्ता और लोक-भोग्य साहित्य भी, जिसे सामान्य पाठक भी रुचि-पूर्वक पढ़ सकें, प्रकाशित किया जायगा।

(ग) वीरायतन परीक्षा बोर्ड :

वीरायतन की इस धारा के अन्तर्गत एक परीक्षा बोर्ड भी स्थापित होगा जिसमें भारत के विभिन्न स्थानों पर और विभिन्न प्रान्तों में रहकर भी श्रमण और श्रमणी तथा श्रावक और श्राविका निर्धारित कोर्स का अध्ययन करके 'वीरायतन' की परीक्षाओं में प्रवेश पा सकेंगे। इस योजना के अन्तर्गत नद्विषयज्ञ विशिष्ट विद्वानों से एक सर्वसामान्य कोर्स भी तैयार कराया जायगा। उस कोर्स की पुस्तकों का भारत के विविध प्रान्तों की गुजराती, मराठी आदि विविध भाषाओं में सुन्दर अनुवाद भी कराने की व्यवस्था होगी।

प्रस्तुत परीक्षा बोर्ड की परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करके जो छात्र-छात्राएँ इससे भी अधिक अध्ययन की आकांक्षाएँ रखते हों, उन्हें वीरायतन में रखकर गंभीर और व्यापक अध्ययन की सुविधाएँ दी जा सकेंगी। सामान्य-रूप में 'वीरायतन परीक्षा बोर्ड' का यह कोर्स पाँच वर्षों में समाप्त होगा। विशिष्ट अध्ययन करने वालों के लिए आगे फिर तीन या चार वर्ष का कोर्स निश्चित किया जायगा, जिससे सभी लाभान्वित हो सकें।

(घ) सार्वजनिक चिकित्सालय :

वीरायतन-योजना के अन्तर्गत चतुर्थ अंग सार्वजनिक चिकित्सालय का होगा। सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में वीरायतन-योजना का यह एक महत्त्वपूर्ण भाग होगा। 'राजगृही' नगर की सामान्य जनता और आस-पास के ग्रामों के लोग इससे लाभान्वित हो सकेंगे। सेवा के क्षेत्र में यह सार्वजनिक स्थिर तथा चल चिकित्सालय बिना किसी जाति-भेद के, बिना किसी वर्ग-भेद के सभी की सेवा में सहयोग प्रदान करेगा। धीरे-धीरे इस चिकित्सालय को भी व्यापक रूप देने की योजना है। रोग-ग्रस्त व्यक्तियों के रहने की और उनकी चिकित्सा आदि की व्यवस्था की जायगी। यदि आवश्यक समझा जायगा तो इसी से संबद्ध एक गोशाला की स्थापना भी की जा-सकेगी, जिससे रोग-ग्रस्त व्यक्तियों को शुद्ध दुग्ध आसानी से प्राप्त हो सके।

वीरायतन की अन्य योजनाएँ :

वीरायतन-योजना के अन्तर्गत कुछ अन्य भी योजनाएँ हैं, जिन्हें समय, शक्ति और साधनों की उपलब्धि होने पर धीरे-धीरे क्रियान्वित किया जा सकेगा। इन अन्य योजनाओं में—संस्कृत प्राकृत प्राच्य विद्यापीठ, पुरातत्त्व

संग्रहालय, उद्योग-केन्द्र, कला-केन्द्र, बाल-मन्दिर, आदि-आदि अनेक योजनाएँ आती हैं, इन सभी को एक साथ क्रियान्वित नहीं किया जा सकता और यह संभव भी नहीं है। समय आने पर और शक्ति बढ़ने पर इन अन्य योजनाओं को क्रियान्वित करने का ध्येय अवश्य ही रहेगा। पर, चार मुख्य योजनाओं को आवश्यक प्राप्त साधनों के आधार पर एक साथ अथवा यथाक्रम क्रियान्वित करने का अभी तक संकल्प किया है। वीरायतन-योजना के इन मुख्य चार अंगों में अथवा चार मुख्य धाराओं में भी सर्वाधिक मुख्य केन्द्र अध्यात्म-साधना एवं चिकित्सा केन्द्र ही हैं। इस हेतु वीरायतन-योजना के कार्यकर्ताओं का सर्व प्रथम ध्येय भवन-निर्माण का है। जैसा कि उनका संकल्प है, आशा है, सन् १९७४ से कुछ पूर्व ही भवननिर्माण का कार्य प्रायः संपन्न किया जा सकेगा।

कार्यकर्त्ता-मण्डल :

यह आवश्यक है कि वीरायतन-योजना को क्रियान्वित करने से पूर्व बुद्धिवादी एवं कर्मठ कार्यकर्त्ताओं का एक सुनियोजित तथा सुगठित मण्डल बनाया जाये। इस कार्यकर्त्ता मण्डल में भारत के विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले कार्यकर्त्ताओं को बिना किसी भेद-भाव के सेवा का अवसर प्रदान किया जायगा। जो समर्थ व्यक्ति बिना किसी वेतन के सेवा-भाव से सेवा अर्पित करेंगे, वीरायतन उनका स्वागत करेगा, और उनकी सेवाओं को सहर्ष स्वीकार करेगा। जो व्यक्ति वेतन के बिना कार्य करने में अक्षम हैं, किन्तु कार्य करने में दक्ष हैं, उन्हें उचित वेतन पर सेवा का अवसर दिया जायगा।

वीरायतन-योजना के सम्बन्ध में यदि किसी को कुछ विशेष जिज्ञासा हो और पूछना हो तो निम्नलिखित स्थानों पर वे सम्पर्क साधें, ताकि उनके प्रश्नों का उचित समाधान मिल सके। प्रश्नकर्त्ताओं को इस बात का ध्यान रखना होगा कि वे जो भी प्रश्न करें, जिज्ञासा—पूर्ति हेतु ही करें।

वीरायतन-योजना के सम्बन्ध में उसकी संक्षिप्त रूप-रेखा, और उसके सहयोग के नियम प्रस्तुत पुस्तक के अन्त में संक्षेप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिन्हें पढ़कर जिज्ञासु व्यक्ति वीरायतन-योजना के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञा-साओं का सम्यक् समाधान सहज ही पा सकेंगे।

एक बात यह भी ध्यान में रहे कि इस पुस्तक को स्वयं पढ़ें—और अपने परिजन एवं परिवार के व्यक्तियों को भी पढ़ने के लिए अवश्य दें। किसी भी अच्छी योजना को प्रचार की अपेक्षा है। अच्छाई के प्रचार में सहयोग देना भी अपने में एक विशिष्ट पुण्य-कर्म है।

वीरायतन की रूप-रेखा :

१. इस संस्था का नाम "वीरायतन" होगा।

२. इस संस्था का निबन्धित कार्यालय बिहार-प्रदेश में स्थित पटना में होगा।

३. संस्था के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—
आध्यात्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और जागतिक विकास, अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए सर्वतोमुखी प्रयत्न एवं एक आदर्श ज्योति-केन्द्र की स्थापना।

अ—आध्यात्मिक विकास :

(क) सभी धर्म परम्पराओं का समन्वयात्मक शैली से उच्चस्तरीय अध्ययन।

(ख) प्राचीन योग और आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोज के आधार पर ध्यान और समाधि के प्रभावकारी प्रयोग।

(ग) मनोविश्लेषण के आधार पर अन्तर्वृत्तियों का संशोधन।

(घ) आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विकासहेतु प्रभावशाली योग्य प्रचारक, शिक्षक एवं साधकों के लिए ट्रेनिंग कालेज एवं सेवा-साधना मिशन की स्थापना।

(ङ) व्रत, नियम, जप, उपासना एवं योग-साधना के लिए साधनसम्पन्न विराट-साधना-केन्द्र की स्थापना।

ब—सामाजिक विकास :

(क) प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं के महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों का आधुनिक पद्धति से अनुसंधान, सम्पादन, संशोधन तथा प्रकाशन आदि।

(ख) सर्वसाधारण जनता के हितार्थ सरल, सुबोध भाषा में नैतिक एवं सांस्कृतिक-साहित्य का निर्माण।

(ग) केन्द्रिय स्तर का विशाल ग्रन्थालय स्थापित करना।

(घ) भारत की सांस्कृतिक जीवन-धारा के अनुकूल बालक, बालिकाओं को संस्कारी शिक्षा देने के लिए छात्रावास की स्थापना और व्यवस्था, आदर्श विद्याकेन्द्रों की उपयुक्त व्यवस्था, जहाँ बालक-बालिकाओं को प्रारम्भ से ही निर्मल एवं मुक्त वातावरण में

जीवनोपयोगी शिक्षा के साथ उच्च संस्कार भी प्राप्त हो सकें। यह संस्था अपनी साधारण सेवाओं के लिए कोई शुल्क नहीं लेगी।

(ङ) भ्रष्टाचार, कुप्रथाएँ, दुर्व्यसन, मांस-मद्य, पशुबलि तथा अन्ध-विश्वास आदि का निराकरण।

(च) जैन, अजैन सभी परम्पराओं में परस्पर सौहार्द, प्रेम, सद्भाव एव सहयोग भावना का प्रचार।

(छ) साधु एवं साध्वियों को अतीत के साथ वर्तमान तथा भविष्य को ठीक तरह स्पर्श करने वाले शिक्षण और प्रशिक्षण देने की योग्य व्यवस्था।

(ज) सर्वसाधारण जनता को स्वाश्रयी जीवन-यात्रा के लिए समयानुकूल शिल्प एवं कला आदि का प्रशिक्षण।

स—राष्ट्रीय विकास :

(क) प्रान्तीयता, जातीयता एवं साम्प्रदायिकता आदि से सम्बन्धित संकीर्णता के विरुद्ध प्राणवान सक्रिय अभियान।

(ख) समग्र राष्ट्र में भावनात्मक एकता के लिए अखण्ड सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना।

द—जागतिक विकास :

(क) विश्व-हित की दृष्टि से किये जाने वाले वैज्ञानिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक अनुसंधानों के प्रचार-प्रसार में सक्रिय सहयोग।

(ख) लोकतन्त्र के व्यापक अर्थ में स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा के लिए जन-भावना का निर्माण।

ई—अभ्युदय :

(क) रोगियों के लिए प्राकृतिक-चिकित्सा एवं अन्य सुलभ-चिकित्सा की व्यवस्था।

(ख) सेवा-साधना-केन्द्र—जहाँ वे व्यक्ति आकर रहेंगे, जो सर्वाधिक साधना में जीवन व्यतीत करना चाहेंगे और सामाजिक-कार्य में अपना योगदान देना चाहेंगे।

(ग) लोकोपयोगी नवीन साहित्य का प्रकाशन और धार्मिक उत्सवों एवं धार्मिक परीक्षाओं तथा अध्ययन के लिए शान्त सुरम्य वायुमण्ड बनाने हेतु सर्व प्रकार के प्रबन्ध करना।

●

भ० महावीर निर्वाण शताब्दी (उ० प्र०) की पहली बैठक

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

गत मई माह में मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'प्रथम' के सद्प्रयत्नों से उत्तर प्रदेश में भ० महावीर निर्वाण शताब्दी समिति का गठन हुआ था। समिति में जैन समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि हैं। इसकी पहली बैठक दिनांक २१ सितम्बर, ११ बजे लखनऊ में विधान भवन के तिलक हाल में आयोजित की गई।

निश्चित कार्यक्रम के अनुसार हम लोग आगरा से प्रातः ६ बजे कानपुर पहुंच गये थे। वहाँ के स्थानीय प्रतिनिधि श्री शुभकरण जी जैन से मुलाकात हुई। हम उन्हीं के अतिथि हुए। श्री शुभकरण जी ने सभी स्थानीय प्रतिनिधियों से संपर्क किया और अधिक से अधिक संख्या में मीटिंग में पहुंचने का आग्रह भी।

समिति के सदस्य डा० ए० आर० भंडारी (जनरल मैनेजर जे० के० रायन) काफी उत्साह एवं चिंतन के साथ तैयारी में लगे थे। उन्हीं की कार में मैं, श्री बधमल सुराना, श्री शुभकरण जैन, श्री बिजयसिंह भंडारी लखनऊ पहुँचे। ठीक ग्यारह बजे से कुछ समय पूर्व ही विधान भवन में हम लोग उपस्थित हो गए।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन आदि तथा वाराणसी से श्री शरद कुमार 'साधक', बड़ौत से डा० प्रेमसागर जैन आदि अनेक प्रतिनिधि भी ठीक समय पर पहुँच गए थे।

अपेक्षा थी कि यह पहली मीटिंग हो रही है जिसमें जैन समाज के प्रतिनिधि काफी उत्साह के साथ भाग लेंगे, किन्तु इस विषय में खेद के साथ निराशा ही हुई। बाहर व स्थानीय कुल मिलाकर २५ से अधिक सदस्य

हाल में उपस्थित नहीं थे। इसका कारण यह बताया जा रहा था कि कुछ सदस्यों को तो सूचना ही नहीं मिली, सूचना विलम्ब से भी मिली और फिर दशलक्षण पर्व चल रहे हैं। कुछ भी हो, उपस्थिति देखकर यह आभास जरूर हुआ कि अपेक्षित उत्साह की कमी है। अस्तु, समिति के सचिव श्री पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी ने समागत सदस्यों का स्वागत करते हुए समिति के निर्माण से अब तक की प्रगति की जानकारी दी तथा भगवान महावीर की पुनीत स्मृति में किस प्रकार क्या आयोजन होने चाहिएँ, इसकी रूपरेखा मांगी। तथा संपूर्ण जैन समाज का सहयोग एवं किन प्रमुख व्यक्तियों का सक्रिय सहयोग तथा मार्गदर्शन मिल सकता है तथा लेना चाहिए, इस विषय में सदस्यों की भावना जाननी चाही। लखनऊ से डा० ज्योतिप्रसाद जैन, कानपुर से ए० आर० भंडारी एवं श्री शुभकरण जैन ने अपना सक्रिय सहयोग देने का आश्वासन दिया।

श्रीचन्द सुराना 'सरस' आगरा ने कहा—इस कार्यक्रम में जैन समाज के आदरणीय विद्वान उपाध्याय श्री अमरमुनि जी का मार्गदर्शन हमें अवश्य लेना चाहिए। तथा वाराणसी से शरद कुमार साधक' का नाम भी प्रस्तुत किया।

कुछ ही समय बाद मुख्यमंत्री श्री कमलापति त्रिपाठी भी मीटिंग की अध्यक्षता करने पधार गये। श्री त्रिपाठीजी ने आज के आयोजन की आवश्यकता बताते हुए कहा—यद्यपि हमने लगभग ६२ सदस्यों को आमंत्रित किया, किन्तु सदस्य बहुत कम संख्या में आये हैं। फिर भी जो सदस्य आये हैं वे इस विषय में अपने विचार, सुझाव आदि प्रस्तुत करेंगे कि भगवान महावीर की २५ सौ वीं निर्वाण तिथि के उपलक्ष्य में हमें किस प्रकार के कार्यक्रम आयोजित करने चाहिएँ।

मुख्यमंत्री जी ने आगे कहा—यद्यपि हमारा शासन धर्मनिरपेक्ष शासन है, किसी भी एक धर्म का प्रचार-प्रसार करना इसका उद्देश्य नहीं है, किन्तु भगवान महावीर को हम किसी धर्मविशेष का महापुरुष नहीं मानते, उनका व्यक्तित्व संपूर्ण भारतीय संस्कृति का प्रतीक था।

उनका अहिंसा, अपरिग्रह और समन्वय का संदेश मानव मात्र के कल्याण के लिए था। मैं जितनी श्रद्धा राम और कृष्ण के प्रति रखता हूं, भगवान महावीर के प्रति भी उससे कम नहीं। उनकी २५ सौ वीं निर्वाण तिथि पर हम उनके उपदेशों का, उनसे सम्बन्धित ऐतिहासिक स्थलों का नया सांस्कृ-

निक मूल्यांकन करेंगे, शासन इसमें हर प्रकार सहयोग करना अपना कर्तव्य समझता है।

राष्ट्रीय समिति ने क्या कार्यक्रम निर्धारित किया है, तथा कहाँ क्या हो रहा है, इसकी हमें जानकारी अभी नहीं है, उनसे भी हम जानकारी प्राप्त करेंगे और आप लोग भी अपना विचार-सुझाव देंगे।

इसके पश्चात् श्री शरद कुमार 'साधक' ने उत्तर प्रदेश में जैन धर्म की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए बताया—उत्तर प्रदेश अनेक जैन तीर्थंकरों की जन्मभूमि रही है, यहाँ प्रायः प्रत्येक जिले में जैन तीर्थ हैं, जो आज उपेक्षित से पड़े हैं, उन ऐतिहासिक स्थलों का पर्यटन आदि की दृष्टि से विकास होना चाहिए तथा केन्द्र स्थानों पर इस शताब्दी के उपलक्ष्य में कुछ नये स्मृति-स्तूपों का भी निर्माण होना आवश्यक है।

श्रीचन्द सुराना 'सरस' ने मुख्यमंत्री जी को संबोधन करके कहा—आपने भगवान महावीर निर्वाण शताब्दी समारोह के प्रति जो दिलचस्पी दिखाई है उससे संपूर्ण जैन समाज में हार्दिक प्रसन्नता हुई है।

भगवान महावीर के साथ उत्तर प्रदेश का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उत्तर प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में भ० महावीर ने भ्रमण किया है। उनकी भाषा के साथ भी उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध जुड़ा है। जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है, और अर्धमागधी वह भाषा है जो आधी मगध की और आधी शूरसेन प्रदेश की (जो कि उत्तर प्रदेश का ही एक राज्य है) शौरसेनी-भाषा मिलकर बनी है। भाषा की दृष्टि से जितना देय मगध का है, उतना ही उत्तर प्रदेश का भी है। इस अवसर पर उस प्राचीन भाषा के साहित्य व ऐतिहासिक विकास का अध्ययन अनुशीलन एवं प्रकाशन होना चाहिए।

दूसरी बात उत्तर प्रदेश में जैन धर्म ने जनता की क्या क्या सेवाएँ की हैं, किस प्रकार इसका विस्तार व विकास हुआ है, और यहाँ की लोक-संस्कृति में उसका कितना योगदान रहा है—इस विषय पर अनुसंधान होना चाहिए और उत्तर प्रदेश में जैन धर्म की विकास परम्परा से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का प्रकाशन भी होना चाहिए।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने भी प्राचीन तीर्थ स्थलों के पुनर्निर्माण पर और विशेषकर सांस्कृतिक दृष्टि से उनका विकास करने पर बल दिया। प्रसंग-वश उन्होंने यह भी कहा—कुछ लोगों की जिज्ञासा है कि सरकार इस अव-

मर पर क्या कितनी राशि व्यय करना चाहती है. इसका यदि संकेत मिल जाए तो·······

इस पर मुख्यमंत्री ने हँसते हुए कहा—आप लोग बतलाइये, क्या-क्या कार्यक्रम होने चाहिए, खर्च तो जो आवश्यक होगा वह होगा ही। इस विषय में राष्ट्रीय समिति ने क्या घोषणाएँ की हैं, उसकी जानकारी भी हमें प्राप्त करनी है। मैं चाहता हूँ सब काम सरकार पर ही न छोड़े जाएँ, जैन समाज भी काफी समृद्ध है, उसका सहयोग भी मिलना चाहिए और जो ऐसे व्यक्ति हैं जो जैन नहीं हैं, किन्तु इस सांस्कृतिक कार्य में सहयोग करना चाहते हैं, उनका भी सहयोग लेना चाहिए। प्राचीन तीर्थ स्थलों का, साहित्य का सभी काम तो हमें करना ही है····।

श्रीचन्द सुराना ने कहा—गत अप्रैल मास में देहली में राष्ट्रीय समिति की बैठक प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में हुई थी। उसमें कार्यक्रम के लिए ५० लाख की स्वीकृति हुई थी। बिहार में भी समिति का गठन हो चुका है, वहाँ भी सरकार ने २५ लाख रुपए स्वीकृत किए हैं। उत्तर प्रदेश तो बिहार से भी विशाल प्रदेश है·····

मुख्यमंत्री—अन्य सरकारें जो कर रही हैं वह ठीक ही है, उत्तर प्रदेश भी उनसे पीछे नहीं रहेगा। (तालियों की गड़गड़ाहट)

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा ने इस समारोह में समस्त भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करने का सुझाव दिया और व्यापक दृष्टि से कार्यक्रम सोचने की आवश्यकता बताई।

सचिव श्री पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी ने सदस्यों को बताया कि इस आयोजन में और किन-किन व्यक्तियों का सहयोग लेना अपेक्षित है, उनकी जिलास्तर पर एक सूची आप बनाइए,—कुछ और नाम भी इसमें बढ़ाये जा सकते हैं। ६० से ८०, १०० तक सदस्य बना लिए जायें।

श्री ए० आर० भंडारी ने १०–१५ दिन में ही जिला स्तर पर कुछ और नये सदस्यों के नाम तथा कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत करने का आश्वासन दिया। श्री कल्याणदास जैन ने सुझाव दिया कि १५ दिन की बजाय १ महीना लीजिए, ताकि सूची को व्यापक रूप दिया जा सके।

लगभग १॥ घंटा तक यह कार्यक्रम चला। लगता था मुख्य मंत्री श्री कमलापति त्रिपाठी इस कार्यक्रम में काफी दिलचस्पी ले रहे हैं और वे व्यापक स्तर पर काफी कुछ करना भी चाहते हैं।

जैन प्रतिनिधि काफी कम संख्या में उपस्थित थे। यद्यपि सरकार की ओर से समस्त गैर सरकारी सदस्यों को प्रथम श्रेणी के स्तर का टी० ए० डी० ए० दोनों की सूचना भी दे दी गई थी, और तत्काल वहीं उसे प्राप्त करने की व्यवस्था भी थी। प्रतिनिधियों के सुझाव काफी बिखरे हुए से थे, और लगता था अभी इस विषय में कोई खास चिंतन नहीं हुआ है।

अच्छा हो हम अगली मीटिंग से पहले ही सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व की जो कमी महसूस हो रही है उसे पूरा करलें और एक सर्वसम्मत कार्यक्रम भी निश्चित कर लेवें। ताकि वही कार्यक्रम सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।

डा० ए० आर० भंडारी (कानपुर) इस विषय में काफी सक्रिय हैं। इन्होंने सदस्यों से निवेदन किया है कि वे इस पते पर अपने-अपने विचार सूचित करें।

श्री शुभकरण जैन
७६।१७४ सब्जीमंडी, कानपुर (उ० प्र०)

●

सेठ आनन्दराज जी सुराना का अभिनन्दन

दि० ८ अक्तूबर १९७२ रविवार प्रातः ९-३० बजे जैन भवन, १२ लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली में समाज के कर्मठ नेता, राष्ट्र, समाज एवं धर्म के एकनिष्ठ सेवक, कॉन्फरेन्स के महामन्त्री, प्राणिमित्र पद्म श्री सेठ श्री आनन्दराज जी सुराणा की ८१वीं वर्षगांठ पर उनकी सेवा में ८१ हजार रु० की थैली एवं अभिनन्दन विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ० श्री दौलतसिंह जी कोठारी के करकमलों द्वारा समर्पित करने का समारोह मनाया जा रहा है। अमर भारती परिवार की ओर से हम सुराणा जी की चिरायु की मंगलकामना करते हैं। सुराणा जी की सेवाएँ युगयुग स्मरणीय रहेंगी।

—संपादक

●

साहित्य समीक्षा

अर्थागम : एकादशांग

सम्पादक जैन धर्मोपदेष्टा पं० श्री फूलचन्द्र जी महाराज 'पुप्फभिक्खू'
प्रकाशक—श्री प्यारेलाल ओमप्रकाश जैन, नया बांस देहली - ६
अध्यक्ष—श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार'
सूत्रागम स्ट्रीट एस० एस० जैन बाजार, गुड़गाँव छावनी (हरियाना)

श्रद्धेय श्री पुप्फभिक्खू जी ने कुछ समय पूर्व आचारांग आदि ३२ मूल मूल जैन आगमों का दो खण्डों में सम्पादन किया था। प्रस्तुत अर्थागम उसी के ११ अंगों का हिन्दी अनुवाद है। यह विराट ग्रन्थ १७५७ पृष्ठों के तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ है। प्रत्येक खण्ड का ३२ रुपया मूल्य है।

प्रथम खण्ड में आचारांग से लेकर समवायांग सूत्र तक चार अंगों का, द्वितीय खण्ड में संपूर्ण भगवती सूत्र का और तृतीय खण्ड में ज्ञातासूत्र से लेकर विपाक सूत्र पर्यन्त छह आगमों का हिन्दी अनुवाद है। प्रारम्भ में सम्पादक की ओर से एक अच्छी चिन्तनप्रधान प्रस्तावना है, जिसमें आगमों के सम्बन्ध में एक ज्ञातव्य विचार चर्चा उपस्थित की है।

हिन्दी अनुवाद काफी सुबोध, स्पष्ट तथा रोचक है। रूपान्तर में अनुवादक मुनिश्री का बौद्धिक श्रम प्रशंसनीय है। एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है—यह अनुवाद। पुस्तकालयों, ज्ञान मन्दिरों आदि में उक्त ग्रन्थ विशेष रूप से संग्रहणीय है। मुद्रण की दृष्टि से भी ग्रन्थ उत्तम है।

वक्तृत्व कला के बीज

संपादक—श्री धनमुनि, प्रथम,

प्रकाशिका—श्रीमती तिलक सुन्दरी गोयल, ३९३ अपरचितपुर रोड, कलकत्ता - ६

सम्पर्क सूत्र—संजय साहित्य संगम, दास बिल्डिंग नं० ५, बिलोचपुरा, आगरा - २ मूल्य ५.५० प्रत्येक भाग का।

प्रस्तुत ग्रन्थ का संकलन, संग्रह एवं सम्पादन सुप्रसिद्ध शतावधानी श्री धन मुनि प्रथम ने किया है। इसके पाँच भाग प्रकाशित हो चुके हैं, और शायद पाँच भाग ही आगे और प्रकाशित होंगे। मुनि श्री ने वैदिक, जैन और बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थों से उदारतापूर्वक विभिन्न विषयों के उद्धरणों का संकलन किया है। जीवनस्पर्शी शायद ही कोई ऐसा विषय रहा हो, जिसका संग्रह इसमें न किया गया हो। इसके साथ ही यह भी द्रष्टव्य होगा कि हिन्दी, उर्दू, गुजराती, संस्कृत, प्राकृत और पालि आदि अनेक भाषाओं से उद्धरण लिए गए हैं। फिर उनका विभिन्न विषयों में वर्गीकरण किया गया है।

वक्तृत्व कला में निपुणता प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के लिए यह संग्रह विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। विशेष रूप में जो साधु एवं साध्वीगण वक्तृत्व कला में विशेष निपुणता प्राप्त करना चाहते हों, उन सबके लिए यह ग्रंथ विशेष रूप से पठनीय है। इस ग्रन्थ के पूर्व भी इस प्रकार के संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, पर उन सबकी अपेक्षा प्रस्तुत ग्रन्थ अधिक व्यापक और विस्तृत है। मुनि श्री ने संग्रह करने में जो श्रम किया है, उसकी हम सफलता चाहते हैं।

धर्म और संसार का स्वरूप

रूपान्तरकार : गोपीचन्द धाड़ीवाल। पृष्ठ सं० १५१, मू० २-०० रु०

प्रकाशक : श्री जिनदत्त सूरि मण्डल दादा वाड़ी, अजमेर

मूल ग्रन्थ "उपमिति भव प्रपंच कथा" के नाम से सिद्धर्षि गणि ने संस्कृत में रचा था। "धर्म और संस्कृति का स्वरूप" उसका ही हिन्दी भाषा में सारग्राही रूपान्तर है। ग्रन्थ सुबोध और रोचक बन पड़ा है। इस लघु रूपान्तर में जैन दर्शन तथा सिद्धान्तों को अमूर्त रूपकों के प्रतीकों के जरिए सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है। मानव वृत्तियों का विश्लेषण करने वाली भावात्मक भाषाशैली में लिखी इस पुस्तक का महत्व सबके लिए है।

'पगों के सहारे'—भाग—दूसरा

प्रकाशक—श्री दशा श्री माली वर्धमान स्थानकवासी जैन संघ, कटक पृ० सं० २११, मूल्य २)

पगों के सहारे' यात्रा संस्मरण है। इसमें पं० श्री मनोहर मुनि जी 'कुमुद' ने कलकत्ता से पुरी (उड़ीसा) तक की अपनी पदयात्रा के रोचक संस्मरण

प्रस्तुत किए हैं। वर्णनों के बीच-बीच में उर्दू के शेर, मंत्रियों के संदेश तथा शुभकामना पत्र और आवश्यक चित्रादि भी संकलित हैं। पुस्तक की भाषा सुबोध, शैली आकर्षक और पठनीय है। मुखपृष्ठ आकर्षक एवं अर्थबोधक है। उक्त यात्रा वृत्त अन्य यात्रियों के लिए मार्गदर्शक है।

नमस्कार चिन्तामणि

अनुवादक : चाँदमल सीपाणी, पृ० १५७, मू० २-५० रु०

प्रकाशक : श्री जिनदत्त सूरि मण्डल दादावाड़ी, अजमेर

मूल 'नमस्कार चिन्तामणि' मुनि श्री कुन्दकुन्द विजय जी ने गुजराती में लिखी है। पुस्तक की लोकप्रियता से प्रभावित होकर श्री चाँदमल सीपाणी ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है। इसमें मंत्राधिराज 'नवकार' मंत्र की विविध रीति से व्यापकता एवं महत्ता बताई गई है। 'नवकार मंत्र' के प्रेमी साधकों के लिए यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है। भाषा रोचक तथा मुद्रण उत्तम है।

सराक हृदय

लेखक : बाबूलाल जैन जमादार, प्रकाशक : अहिंसा निकेतन बेलचम्पा, पो० रेहला (पलामू) विहार, पृ० सं० ५८, मू० १-००

'सराक हृदय' में लेखक ने बिहार, बंगाल और ओड़ीसा प्रदेशों में रहने वाले प्राचीन श्रावक भाइयों (जिन्हें आज सराक कहा जाता है) के बाह्य तथा आंतरिक जीवन की समीक्षा की है। ये सराक भाई कर्म तथा आचरण से अब भी सच्चे जैन हैं। अतः इनके विकास के लिए हमें तन-मन-धन से सहयोग देना है। पुस्तक पठनीय एवं प्रेरणाप्रद है।

श्री कुवलयमाला चारित्र

रचयिता : श्री मूलचन्द जी महाराज

प्रकाशक : किस्तूर मल मांड, अजमेर

पृ० सं० ९२, मू० १.२५ रु०

"कुवलयमाला चरित्र" एक प्राचीन जैन कथा है, जिसको लेखक ने हिन्दी भाषा में पद्यबद्ध किया है। चातुर्मासों में या कथावार्ता के समय पारायण करने के लिए यह पुस्तक उपयोगी है। कविता सुबोध एवं सरल है। मुनि श्री का श्रम श्लाघनीय है।

—डा० बृजबिहारी तिवारी

●

सत्य का तकाजा : एक पत्र
कुछ सहज प्रतिध्वनियां

आपने जगद् गुरु श्री शंकराचार्य जी के नाम पत्र में अपने हृदय को जिस मर्मस्पर्शी भाषा में खोलकर रखा है, उसने कई विचारकों के हृदय में हमारे देश में व्याप्त धार्मिक असहिष्णुता के प्रति गहरी चिंता उत्पन्न की है.... । आपने इस पत्र को लिखकर देश के बौद्धिक वर्ग का, उसके विचारों का सही प्रतिनिधित्व किया है। इसके लिए आपकी जितनी प्रशंसा की जाए, थोड़ी है।

—सौभाग्यमल जैन एडवोकेट, शुजालपुर

अग्नि परीक्षा के सन्दर्भ में 'सत्य का तकाजा' के रूप में जो पत्र उपाध्याय श्री जी ने लिखा है, वह समन्वय की भावना का द्योतक है। उसके लिए मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। आज के युग में इस प्रकार तटस्थ चिन्तन के द्वारा सत्य को साहस के साथ प्रकट करने की अतीव आवश्यकता है।

—मानव मुनि, इन्दौर

उपाध्याय श्री जी का श्री शंकराचार्य जी को दिया गया पत्र उच्च धार्मिक विचारधारा को प्रकट करता है। पत्र में बिना किसी द्वेषभावना के बहुत ही संयत भाव से सुन्दर विवेचन किया गया है। प्रसन्नता है, श्री शंकराचार्य जी ने भी विवाद समाप्त कर सन्तोष व्यक्त किया है।

—मूलचन्द डागा, हैदराबाद

सत्य को स्पष्ट निर्भयता के साथ प्रकाश में लाये जाने वाले इस पत्र को मैंने एक स्टांपी दस्तावेज मानकर अपने पट्टे परवाने के रेकार्ड में रख दिया है, जो सदा सेफ में रहेगा। और मेरी भावी पीढ़ी इसे विरासत में प्राप्त करेगी।

—भंवरलाल, तलेसरा, लावा सरदारगढ़

●

समाचार दर्शन

●अस्पृश्योद्धार, नारायण गाँव (पूना, महाराष्ट्र) श्री मोतीलाल जी चोरडिया ने अपनी धर्मपत्नी के ११ दिन के तप के उपलक्ष में एक उल्लेखनीय कार्य किया है, जिस का हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं। शोभायात्रा, भोजन आदि की समग्र रूढ़ियां बन्द कर अपने ग्राम के महतर, मातंग आदि हरिजनों के ४० परिवारों की महिलाओं को घर पर बुलाकर प्रत्येक बहन को ९ गज की एक साड़ी, एक चोली का कपड़ा और मिठाई प्रदान की। और इन बहनों को सौभाग्य तिलक भी लगाया। जुन्नर जैन वसतिगृह के लिए १००१ दान में दिया। संवत्सरी के दिन पशुहत्या भी बंद कराई गई। श्री मोतीलाल जी 'अमर भारती' के आजीवन सदस्य हैं। उनका यह विचारोत्तेजक कार्य सर्वत्र अनुकरणीय है।

●श्री स्था० जैन युवक संघ, २ साउथ तुकोगंज इन्दौर के तत्त्वावधान में अखिल भारतीय लेख प्रतियोगिता (१९७२) का आयोजन किया जा रहा है। प्रतियोगिता का विषय है—"भगवान महावीर के २५ वें निर्वाण महोत्सव पर क्या जैन समाज में स्थायी एकीकरण संभव है?" लेख हिन्दी भाषा में और अधिकतम ५००० शब्द संख्या तक होने चाहिएँ। लेख भेजने की अन्तिम तिथि १५ अक्टूबर १९७२ है।

प्रथम पुरस्कार २०१, द्वितीय १५१, तृतीय १०१ नकद रुपयों का है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रोत्साहन पुरस्कार क्रमशः चार से ग्यारह लेखकों को प्रत्येक २१ नकद दिये जाएँगे। एक ही प्रथम पुरस्कार विजेता यदि लगातार तीन वर्ष तक प्रतियोगिता में विजयी होता रहेगा, तो उसे अन्तिम वर्ष में 'महासती श्री प्रीतिसुधा रजत वैजन्ती' नामक एक रजत शिल्ड भी दिया जाएगा।

—मंत्री, हस्तीमल झेलावत

● पूज्य श्री सेठ मोहनमल जी चोरड़िया का ७१ वां जन्मदिवस समारोह स्थानक वासी जैन संघ मद्रास की ओर से, दि० १-९-७२ को, बड़े समारोह के साथ संपन्न हुआ। अध्यक्ष जैन समाज के यशस्वी नेता श्री चिमनलाल चकूभाई शाह थे। भारतीय परंपरा के अनुसार ७१ बालिकाओं ने कलश लिए हुए सेठ जी का भव्य स्वागत किया। सेठ साहब बड़े ही सौम्य, सहृदय एवं विनम्र हैं। जैन संघ मद्रास के आप प्राण हैं। आप की महिमामयी सेवाओं के उपलक्ष में सेठ जी को ७१ हजार की थैली अर्पण की गई, और सेठ जी ने उसमें अपनी ओर से ७१ हजार और मिलाकर समाज को अर्पण कर दिया।

● श्री कृष्ण जैन महिला कला केन्द्र, चांदनी चौक रतलाम, महिलाओं के विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। मध्यप्रदेश की अपने में यह एक आदर्श संस्था है। श्री सौभागमल जी 'चतर' के निर्देशन में अब तक ३०० के लगभग बहनें सिलाई आदि में डिप्लोमा प्राप्त कर कार्य में लगी हुई हैं। दानी सज्जन संस्था को आर्थिक सहयोग देकर पुण्य लाभ प्राप्त करें।

● बालोतरा में स्वनामधन्य पूज्य बहुश्रुत पं. समर्थमल जी म० तथा दिल्ली में पंजाबकेशरी पं० श्री प्रेमचन्द जी अस्वस्थ चल रहे हैं। समाज में इससे काफी चिन्ता व्याप्त है। दोनों ही मुनिराज जैन संघ में महनीय हैं। उनके स्वास्थ्य के लिए हम मंगलकामना करते हैं।

● पर्युषण के सम्बन्ध में स्थान-स्थान से इतने अधिक समाचार आए हैं कि हम सभी को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। किसी का दें, और किसी का न दें, यह हमें अभीष्ट नहीं है। इसके लिए हम विनम्रभाव से क्षमाप्रार्थी हैं।

—संपादक

●

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
रामधन शर्मा, बी० ए०, एल० टी०,

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन • एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष • इकत्तीस रुपये
तीन वर्ष • इक्कीस रुपये
वार्षिक • आठ रुपये
एक प्रति • पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ९ | नवम्बर ७२ | अंक ११

व न्द ना

जो देवाण वि देवो,
जं देवा पंजली नमंसंति ।
तं देव देवमहियं,
सिरसा वंदे महावीरं ।।

—जो देवों का भी देव है—आराध्य है, जिसको स्वर्ग के देव भी हाथ जोड़कर प्रणाम करते है, उस देवपूजित महावीर देव को मैं मस्तक नवाकर वन्दना करता हूँ ।

इक्को वि नमोक्कारो,
जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसार - सागराओ,
तारेइ नरं व नारिं वा ।।

—जिनेन्द्र वर्द्धमान महावीर भगवान् को श्रद्धा के साथ किया गया एक भी नमस्कार, नर और नारी सबको संसार सागर से पार कर देता है ।

नमो दुर्वार - रागादि–
वैरिवार - निवारिणे ।
अर्हते योगिनाथाय,
महावीराय तायिने ।।

—जिनका निवारण करना बहुत ही कठिन है, ऐसे रागद्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं के समूह को जिसने पूर्ण रूप से पराजित कर दिया है, जो आत्मनिष्ठ योगियों का आराध्य है, जो प्राणिमात्र का रक्षक है, उस महावीर अर्हन्त को नमस्कार है ।

●

वीर जिनेश्वर ! सोई दुनिया जगाई तू ने !
ज्ञान की मधुर सुरीली वंशी बजाई तू ने !!

भारत की नैया डोली,
मृत्यु आ सिर पर बोली,

करुणा के सागर भगवन् ! पार लगाई तू ने !

पशुओं पर छुरियाँ चलतीं,
रक्त की नदियाँ बहतीं,

करुणा की निर्मल गंगा देव ! बहाई तू ने !

देवों की करना पूजा,
बस. काम था और न दूजा,

मानव की अटल प्रतिष्ठा जग में जताई तू ने !

पंथों का झूठा झगड़ा,
जनता का मानस बिगड़ा,

भेद-सहिष्णुता की रक्खी सच्चाई तू ने !

पाप का पंक धोना,
नर से नारायण होना,

'अमर' अमर पद की राह दिखाई तू ने !

●

हे प्रभु वीर दया के सागर,
सब गुण-आगर ज्ञान-उजागर।
जब तक जीऊँ हँस-हँस जीऊँ,
सत्य अहिंसा का रस पीऊँ।
त्यागूं लोभ घमंड बुराई,
चाहूँ सबकी नित्य भलाई।
जो करना सो अच्छा करना,
फिर दुनियाँ में किससे डरना।
हे प्रभु ! मेरा मन हो सुन्दर,
वाणी सुन्दर, जीवन सुन्दर।

●

एक मार्मिक प्रवचन

★ उपाध्याय अमर मुनि

गतिशील स्वच्छ मन वरदान है !

मानव का मन जैसा विचार करता है, जैसा सोचता है, और जैसा संकल्प करता है, वह तद्रूप ही हो जाता है। मनुष्य के मन में जो संकल्प और विकल्प प्रतिक्षण उठा करते हैं, उसका मुख्य कारण उसके पूर्व संस्कार ही होते हैं। वस्तुतः मनुष्य का मन एक प्रकार का कैमरा है, जो वस्तु उसके सामने आती है, उसे वह झट पकड़ लेता है। जिस प्रकार जल का अपना कोई आकार-प्रकार नहीं होता, जैसा पात्र उसे मिलता है वही आकार एवं प्रकार जल का हो जाता है। गंगा के प्रवाह में से यदि कोई व्यक्ति ग्लास में पानी भरता है, लोटा में पानी भरता है, और घड़े में पानी भरता है, अथवा चपटी और गोल थाली में पानी भरता है तो जल उसी आकार का हो जाता है, उसका अपना न कोई नियत आकार है, न प्रकार ही, वही स्थिति मनुष्य के मन की भी है। मनुष्य जो कुछ सुनता है, जो कुछ देखता है, जो कुछ चखता है, जो कुछ सूंघता है, और जो कुछ छूता है, वह उसी को ग्रहण करके विचार करने लगता है।

एक दार्शनिक ने कहा है कि—हम जो कुछ सोचते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। शुभ सोचोगे तो शुभ बनोगे, अच्छे बनोगे, और अशुभ सोचोगे तो अशुभ बनोगे, बुरे बनोगे। अच्छा बनना अथवा बुरा बनना, दोनों मनुष्य के अपने हाथ में हैं। भक्ति और उपासना के क्षणों में मन प्रभुमय क्यों बन जाता है ? इसका कारण यही है कि उस समय वह प्रभु के ही सम्बन्ध में विचार करता रहता है।

सबसे बड़ी समस्या मनुष्य के सामने यह है कि वह जीवित रहता है वर्त्तमान में, सांस लेता है वर्त्तमान में, लेकिन वह विचार करता है अतीत

का और अनागत का ! न अतीत का अन्त है और न अनागत की सीमा। फिर बतलाइये, शान्ति कैसे मिले ? समाधि कैसे प्राप्त हो ? प्रत्येक मनुष्य का मन घड़ी के पैंडुलम के समान गतिमान है। वह इधर से उधर और उधर से इधर भटकता है, कभी स्थिर नहीं हो पाता। वस्तुतः मन की स्थिरता की बात ही मिथ्या है। मन न कभी स्थिर हुआ है और न कभी हो सकेगा। मन को स्थिर करने के आज तक जो प्रयत्न हुए हैं, वे सब निष्फल सिद्ध हुए हैं। मेरे विचार में मन को स्थिर करने की अपेक्षा उसे पवित्र एवं निर्मल बनाइए। तलैया का जल गंदा है, सड़ रहा है, वह स्थिर है, तो उससे क्या लाभ ? गंगा का निर्मल प्रवाह बह रहा है, स्थिर नहीं है, तो क्या वह अच्छा नहीं है। तलैया का स्थिर जल नहीं चाहिए, चाहिए गंगा का बहता निर्मल जल। मन के सम्बन्ध में भी यही बात है। मन की गंदगी साफ करो, उसे स्वच्छ, निर्मल, पवित्र बनाओ, बस फिर सब ठीक है। मन का धर्म चिन्तन है। चिन्तन के बिना स्थिर हुए निष्क्रिय मन का क्या अर्थ ? व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र को अपने अभ्युदय के लिए सक्रिय मन की ही अपेक्षा है। मानव ने आज तक भौतिक या आध्यात्मिक समृद्धि के रूप में जो कुछ भी पाया है, धरती और आकाश के बीच उसने जो एक भव्य सृष्टि खड़ी की है, वह सब मानव के गतिशील मन की ही देन है, मन के चिन्तन की ही देन है। विकसित एवं सक्रिय मन न होता, तो क्या मानव जाति इतना विकास कर पाती ? पशु जगत् ने इतना विकास क्यों नहीं किया ? इसलिए नहीं किया कि पशु जगत् के पास सक्रिय विकसित मन नहीं था। अतः मन को स्थिर न बनाइए। यदि कुछ बनाना ही है उसे, तो पवित्र बनाइए, निर्मल बनाइए। जब मनुष्य का मन पवित्र और शुद्ध हो जाता है, तब उसमें शान्ति और समाधि सहज भाव से आ जाती है। हमारी धर्म-साधना का सबसे बड़ा लक्ष्य भी यही है।

कुछ लोग यदा-कदा मुझ से पूछा करते हैं कि महाराज श्री ! मन शान्त क्यों नहीं होता ? मन स्थिर क्यों नहीं होता ? तब मैं कहा करता हूँ—भई, मन को स्थिर नहीं, शान्त बनाइए। मन में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, वैर, दंभ और निम्न स्वार्थ की आग जल रही है, उसे बुझाइए। इस आग में सभी सद्‌गुण भस्म हो रहे हैं। प्रेम, स्नेह, सद्‌भाव, मैत्री, करुणा और क्षमा की निर्मल विचार गंगा जब मन में प्रवाहित होगी, तो यह दहकता दावानल सहसा समाप्त हो जाएगा, मन शीतल और शान्त हो जायगा। ऐसे निर्माणकारी विशुद्ध एवं शान्त मन की अपेक्षा है—जन-जीवन की सुख-समृद्धि के लिए।

ऐसा मन धरती पर साक्षात् स्वर्ग को उतार लाता है। अच्छा मन मरने के बाद तो स्वर्ग देता ही है, वह यहाँ जीते जी भी स्वर्ग का राज्य अर्पण करता है।

मन को अश्व कहा है। लंबी और साथ ही जल्दी की यात्रा के लिए यात्री को अश्व अपेक्षित है। पर, कैसा अश्व ! क्या मरियल टट्टू ? नहीं, हवा को मात देता तेज-तर्रार अश्व चाहिए। तेज-तर्रार चंचल अश्व पर से सवार नीचे गिर जाता है, दोष देता है अश्व को। मैं कहता हूँ—अश्व को नहीं स्वयं को दोष दीजिए। अश्व को साधा नहीं, अपने को साधा नहीं, घुड़सवारी की कला सीखी नहीं, तो गिरोगे नहीं तो क्या होगा ? चंचल अश्व अच्छा है, गतिशील अश्व ही वस्तुतः अश्व है। यदि यह पसंद नहीं ; तो गधा ले लीजिए बैठने को। अश्व की अपेक्षा क्यों करते हैं ? मन अश्व है, वह चंचल, गतिशील, सक्रिय ही चाहिए। चिन्तन ही चमक पैदा करता है। जुगनू बैठा रहता है तो नहीं चमकता है। उड़ने पर ही चमक आती है उसमें। मन को भी उड़ने दीजिए, उसे चिन्तन करने दीजिए, तभी उसमें से प्रकाश विकीर्ण होगा। वह प्रकाश, जो सूरज और चाँद के प्रकाश को भी फीका कर देता है। इस महा-प्रकाश की ही ये हजारों किरणें हैं—परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, संस्कृति, सभ्यता, शास्त्र, लोक-परलोक, आत्मा और परमात्मा आदि। यदि मन के चिन्तन का यह प्रकाश न होता, तो हम क्या होते ? और इन सब विकास धाराओं का क्या अस्तित्व होता ? मन से ही मनुष्य है—**'मननात् मनुष्यः।'** जिस मनु को मानवजाति का उद्धर्ता, पुरस्कर्ता, नेता कहते हैं, वह मनु मन ही है। इसीलिए कहा है—**'मनुर्भव।'** हे मानव ! तू मनु बन, मननशील बन। बिना मनन के तू नारक हो सकता है, पशु हो सकता है कीट-पतंग हो सकता है, मनुष्य नहीं हो सकता। इसी-लिए तो निरुक्तकारों ने कहा है—'मत्वाकार्याणि सीव्यति'—जो मनन-चिन्तन करके कार्यों का संपादन करता है, वह मनुष्य है।

मन की एकाग्रता का यह अर्थ नहीं है कि उसे निष्क्रिय बना दिया जाए। एक लक्ष्य पर केन्द्रित होकर उसी पर चिन्तन करना, तत्त्व की गहराई में प्रवेश करना, इधर-उधर बिखरती हुई चिन्तनशक्ति को केन्द्रित कर तीव्रता एवं शीघ्रता के साथ वस्तु के वास्तविक मर्म एवं रहस्य को उपलब्ध करना ही एकाग्रता है। इसमें तो चिन्तन को सर्वाधिक सक्रिय होना होता है, गति-शील होना होता है हाँ, यह गतिशीलता एक दिशा में होती है, पर है तो गतिशीलता ही, गतिहीनता तो नहीं। भगवान् महावीर ने इसी संदर्भ में

कहा था, चेतना को अशुभ से शुभ बनाओ, शुद्ध बनाओ। चेतना एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं रह सकती। वह तो प्रतिक्षण परिवर्तित होती हुई पर्यायों के रूप में सतत प्रवहमान अनन्त धारा है।

कर्मयोग का मूल आधार ही सक्रियता है। श्री कृष्ण का दर्शन है—कर्म को पवित्र बनाओ, उसे जनहित में मोड़ो। कर्म का रूप बदला जा सकता है, कर्म को छोड़ा नहीं जा सकता। इसी सन्दर्भ में तो गीता कहती है—**'न ह्यकर्म कृत् कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति।'** विना कर्म के तो कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता। हर क्षण कर्म होना है। कभी बाहर में तो कभी अन्दर में। अपेक्षा है कर्म को पवित्र बनाने की, न कि कर्म को छोड़ देने की, निष्क्रिय हो जाने की। जो लोग मन को निष्क्रिय बनाने की बात करते हैं, वे भूल में हैं। वे असंभव को संभव करना चाहते हैं। वे चाहते हैं दीपक जले तो सही, किन्तु प्रकाश न दे। ऐसा कैसे हो सकता है।

मन को व्यर्थ मत पड़ा रहने दो। उससे काम लो। वह यों ही पथ पर गिरा-पड़ा नहीं मिला है। उसकी प्राप्ति के लिए बहुत साधना करनी पड़ी है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय से मनस्वी होने तक इस जीव को कितनी लंबी यात्रा करनी पड़ती है, कुछ मालूम है तुम्हें? कितनी उलटी मति है आज की? जिसे बड़ी मुश्किल से पाया है, लोग कहते हैं, उसे निष्क्रिय जड़ बनाओ। कुछ भी न सोचो, न विचारो। शून्य हो जाओ, पत्थर बन जाओ। यदि चिन्तनशून्य निष्क्रिय जड़ता ही साधना का आदर्श है, तो फिर तो जड़ पत्थर बड़े साधक हैं। उनको कुछ भी विकल्प नहीं होता, कुछ भी सोच-विचार नहीं होता, न भला, न बुरा। क्या वे निर्विकल्प नहीं हैं। मन को निर्विकल्पता, विचारहीनता, शून्यता अशुभ की चाहिए, शुभ की नहीं। प्यास बुझाने के लिए जल अपेक्षित है। पर अस्वच्छ नहीं, स्वच्छ चाहिए। मन भी ऐसा ही स्वच्छ चाहिए। स्वच्छ मन अभिशाप नहीं, वरदान है। अभ्यर्थना है, इस वरदान से धरती पर का कोई भी मानव कभी भी वंचित न हो।

●

- **लेखन हो, भाषण हो, नृत्य हो, संगीत हो, चित्र हो, मूर्ति हो, कोई भी कला हो, यदि कलाकार में अपनी कला को जीवन्त बनाने का सामर्थ्य है, तो उसकी सफलता निश्चित है।**
- **भविष्य उसी का बनता है, जिसका भविष्य में विश्वास है।**

★

★ मुनि नथमल

ध्यान का प्रथम सोपान—धर्म्य-ध्यान

महर्षि पतंजलि ने साधना-पद्धति को इतना व्यवस्थित रूप दिया कि योग पतंजलि का स्व-जैसा बन गया। अब हर धर्म-परम्परा के सम्मुख प्रश्न आता है कि आपकी परम्परा में योग मान्य है? पातंजल योग सूत्र जैसा कोई ग्रन्थ है? जैन परम्परा को भी इस प्रश्न का उत्तर देना है। कोई भी धर्म है और योग नहीं है, ऐसा जैन आचार्यों को मान्य नहीं है। आचार्य हरिभद्र ने अविकल धर्म-व्यापार को योग मानकर उक्त तथ्य की पुष्टि की है।[1] महर्षि-पतंजलि ने योग को एक विशिष्ट अर्थ में स्वीकृत किया है। उनके अनुसार योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का प्रतिनिधि शब्द संवर है। हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि महर्षि पतंजलि की भाँति किसी जैन आचार्य ने व्यवस्थित ढंग से 'संवर-सूत्र' नहीं लिखा। उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु वह बहु-विषयग्राही है, उसका सम्बन्ध केवल साधना-पद्धति से नहीं है। उमास्वाति ने संवर-सूत्र की संक्षिप्त रूपरेखा तत्त्वार्थ सूत्र के नवें अध्याय में प्रस्तुत की है। किन्तु योग-सूत्र की तुलना में वह अपर्याप्त है।

उमास्वाति ने संवर के आठ हेतु बतलाए हैं[2]—

(१) गुप्ति	(५) परीषह-जय
(२) समिति	(६) चारित्र
(३) धर्म	(७) तप
(४) अनुप्रेक्षा	(८) निर्जरा

इनमें सातवाँ हेतु तप है। उसके बारह प्रकार हैं। उनमें एक है, ध्यान।

१. योग विंशिका १ : मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वोवि धम्म-वावारो।
२. तत्त्वार्थ सूत्र : ९—१—३

साधना की दृष्टि से ध्यान के दो रूप बनते हैं—धर्म्य और शुक्ल। प्रस्तुत निबन्ध में धर्म्य-ध्यान ही विवेचनीय है।

शब्द अर्थ के संवाहक होते हैं, किन्तु उनकी कठिनाई यह है कि वे रूढ़ होने के बाद अपने कलेवर में सिमटी हुई विशाल अर्थात्मा को प्रकट करने में अक्षम हो जाते हैं। उदाहरण के लिए धर्म्य-ध्यान को प्रस्तुत किया जा सकता है।

धर्म्य-ध्यान :

महर्षि पतंजलि को समाधि के दो रूप मान्य हैं—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात।[१] असंप्रज्ञात समाधि में मन अभाव-प्राप्त की भाँति होता है। उसमें शब्द, अर्थ आदि बाह्य वस्तुओं का आलम्बन नहीं होता, इसलिए उसे निर्बीज समाधि माना गया है।[२] संप्रज्ञात समाधि में अन्तःप्रविष्ट चार समापत्तियों (सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा) को सबीज समाधि माना गया है।[३] हरिभद्र सूरि तथा उपाध्याय यशोविजयजी ने संप्रज्ञात समाधि की तुलना शुक्ल-ध्यान के आद्यवर्ती दो प्रकारों (पृथक्त्व वितर्क सविचार और एकत्व वितर्क अविचार)[४] से और असंप्रज्ञात समाधि की तुलना केवल ज्ञान से की है।[५]

योगदर्शन में ध्यान और समाधि ये दो भिन्न-भिन्न माने गए हैं। जैनयोग में इन दोनों को एक ध्यान शब्द के द्वारा ही प्रतिपादित किया गया है। पतंजलि का तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम् (योग-दर्शन ३, २) जैनयोग का धर्म्य-ध्यान है और योगदर्शन में प्रतिपादित समाधि जैनयोग का शुक्ल-ध्यान है। समाधि ध्यान की उत्तरवर्ती अवस्था है। आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म्य और शुक्ल के ध्येय विषय को साधारण बतला कर इसी तथ्य की पुष्टि की है—

इति साधारणं ध्येयं, ध्यानयोर्धर्म शुक्लयोः।
विशुद्धि स्वामिभेदेन, भेदः सूत्रे निरूपितः॥ —(ज्ञानार्णव ३२, १०४)

महर्षि पतंजलि ने समाधि को विस्तार से समझाया है, किन्तु ध्यान के

१. योगदर्शन १–१७, १८
२. वही (भाष्य) १–१८
३. योग दर्शन १–४६
४. योगबिन्दु ४१८, जैनदृष्ट्या परीक्षित पातंजल योगदर्शन १–१८
५. वही ४२०, „ „ „ „

विषय में उन्होंने बहुत संक्षेप में लिखा है। जैन आचार्यों ने ध्यान के विषय में विस्तार से लिखा है।

धर्म्य-ध्यान का पूर्ण परिचय इस प्रकार है[1]—

ध्येय —(१) आज्ञा-विचय, (२) अपाय-विचय, (३) विपाक-विचय, (४) संस्थान-विचय।

लक्षण —(१) आज्ञा-रुचि, (२) निसर्ग-रुचि, (३) सूत्र-रुचि, (४) अवगाढ़-रुचि।

आलम्बन—(१) वाचना, (२) प्रतिपृच्छा, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा।

अनुप्रेक्षा—(१) एकत्व, (२) अनित्य, (३) अशरण, (४) संसार।

धर्म या धर्म्य?

प्राकृत में 'धम्म' शब्द है। उसके संस्कृत रूप दो बन सकते हैं—धर्म और धर्म्य। कुछ आचार्यों ने धर्म-ध्यान शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु अधिकांश आचार्यों ने धर्म्य-ध्यान का प्रयोग किया है। यही संगत है। धर्म्य का अर्थ है—धर्म से युक्त।

धर्म्य का हृदय :

'धर्म' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। ध्यान के प्रकरण में उसके चार अर्थ किए गए हैं—

(१) वस्तु का स्वभाव।[2]

(२) क्षमा आदि।[3]

(३) चारित्र।[4]

(४) अहिंसा।[5]

१. स्थानांग ४-१-२४७

२. तत्त्वार्थ वृत्ति, (श्रुतसागर कृत) ९-२८
धर्मो वस्तुस्वरूपम्। धर्मादनपेतं धर्म्यम्।

३. (क) तत्त्वार्थ भाष्यानुसारि टीका ९-२९
धर्मः क्षमादिदशलक्षणकः। तस्मादनपेतं धर्म्यम्।
(ख) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ९-३६
धर्मादनपेतं धर्म्यं, तस्य क्षमादिमत एव प्रवृत्तेः।

४-५. तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागर कृत) ९-३६
धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥ —(कत्ति० अणु० ४७६)
तस्मादुक्तलक्षणाद् धर्मादनपेतमपरिच्युतं ध्यानं धर्म्यमुच्यते।

'धर्म' शब्द के उक्त अर्थों से धर्म्य-ध्यान के दो अर्थ फलित होते हैं—

(१) वस्तु धर्माश्रित ध्यान

(२) क्षमा आदि धर्माश्रित ध्यान।

इनमें दूसरे अर्थ का सम्बन्ध ध्यान से उतना नहीं, जितना ध्यान के अधिकारी से है। क्षमा आदि दस धर्मों[1] से सम्पन्न व्यक्ति ही ध्यान का अधिकारी हो सकता है। इसके समर्थन में तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक का पाद-टिप्पणगत वाक्य उद्धृत किया जा सकता है।

धर्म्य-ध्यान के ध्येय चित् और अचित् (जीव और अजीव) दोनों भाव हैं,[2] इसलिए प्रथम अर्थ ही धर्म्य-ध्यान की अन्तरात्मा को प्रकट करता है।

ध्येय :

धर्म्य-ध्यान के ध्येय असंख्य हो सकते हैं, फिर भी जैन-योग में चार बतलाए गए हैं। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इनका विस्तार भी हुआ है। ध्येय को चार भागों में विभक्त करने के पीछे क्या दृष्टि रही है, इस विषय पर बहुत कम पर्यालोचना हुई है। ध्यान ध्येय के साक्षात्कार की प्रक्रिया है। तत्त्वज्ञान की बौद्धिक प्रक्रिया से इसका स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। धर्म्य-ध्यान की प्रक्रिया में तत्त्व (सत्य) की उपलब्धि के चार माध्यम चुने गए हैं—

(१) शब्द

(२) विश्लेषण

(३) फल या परिणाम

(४) रूप।

इन्हीं को पारिभाषिक शब्दों में—

(१) आज्ञा-विचय

(२) अपाय-विचय

(३) विपाक-विचय

(४) संस्थान-विचय

कहा गया है।

१. तत्त्वार्थ सूत्र ९–६।

२. ज्ञानार्णव ३१–१८

अमी जीवादयोभावाः, चिदचिल्लक्षलांछिताः।
तत स्वरूपाविरोधेन, ध्येया धर्मे मनीषिभिः॥

आज्ञा-विचय :

यह श्रद्धाश्रयी तन्मयता है। जैसे किसी निर्देशक के निर्देशानुसार अज्ञात मार्ग की उपलब्धि हो जाती है, वैसे ही किसी साक्षात्कारी ज्ञानी की आज्ञा (आगम या वाणी) के माध्यम से अज्ञात सत्य भी उपलब्ध हो जाता है।

विचय के अनेक अर्थ किए गए हैं[1]—विपाक, विवेक, विचारणा, पर्यालोचन, अन्वेषण, अनुचिन्तन और मार्गणा।

आज्ञा का विचय ध्येय है। यह ध्यान का स्वरूप नहीं है। ध्येय अनेक हो सकते हैं, किन्तु ध्यान के स्वरूप अनेक नहीं हो सकते। ध्यान का स्वरूप है—स्मृति-समन्वाहार। वह सब ध्येयों में एक रूप ही होता है। जैसे—(१) आज्ञा-विचय के लिए स्मृति समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है। (२) अपाय-विचय के लिए स्मृति-समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है। (३) विपाक-विचय के लिए स्मृति-समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है। (४) संस्थान-विचय के लिए स्मृति समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है।

धर्म्य-ध्यान को समझने के लिए स्मृति-समन्वाहार को समझना आवश्यक है।

स्मृति समन्वाहार :

ध्यान का अर्थ है एकाग्र चिन्ता-निरोध।[2] निरोध का अर्थ—चिन्तन का अभाव नहीं है, किन्तु उसे एक आलम्बन पर निरुद्ध करना है। उत्तराध्ययन में बताया गया है कि एक आलम्बन में मन की स्थापना से चित्त का निरोध होता है।[3]

स्मृति-समन्वाहार और एकाग्रचिन्ता निरोध दोनों समानार्थ वाची हैं। मन को एक आलम्बन में निरुद्ध करना और दूसरे आलम्बनों का निरोध करना, स्मृति समन्वाहार है।[4] और यही एकाग्र-चिन्ता-निरोध है।

---

१. (क) तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागर कृत) ९–३६ : आज्ञा विपाकाय, आज्ञा-विचयाय, आज्ञा विवेकाय, आज्ञा विचारणाय।

(ख) तत्त्वार्थ भाष्यानुसारि टीका ९–३७ :
विचयः पर्यालोचनम्, अन्वेषणम्। विचय : अनुचिन्तनं, मार्गणम्।

२. तत्त्वार्थ सूत्र ९–२७

३. उत्तराध्ययन सूत्र २९

४. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक ९–३०

शब्द और अर्थ :

शब्द वाचक होते हैं और अर्थ वाच्य। जितने द्रव्य और पर्याय हैं वे सब वाच्य हैं। किन्तु एकक्षण में एक शब्द द्वारा अनन्त धर्मात्मक द्रव्य का एक धर्म ही प्रतिपादित होता है। इस नय से द्रव्य अवाच्य है। वाच्य है पर्याय, एक क्षण में एक पर्याय याने एक धर्म।

अर्थ की अभिव्यक्त विशेषताओं के माध्यम से हम उसके साथ शब्द का सम्बन्ध स्थापित करते हैं और फिर उस शब्द के द्वारा एक धर्म का सहारा ले, अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

एक व्यक्ति ध्यान-बल से सत्य का साक्षात् कर उसे शब्दों में अवतीर्ण करता है। उस शब्दावतीर्ण बोध का नाम आज्ञा है। इसके माध्यम से एक व्यक्ति का अनुभूत सत्य हजारों-हजारों व्यक्तियों तक पहुँचता है। उस संप्रबुद्ध अर्थ-बोध का नाम भी आज्ञा है। शब्द-बोध के आधार पर अर्थ को जानना अर्थ-बोध की परोक्ष प्रक्रिया है। शब्द-बोध के सहारे ध्यान करते-करते अर्थ का साक्षात् करना अर्थ-बोध की प्रत्यक्ष प्रक्रिया है।

जो सूक्ष्म व अमूर्त्त तत्त्व हैं, वे इन्द्रियगम्य भी नहीं हैं और तर्क-गम्य भी नहीं हैं। उनका प्रत्यक्ष-बोध ध्यान द्वारा होता है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'योगी लक्ष्य के सहारे अलक्ष्य, स्थूल के सहारे सूक्ष्म और आलम्बन के सहारे निरालम्ब तत्त्व का चिन्तन करे।[१]

ज्ञात तत्त्व के प्रति स्खलना-भाव पैदा हो जाता है। उसके अनेक हेतु हैं[२]—अनादिकालीन भ्रम, मोह, अनभ्यास, असंग्रह।

किन्तु साक्षात् कृत तत्त्व के प्रति स्खलना-भाव नहीं होता, अतः साक्षात्कार के लिए वस्तु-धर्म में मन को केन्द्रित करना आवश्यक है।

अपाय-विचय :

मानसिक ग्रन्थियों के विमोचन का सर्वोत्तम उपाय विश्लेषण है। इसीलिए अपाय-विचय रूपान्तर में उपाय-विचय है।[3] आचार्य विद्यानन्दि ने अपाय-विचय का अर्थ किया है—असत् मार्ग से अपाय और सत् मार्ग से अनपाय। यह बन्ध-मुक्ति का ही उपाय है। इसीलिए उपाय-विचय नामक ध्येय

---

१. ज्ञानार्णव, ३३–४

२. वही, ३३–१

३. वही, ३३–२

का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है।[1] अपाय-विचय का अविकल अर्थ है, मुक्ति के बाधक और साधक तत्त्वों का साक्षात्कार।

यह संसार विघ्न-बहुल है, बाधा-बहुल है, दोष-बहुल है, दुःख-बहुल है, अरति-बहुल है। जब इस सत्य की अनुभूति प्रबल हो उठती है, तब मनुष्य का मन अत्यन्त उद्वेग से भर जाता है और वह उसी विषय में स्मृति-समन्वाहार कर लेता है। यही अपाय-विचय धर्म्य-ध्यान है।[2] अपाय सूक्ष्म हैं, इसीलिए उनका साक्षात्कार ध्यान से हो सकता है।

विपाक-विचय :

विपाक (परिणाम) व्यक्त होता है, हेतु अव्यक्त। विपाक के सहारे हेतु का साक्षात्कार किया जा सकता है। दुर्मेधा के सहारे ज्ञानावरण के सूक्ष्म पुद्गलों की शोध हुई है। चक्षु आदि इन्द्रियों की विकलता तथा निद्रा के सहारे दर्शनावरण के पुद्गलों की शोध हुई है। दुःख-सुख की अनुभूति के सहारे वेदनीय कर्म के पुद्गलों की शोध हुई है। विपरीत ग्राहिता और विकृत चारित्र के सहारे मोह के पुद्गलों की शोध हुई है। अनेक जन्म ग्रहण के सहारे आयुष्य के पुद्गलों की शोध हुई है। शुभ-अशुभ देह तथा उच्च-नीच संतति के सहारे नाम और गोत्र के पुद्गलों की शोध हुई है। अलाभ के सहारे अंतराय के पुद्गलों की शोध हुई है।[3] इस प्रकार विपाक विचय हेतु-शोध की महान् प्रक्रिया है। इससे अन्य द्रव्यों के परिणाम और उनके हेतु-ध्येय बनाए जा सकते हैं।

संस्थान-विचय :

यह रूपगत ध्येय है। आज्ञा-विचय की पदस्थ और संस्थान-विचय की रूपस्थ ध्यान से तुलना की जा सकती है। विपाक-विचय में अपने पुरुषाकार रूप का ध्यान किया जाता है—आचार्य शुभचन्द्र ने इसका निर्देश किया है।[4] तदनुसार उसकी तुलना पिण्डस्थ ध्यान से की जा सकती है।

संस्थान-विचय में संस्थान शब्द संग्राही है। इस संग्रह का विस्तार ध्यान-शतक में किया गया है। द्रव्य के लक्षण, संस्थान, आधार, विधान (प्रकार),

---

१. तत्त्वार्थ श्लोक व तक ९–३६–३
२. तत्त्वार्थभाष्यानुसारि टीका ९–३७
३. वही, ९–३७
४. ज्ञानार्णव ३५–२९

प्रमाण, उत्पाद, स्थिति और व्ययात्मक पर्यायों तथा जीव आदि अमूर्त्त द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन संस्थान-विचय की मर्यादा में आता है।[1]

इसके अमूर्त्त स्वरूप की तुलना रूपातीत ध्यान से की जा सकती है। ध्यान शतक में संस्थान-विचय का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, वही ज्ञानार्णव में आज्ञा-विचय का किया गया है।[2] इन दोनों ध्येयों में स्वरूप-भेद नहीं, लक्षण भेद प्रतीत होता है। आज्ञा-रुचि व्यक्ति आज्ञा-विचय ध्येय में स्मृति समन्वाहार करता है और अवगाढ़ (विस्तार) रुचि व्यक्ति संस्थान-विचय ध्येय में स्मृति समन्वाहार करता है। ध्यान शतक की संस्थान-विचय-विषयक एक गाथा से इसका संकेत मिल जाता है—

किं बहुणा सव्वंचिय, जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं।
सव्वनयसमूहमयं, झाएज्झा समयसब्भाव ॥ —(ध्यान शतक ६२)

ज्ञान और ध्यान :

ज्ञान और ध्यान दोनों एक ही चेतना के दो परिणमन हैं। चेतना के चल परिणमन का अर्थ ज्ञान और स्थिर परिणमन का अर्थ ध्यान है।[3] भावना ज्ञानात्मक होती है। उसका अनुचिंतन गतिशील होता है और ध्यान का अनुचिंतन निरोधात्मक होता है।[4]

जो चेतना भिन्न-भिन्न आलम्बनों पर स्फुरित होती है, वह उसकी ज्ञानात्मक सत्ता है। इसकी तुलना सूर्य की बिखरी हुई रश्मियों से की जा सकती है।

जो चेतना एक ही आलम्बन पर स्थिर, निरुद्ध या केन्द्रित हो जाती है, वह उसकी ध्यानात्मक सत्ता है। इसकी तुलना सूर्य की केन्द्रित रश्मियों से की जा सकती है।

स्वाध्याय, जप या भावना में मन एक आलम्बन पर केन्द्रित नहीं होता, वह अनेक आकृतियों के अभिमुख होता रहता है। किन्तु ध्यान में मन एक आकृति को केन्द्र बना, स्थितिशील हो जाता है।

ध्यान में चेतना का प्रवाह निरुद्ध नहीं होता, किन्तु उसकी अनेक मार्ग-गामिता निरुद्ध हो जाती है। इसकी तुलना दीप-शिखा से की जा सकती है।

१. ध्यान शतक ५२–६१
२ ज्ञानार्णव ३३–६-८
३. ध्यान शतक १
४. तत्त्वार्थवार्तिक ९–३६

यह वही दीप-शिखा है—इस प्रत्यभिज्ञा में जो एकत्व की अनुभूति है, वही ध्यानात्मक सत्ता में होती है। इसी स्थिति का नाम प्रत्ययैकतानता या ज्ञानान्तरास्पर्शवती चेतना है।

एक विषय में चेतना का अविच्छिन्न प्रवाह धर्म्य-ध्यान है। भावना या जप में गृहीत कल्पना से भिन्न कल्पना तथा गृहीत चिन्तन से भिन्न चिन्तन आते रहते हैं, किन्तु ध्यान-दशा में ऐसा नहीं हो सकता। उसमें गृहीत चिन्तन ही संततिरूप में प्रवाहित होता है। भावना या जप में गृहीत शब्द पुनरावृत्त होता रहता है, किन्तु धर्म्य-ध्यान में ऐसा नहीं होता। पदावलम्बी धर्म्य-ध्यान में जिस पद पर चित्त केन्द्रित किया जाता है, उसी पद में वह चित्त तन्मय हो जाता है। इसीलिए वहाँ पुनरावर्तन अपेक्षित नहीं होता।

जिस प्रकार पदस्थ धर्म्य-ध्यान में चेतना पद के साथ तदात्म हो जाती है, उसी प्रकार रूपस्थ में ध्येयगत रूप तथा पिण्डस्थ में नासाग्र आदि के साथ तदात्म हो जाती है।

भावना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति ध्यान की अर्हता प्राप्त करता है।[1] ध्यान समत्व की स्थिति में प्राप्त होता है। गीता में समत्व को योग कहा गया है—'समत्वंयोग उच्यते।' साम्य की उपलब्धि ममत्व के विसर्जन से हो सकती है। उसका मूल बीज भावना है।[2] स्थानांग सूत्र में धर्म्य-ध्यान की चार भावनाएँ (अनुप्रेक्षाएँ) बताई गई हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जिनभद्र गणि ने ध्यान की अर्हता के लिए चार भावनाओं का निर्देश किया है। वे ये हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य।[3]

अज्ञानावस्था में ध्यान नहीं हो सकता। ज्ञान के सतत अभ्यास से मनोधारण और मन की निर्मलता प्राप्त होती है तथा सार-असार का विवेक प्राप्त होता है। इस स्थिति में अनायास ही धर्म्य-ध्यान उपलब्ध हो जाता है।[4] स्थानांग सूत्र में वाचना, प्रतिपृच्छा, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्ता) को आलम्बन कहा गया है। उन्हीं को ध्यान-शतक में ज्ञानभावना कहा गया है। मन की सम्मूढ दशा में ध्यान नहीं हो सकता। सम्मूढता

१. ध्यान शतक ३०
२. योगशास्त्र ४–५५
३. ध्यान शतक ३०
४. (क) वही ३१
   (ख) तत्त्वार्थ भाष्यानुसारि टीका ९–३८

सन्देह आवेग आदि से प्राप्त होती है। ध्यान वही व्यक्ति कर सकता है, जिसमें आत्म-विश्वास है प्रशम है, स्थैर्य है—एक शब्द में जिसका दृष्टिकोण स्वच्छ है।[1]

चैतन्य की अपवित्र दशा में ध्यान नहीं हो सकता। जो व्यक्ति क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, भय, शोक, घृणा आदि से असंत्रस्त होता है, वही ध्यान कर सकता है।

अलक्ष्य के प्रति अनुरक्त दशा में ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान वही व्यक्ति कर सकता है, जो लक्ष्य (आत्मोदय) के प्रति अनुरक्त और अलक्ष्य (आत्मोदय के बाधक तत्त्वों) के प्रति विरक्त होता है। आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म्य-ध्यान की सिद्धि के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ ; इन चार भावनाओं को ध्येय बतलाया है।[२]

भावनाओं के विषय में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है किन्तु उनकी उपयोगिता अपरिवर्तित रही है और वह यह कि भावना के अभ्यास से मन निर्मल होता है, ध्यान करने में क्षम होता है।

महर्षि पतंजलि ने जिसे जप कहा है, वही जैनयोग में भावना है। भगवान् महावीर ने जिस संवरयोग की साधना की थी, उसका एक प्रारंभिक अंग यह धर्म्य-ध्यान है। पारिभाषिक शब्दों की जटिलता तथा जैन मुनियों की अभ्यास-विमुखता के कारण आज यह वाङ्मय मात्र बना हुआ है। प्राचीन श्रुत तथा अभ्यास के संदर्भ में उसका हार्द स्पष्ट करना आवश्यक है। इसका हार्द जितना स्पष्ट होगा, उतना ही हमारे लिए महावीर का साधना-केन्द्र स्पष्ट होगा।

---

१. ध्यान शतक ३२

२. ज्ञानार्णव २७–४

●

- **जो लोग किसी कारणवश प्रसन्न नहीं रहते, अथवा नाना प्रकार की चिन्ता के जाल में फँस जाते हैं, उनका मानस विकृत हो जाता है।**
- **जीवन जीने के लिए है, खोने के लिए नहीं।**
- **अधिकतर लोग उसी बात के विरोध में बोलते हैं, जिसके बारे में वे कुछ नहीं जानते हैं।**

★

✱ कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

दृष्टिकोणों का दृष्टिकोण

दृष्टिकोण की विविधता सदा रहेगी और यह असम्भव है कि सबका दृष्टिकोण एक हो, इस स्थिति में समन्वय यह है कि हम अपने दृष्टिकोण से देखें, उससे बनी राय को पूरा महत्व दें, पर दूसरों के दृष्टिकोण की उपेक्षा न करें और उन पर अपनी राय न लादें। यह भी एक दृष्टिकोण ही है, पर यह समन्वय का अनेकान्तवादी दृष्टिकोण है—दृष्टिकोणों का दृष्टिकोण, भारत के ज्ञानकोष को भगवान् महावीर का प्रेमोपहार।

दिल्ली गया था। नयी दिल्ली में एक विशाल प्रदर्शनी हो रही थी। मैं भी उसे देखने चला, तो सवारी मिली तांगा। तांगे वाला एक पुराना खानदानी आदमी था—दिल्ली से ईंट-ईंट परिचित। मुझे रास्ते की चीजों का हाल-चाल बताते तांगा हांक रहा था।

बातों-बातों में बोला—'बाबूजी, घूमने का मजा इन कम्बख्त मोटरों, मोटर-रिक्शाओं और बसों ने खो दिया। लाख सवारियाँ हों, पर घूमने का मजा तांगे में है कि धीरे-धीरे चले जा रहे हैं, यह देखा, वह देखा। घर पहुँचे तो लगा कि दुनियां देख आये। अब मोटर में क्या है? जा रहे हैं दौड़े हुए कि जैसे बाढ़ में बहे जा रहे हों, न किसी बिल्डिंग की कारीगरी दिखायी दे, न साइनबोर्डों के नाम पढ़े जाएँ। अब भला कोई पूछे इनसे कि अरे भाई सैर के लिए निकले हो तो सैर की तरह सैर करो, कुछ लुफ्त लो। यह क्या कि जा रहे हो लुढ़के पुढ़के, जैसे आँधी में पत्ते।'

तांगेवाले की भाषा तो लच्छेदार थी ही, कहने का ढंग भी रसीला था। सोचा—'यह आदमी तो विश्व की सवारी-परिषद् में भारत का प्रतिनिधि होने लायक है।'

प्रदर्शनी देखकर लौटा तो मिली टैक्सी। सरदारजी ड्राइवर ही नहीं, स्वयं मालिक भी थे—पुराने खानदानी मोटर वाले। मन में आया, इनकी राय

भी मालूम की जाय। जरा घुमा कर कहा—'जाते समय तो सरदारजी हम तांगे में गये थे—टैक्सी कोई मिली ही नहीं।'

बस बात चल पड़ी और सरदारजी जिस चौराहे पर आये, वह यह था—'बाबूजी, यों बैठ जाओ चाहे तांगे में और चाहे डोली में, पर शाही सवारी तो मोटर ही है। आंधी आये या लू चले और चाहे बादल सौ बार अपनी ऐसी-तैसी खा लें, बस बैठे जा रहे हैं, जैसे मां की गोद हो कि न दलक, न दचक। चले जाओ बैठे हुए, जैसे साहब का ड्राइंग रूम ही उड़ा जा रहा हो। यह बात और किस सवारी में मिल सकती है, बाबूजी?'

मैंने सोचा—'तांगे वाले की बात सुनी थी, मोटर वाले की भी सुन ली। दोनों की बहस आमने-सामने हमारी पार्लियामेण्ट में हो, तो बहुत से गमसूट्ड सदस्य भौंचक देखें, पर प्रश्न तो यह है कि दोनों की भाषा पर नम्बर देने के लिए निर्णायक मुझे बना दिया जाए तो मैं किसे प्रथम और किसे द्वितीय कहूँगा?'

दिल्ली से घर आते समय रेल में एक भले यात्री का साथ रहा। बातों-बातों में तांगे-मोटर का यह दृष्टिकोण-भेद उन्हें सुनाया, तो खूब हँसे और बोले—'दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक संस्मरण मेरा भी है। दिल्ली से अम्बाला जाते समय पिछली बार पैसेंजर गाड़ी में बैठना पड़ा तो बहुत अखरा कि एक सौ कुछ मील के सफर में ८-९ घण्टे लग गये, पर अम्बाला से मैं अपने गांव गया तो सुना कि एक बुढ़िया दूसरी बुढ़िया से कह रही थी—'अब की बार बहिन, रेल में मैंने क्या जुल्म देखा कि मेल-गाड़ी में बैठने को टेम तो कम मिलता है, पर किराया देना पड़ता है ज्यादा।' सुनकर मुझे हँसी आयी कि बुढ़िया का गणित एकदम ठीक है कि 'जितनी देर बैठाओ, उतना पैसा लो यह क्या कि बैठाते हो पैसेंजर से कम समय और किराया लेते हो अधिक।'

सोचा—'दृष्टिकोण तर्कों की रचना में कितना चतुर होता है?'

मेरे नगर में पहले बहुत तांगे थे, पर विभाजन के बाद साइकिल-रिक्शों का ऐसा जोर बँधा कि तांगे उंगलियों पर गिने रह गये। उस दिन नहर से लौटते हुए देर हो गयी तो तांगे में बैठ गया। तांगे वाला अपना पुराना दोस्त, बातें चल निकलीं—'कहो भैया, कैसी गुजर रही है? अब तो मुल्क आजाद है—पहले की तरह कोई पुलिस-वुलिस वाला तो तंग नहीं करता?'

'बाबू, पुलिस-बुलिस वाला तो कोई तंग नहीं करता, बड़े दारोगाजी भी

बैठते हैं, तो पूरे पैसे देते हैं, पर बाबूजी, इन रिक्शाओं ने आजादी का मजा बिगाड़ दिया।'

'रिक्शे वालों ने आजादी का मजा बिगाड़ दिया ? क्या मतलब तुम्हारी बात का ?' आश्चर्य से मैंने पूछा तो बोला वह—'जवाहरलाल ने अंगरेजों को तो हिन्दुस्तान से भगा दिया, पर ये रिक्शे उनसे नहीं भगाये गये।'

'हां, रिक्शों से तांगों को बहुत नुकसान हुआ है भैया।' मैंने उसे हमदर्दी दी तो उलट कर बोला—'ना बाबूजी, यह बात नहीं है, बात यह है कि ये रिक्शे बहुत मनहूस हैं।'

'कैसे ?'

'बाबूजी, तांगे में घोड़ा जुड़ता है। तांगे वाला है, घास वाला है, नरनाल वाला है, लुहार-बढ़ई है, मालिश मलने वाला है और इनके बीबी-बच्चे हैं। घोड़े की कमाई में इन सब का साझा है, सब को रोटी मिलती है रिक्शे में यह बात कहां है ?'

घर आ गया था, मैं उतर गया, बात यहीं रह गयी, पर रिक्शे के सम्बन्ध में तांगे का दृष्टिकोण मुझे मिल चुका था। तीन-चार दिन बाद मैं फिर नहर गया तो रिक्शे में था। मुझे तांगेवाले की बात याद आयी तो सोचा तांगे के सम्बन्ध में रिक्शे वाले की राय मालूम हो तो तस्वीर पूरी हो जाए।

कहा—'सुना है भैया, शहर मे फिर तांगों की तादाद बढ़ने वाली है ?' बोला—'बाबूजी, सरकार मालिक है, चाहे जो करे, पर अकल की बात तो यह है कि जितने तांगे हैं, उन्हें भी बन्द कर दिया जाए।'

'क्यों भैया ?'

'बाबूजी, तांगा नरक की जड़ है। आप अपने घर के बाहर का फर्श जीभ से चाटकर शीशे-सा चमका दो, पर दस मिनिट भी साफ नहीं रह सकता। तांगा आकर खड़ा हुआ कि घोड़े ने पेशाब किया। अब उसके पास तो पास, बदबू के मारे अपने तिमंजले पर भी नहीं बैठ सकते।'

जरा चुप रहकर वह बोला—'बाबूजी, तांगे का नरक इन भंगियों से पूछो। सुबह ही सुबह बेचारे सड़क साफ करते हैं। कमर टूट जाती है और हाथ ऐंठ जाते हैं, पर वे झाड़ू लगाकर सीधे भी नहीं हो पाते कि तांगे का घोड़ा फुदक-फुदक लीद करता चला जाता है और सारी सड़क ऐसी हो जाती है जैसे—कोढ़ी के हाथ-पैर। अब बताओ तांगा नरक की जड़ है या नहीं ?'

सुनकर सोचा—'तांगेवाला हाईकोर्ट तक पहुँचा, तो रिक्शेवाला सुप्रीम-कोर्ट तक और दोनों इतने बड़े वकील हैं कि सैकड़ों एल-एल० बी० खड़े उनका मुंह ताका करें।'

हँसी आयी, तो चिन्तन की बेल में कोंपल भी फूटी। आखिर क्या बात हुई यह ? यह बात हुई दृष्टिकोण की। हम जीवन में बहुत कुछ देखते हैं, पर देखने का ही कोई विशेष महत्व नहीं है। बम्बई मेल में बैठकर हम दिल्ली से बम्बई जाते हैं, तो रास्ते में क्या नहीं देखते, पर क्या देखते हैं ? देखने का महत्व तब है जब देखते समय हमारी खोपड़ी पर जड़ी—चमकती दो आँखों के साथ दिल की गुदड़ी में छिपी ज्ञान की आँख भी खुली हो। पर इससे भी बड़ा महत्व है दृष्टिकोण का—ऐंगिल आफ विजन (Angle of vision) का, इसका कि किसने किस चीज को किस नजर से देखा।

दिल्ली का तांगे वाला और टैक्सी वाला, रेल में मिले बन्धु के गांव की बुढ़िया, मेरे नगर का वह तांगे वाला और यह रिक्शामास्टर—सब अपनी-अपनी जगह खड़े ताजमहल की तस्वीर खींच रहे हैं। सबकी तस्वीर अलग है, हालांकि ताजमहल एक है। क्यों ? क्योंकि सबका दृष्टिकोण एक नहीं।

संसार में दृष्टिकोण के भेद से मतभेद जन्म लेता है, मतभेद को महत्त्व देने से मन-भेद बन जाता है। तब उपजता है—क्रोध, तब उपजती है—हिंसा, तब उमड़ती है—प्रतिहिंसा और ठन जाते हैं—युद्ध-विनाश के खेल।

फिर उपाय क्या है ? क्या यह कि सबको एक ही जगह खड़ा कर दिया जाये कि सब एक ही जगह से तस्वीर उतारें, सबकी तस्वीर एक ही हो, मतभेद की सम्भावना ही समाप्त हो जाये ?

हां, यही उपाय है, पर प्रश्न है कि इस उपाय का उपाय क्या है ? सबको एक ही जगह कैसे खड़ा किया जाये ? सबका दृष्टिकोण एक ही कैसे बनाया जाये ?

एक उपाय है अस्त्र का, एक उपाय है विचार का। अस्त्र है राजनीति का साधन, विचार है धर्म का साधन, पर क्या दोनों में से किसी एक को सफलता मिल सकती है ? अतीत और वर्तमान में हिरण्यकशिपु और कंस एवं हिटलर और स्तालिन राजनीति के अग्रदूत थे, तो अतीत और वर्तमान में वे धर्म के अग्रदूत, जिन्होंने ईसा को सूली पर टांगा, ब्रूनों को जिन्दा जलाया, दयानन्द को कांच पिलाया और गांधी के सीने में गोलियां मारीं, पर क्या उन्हें सफलता मिली ?

इतिहास साक्षी है—दोनों असफल रहे। और विज्ञान साक्षी है—दोनों सदा असफल रहेंगे। क्यों ? क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्ममयी है, उसका स्वभाव है—विविधता। हर आदमी का चेहरा अलग है, आवाज अलग है, रुचि अलग है। इस स्थिति में सबके दृष्टिकोण की एकता कैसे सम्भव है ? फिर विज्ञान और कला का विश्व-व्यापी विकास इस अनेकता के कारण ही तो हुआ है। अनेकता न हो, तो यह संसार—संसार कहाँ रहे ?

इस बात का क्या अर्थ ? क्या यह कि दृष्टिकोण की विविधता सदा रहेगी और उससे मतभेद, मनभेद, क्रोध, हिंसा, प्रतिहिंसा और युद्ध होते रहेंगे ? यदि हाँ, तो क्या विश्वशान्ति की चिर-भावना एक खयाली पुलाव ही है ?

यह क्या बात हुई ? और क्या कहा इस बात ने ? यह बात हुई दृष्टिकोण की और इसने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि—दृष्टिकोण की विविधता सदा रहेगी, तो क्या उससे मतभेद, मनभेद, क्रोध, हिंसा, प्रतिहिंसा और युद्ध सदा होते रहेंगे और इस प्रकार विश्वशान्ति की चिर-भावना एक खयाली पुलाव ही है ?

उत्तर अपने में परिपूर्ण होकर भी सूक्ष्म है और आवश्यकता इस बात की है कि उसे जरा ध्यान से समझा जाए। दृष्टिकोण की विविधता सदा रहेगी और यह असम्भव है कि सबका दृष्टिकोण एक हो, इस स्थिति में समन्वय यह है कि हम अपने दृष्टिकोण से देखें, उससे बनी राय को पूरा महत्त्व दें, पर दूसरों के दृष्टिकोण की उपेक्षा न करें। और उन पर अपनी राय न लादें।

दूसरे की राय सुनकर भी सम्भव है, मुझे मेरी राय ही ठीक जँचे और मैं उस पर दृढ़ रहूँ, पर तब भी मैं यह क्यों न मानूँ कि दूसरे के लिए उसकी राय भी उतनी ही ठीक है।

फिर यह भी तो सम्भव है कि स्थान और परिस्थिति के भेद से अपनी-अपनी जगह दोनों ही बातें ठीक हों। मैं अपने पिता का पुत्र हूँ—यह ठीक ही है, पर मैं पुत्र ही तो नहीं हूँ, अपने पुत्र का पिता भी तो हूँ। रहमान मेरे पास अपनी परेशानी में आया, मैंने उसे १० रुपए दिये। सबसे कहता है—उनका हाथ बड़ा मुलायम है, पर जयगोपाल आया तो मुझे परिस्थिति-वश इंकार करना पड़ा। सबसे कहता है—उनका हाथ बड़ा सख्त है। अब कौन गलत है और कौन सही ?

तो हम अपनी राय पर दृढ़ रहें, पर दूसरे की राय पर अपनी राय न चढ़ायें, उसे नगण्य न मानें। इससे मतभेद के आगे एक दीवार खिच जाती है और मनभेद, क्रोध, हिंसा, प्रतिहिंसा और युद्ध नहीं हो पाते। यह भी एक दृष्टिकोण ही है, पर यह समन्वय का अनेकान्तवादी-दृष्टिकोण है— दृष्टि-कोणों का दृष्टिकोण, भारत के ज्ञानकोष को भगवान् महावीर का प्रेमोपहार।

—(वी० नि० विचार-सेवा, इन्दौर के सौजन्य से)

●

- उन्नति का वास्तविक आधार प्रतिभा है। कुछ लोग जल्दी ही चमकते हैं, किन्तु प्रतिभा के अभाव में शीघ्र ही पुनः गुमनामी के अन्धकार में लोप हो जाते हैं।
- पाप करने वाला उतना दोषी नहीं होता, जितना कि कराने वाला होता है।
- जिसके पास शक्ति है, वही जगत का स्रष्टा ईश्वर है। शक्तिहीन के लिए धरती पर जीने का भी अधिकार नहीं है।
- शक्तिहीन दुर्बल व्यक्ति के लिए विश्व में कहीं कोई सम्मान की जगह नहीं है।
- क्षमा और दीनता में अन्तर है। दीनता दुर्बलता का प्रतीक है, जबकि क्षमा शक्तिशाली का सद्गुण है।
- देवी के आगे बलि बकरे की दी जाती है, बाघ और सिंह की नहीं। क्यों ऐसा है ? इसका मर्म यह है कि दुर्बल ही मौत के मुंह में जाता है। देव भी दुर्बल को ही सताते हैं, कहा है किसी ने 'देवो दुर्बल घातकः।'
- अहिंसा और सत्य भी शक्तिशाली होने चाहिएँ। शक्तिहीन अहिंसा कायरता हो जाती है, और सत्य कोरा दंभ !

★

★ डा० नेमीचन्द जैन

अनेकान्तवाद : आत्मा की आँख

सत्य का खोजी केवल आँख से ही नहीं देखता, आँख के पार भी बहुत कुछ देखता है। वह अपनी ही खोज पर अटल नहीं रहता, दूसरों द्वारा स्थापित खोज-परम्पराओं का भी उपयोग करता है। जो विज्ञानी ज्ञान को उस तक ले आया है, उसके आगे वह बड़ी सजगता से पाँव रखता जाता है। 'स्यात्' के वैभव को संदेह की नजर से पाना असंभव है, उसे पक्षातीत और सम्प्रदायातीत चित्त से ही पाया जा सकता है।

स्वानुभूति में प्रवेश :

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। उसमें जानने की प्यास है, सत्य की तड़प है। वह सिर्फ जीना ही नहीं, जानना भी चाहता है। उसका जानना केवल स्थूल तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह गहराई में सूक्ष्मतम को जानने के भी प्रयत्न करता आ रहा है। इसमें उसे निराशाएं हुई हैं, किन्तु उसने आशा का आंचल नहीं छोड़ा है। सत्यान्वेषण की यह यात्रा वह बिना थके अविराम कर रहा है। उसके भीतर बैठी सम्यक्त्व को तलाशने वाली चिनगारी उसको ज्ञान के लिए गरमाये रखती है, और इसीलिए वह सतत इस खोज में कुछ नये आयाम जोड़ता जाता है। उसकी इन्द्रियां सत्य को ग्रहण करना चाहती हैं, किन्तु उनकी अपनी सीमा है संकोच है। अत: यह उनके बूते का काम नहीं है, यही कारण है कि आदमी ने अपने अन्तरंग-शक्ति-स्रोतों को खोजा है और जहाँ-जब इन्द्रियों ने आत्मसमर्पण किया है, वहां-तब उसने उस इन्द्रियातीत ऊर्जा का उपयोग किया है। उसकी यह ज्ञान-ऊर्जा अनन्त है। वह जानी हुई नहीं है, दिखलायी भी नहीं देती; इसी-लिए तत्काल भरोसा नहीं होता, किन्तु स्वानुभूति में प्रवेश करने पर इसे जाना जा सकता है और फिर कोई बात अव्यक्त या अप्रकट नहीं रह जाती।

सत्य बहुकोणी, वस्तु अनेकधर्मा :

वह इस तथ्य को भली-भाँति जान गया है कि सत्य बहुकोणी है और उसे निरपेक्ष जानना असंभव है। उसकी एक मुद्रा या तर्ज नहीं है, अनेक हैं। और इन समस्त मुद्राओं या रूपाकारों को एक ही समय में युगपत् जाना या देखा नहीं जा सकता। इस तरह युगपत् ज्ञान और कथन संभव नहीं है, इसीलिए वस्तु में स्थित अन्तर्विरोधी मुद्राओं को युगपत् याने एक ही समय में जानने के लिए किसी विशिष्ट चिन्तन-प्रक्रिया और पद्धति की जरूरत है। या तो आत्मा को इतना उघाड लिया जाए कि वह वस्तु या स्थिति की समस्त पर्यायों को युगपत् देख सके या फिर इनके युगपत् बोध के लिए भाषा की किसी विलक्षण पद्धति का आविष्कार किया जाए। सत्य को केवल एक कोण से देखना-जानना-कहना असंभव है; इस तरह उसकी समग्रता अव्यक्त रह जाती है। आम भाषा लाचार है, वह एक समय में एक ही अभिधार्थ प्रकट कर सकती है, जबकि सत्य बहुकोणी है या वस्तु अनेकधर्मा है। कष्टप्रद यह इसलिए भी है कि वस्तु की ये विशेषताएँ या गुणधर्म परस्पर विरोधी भी हैं, तथापि एक गहरे सहअस्तित्व में सांस ले रहे हैं, बने हुए हैं, साधारण आदमी के लिए यह संभव नहीं है। समस्त लोक परस्परविरोधी गुणधर्मों का एक गुलदस्ता है, इस तथ्य को चाहे कितना ही काव्यात्मक क्यों न बनाया जाए, आसानी से जानना संभव नहीं है। ज्ञान के लिए दो शर्तें चाहिये—(१) अनाग्रह; (२) पक्षातिक्रान्त हृदय। जो चित्त किसी एक छोर पर पहुँच कर रुक जाता है, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता; और जो उस छोर को अन्तिम नहीं मानता, वह समग्रता तक धीमे-धीमे ही सही, पहुँच जाता है।

संभावनाओं का आतिथ्य :

तत्त्व का खोजी किसी भी बात को सहसा स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता। वह उसे अनेक स्थितियों और विविध संदर्भों में बिठाकर उसकी विशेषताओं का उत्खनन करता है। वह अन्तिम तल तक जाने की कोशिश करता है, निराश होना तो वह जानता ही नहीं; असफलता उसके कोश के बाहर का शब्द है। वह संभावनाओं में विश्वास करता है और हर संभावना को पकड़ कर उसका भावभीना आतिथ्य करता है। उसकी सम्मानजनक परख करता है। तर्क की कसौटी पर खरा उतरते ही वह उसे स्वीकार करता है। जो बात उसे तर्कसम्मत नहीं दिखायी देती, उसे वह अस्वीकार

नहीं करता, वरन् उसे भी भावी संभावना की पेटी में डाल रखता है। इस तरह वह आग्रह की अपेक्षा ग्रहण में जाता है। वह हर 'भी' को टटोलता है और 'ही' तक जाने से पहले उस वस्तु को सभी ओर से तलाशने की कोशिश करता है।

जानने को बहुत कुछ :

तथ्य यह है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञानरूप है। वह दर्पणवत् है, संसार में मोर्चा खाया हुआ दर्पण। दर्पण में प्रतिबिम्ब आते हैं। ये प्रतिबिम्ब एक स्थिति के प्रतिनिधि ही होते हैं। ज्ञेय का आकार दर्पण में आता है; ज्ञेयाकार ज्ञान नहीं है। ज्ञान इन आकृतियों से भिन्न एक समग्र-सकल अनुभूति है। मुश्किल यह है कि ज्ञेयाकारों को ही बहुधा अन्तिम मानकर उसे या उसके किसी भाग को वस्तु मान लिया जाता है। सारा तमाशा ज्ञेयाकारों के द्वन्द्व का है। जो ज्ञेय है, वह पूरे दिगम्बरत्व में अप्रकट है; जितना प्रकट है, उतना ग्राह्य है, किन्तु केवल वही नहीं है, यह मान लेना जरूरी है। जो और जितना खुल गया है, वह और उतना ही उस वस्तु या स्थिति के सम्बन्ध में अन्तिम नहीं है। उसके आगे सकलता है, समग्रता है, और जानने को बहुत कुछ अवशिष्ट है। इसलिए इस ज्ञेय को सकलता में जानने की कोई ऐसी निर्दोष प्रणाली चाहिये जो विरोधों का समन्वय करती हो और वास्तविकता तक सीधी पहुँच बनाती हो।

एक आँख, अनेक मुद्राएँ :

इस संदर्भ में हम एक और उदाहरण ले सकेंगे। मान लीजिये, एक अत्यधिक संवेदनशील फोटोग्राफिक केमरा है या कोई दूरबीन या खुर्दबीन है। अब आप ही बताएँ कि उक्त यन्त्र किसी एक वस्तु को एक ही समय में उसकी सम्पूर्णता में देख सकता है? यह सब युगपत् संभव नहीं है। यदि पानी की बूँद को ही समझना हो, तो उसके अनेक चित्र होंगे; केमरे की आँख में, खुर्दबीन के तले। आँखों में दर्ज अनेक स्थितियों में से या प्राप्त कई तस्वीरों में से ही इस बूँद के संपूर्ण व्यक्तित्व को जान पाना संभव होगा। मान लीजिये यदि किसी केमरे को किसी आदमी की मुखमुद्राओं के चित्र लेना है, तो क्या कोई ऐसी तस्वीर हो सकती है, जो उसकी समस्त मुद्राओं को एक साथ सामने रख दे। केमरा एक आँख में यानी एक पलक में एक ही स्थिति को दर्ज करेगा, दूसरी पलक में दूसरी, तीसरी में तीसरी। इस तरह वह विविध मुद्राओं में एक ही व्यक्ति को रख देगा। यहाँ विविध और रेखांकित शब्द हैं। जब एक ही वस्तु या आदमी के इतने रूपाकार हो सकते हैं,

तो फिर किसी एक पक्ष को थाम कर उस पर अटल हो जाने से सत्य को उघाड़ना संभव नहीं है। सत्य को उसकी समग्रता में ग्रहण करने के लिए उसकी सभी संभाव्य स्थितियों की खोज जरूरी होगी। 'स्याद्वाद' का श्रीगणेश यहीं से है।

'स्यात्' के अजाने अर्थ :

'स्यात्' शब्द की कथा बड़ी विलक्षण और लम्बी है। वाकई यह एक रोचक उपन्यास से कम नहीं है। सही इतिहास यह है कि इस शब्द के साथ बड़े जुल्म हुए हैं। इसे अभी तक किसी जैनेतर ने ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न ही नही किया। जो इसे जान पाये हैं, वे चुप हैं, उसका उपयोग कर रहे हैं और उनके मन का कोलाहल कुछ शान्त हुआ-सा है। 'स्यात्' को अधिकांश विद्वान् 'संशय, अनिश्चय, शायद, कदाचित्' इत्यादि का पर्याय मान कर चले हैं। यह ठीक नहीं है। 'स्यात्' संशय नहीं है, निश्चय तक पहुँचने की एक स्वस्थ, वैज्ञानिक और तर्कसम्मत प्रणाली है। यह माध्यस्थ्य वृत्ति है। 'स्यात्' निपात है; अर्थात् इसने अपने अर्थ को इस तरह विकसित कर लिया है कि अब वह व्युत्पत्ति-विज्ञान की प्रक्रिया से आगे खिसक गया है। वह व्याकरण के अनुशासन में से निकल कर जीवन के अनुशासन में आ गया है; याने सत्य को झेलने और पाने की कसौटी बन गया है। 'स्यात्' का अर्थ है कुछ जाना गया है बहुत कुछ अजाना रह गया है; घबराओ मत, इसे भी खोजो; यह भी मिलेगा। किसी भी स्थिति को अन्तिम मत मानो, संभावना को स्वीकार करो उसकी प्रतीक्षा करो, उसके लिए वैचारिक तपश्चर्या करो और उपलब्ध करो। जब हम कौए को काला कहते हैं, तो हमारा यह कथन अन्तिम नहीं है। वह काला है, तो निरपेक्ष काला नहीं है। किसी पहचान के संदर्भ में काला है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि 'स्यात् वह काला है' तो हम यह नहीं कहते कि वह काला नहीं है या शायद वह काला है, बल्कि हम यह कहते हैं कि वह काला भी है, किन्तु यह रंग अन्तिम नहीं है; उसके पर काले हैं, रुधिर लाल है, अस्थियाँ सफेद हैं। यह स्थिति स्वीकार या अस्वीकार की नहीं है, खोज की है। 'स्यात्' अनिश्चय का नहीं, खोज का शब्द है। हमारी प्यास बुझी नहीं है, वह अभी सांस ले रही है; स्यात्' हमारी इस जीवन्तता का प्रतीक है।

आँख के पार बहुत कुछ :

'स्यात्' की कथा रोचक है, महत्व की है, ऐतिहासिक है, क्रान्तिकारी है। चिन्तन के और विज्ञान के क्षेत्र में वह एक स्थापित प्रणाली है। उसमें विरोधों

का परिहार तो है ही, इसके अतिरिक्त ज्ञान के नये क्षितिजों की पड़ताल भी है। सत्य का खोजी केवल आंख से ही नहीं देखता, आंख से पार भी बहुत कुछ देखता है। वह अपनी ही खोज पर अटल नहीं रहता, दूसरों द्वारा स्थापित खोज-परम्पराओं का भी उपयोग करता है। जो विज्ञानी ज्ञान को उस तक ले आया है, उसके आगे वह बड़ी सजगता से पाँव रखता जाता है। 'स्यात्' के वैभव को संदेह की नजर से पाना असंभव है, उसे पक्षातीत और सम्प्रदायातीत चित्त से ही पाया जा सकता है। कोई प्रणाली किसी एक संप्रदाय या धर्म की है इसलिए जीवन में उसका प्रवेश निषिद्ध है, यह तंगदिली है। अब वह सब टूट गया है, और हम विज्ञान के युग में हैं। जैनधर्म या स्याद्वाद का प्रहार भी इसी वैचारिक असहिष्णुता और संकीर्णता पर है।

तोड़ो, किन्तु पाओ पूरा :

इसलिए सबसे पहिला काम यह होना चाहिये कि इस खजाने को अर्थात् 'स्यात्' के ऐश्वर्य को हम उन्मुक्त कर दें और बतायें कि सत्य बहुकोणी है, और उसका हरेक कोण ज्ञातव्य है। जो हमारी झोली में है, वह अन्तिम नहीं है, उसका बहुत कुछ ऐसा है जिसका एकत्रण जरूरी है। यदि यह कहा गया कि यह जो मैं लाया हूँ या कह रहा हूँ, वह अन्तिम है, तो फिर ऐसे दुराग्रह से सत्य की कोई मैत्री नहीं है। सत्य उनके साथ जीता है, जो उसके साथ उसकी समस्त पर्यायों को खोजने की कोशिश में बड़ी उदारता में जीवित हैं। 'स्यात्' का एक वैज्ञानिक, एक सांस्कृतिक और एक आध्यात्मिक आयाम है। यह जैन तीर्थंकरों द्वारा सदियों पूर्व अपनायी गयी चिन्तन-प्रक्रिया है। इसका सबसे महत्व का पहलू यह है कि यह हर वस्तु को सापेक्षा में ढूँढ़ती है। सात दृष्टियों से उसे ढूँढ़कर उपलब्ध करने पर इसका बल है। इसे जैन-शब्दावली में 'स्याद्वाद' के सात भंग कहा जाता है। स्थिति को वहाँ तक तोड़ो, जहाँ वह पूरी तरह प्रकट होने पर विवश हो जाए, तोड़ो किन्तु पाओ उसे पूरा। खण्डन में समग्रता का आकलन-अन्वेषण इस प्रणाली की विलक्षणता है। बालक को यह बताना जरूरी है कि लकड़ी के जो चौकोर घन उसके पास हैं, उनसे वह कोई महल या सिंहद्वार बना सकता है; किन्तु इनमें से कोई भी टुकड़ा महल नहीं है। इन टुकड़ों में से कई आकार गढ़े जा सकते हैं। बालोद्यान (Kindergarten) प्रणाली में से अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सहज-बोध जन्म ले सकता है।

हमें हाथी दिखाओ :

हमारा विश्वास है कि चिन्तन-प्रणाली इतने महत्व की है कि इससे

सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक और नामालूम कितने विवादों का समाधान हो सकता है। विरोधों के शमन में तो इस प्रणाली का उदय ही हुआ है। 'स्याद्वाद', असल में, एक ऐसा बिन्दु है, जहां से सत्य को इधर के, उधर के—दोनों ही तटों पर देखा और पाया जा सकता है। अन्धों ने जब महावत से कहा—'हमें हाथी दिखाओ, बताओ वह कैसा है ?' तो महावत ने कहा—'इसमें मेरी क्या जरूरत है, यह हाथी, ये तुम ; अपनी हथेलियों की आँखों से देख लो।' हथेली की आँख छोटी पड़ गयी। उसने खण्ड को अन्तिम माना। समग्रता टूट गयी। तो फिर महावत ने उन्हें आँख वाले के पास भेजा, उसने सबकी हथेलियाँ जोड़कर हाथी बना दिया। अंधों को हाथी मिल गया। स्याद्वाद उस महावत की जगह है जो सत्य को अखण्ड देना चाहता है और आदमी उसके हाथी को अपनी पूर्वाग्रही हथेलियों में समेटना चाहता है। यह असंभव ही है। यह है 'स्यात्' की कथा।

●

- कर्म दूषित हो गया हो तो ज्यादा घबराने की बात नहीं, वृत्ति दूषित न होने दो। वृत्ति को दूषित होने से बचाने का उपाय है—मन को भी दोषों से बचाने का प्रयत्न करना।
- पाप को पेट में मत रख, उगल दे। जहर तो पेट में रख लेने से शरीर को ही मारता है। किन्तु पाप तो सारे सत्य को ही मिटा देता है।
- जहां गुप्तता है, वहां कोई बुराई अवश्य है। बुराई को छिपाना, बुराई को बढ़ाना है।
- विकार, चोरों की तरह, गाफिल मनुष्य के घर में ही सेंध लगाते हैं। जागरूकता उनके हमले से बचाव की सबसे बड़ी ढाल है।
- जिस प्रकार जहाज का कप्तान अपनी नोट-बुक में यात्रा तथा जहाज सम्बन्धी बातें लिखता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष भाव से प्रतिदिन के कार्य-क्रम के बारे में लिखना चाहिए और अगले दिन उसे सोचना चाहिए कि उसके काम में जो त्रुटियां और दोष रह गए हैं, उनको दूर करने में वह कहां तक सफल हुआ है।

★

✱ दर्शनाचार्य साध्वी चन्दना

प्रश्न और उत्तर

प्रश्न—कर्म और पुरुषार्थ—दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? जीवन कर्म-चक्र के अनुसार निश्चित एवं नियंत्रित है, अथवा वह पुरुषार्थ के द्वारा निर्धारित होता है ?

उत्तर—मैं आपको आपके प्रश्न का उत्तर दूँ, उसके पूर्व एक छोटी-सी बात कह देना चाहती हूँ। मैंने एक वृक्ष देखा था, उसकी जड़ धरती के अन्दर दबी हुई है, यह जड़ वृक्ष का सिंचन करती है; जड़ हरी है तो वृक्ष भी हरा है, जड़ सूख जाती है तो वृक्ष भी सूख जाता है। वृक्ष का जीवन उसकी जड़ पर ही निर्भर करता है। जड़ आर्द्रता देती है, भोजन देती है, और पोषण करती है, तो शाखा एवं प्रशाखाएँ फूट पड़ती हैं, फूल और फल उस पर खिल उठते हैं। जड़ वृक्ष को जीवन-दान तो देती है, लेकिन वह बिल्कुल अज्ञात है, रहस्यमय है और भूमिगत (Under-ground) है। निश्चय ही बाहर में उसका किसी प्रकार का प्रदर्शन नहीं है।

बीज के आधार पर वृक्ष पूर्णतया नियोजित है। जो बीज एक दिन मिट्टी में अन्दर दबा पड़ा था; जल, पवन और प्रकाश का सहयोग मिलते ही उसने अपनी यात्रा दो ओर प्रारंभ की—एक भीतर की ओर, और दूसरी बाहर की ओर। आश्चर्य यह है कि बीज की यात्रा का अन्तिम पड़ाव वहीं पर हुआ, जहाँ से उसने यात्रा प्रारंभ की थी। अन्दर की ओर बढ़ने वाले अंकुर ने बीज के अनुरूप ही भीतर से खोज और छानबीन के साथ जीवन-शक्ति भेजी थी। यही कारण है कि नीम के पेड़ पर सदा निबौली ही लगती है, आम कभी नहीं। कमल पर कभी गुलाब नहीं खिलता। प्रकृति के राज्य में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं है।

मैं कहती हूँ कि यही तथ्य जीवन के सम्बन्ध में भी है। मनुष्य का समग्र जीवन उसके अदृष्ट से नियोजित है, उसके कर्म से आबद्ध है। जल के अनन्त

प्रवाह में उठने वाली प्रत्येक तरंग, अपनी पूर्व तरंग का फल है। जल की एक भी लहर कभी अकारण नहीं होती। हर लहर अपने से आगे आने वाली दूसरी लहर को उत्पन्न करने में पूर्णतः सक्षम है। याद रखिए, बीज बीज से ही उत्पन्न होता है, और बीज बीज को ही उत्पन्न करता है। इसी प्रकार अतीत का कर्म भविष्य में होकर अनागत को उत्पन्न करता है, पर भविष्य का कर्म अतीत के कर्म का ही प्रतिफलन है। जीवन की यह एक अनन्त धारा है। जीवन-धारा जन्म और मरण के दो तटों के बीच में से प्रवाहित होती है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि वर्त्तमान जीवन पूर्व-कर्म से पूर्णतः नियंत्रित है। लेकिन इसके साथ एक बात अवश्य है कि जिस प्रकार वृक्ष के फल को कोई तोड़ लेता है, उसकी शाखा कोई काट लेता है, अथवा तीव्र पवन के आघात से वह स्वयं ही झड़ पड़ता है. बाहर की धूप और हवा भी उस पर अपना प्रभाव छोड़ती है। यह पूर्व नियोजित नही है, न बीज में और न जड़ में। इसी प्रकार, हमारे जीवन का निर्माण हमारे अपने कर्म से ही है। किन्तु कुछ ऐसी बातें स्वीकार की जा सकती हैं, जिनका हमारे कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवन का वह भाग पुरुषार्थ के लिए छोड़ दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि कर्म ही अधिक प्रबल है, पुरुषार्थ का हिस्सा बहुत कम।

प्रश्न—कर्म को प्रधानता देने पर मनुष्य पुरुषार्थ हीन हो जायगा, जब कि पुरुषार्थ को प्रधानता देने से मनुष्य अधिक क्रियाशील रहेगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज निष्क्रिय लोगों की नहीं, अपितु कर्म-रत लोगों की आवश्यकता है।

उत्तर—मैं यह कहना चाहती हूं कि कर्म को प्रधानता देने का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि मनुष्य निष्क्रिय होकर बैठ जाय। हमें सत्य स्थिति का, जीवन के एक महत्त्वपूर्ण रहस्य का पता लगाना ही होगा। जब मनुष्य यह समझेगा कि मेरा जीवन मेरे अपने ही कर्म से नियंत्रित है, तब निश्चय ही वह अर्थहीन विकल्पो मे मुक्त रहेगा और पुरुषार्थ के अहंकार से भी मुक्त रहेगा। वस्तुतः पुरुषार्थहीन होने में उतनी परेशानी नहीं है, जितनी परेशानी कर्त्तृत्व के अहंकार के विकल्प से होती है। पुरुषार्थ-हीनता का दायित्व बहुत कुछ कर्मवाद पर है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। लेकिन कर्म के कर्त्तृत्व से तथा पुरुषार्थ के अहंकार से मानव-जाति के इतिहास में मानव की धरती पर आज तक जितने युद्ध, संघर्ष, उपद्रव और विक्षेप हुए हैं उतने और किसी अन्य कारण से नहीं।

मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य को कर्मरत बनाए रखने के लिए इस दुनियाँ में साधनों की कोई कमी नहीं है, कमी है उसे विश्राम देने वाले साधनों की, और कर्मवाद मनुष्य को विश्राम देता है। दुःख और ताप से पीड़ित व्यक्ति को एक मानसिक समाधान देता है। व्यथा के बीज को स्वयं के अन्दर ही खोज करने की बलवती प्रेरणा देता है। कर्मवाद कहता है कि सब कुछ जवाबदारी तुम्हारी अपनी है। सुख मिला है तो वह तुम्हारा अपना ही है, और दुःख मिला है तो वह भी तुम्हारा अपना ही है। मैं समझती हूँ, अपनी जवाबदारी का स्मरण होते ही व्यक्ति शान्त हो जाता है, सहिष्णु बन जाता है। इस प्रकार कर्म की प्रधानता ने मनुष्य को अधिक स्वस्थ बनाया है, चिन्ताशून्य बनाया है, और उसे अपनी सीमा का अतिक्रमण करने से रोका है।

मनुष्य ने पुरुषार्थ के साथ ही पुरुषार्थ के अहंकार को भी उत्पन्न किया है। आप क्या और कितना पुरुषार्थ कर सकते हैं ? क्या आप किसी चाँद और तारों के प्रकाश को रोक सकते हैं ? क्या आप अपनी मृत्यु को रोक सकते हैं ? क्या आप अपने प्रबलतम पुरुषार्थ के द्वारा नीम के पेड़ पर आम के फल लगा सकते हैं ? क्या आपका पुरुषार्थ बबूल के पेड़ पर गुलाब महका सकता है ? क्या कर सकता है मनुष्य ? कितना कर सकता है वह ? निश्चित ही उसके पुरुषार्थ की एक सीमा है। वह किसी पौधे को पानी दे सकता है, खाद दे सकता है। मिट्टी में से वह अपना घर बना सकता है, घड़ा बना सकता है। बताइए, इसके अतिरिक्त वह और क्या कर सकता है ? मनुष्य की शक्ति की इतनी सीमा होने पर भी वह सोचा करता है—मैं यह कर सकता हूँ, मैं वह कर सकता हूँ। इस अहंकार के अतिरिक्त उसने आज तक किया भी क्या है ? वह अन्य कुछ कर सके या न कर सके, पर करने का अहंकार तो वह करता ही है।

मैं इस बात को स्वीकार कर लेती हूँ कि कर्म की प्रधानता ने निश्चित ही कुछ निष्कर्मण्यता पैदा की होगी, लेकिन पुरुषार्थ की प्रधानता ने झूठे अहंकार पैदा किए हैं, मेरे अपने विचार में निष्कर्मण्यता की अपेक्षा जगत् के झूठे अहंकार अधिक खतरनाक सिद्ध हुए हैं। कर्म की प्रधानता एक तथ्य (Fact) है, एक सत्य है जबकि पुरुषार्थ केवल तर्कसंगत सिद्धान्त (Principle) है। और सिद्धान्त सदा बनते और बिगड़ते रहे हैं। तथ्य कभी बनते हैं और बिगड़ते हैं, पर सत्य सनातन है। कर्म अतीत को देखता है और पुरुषार्थ भविष्य को। अतीत और भविष्य—इन दोनों में से यदि किसी एक का ही चुनाव करना हो तो अतीत का ही किया जा सकता है, क्योंकि

पुरुषार्थ तो अन्धकारमय भविष्य की ओर एक छलांग है, एक स्वप्न है; और स्वप्न सदा सत्य ही नहीं हुआ करते। यही है हमारे जीवन की स्थिति।

प्रश्न—जैसे जड़ को नियति के आधीन मान लिया है, उसी प्रकार जीव को भी नियति के आधीन क्यों नहीं मान लिया जाए?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि प्रकृति का नियम जड़ पर है, जीव पर नहीं। जड़ द्रव्य का चक्र नियति के इधर-उधर चक्कर काटता है और जीव कर्म की धुरी पर गतिशील है। इस पर से एक नया प्रश्न सामने आता है कि जड़ और जीव—इन दो पदार्थों के लिए अलग अलग नियम क्यों हैं? यदि चेतन-द्रव्य के लिए कर्म की आवश्यकता है तो जड़ के लिए भी होनी चाहिए, और जड़ यदि नियति पर अवलम्बित है तो जीव को भी नियति पर क्यों अवलम्बित नहीं होना चाहिए।

बात यह है कि वस्तुत: दोनों द्रव्यों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। जड़ का स्वभाव अलग है और चेतन का स्वभाव अलग है। जिन द्रव्यों के स्वभाव ही भिन्न हैं, फिर उनके परिणाम भिन्न क्यों नहीं होंगे? जैसे अग्नि ऊष्ण है, क्योंकि ऊष्णता उसका स्वभाव है। जल शीतल है, क्योंकि शीतलता उसका स्वभाव है। दोनों ही द्रव्य तो हैं, लेकिन दोनों के गुण और स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। इस जगत् में ऐसा कोई स्थिर नियम नहीं है कि सबके स्वभाव समान हों। दो बीज भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं, अत: भिन्न-भिन्न फलों को ही उत्पन्न करते हैं। स्वभाव-भेद से परिणाम-भेद होगा ही। परिवर्तन भी अपने स्वभाव के अनुकूल ही होता है।

दूसरी बात जो प्रत्यक्ष से भी आसानी से समझ में आ सकती है, वह यह है कि जीव अपने कर्म का कर्त्ता है। वह इच्छा, संकल्प, वासना से परिपूर्ण है, क्योंकि वह संसारी है। वह कर्म करने में और न करने में स्वतंत्र है, इसके विपरीत जड़-तत्त्व न कुछ कर सकता है और न कुछ करने की उसमें योग्यता ही है। आदि हीन युग से आज तक जड़ जैसा था, वैसा ही है, पर चेतन के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। यद्यपि सिद्धान्त से अपने से अतिरिक्त कुछ हुआ नहीं जा सकता, तथापि जीव में बोध-शक्ति है और जड़ में वह शक्ति नहीं है, अत: जीव को अतिरिक्त होने का अवसर उपलब्ध हो सकता है, जड़ को नहीं। चेतन नियति के हाथ की कठपुतली नहीं है। जड़ और चेतन की अपनी-अपनी स्वतंत्र परिणति होने पर भी वे एक-दूसरे के विभाव परिणमन में निमित्त अवश्य हो सकते हैं, पर उपादान दोनों का अपना-अपना ही है।

★

✱ सूरजमल जैन,
बी० ई० (इलेक्ट्रिकल), कवर्धा

जैन-धर्म का उत्थान कैसे हो ?

अधिक लम्बी-चौड़ी बात करने की मेरी इच्छा नहीं। जबकि एक ओर जैन-धर्म का विपुल भंडार पड़ा हुआ है, तब दूसरी ओर ऐसा भी वह इच्छुक वर्ग है जिसे यह भी नहीं मालूम कि यह भंडार कहाँ पड़ा हुआ है? इसी कारण स्वयमेव जैन-धर्मावलम्बी ही इसके प्रचार व प्रसार के सु-उपायों की खोज में चिन्तनरत हैं। अपने दो शब्द पाठकवृन्द के समक्ष प्रस्तुत करने की भावना मन में जाग्रत होते ही एक छोटा-सा चमचा अपने आप गतिशील हुआ और अपनी शक्ति के अनुसार अपने साथ (ज्ञान-भंडार) लिये, इच्छुक-वर्ग के सामने उपस्थित होता है।

भला इस छोटे से एक चमचे की गुन्जाइश ही कितनी? उससे कहीं पेट थोड़े ही भर सकता है, तृप्ति थोड़े ही हो सकती है?

फिर ऐसी धृष्टता क्यों?

कारण सिर्फ इतना छोटा-सा ही तो है।

इस चमचे में लगे हुए अमृत सिन्धु के बिन्दु का स्वाद चखकर, कोई इच्छुक वर्ग उक्त विपुल भंडार की खोज में उद्यमशील हो जाए............... बस.......... सिर्फ इतना ही।

भारतवर्ष एक धर्मपरायण देश है। उसमें प्रचलित अनेक धर्म तो उसी प्रकार हैं, जैसे गायों का रंग अनेक प्रकार का होता है, लेकिन उन सबसे दूध तो एक ही रंग का निकलता है। धर्म और तत्त्वज्ञान, संस्कृति और साधना युग-युग से भारत के प्राण रहे हैं। परन्तु आज जन-मानस के बीच से धर्म, भगवान, ज्ञानादि का लोप अंशतः हो चुका है, इसलिये आज जन-जन में मानवता का शंख फूँक कर, ऋषभ, पार्श्व व महावीर के पुनीत उपदेशों को

घर-घर प्लावित करने की आवश्यकता है। कल्पना की ऊँची उड़ान, संदेशों का आदान-प्रदान ही सब-कुछ नहीं है।

जैन-धर्म के अनुसार मूलतः धर्म का प्रवेश मनुष्य के भविष्य जीवन—स्वर्ग में रक्षा हेतु नहीं, बल्कि पृथ्वी पर शान्ति रखने, मनुष्य जाति में परस्पर सद्भाव निर्माण करने तथा व्यक्ति के जीवन में एक उच्चतर जीवन के प्रति आशा का संचार करने के प्रयोजन से हुआ। अतः जैन-धर्म के उत्थानार्थ हमारे निम्नलिखित कदम होने चाहिये—

१. जैन-धर्मानुयायी का धर्म-प्रचार, मर्यादित क्षेत्र व धार्मिक पर्वों के समय पर्यन्त से परे हो।

२. जैन-पर्वों का व्यापक रूप से समाज, प्रान्त व देश में आयोजन हो।

३. वर्ण, जाति व लिंग आदि भेदों को लांघकर व्यापक दृष्टि से धर्म-प्रचार।

४. विभिन्न पुनीत अवसरों पर भारतीय आध्यात्मिकता पर अपने दार्शनिक विचारों को प्रकट करने के लिये देश के गणमान्य विद्वानों को आमन्त्रित करना।

५. समय-समय पर साहित्यिक व वैज्ञानिक गोष्ठियों का आयोजन।

६. समाज के तरुणों को कलात्मक ढंग से सँवारने हेतु नाट्य समिति का गठन।

७. युवकों के मिलने एवं विचारों के आदान-प्रदान हेतु जैन-क्लब का संचालन।

८. नगर, मुहल्ला, गलियों, तालाब, स्टैंड, स्टेशन व संस्थाओं आदि के नामकरण जैनत्व के सूचक हों, जैसे वीर नगर, नेमीनगर, ऋषभनगर, पार्श्व-घाट आदि।

९. छोटे-बड़े अभावग्रस्त नगरों, गाँवों में पाठशालाओं द्वारा धार्मिक शिक्षण के माध्यम से वहाँ के निवासियों में धर्म के प्रति सद्भाव जाग्रत करना।

१०. जैन छात्रावास की स्थापना, क्योंकि इसके अभाव में जैन छात्र इतरवर्गी छात्रों के साथ रहते हैं जिसके कारण क्रमशः उनका आचार-विचार जैनत्व से बहुत दूर हो जाता है। इन छात्रावासों में छात्रों को शुद्ध भोजन व धार्मिक शिक्षण आदि का सु-प्रबन्ध हो।

११ एक समिति का गठन, जो जहाँ भी व्रतीजन चातुर्मासादि करें, उन स्थानों में स्वयं धार्मिक शिक्षण, स्वाध्याय, प्रवचन कराने के लिये सचेष्ट हों।

१२. स्वाध्याय हेतु स्वाध्याय शालाओं या पुस्तकालयों का संचालन।

१३. समाज के अन्तर्गत तरुणाई की अग्रसर उन्नति हेतु साहित्यिक संस्था का गठन, जिसमें समाज के अंतर्गत तरुण बन्धु साहित्य की ओर आकर्षित होकर एकता स्थापित कर सकें व जहाँ आदान-प्रदान के माध्यम से विचारों की संगोष्ठी, काव्यगोष्ठी की व्यवस्था हो।

१४. समाज एक ओर तो विद्वानों का निर्माण और उनसे होने वाले लाभ को चाहती है, परन्तु उनकी सामान्य आजीविका का भी प्रबन्ध नहीं करना चाहती है, और न ही उनके साथ समादरणीय व्यवहार भी करना चाहती है। अतः इन अनुचित व्यवहारों को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा।

१५. जैन समाज में आने वाली भावी पीढ़ी में धर्म एवं नैतिकता के प्रति अभिरुचि पैदा करने के उद्देश्यों से जैन-शिक्षायतन शिविर की आकृति जनमानस के सम्मुख उभारना चाहिए।

अतः इस अणु युग में ऋषभ, पार्श्व, महावीर की वाणी को बुलन्द करने हेतु संगठन की आवश्यकता है, यदि हमें अपना, अपनी संस्कृति का, अपनी परम्पराओं का, अपने समाज एवं धर्म का अस्तित्व बनाये रखना है, उसकी रक्षा करना है और उसको समुज्वलित करना है तो, हमारे अन्तर में क्रान्ति की ज्वाला हो, अभ्युदय की आवाज हो, समाजोत्थान का स्वर हो एवम् विकास की वाणी हो।

●

- **पाप विनाश की जड़ है, जिसके काँटे का ज्ञान मछली को लीलते समय नहीं, बल्कि मरते समय होता है।**
- **पतन में परिणाम का अज्ञान होता है। भावावेश में जो कुछ होता है, मूर्च्छित दशा में होता है और मूर्च्छा उतर जाने पर हुआ पश्चात्ताप उसे शुद्ध करके आगे बढ़ाता है।**
- **यदि तू ने कोई गलती महसूस की है, तो तू अपनी ओर से उसे फौरन पोंछ डाल। दूसरे की गलती या अन्याय को उसके इन्साफ पर छोड़ दे।**

●

★ कु० इन्दिरा बाफना
बी० ए० (प्रथम वर्ष)
द्वारा : श्री सूरजमलजी बाफना
कांकेर, बस्तर (म०प्र०)

जैन-धर्म : वैज्ञानिक धर्म है

अनुभव ही ज्ञान का एक-मात्र स्रोत है। विश्व में केवल धर्म ही ऐसा विज्ञान है जिसमें निश्चयत्व का अभाव है, क्योंकि अनुभव पर आश्रित विज्ञान के रूप में धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती। ऐसा नहीं होना चाहिये, परन्तु कुछ ऐसे लोगों का एक छोटा समूह भी सर्वदा विद्यमान रहता है, जो धर्म की शिक्षा अनुभव के माध्यम से देते हैं. ये लोग रहस्यवादी कहलाते हैं और वे हरएक धर्म में एक ही वाणी बोलते हैं और एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं, यही धर्म का यथार्थ विज्ञान है। यही अनुभव धर्म का रूप धारण कर लेता है। अब प्रश्न उठता है—क्या धर्म को भी स्वयं को उस बुद्धि के आविष्कारों द्वारा सत्य प्रमाणित करना है, जिसकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं ? बाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी जिन अन्वेषण-पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्म-विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है ? मेरा तो विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिये और मेरा अपना विश्वास भी है कि यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वंस को प्राप्त हो जाए तो वह सदा से निरर्थक धर्म था। कोरे अन्ध-विश्वास का एवं वह जितनी जल्दी दूर हो जाए, उतना ही अच्छा। मेरी तो अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक सर्वश्रेष्ठ घटना होगी। सारा मैल धुल जरूर जाएगा, पर इस अनुसन्धान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आयेंगे। यह केवल विज्ञान सम्मत ही नहीं होगा, कम से कम उतना ही वैज्ञानिक, जितनी कि भौतिकी या रसायन शास्त्र की उपलब्धियाँ हैं, प्रत्युत और भी अधिक सशक्त हो उठेगा, क्योंकि भौतिक या रसायन शास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध

करने का अन्तःसाक्ष्य नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है। जैन-धर्म के सम्बन्ध में डा० टोसीटोरी के विचार इस प्रकार हैं—

"जैन-दर्शन के मुख्य तत्त्व विज्ञान शास्त्र के आधार पर स्थित हैं। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जाएगी, त्यों-त्यों जैन-धर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रमाणित होते जायेंगे।"

कर्मवाद :

जैन-धर्म तथा जैन-संस्कृति का भव्य प्रासाद कर्मवाद की गहरी एवं सुदृढ़ नींव पर ही टिका हुआ है। जैन-धर्म एकमात्र कर्म ही को कारण मानता है। उसके अनुसार काल और स्वभाव और नियति आदि कारण नहीं, कर्म से ही समस्त कार्यों की सिद्धि होती है। पहले जैसे कर्म जिसने किये हैं, वैसा ही फल उसे भुगतना पड़ता है। 'यथा कर्म, तथा फलम्"—उक्ति सत्य है। यही सिद्धान्त टेप रिकार्डर का है। टेप रिकार्डर में मनुष्य की ध्वनि भरी जाती है और वह उसी क्रम से बोलती भी है, जिस क्रम व प्रकार से वह ध्वनि भरी जाती है। उसी प्रकार मनुष्य में जिस प्रकार के प्रारब्ध कर्म होते हैं, उसी प्रकार वह जीवन व्यतीत करता है, फिर समय पर इस संसार से चल बसता है। कर्म के प्रताप से ही आदिनाथ भगवान् को बारह महीनों तक अन्नजल नहीं मिला, महावीर स्वामी के कानों में खीले ठोंके गये, पैरों पर खीर रांधी गई और गुवाल ने मारा। राम और लक्ष्मण जैसे पराक्रमी पुरुषों को वनवास करना पड़ा। सीताजी को कलंक लगा और लंका भस्म हो गई। ऐसे-ऐसे उत्तम पुरुषों को ऐसी-ऐसी विडम्बनायें भोगनी पड़ीं तो दूसरों की क्या चलाई है। कर्म ही जीव को एकेन्द्रिय अवस्था और नरक आदि नीच गतियों में और स्वर्ग मनुष्य आदि की उच्च गतियों में ले जाता है। अधिक क्या कहा जाए, कर्म के दूर होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये जैन-धर्म कहता है कि कर्म महान् शक्तिशाली है और यह सारा विश्व कर्म-चक्र के सहारे ही चल रहा है।

ईश्वरवाद :

सम्यक् पुरुषार्थ से जिस जीव का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाए, उसको ईश्वर-सिद्ध समझना चाहिये। इस प्रकार जो भी जीव शुद्ध स्वभाव को प्रकट कर लेते हैं, वे सभी ईश्वर कहलाने योग्य होते हैं, न कि एक ही। इस प्रकार के जीवों में से एक को ईश्वर मानकर अन्य को ईश्वर नहीं मानना, यह न्याययुक्त नहीं।

हाँ, जिस प्रकार ठाणांग सूत्र में "एगे सिद्धे" शब्द से सभी सिद्धों को ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार यदि संग्रहनय से उन मुक्त जीवों में से किसी को न छोड़ते हुए जातिवाचक (गुण समान) की अपेक्षा उन सभी को एक शब्द में ग्रहण कर लें तो कोई बाधा नहीं, परन्तु गणना में एक मानने से ईश्वर का पूर्वोक्त वास्तविक स्वरूप विद्यमान नहीं रहेगा। ईश्वर क्या चीज है ? किस चीज का बना हुआ है ? वैसा दूसरा क्यों नहीं हो सकता ? होने में रुकावट डालने वाला कौन है ? क्या वह ईश्वर ईर्ष्यालु और अंहकारी है ? आदि-आदि अनेक दोष खड़े होंगे। अतः ईश्वर को उपरोक्त प्रकार से एक और अनेक मानना ठीक है। उस कर्म-रहित शुद्ध ईश्वर को जगतकर्त्ता मानना भी भ्रमपूर्ण और अनेक दोष उपस्थित होने का कारण है।

"पुढ़ो विस्संमिया पया"—इस पाठ के अनुसार विभिन्न रूपों के निर्माता ऐसे जगत के जीवों को ही यदि ईश्वर मान लिया जाए तो अपने कर्मानुसार जगत जीव विभिन्न रूपों का कर्त्ता है ही। क्योंकि नाना योनियों में जन्म लेकर अनेक रूप धारण करता ही है, परन्तु ऐसा ईश्वर कोई नहीं है, जो संसार के पदार्थों को बनाता हो। परन्तु उपदेश आदि के निमित्त से तीर्थंकर आदि महापुरुषों को तारक, अभयदाता. जीवनदाता आदि बचाने तथा मानने में कोई बाधा नहीं। इसी अपेक्षा से लोगस्स, नमोत्थुणं और आचार्यों आदि कृत स्तोत्रों में भगवान् को लोक-हितकर, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता आदि मानना ठीक है।

विश्व की उत्पत्ति :

जैन दर्शनानुसार यह सम्पूर्ण विश्व अनादि-अनन्त है, ईश्वर सृष्टि-कर्त्ता नहीं। विश्व न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी विनाश होगा। विश्वगत पदार्थों के केवल आकार-प्रकार बदलते हैं, किन्तु वे सर्वथा नष्ट नहीं होते। जो अनादि है वह अनन्तकाल तक रहेगा। उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। यही बात सन् १८०८ में वैज्ञानिक डाल्टन ने कही, जो डाल्टन के परमाणुवाद सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है।

शब्दवाद :

जैन तत्त्ववेत्ताओं ने हजारों-लाखों वर्षों पहले से कहा है कि—"शब्द पुद्गलों का एक समूह है, शब्द संसार-भर में व्याप्त होता है।" लेकिन वैज्ञानिकों ने इस तथ्य को उस समय बताया, जब रेडियो का आविष्कार हुआ। तार, रस्सों की मदद के बिना ही शब्द वायु की तरंगों पर सवार होकर क्षण-

भर में सारे संसार में घूम जाते हैं और वैज्ञानिक साधनों के द्वारा अन्य लोग उन्हें हजारों मील की दूरी पर सुन सकते हैं। इस बात के अनुभव के बाद सब ने जैन-दर्शन की यह बात मान्य रखी है कि शब्द में सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु-रूप पुद्गल विद्यमान है।

प्रकृतिवाद :

भगवान् महावीर स्वामी ने आचारांग सूत्र में वनस्पति की तुलना मानव-शरीर से बतलाई है। उसके अनुसार वनस्पति और वृक्षों (एकेन्द्रिय) में भी अन्य प्राणियों की तरह जीव हैं, जीवों की नाड़ियों के समान ही वनस्पति वर्ग में भी स्पन्दन होता है। उन पर भी चोटों, गर्मी-सर्दी, विष, मादक द्रव्यों जैसी आकस्मिक घटनाओं का प्रभाव पड़ता है। जैन-धर्म का यह शाश्वत सिद्धान्त कभी कुछ तार्किक और मनचले लोगों के उपहास का विषय था, परन्तु जब से डा० जगदीशचन्द्र बसु ने अपने अद्भुत आविष्कारों द्वारा वैज्ञानिक प्रयोगों की कसौटी से सिद्ध किया, तब से पुराने धर्म-शास्त्रों की खिल्ली उड़ाने वाली जनता आश्चर्यचकित रह गई है।

पानी की एक बूंद में असंख्य जीवों का निवास है। यह बात जैन-धर्म-वेत्ताओं ने आज से हजारों वर्ष पूर्व कह ही नहीं दिया था, लेकिन इसके प्रमाण भी शास्त्र में मौजूद हैं। विज्ञान-वेत्ताओं ने तब कहा, जब टेलिस्कोप का आविष्कार हुआ।

प्रहर रात्रि व्यतीत होने के बाद और सूर्योदय के एक मुहूर्त (४८ मिनट) होने तक रांधना, फाड़ना, छाछ बिलोना, स्नान करना, वस्त्र धोना, मुसाफिरी करना, खान-पान करना इत्यादि प्रवृत्तियों से त्रस जीवों की हिंसा होती है। यह बात वैज्ञानिकों की समझ में उस समय आई, जब उनको यह ज्ञात हुआ कि उस समय थेकसस नामक सूक्ष्म कीटाणु वायुमण्डल में व्याप्त हो जाते हैं।

जैन धर्मानुसार मांसाहार का निषेध है। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से भी निषिद्ध वस्तु है तथा यह मनुष्य के हृदय की कोमल भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर उसे पूर्णतया निर्दय और कठोर बना देता है। इस सम्बन्ध में यूरोप के ब्रुसेल्स विश्वविद्यालय आदि में जो परीक्षण हुए हैं, उनसे भी मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी श्रेष्ठ प्रमाणित हुए हैं। वहाँ न्यायाधीश कसाई की गवाही भी नहीं लेते। विकारग्रस्त मनुष्य समाज में अशान्ति और संघर्ष का वातावरण पैदा करता है। व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की शान्ति के लिये यह आवश्यक है कि मन सात्विक भावनाओं से अनुप्राणित

रहे। "जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन"—इस लोकोक्ति के अनुसार सर्वप्रथम आहार शुद्धि पर ध्यान देना चाहिये। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी यूरोप में मांसाहार नहीं किया।

सापेक्षवाद :

जैन-तत्त्वज्ञान की नींव ही सापेक्षवाद पर खड़ी की गई है, एक ही वस्तु के भीतर रहे हुए परस्पर विरोधी गुण-धर्मों और तत्त्वों को प्रकट करके जो हमारे सामने प्रस्तुत कर सकें, उसे अनेकान्त, अपेक्षावाद (सापेक्षवाद) या स्याद्वाद कहते हैं। जब प्रोफेसर आइन्स्टाइन ने अपना सापेक्षवाद का सिद्धान्त' (Theory of Relativity) प्रयोगशाला में सिद्ध करके विश्व को बताया, तब सारा विश्व आश्चर्यमुग्ध हो गया था, लेकिन उनका यह सापेक्षवाद जैन-तत्त्वज्ञान से ठूंस-ठूंस कर हजारों-लाखों वर्षों से भरा पड़ा है और प्रोफेसर आइन्स्टाइन की खोज उसके आगे तो सिंधु के सामने बिन्दु की भाँति नजर आती है।

तत्त्व ज्ञान :

जैन-शास्त्रानुसार आत्मा प्रकाशक है, प्रेरक है किन्तु जब वही आत्मा मन के द्वारा स्फुटित होता है और प्रकाशता है, तभी मन जो कि जड़ है, क्रियाशील होकर चेतन-सा भासता है और संसार के सभी कार्य करने का हेतु बन जाता है।

जैन धर्मानुसार आत्मा शाश्वत है। आत्मा में जो रूपान्तर होता है वह यही कि कभी आत्मा मनुष्य के शरीर में रहता है, कभी पशु के शरीर में, कभी पक्षी व कीड़े के शरीर में। किसी भी शरीर में आत्मा चला जाए, मगर उसका एक भी प्रदेश न्यूनाधिक नहीं होता। रूपान्तर पदार्थों में अवश्य होता है, मगर अपनी-अपनी जाति के विरुद्ध नहीं होता। अर्थात् जड़ का रूपान्तर जड़, और चेतन का रूपांतर चेतन होता है। न तो एक भी जीव कम हो सकता है और न एक भी परमाणु कम हो सकता है। इस बात की पुष्टि डाल्टन के परमाणुवाद के अनुसार होती है कि 'परमाणु न तो नष्ट किया जा सकता और न पैदा।"

जैन धर्मानुसार आत्म-प्रदेश शरीर के रोम-रोम में व्याप्त है। आत्म-शक्ति का उपयोग आणविक की तरह चाहे तो विकास के लिये किया जाए या किसी विनाश के लिये, यह तो मनुष्य के अपने हाथों में है। आणविक शक्ति

से लाखों प्राणियों की हत्या की जा सकती है, उसी प्रकार उसी आणविक शक्ति से प्राणीमात्र के लिये कल्याणकारी शक्ति का उत्पादन कर, उसे महान् विकास का कारण भी बनाया जा सकता है। किन्तु आत्म-शक्ति कभी विनाश का कारण नहीं बनती, उससे सदा प्रेम का ही विकास होता है, कभी किसी को हानि नहीं होती।

"अणुओं से विनाश ही पाया, पर निर्माण नहीं।" मनुष्य के अन्दर कितनी शक्ति होगी? उसके विकसित हो जाने से कितनी अपार शक्ति का अनुभव हो सकता है? यह अनुभव करने वाले ही जान सकते हैं। आत्मा की अनन्त शक्ति को जो पहचान लेता है, वह जीवन की सबसे बड़ी साधना की सिद्धि कर लेता है, क्योंकि आत्मा स्वयं ही कर्म करने वाली है और उस कर्म का फल भी वह स्वयं ही भोगती है। स्वयं ही वह संसार में घूमती है और स्वयं ही संसार-बंधन से मुक्ति भी प्राप्त करती है। आत्मा की शक्ति का विकास करना जीवन के उद्धार का प्रधानतम हेतु है। आध्यात्मिक चेतना आत्म-विकास पर जितना जोर देती है, उतना किसी दूसरी बात पर नहीं, यह विचार-प्रेरणा भारतीय संस्कृति की युग-युग से प्राण रही है। और यह भारतीय तत्त्वचिन्तकों के लिए प्रधान विचारणीय सामग्री। पंडित जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में :—

"जैन-धर्म यथार्थ में न तो हिन्दू धर्म है और न वैदिक धर्म, वह भारतीय जीवन, संस्कृति तथा तत्त्व-ज्ञान का मुख्य साधन है।"

अहिंसा :

अहिंसा जैन संस्कृति की आत्मा है! जीवन की उन्नति और शांति का मूल अहिंसा की भावना के साथ जुड़ा हुआ है। जैन संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। बाबू राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में :—

"जैन धर्म ने संसार को अहिंसा की शिक्षा दी है। किसी दूसरे धर्म ने अहिंसा की मर्यादा यहाँ तक नहीं पहुँचाई। जैन धर्म अपने अहिंसा-सिद्धान्त के कारण विश्वधर्म होने को पूर्णतया उपयुक्त है।"

जैन धर्म में केवल प्राणियों के वध को ही हिंसा नहीं कहा गया है किन्तु मन, वचन, काया से जीवों को किसी प्रकार की भी हानि पहुंचाना हिंसा है। इतना ही नहीं, जैन धर्म ने तो आवश्यकता तथा उपयोग से अधिक वस्तुओं के संग्रह को भी हिंसा माना है। किसी भी जीव को सताने की कल्पना

करना भी पाप है। क्योंकि जिस प्रकार हम जीना चाहते हैं, उसी प्रकार दूसरे जीव भी जीना चाहते हैं।

अहिंसा की शक्ति अमाप्य है। अहिंसक की शक्ति अहिंसा रूपी शस्त्र धारण कर अपरिमित हो जाती है। दया, समता, निर्भयता—इन तीनों का सम्मिश्रण अहिंसा में है। आज जो संसार के वातावरण में तनातनी है, एक देश दूसरे को हड़प लेना चाहता है। अणुशस्त्र, हाइड्रोजन बम और दूरमारक यन्त्रों का जो प्रादुर्भाव होता जा रहा है, यह सब मानवता के लिये विघातक तत्त्व हैं। ये न तो हितकारी हैं, न तो हुए हैं और न होंगे। राजनीति में यदि अहिंसा धर्म का सम्मिश्रण हो जाए तो सारी समस्या ही आसानी से सुलझ सकती है। भारत ने पंचशील का जो सूत्र-मंत्र संसार को दिया है, वह अहिंसा की आधारशिला पर आधारित है। इसके सहारे यदि संसार अपने-आप को नहीं मोड़ता है तो मानवता के लुप्त-प्राय होने का खतरा है। चाहे कुछ भी हो, अहिंसा की जय एक दिन सारे संसार को एक स्वर से बोलनी ही होगी।

विज्ञान और धर्म उसी प्रकार दोनों एक समान हैं, जैसे कि वायु में छिपी हुई उष्णता और शीतलता। वायु का धर्म जो जीवन-दान करता है, लेकिन उष्णता और शीतलता उसके स्वभाव हैं। इसलिये एकान्तिक दृष्टि-कोण से न देखकर, विज्ञान और जैन-धर्म को एक-दूसरे का पूरक मानना होगा।

✶

- गुप्तता का दूसरा पहलू है असंयम। जितना ही अधिक संयम, उतना ही अधिक खुली पुस्तक का-सा जीवन।
- जब तुम अपने को पढ़ने लगोगे, तो देखोगे कि कैसे-कैसे विस्मयजनक पृष्ठ व दृश्य सामने आते हैं।
- अपने को पहचानने के लिए मनुष्य को अपने से बाहर निकल कर रहस्य बनकर अपने को देखना है।
- यह कितनी गलत बात है कि हम मैले रहें और दूसरों को साफ रहने की सलाह दें।
- मनुष्य जीवन और पशु जीवन में क्या अन्तर है? उसका सम्पूर्ण विचार करने से हमारी काफी मुसीबतें हल होती हैं।

✶

★ मदनकुमार जैन, एम. ए. साहित्यरत्न

अपने दीपक स्वयं बनो !

बुद्ध का महापरिनिर्वाण होने वाला था, उनके पास प्रमुख शिष्य आनन्द बैठे हुए थे। आनन्द ने शास्ता से अंतिम धर्म-निर्देश देने के लिए प्रार्थना की, भगवान् बुद्ध ने गंभीर होकर आनन्द को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे आनन्द ! अपने दीपक स्वयं होओ ; धर्म की शरण में जाओ, किसी दूसरे का आश्रय न खोजो।"

अवलोकितेश्वर ने स्वयं दीपक होने की बात कहकर जीवन के समस्त सत्य एवं लक्ष्य को दो शब्दों में, व्यक्त कर दिया था। जब व्यक्ति अपने कर्मों से शुभेच्छा-पूर्वक दूसरों का हित करता हुआ, जीवन व्यतीत करता है, तो उसे किसी भी सम्प्रदाय की छाया आवश्यक नहीं है। अंधकार से छाये हुए जीवन-सागर में प्रकाश कौन करेगा ?

अंधयारे तमे घोरे चिट्ठंति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ।।

बुद्ध से भी पहले महावीर ने कर्म की शुचिता पर बल देते हुए, आत्म-कल्याण के लिए स्व-विवेक पर जोर दिया था—"व्यक्ति ही अपने दुःख, सुख का निर्माता है, वही अपना मित्र है, वही अपना शत्रु है।"

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, सभी सुखी होना चाहते हैं, दुःखी कोई होना नहीं चाहता—इसलिए यह आवश्यक है कि हम भी सुखी हों और दूसरों को भी सुखी करें, क्योंकि जिस कार्य से हमें दुःख होता है, उसे दूसरों के लिए नहीं करें, क्योंकि सब जीव समान हैं।

जह मम न पियं दुक्खं जाणाहि एमेव सव्व जीवाणं ।

अपने-आप की पहचान एक समस्या है, अंतःकरण को मथना गुरुतर कार्य है, इसीलिए शायद सुकरात ने धर्म को ज्ञान कहा होगा—आत्म-ज्ञान

या स्व-विवेक ही बुरे-भले विचारों, कर्मों का नियामक एवं नियंत्रण-कर्त्ता है।

महाभारतकार व्यासजी ने विशाल ग्रन्थ का सार एक श्लोक में उतार दिया—"हे मनुष्यो ! अधिक कहने से क्या लाभ ! हम तुम्हें संक्षेप में धर्म-तत्त्व बता देते हैं। परोपकार करना पुण्य है और दूसरों को पीड़ा देना पाप है"—

संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वा ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

धर्म दूसरे की सहायता करने या दुःख नहीं पहुंचाने में है—कथन-रूप में यह कितना सरल लगता है किन्तु सांसारिक (व्यावहारिक) जीवन में इसका पालन करना कितना कठिन है। व्यक्ति विवेक को छोड़कर घृणा, रागद्वेष का मार्ग पकड़ लेता है जिससे उसकी हानि तो होती ही है, सामने वाले को भी कष्ट पहुँचता है। बुद्ध ने कहा था—"मनुष्यो ! जिस प्रकार खेतों को घास से हानि पहुँचती है, वैसे ही घृणा से मनुष्यों को हानि होती है।" क्रोध, घृणा, रागद्वेष को जीतना, उन पर काबू पाना—दुर्गम कार्य है और यही वास्तव में 'स्वयं दीपक' होने की कसौटी है।

संसार के सभी धर्मों के पैगम्बरों, प्रवक्ताओं ने सदा इस बात पर जोर दिया है कि मानव—मानव में भेद नहीं है, जो भी भेद पैदा होता है वह मोह से, घृणा से और क्रोध से होता है। इसलिए व्यक्ति को सम्यक्-बोध, आत्म-चिंतन, आत्म-विश्लेपण करते हुए वैर, घृणा आदि से बचना चाहिए।

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइ मत्ता, वेराणुबंधीणि महाभयाणि ॥

स्वयं दीपक होने पर व्यक्ति हिंसक भाव से होने वाले दुःखों की कल्पना से परिचित होकर बुरे कर्मों को स्वतः छोड़ देगा।

दीपावली के शुभ्र प्रकाशित वातावरण में हर व्यक्ति अपना दीप जलाये, जो आत्म-कल्याण के साथ-साथ विश्वकल्याण भी करेगा, और श्रुति का यह वचन सार्थक हो जाएगा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

"सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब कल्याण का साक्षात्कार करें। दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।" ★

वीरायतन : मेरी दृष्टि में

साधना-केन्द्र :

आज समाज में तीन प्रकार के लोगों की आवश्यकता है। एक वे लोग, जो धार्मिक पाठशालाओं को व्यवस्थित चला सकें तथा साधु-साध्वियों को पढ़ा सकें। दूसरे वे लोग, जो अहिंसा, मानवता, नैतिकता का प्रचार करने के लिए गाँव-गाँव घूम सकें—लोगों को जीवन के नैतिक आदर्श समझा सकें। और तीसरे वे लोग, जिनको सेवा के कार्यों में रुचि है। जरूरत पड़ने पर वे विदेशों में बाहर भी धर्म-प्रचारार्थ जा सकेंगे। स्थानीय संस्थाओं में तो अपनी योग्य सेवा देंगे ही। इस प्रकार के लोग साधना-केन्द्र में रहेंगे। तदनुसार उन्हें योग्य प्रशिक्षण भी दिया जायगा।

इन सब लोगों की खाने-पीने की उचित व्यवस्था साधना-केन्द्र में रहेगी। उनके लिए तथा स्वाध्याय मंदिर में पढ़ाने वाले अध्यापक तथा पढ़ने वाले सभी जिज्ञासुओं के रहने की व्यवस्था के लिए ५० स्वतंत्र रूम, भोजनालय आदि का प्रबन्ध करना आवश्यक है।

स्वाध्याय मंदिर :

स्वाध्याय मंदिर में भाई-बहिनों के धार्मिक अध्ययन की एवं साधु-साध्वियों के पढ़ने की व्यवस्था रहेगी। परीक्षा की व्यवस्था स्वाध्याय मंदिर करेगा। इसमें साधना-केन्द्र में रहने वाले साधकों के लिए अध्ययन-कक्ष होंगे। आवश्यक पुस्तकों का संग्रहालय होगा। सूचना-केन्द्र होगा तथा एक आफिस भी आवश्यक है।

आगम मंदिर :

आगम मंदिर मे एक विशाल हाल रहेगा। उस हाल में प्राचीन आगम-साहित्य का व्यापक संग्रह होगा, साथ ही ऐतिहासिक तथा ध्यान के लिए उपयोगी प्रेरणाप्रद चित्र भी होगे। यह उच्चकोटि का एक प्रमुख ध्यान-केन्द्र बन सके, इसका ध्यान रखा जाएगा। प्रवचन-प्रार्थना तथा धार्मिक प्रवृत्तियों के लिए यह व्यवस्थित उपाश्रय की तरह होगा।

प्रदर्शनी :

प्रदर्शनी में भगवान् महावीर से तथा उनके पूर्ववर्ती उत्तरकालीन महापुरुषों से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र तथा कलात्मक कृतियाँ होंगी, जिसमें बाहर से आने वाले अजैन बन्धु भी जैन-धर्म के इतिहास को और भगवान् महावीर के दिव्य जीवन को सरलता से समझ सकें।

इसमें चार कक्ष होंगे—प्रथम कक्ष में भ० ऋषभदेव से पार्श्वनाथ तक की जीवन-घटनाएँ, द्वितीय कक्ष में भ० महावीर के जीवन की विस्तृत घटनाएँ। तृतीय कक्ष में भ० महावीर के बाद की ऐतिहासिक घटनाओ के चित्र। चतुर्थ कक्ष में वर्तमान युग की दृश्यावलियाँ।

निवृत्ति आश्रम :

निवृत्ति आश्रम में दो तरह के लोग रह सकेंगे, जिनकी स्वतन्त्र व्यवस्था रहेगी। एक में वे लोग रहेंगे, जो परिवार के साथ वहीं अपना स्थायी निवास बनाना चाहेंगे, वे अपनी व्यवस्था स्वयं करेंगे, वहाँ की धार्मिक प्रवृत्तियों में भाग ले सकेंगे, अपनी इच्छा से वीरायतन के कार्य में योग्य सेवा भी दे सकेंगे।

दूसरे प्रकार के वे लोग भी वहाँ रहेंगे, जो निवृत्ति जीवनचर्या के लिए वीरायतन के कार्यक्रमानुसार अपना जीवन वहीं व्यतीत करना चाहेंगे, वे भिन्न-भिन्न संस्थाओं के कार्यों में अपनी शक्ति के अनुसार सेवा दे सकेंगे, इस वर्ग में वे भी लोग होंगे, जो सेवार्थ थोड़ा समय ही रुकना चाहेंगे, इनकी व्यवस्था संस्था पर आधारित होगी।

उद्योग-केन्द्र :

उद्योग-केन्द्र में अनेक प्रकार के गृह-उद्योग रहेंगे। निवृत्ति आश्रम, साधना-केन्द्र, छात्रावास आदि से सम्बन्धित तथा स्थानीय लोग अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार कुछ समय यहाँ काम कर सकेंगे। उक्त केन्द्र का भविष्य यथा-साधन विकसित होता रहेगा।

कला-केन्द्र :

कला-केन्द्र में एक विशाल हाल रहेगा। इसमें सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन होंगे। प्राचीन तथा आधुनिक संगीत आदि स्वच्छ कलाओं से सम्बन्धित विषयों का यथोचित अध्ययन भी कराया जाएगा।

—**चारु देसाई**

अध्यक्ष—वीरायतन बालिका संघ, कलकत्ता।

समाचार दर्शन

● बालोतरा (राज०) स्वनाम धन्य पूज्य बहुश्रुत पं० श्री समर्थमल्लजी म० पूर्वापेक्षया स्वस्थ हैं, महती प्रसन्नता है। बहुश्रुतजी प्राचीन आगम-परंपरा के गंभीर अभ्यासी एवं अपने आचार-विचार में प्रामाणिक मुनिराज हैं। स्वास्थ्य के लिए मंगल-कामना।

● पं० श्री जौहरीमलजी मुनि का गीदड़वाहामंडी में आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। आप गृहस्थभूमिका में आगरा के ही निवासी थे। आप शान्त, संयमी मुनिवर थे। आगरा जैन-संघ, जैन नवयुवक मंडल भटिंडा आदि ने स्मृति-सभा में दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पण की।

● भटिण्डा—आचार्यदेव स्व० श्री आत्माराम जी म० की जयन्ती पं० मुनि श्री पद्मचन्द्रजी भंडारी, तथा प्रवचनभूषण पं० श्री अमरमुनिजी के तत्त्वावधान में बड़े समारोह से सम्पन्न हुई। उक्त अवसर पर विशेष रूप से आमंत्रित पटियाला (पंजाबी यूनिवर्सिटी) के डा० एल०एम० जोशी ने जैन-धर्म की प्राचीनता पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला। राष्ट्र सन्त उपाध्याय श्री अमरमुनिजी द्वारा रचित 'विश्वज्योति महावीर' पुस्तक भटिंडा जिले के वरिष्ठ अधिकारियों को भेंट की। जोशी साहब को भगवती सूत्र—५ भाग (सैलाना) और अन्य जैन ग्रन्थ अर्पित किए। कार्यक्रम की सफलता में एस०एस० जैन सभा के प्रधान सेठ भोजराज जी उ०प्र० श्री टेकचन्द्र जी, मंत्री श्री गोविन्द प्रकाशजी का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

● जयपुर—चोरडिया परिवार में समवेत तपश्चरण। स्व० श्री स्वरूपचन्द्र जी चोरडिया जी की धर्मपत्नी श्रीमती मीनाकुमारीजी ने ६२ वर्ष की आयु में मासखमण जैसा उग्र तप किया है। आपके सुपुत्र श्री उमरावमल जी की धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमलता ने भी मासखमण तथा श्री गुमानमलजी ने ९ व श्री राजमल जी चोरडिया ने ८ तप किये हैं। चोरडिया परिवार में ही श्री चंपालाल जी चोरडिया की धर्मपत्नी ने मासखमण, श्री सौभागमल जी

चोरडिया की धर्मपत्नी ने १४, श्री इन्द्रकुमार चोरडिया की धर्मपत्नी ने अठाई का तप किया है। जयपुर में विराजित श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० के प्रवचन तप-समाराधन में प्रेरणाप्रद रहे हैं।

—पार्श्वकुमार महेता।

● जीवदया-मंडल घोडनदी (पूना)—महाराष्ट्र में दुष्कालिक सेवा का महत्वपूर्ण कर रहा है। हजारों ही अभावग्रस्त लोगों को दोनों समय भोजन दिया गया है, और मूक पशुओं की रक्षा की है। मंडल के प्रमुख श्री प्रेमराज फौजमल खाविया प्राणपण से सेवा में लगे हैं। उदार दानी सज्जनों से आर्थिक सहयोग की महती अपेक्षा है।

● अंबाला—लाला अमरनाथ जैन, भू० पू० अध्यक्ष एस० एस० जैन सभा, पंजाब का दिनांक ११-१०-७२ को आकस्मिक निधन, जैन संघ की एक बहुत बड़ी क्षति है। स्वर्गीय लालाजी बड़े ही उदार दानी, सेवा-भावी, मिलनसार सज्जन थे। उनके सुपुत्रों ने पुण्य-स्मृति में ११९०१ दानराशि विभिन्न संस्थाओं को अर्पण की है। अमर भारती को भी ५१) भेंट किए हैं। अमर भारती परिवार की ओर से स्व० आत्मा के प्रति स्मरणांजलि।

● श्वे० स्था० जैन-कन्या विद्यालय, मद्रास के वार्षिक चुनाव में पद्म-श्री मोहनमलजी चोरडिया—अध्यक्ष, श्री मानकचन्द्रजी सेठिया—उपाध्यक्ष, श्री पी० एस० चोरडिया—मंत्री तथा श्री मदनचन्द्रजी दरडा—कोषाध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं। संस्था प्रगति पर है।

● बंगलोर—टेनरी रोड जैन स्थानक में श्रमण संघीय घोर तपस्वी श्री सागरमल जी, पं० श्री अशोक मुनि जी आदि का चातुर्मास है। धर्म प्रभावना का ठाठ लग रहा है। आठ मास खमण के पारणे एक साथ हुए हैं। श्री सुखराजजी गोलेछा ने २१ तथा उनकी धर्मपत्नी सौ० रतनबाई ने ११ की तपस्या की है। उसके उपलक्ष्य में गोलेछाजी ने दान का लाभ भी लिया है। घोर तपस्विनी श्री धापूबाई के ७८ उपवास हो चुके हैं, आगे बढ़ने के भाव हैं। इससे पूर्व माताजी ६१, ९१ और १११ दिन तक का दीर्घ तप कर चुकी हैं। धन्यवाद!

● आल-इण्डिया दिगम्बर भगवान् महावीर २५०० वां निर्माण महोत्सव सोसाइटी दिल्ली के दरीबां कलां और नई सड़क स्थित दोनों कार्यालय श्री दिगम्बर जैन लालमंदिर, चांदनी चौक दिल्ली—६ पर चले गए हैं। अतः सभी पत्र-व्यवहार उक्त पते पर ही करें।—सुकुमारचन्द्र जैन, प्रधान मंत्री ●

वीरायतन बालिका संघ का राष्ट्रव्यापी प्रचार अभियान

श्रमण भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाणमहोत्सव की स्मृति में, सुप्रसिद्ध जैन इतिहास भूमि राजगृही में प्रस्तावित विराट आदर्श केन्द्र 'वीरायतन' संस्थान का प्रचार कार्य व्यापक होता जा रहा है। सब ओर से जनता का उत्साहपूर्वक सहयोग एवं समर्थन मिलता जा रहा है। कार्यकर्ताओं की निष्ठा और प्रेरणा के कारण कार्य प्रतिदिन आगे बढ़ रहा है।

वीरायतन बालिका संघ-कलकत्ता का प्रथम ग्रुप **'कोकिला' हेमाणी** के नेतृत्व में दिल्ली, आगरा, मेरठ, कानपुर आदि क्षेत्रों में हो आया है, अच्छी सफलता मिली है। दूसरा ग्रुप **'भावना' हेमाणी के** नेतृत्व में, जिसमें निर्मला गांधी, शोभना जैन, तरुलता हेमानी, स्मिता उदाणी, भावना दोशी, रेखा बोरा ने भाग लिया है, साथ ही सुश्री जसवंती बहन मेहता का सहकार प्राप्त रहा है, नागपुर, रायपुर तथा अमरावती आदि क्षेत्रों में अपना शानदार दौरा पूरा कर चुका है।

तीसरा १२ लड़कियों का ग्रुप **कुमारी मीना गांधी** लोनावला की अध्यक्षता में तथा सुश्री शान्ता बहन की संरक्षकता में सौराष्ट्र-गुजरात में भ्रमण कर रहा है। **राजकोट में कुमारी शोभा जैन (आयु १५ वर्ष) ने अवधानों का प्रयोग करके अपनी सहज प्रतिभा का जो चमत्कार दिखाया है, उससे विराट जनसमूह मंत्रमुग्ध हो गया। गुजरात के जयहिंद जैसे सुप्रसिद्ध दैनिक पत्रों में कु० शोभना की मुक्त-मन से प्रशंसा की गई है।** अतः बालिकाओं के सुव्यवस्थित प्रचार से प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध राजकोट संघ ने वीरायतन को उल्लेखनीय सहयोग दिया है। यात्रा सौराष्ट्र में आगे बढ़ रही है। इसी प्रकार **श्री नीला बखारिया कलकत्ता की अध्यक्षता में** एक ग्रुप महाराष्ट्र की यात्रा पर है। यह यात्रा भी सफलता के साथ अपने पथ पर अग्रसर है। आशा है, सभी धर्म प्रेमी भाई बहन इस कार्य में अपना तन, मन, धन से सभी प्रकार का सहयोग अर्पण करेंगे।

वीरायतन बालिका संघ की कर्मठ सदस्याएँ सौराष्ट्र (गुजरात) की प्रचार यात्रा पर



प्रचार के लिए और भी ग्रुप तैयार हो रहे हैं। जिन धर्म प्रेमी बालिकाओं को इस पुण्य कार्य में अभिरुचि हो, वे सादर आमंत्रित हैं। निम्नलिखित पता (एड्रेस) पर पत्र द्वारा सूचित करें।

C/o जैन कामानी भवन ३-C, राय स्ट्रीट, एलगन रोड, कलकत्ता-२०

विशेष

वीरायतन की भावना से दीपावली पर्व के कार्ड भी, जो बहुत सुन्दर एवं नयनाभिराम हैं, जिनमें भारतीय एवं जैन संस्कृति की दिव्य भावना प्रतिबिम्बित है, जो राजगृह की ऐतिहासिक गिरिमाला के चित्रों से सुसज्जित हैं, तैयार किए गए हैं। जो भाई-बहन चाहें, वे उपर्युक्त कमानी भवन के पते से अथवा गुजराती जैन स्थानक २७, पोलक स्ट्रीट, कलकत्ता-१ से सम्पर्क स्थापित करें।

—चारु देसाई, अध्यक्ष—वीरायतन बालिका संघ

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।

श्री अमर भारती

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

इस अंक की भेंट :

★

प्रेरणा :
—श्री अखिलेश मुनि
मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

●

दिशा निर्देश :
—श्री विजयमुनि, शास्त्री

●

व्यवस्थापक एवं संपादक :
चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
रामधन शर्मा, बी० ए०, एल० टी०,

●

प्रकाशक :
—श्री सोनाराम जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा-२

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

शुल्क विवरण :
आजीवन · एक सौ एक रुपये
पांच वर्ष · इकतीस रुपये
तीन वर्ष · इक्कीस रुपये
वार्षिक · आठ रुपये
एक प्रति · पचहत्तर पैसे

हिमाचल प्रदेश एवं राजस्थान सरकार द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक पत्र

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

वर्ष ९ | दिसम्बर ७२ | अंक १२

व न्द ना

सम्यग्दर्शनसंपन्नाः पशवोऽपि सुरा मताः ।
सम्यग्दर्शनहीनास्ते पशवो हि सुरा अपि ॥

जो आत्मा सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हैं, वे शरीर से भले ही पशु की योनि में हों, अन्तस्तत्त्व के विकाश की दृष्टि से वस्तुतः देव हैं। और जो सम्यग्-दर्शन से शून्य हैं, वे शरीर से देव होते हुए भी अन्दर में पशु हैं।

सम्यग्दर्शन ही वह दिव्य दृष्टि है, जो सत्यासत्य एवं हिताहित का सम्यग् विवेक करती है। इस दिव्य ज्योति के अभाव में बाह्य विभूति एवं ऐश्वर्य के दीप्तिपूर्ण प्रकाश का भी कुछ मूल्य नहीं है। अध्यात्मज्ञानी की दृष्टि में सम्यग्दर्शन से संपन्न पशु भी देव है और उससे हीन देव भी पशु है। शरीर से पशु होने पर ही कोई पशु नहीं होता है, और न देव होने पर ही कोई देव होता है। देव का अर्थ दिव्य है। और वह दिव्यता आध्यात्मिक विभूति ही वास्तव में है, जो पशु को भी देवत्वेन पूज्यता प्रदान करती है।

साम्राज्यमात्मभूपस्य सर्वतः खल्वकण्टकम् ।
देहेन्द्रियादयो दासास्तदाज्ञापालने रताः ॥

आत्मा सचमुच में ही सम्राट् है। उसका निष्कण्टक साम्राज्य सब ओर परिव्याप्त है। देह, इन्द्रिय और मन आदि उसके दास हैं, जो निरन्तर अपने स्वामी की आज्ञा के पालन में अनुरत हैं।

साधकजीवन की एक बहुत पुरानी शिकायत है कि देह, इन्द्रियां और मन बड़े स्वच्छन्द हैं, ये निरन्तर साधक को उत्पीड़ित करते रहते हैं। परन्तु यह शिकायत सही नहीं है। आत्मा देह आदि का दास नहीं है, अपितु स्वामी है। आत्मा का साम्राज्य अबाधित रूप में सर्वत्र फैला हुआ है, यदि किसी आत्मा को स्वयं का तथा स्वयं की अपराजित शक्ति का सम्यक् परिबोध हो तो।

शरीर हो या इन्द्रियाँ हों, मन हो या और कुछ हो। ये सभी साधक की आत्मा के सेवक हैं। सेवक सेवा करने के लिए हैं, स्वामी पर शासन करने के लिए नहीं। सेवक तभी स्वामी पर शासन करता है, जब स्वामी मूर्ख हो, दुर्बल हो। जिसे स्वयं का बोध न हो, उस पर कोई भी शासन कर सकता है, उसे मन-चाहा नचा सकता है। अतः 'स्व' का अज्ञान ही सबसे बड़ा अज्ञान है। और अज्ञान दूर होता है, सम्यग्दर्शन के प्रकाश से। सम्यग्दर्शन ही अनुभूति कराता है कि आत्मन् ! तू दास नहीं, सम्राट् है। तेरे साम्राज्य में कौन कोई दखल दे सकता है। देह, इन्द्रियाँ और मन सभी तेरी आज्ञाओं का बिना किसी ननुनच के पालन करने वाले विनीत सेवक हैं। तू अच्छी तरह सोच-समझ कर, अपनी शुभ शक्ति को तोल कर आज्ञा दे। फिर देख, आज्ञा का पालन होता है या नहीं ? 'नहीं' का कोई प्रश्न ही नहीं है।

आत्मसंदर्शनप्रीतिर् यत्र तत्रास्ति भव्यता।
भव्यता यत्र तत्रैव सिद्धत्वमजरामरम् ॥

भव्य आत्मा वह है, जिसे अपने आत्म दर्शन में प्रीति है, रुचि है, निष्ठा है। और जहाँ पर भव्यता है, वहीं अजर-अमर सिद्धत्वभाव की प्राप्ति है।

शास्त्र की परिभाषा में भव्य वह है जो मोक्ष प्राप्ति के योग्य है, और अभव्य वह है, जो इसके अयोग्य है। परिभाषा तो ठीक है। परन्तु प्रश्न है भव्य की पहचान क्या ? यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न है। यदि शब्दों के जंगल में न भटकना हो, थोड़े से में ही वास्तविकता का अन्तर्मर्म समझना हो तो समझा जा सकता है कि भव्यता की पहचान आत्म-दर्शन की सम्प्रीति है। स्व-स्वरूप के सम्यग्-दर्शन की निष्ठा ही भव्यता है। साधना का यह पहला चरण है। जहाँ पर जागृत भव्यता है वहाँ अजर-अमर सिद्धत्व भाव की उपलब्धि का होना सुनिश्चित है। सिद्धि स्वरूपदृष्टि में है। सुप्त भव्य में वह नहीं होती है। जो भव्य जागृत हो जाता है, जिसके अन्तर में स्वरूप-दृष्टि जागृत हो जाती है, उसके लिए सिद्धि दूर नहीं है।

स्वात्मैव मंगलं लोके स एव सकलोत्तमः।
अतस्तस्यैव स्वीकार्यं, शरणं क्लेशनाशनम् ॥

अपनी आत्मा ही मंगल है, कल्याण है। वही लोक में सर्वोत्तम है। अतः शरण की अपेक्षा हो तो अपनी आत्मा का ही समग्र कलेशों का नाश करने वाला शरण स्वीकार करना चाहिए।

आज से नहीं, कब से आत्मा मंगल की तलाश में है। हर आत्मा भटक रहा है मेरा मंगल हो, कल्याण हो। इसके लिए वह दर-दर भटक रहा है, अनेक मिथ्या विश्वासों का शिकार हो रहा है। फिर भी उसे मंगल नहीं मिल रहा है। उसे पता नही, तुझसे बढ़कर तेरा मंगल और कौन होगा? तू ही तो विश्व में सर्वोत्तम है। तुझ से बढ़कर श्रेष्ठ और कोई नहीं है। तेरी एक ज्ञान किरण के समक्ष कोटि-कोटि चन्द्र सूर्यों का प्रकाश हतप्रभ है। तेरी सहज आनन्द मधु की एक बूंद के समक्ष समग्र क्षीरसागर फीका है, नीरस है। यदि तू सत्पथ पर चलता है तो अपना मंगल तू स्वयं ही है। किस की शक्ति है, जो तेरे मंगल को अमंगल बना दे।

दूसरी बात शरण की है। दुर्बल आत्माएँ स्वयं के कर्तृत्व से निराश हो जाती हैं। उन्हें लगता है, हम कुछ नहीं कर सकते। हम गिरे हुए हैं। स्वयं नहीं उठ सकते। कोई आए, हमें उठाए। हमें शरण चाहिए। और ये शरण की तलाश में अनेक हजार देवों की मिथ्या कल्पना करते हैं, उनके आगे मस्तक रगड़ते हैं, आंसू बहाते हैं, पूजा के नाम पर बलि आदि के रूप में नाना प्रकार के जघन्य पापाचरण करते हैं। फिर भी इन्हें शरण नहीं मिलती है, इनका त्राण नहीं होता है। अतएव तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों ने कहा है, आत्मन्! तू किस की शरण मांगता है, कौन है शरण तेरा? तेरा शरण तू स्वयं ही तो है। तेरा उद्धार तेरे हाथों में है। तू मिट्टी का ढेला नहीं है, जो तुझे आकर कोई उठाए। तू तो चैतन्य है। तू स्वयं गिरता है, स्वयं उठता है। भगवान् से भी उठाने की प्रार्थना मत कर। जो स्वयं नहीं उठता, भगवान् भी उसे नहीं उठा सकता। इसीलिए कहा है—

सखे, मेरे बन्धन मत खोल।
स्वयं बंधा हूँ स्वयं खुलूंगा,
तू न बीच में बोल!

●

इतिहास के स्वर्णाक्षरों में कार्तिक पूर्णिमा :

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र

—उपाध्याय अमरमुनि

आज कार्तिक पूर्णिमा है। कार्तिक पूर्णिमा का ध्यान आते ही प्राचीन भारत का एक सांस्कृतिक पर्व, जिसे कौमुदी महोत्सव कहा जाता था, मेरी स्मृति में उभर आता है। कौमुदी का अर्थ है—चांदनी! चंद्रमा की शुभ्र-शीतल ज्योत्स्ना! शरद पूर्णिमा की चांदनी का एक विशेष महत्त्व है, किन्तु कार्तिक पूर्णिमा की चांदनी भी कुछ कम महत्त्व की नहीं होती है। बारह पूर्णिमाओं में चार पूर्णिमाओं (चैत्र एवं वैशाख की पूर्णिमा तथा आश्विन एवं कार्तिक की पूर्णिमा) का कुछ विशेष सांस्कृतिक महत्त्व है। इन पूर्णिमाओं के साथ भारत की सांस्कृतिक परम्परा तथा लोकजीवन की विशेषताएँ जुड़ी हुई हैं।

कौमुदीमहोत्सव :

जैन एवं बौद्ध आगमों तथा अन्य ग्रन्थो में कौमुदी महोत्सव की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का दर्शन आज भी किया जा सकता है। यह पर्व किसी वर्गविशेष, या धर्मविशेष का नहीं था, सम्पूर्ण नगरजनों का सामूहिक पर्व था। बालक, युवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, श्रीमंत व दरिद्र सभी इस पर्व के आनन्द उल्लास में सम्मिलित होते थे। यहाँ तक कि सेनापति, महामात्य और सम्राट भी सर्व-साधारण जनता के साथ घुलमिल कर उत्सव का आनन्द लेते थे। कहीं यक्ष पूजा होती थी, कहीं इन्द्र पूजा। उद्यानों में बड़े-बड़े भोज होते थे। लोग गाते-बजाते और मुक्त वातावरण में सहर्ष क्रीडाएँ करते थे। सम्राट जनता का सीधा परिचय प्राप्त करता था, उनके साथ एक साधारण नागरिक की तरह मनोरंजन में सम्मिलित होता था, और जनता भी बिना किसी भय व संकोच के उस दिन अपने सम्राट के साथ समानता व एकता की आत्मीय अनुभूति करती थी। आगमों में जो बचे-खुचे वर्णन आज उपलब्ध होते हैं, उन पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौमुदी महोत्सव एक सामूहिक

जन-चेतना का पर्व था। समष्टि के साथ समानता की अनुभूति का पर्व था। इस दृष्टि से मैं इसे महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक चेतना का पर्व मानता हूँ, जिसके माध्यम से भारतीय संस्कृति का मूल रूप सम्पूर्ण अखण्डता के साथ प्रकाशित होता है।

कौमुदी महोत्सव की परम्परा प्रथा के रूप में आज प्रायः समाप्त हो गई है। परम्परा प्रथारूप में समाप्त हो सकती है, किन्तु इतिहासरूप में वह सदा जीवित रहती है। परम्परा का विचार कभी मरता नहीं, वह नये-नये रूप में प्रकट होता रहता है। परम्परा का प्रवाह मूल रूप में पहाड़ के झरने की भाँति प्रायः विशुद्ध एवं निर्मल होता है, उसके प्रारम्भ का चिन्तन लोकोपकारी होता है, किन्तु आगे चलकर उसमें रूढ़ियों का मैल आ जाता है, कचरा भर जाता है और ऐसा लगने लगता है कि परम्परा का निर्मल प्रवाह दूषित हो गया है। किन्तु फिर कभी कोई महापुरुष आता है, जो उस मैल व कचरे को साफ कर देता है, प्रवाह फिर निर्मल और स्वच्छ हो जाता है।

भारत की सांस्कृतिक व धार्मिक परम्पराओं के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही होता रहा है। परम्पराओं के प्रवाह चलते रहे हैं, समय पर उनमें मैल व कचरा भी आता रहा है और फिर उसका निवारण भी होता रहा है।

कार्तिक पूर्णिमा के साथ कौमुदी महोत्सव की परम्परा जुड़ी है, और इसकी स्मृति मुझे आज सहसा हो आई। इस पूर्णिमा के महत्त्व का एक कारण और भी है, उसका भी अपना विशिष्ट मूल्य है।

चातुर्मास की पूर्णाहुति :

आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक का काल चातुर्मास कहलाता है। ये चार मास ऐसे हैं जिनमें अन्तर्लोक के सांस्कृतिक जागरण व उत्कर्ष की साधना की जाती है। भारत के प्रत्येक संप्रदाय के प्रायः सभी साधु-संत, चातुर्मास काल में एक स्थान पर उपस्थित होते हैं। जिस क्षेत्र व स्थान पर वे ठहरते हैं, वहाँ स्वतः ही धार्मिक वातावरण, नैतिक तथा सांस्कृतिक जागरण का एक पवित्र वायुमंडल ही बन जाता है। चार मास की उस सतत जागृति व साधना की पूर्णता कार्तिक पूर्णिमा को होती है। एक ही स्थान पर प्रवाहित होने वाली ज्ञानगंगा मुक्त भाव से जन-समाज में बह निकलती है। संत जंगम तीर्थ है। और उक्त पूर्णिमा के बाद यह जंगमतीर्थ गाँव-गांव, नगर-नगर में घूमता है, जनमन को पावन करता है। इसलिए

आज के दिन के साथ अध्यात्म एवं नैतिक जागृति का एक नया मोड़ प्रारंभ होता है, जो अपने में एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक यात्रा है।

विराट प्रज्ञालोक आचार्य हेमचन्द्र :

कार्तिक पूर्णिमा के इतिहास पर जब दृष्टि जाती है तो लगता है कि इसका सूत्र भारत के अनेकानेक महापुरुषों के साथ जुड़ा हुआ है।

आचार्य हेमचन्द्र, जिन्हें मैं केवल गुजरात व जैन संस्कृति का ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति का विश्वकर्मा मानता हूँ। उन्होंने अपनी अनेकानेक मौलिक कल्पनाओं से भारतीय संस्कृति के स्वरूप को परिपूर्ण किया है। कार्तिक पूर्णिमा के साथ उनकी जन्मस्मृति जुड़ी हुई है।

भारत के दक्षिण-पश्चिम अंचल के एक दिव्य खण्ड में, जो गुर्जरधरा के नाम से सु-प्रसिद्ध है, उदित हुआ वह दीप्त नक्षत्र एक दिन संपूर्ण भारत के सांस्कृतिक क्षितिज पर सहस्ररश्मि सूर्य की भाँति चमक उठता है, अपने ज्ञानालोक से दर्शन, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, राजनीति, लोकनीति आदि के समस्त अंचलों को उद्‌भासित कर देता है। जन-जीवन को एक नवीन स्फूर्ति और आशा से भर देता है। जिसे युग पहले पहल 'गुर्जर सर्वज्ञ' (गुजरात का सर्वज्ञ) के नाम से सम्बोधित करता है, पर आगे चल कर जब यह विशेषण उनके ज्ञानालोक की अर्थवत्ता का परिबोध कराने में अपूर्ण और अधूरा पड़ता है, तो लोक-मानस 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहकर उनका अभिनन्दन करता है।

आ० हेमचन्द्र : कितने विनम्र, तितने सरल :

एक सामान्य वणिक्‌कुल में जन्म लेने वाला यह बालक[1] एक दिन दक्षिण-पश्चिम भारत की धर्म नीति और राजनीति का ध्रुव बन जाता है। गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह जैसे पराक्रमी और विद्यारसिक नरेशों को अपनी प्रतिभा से चमत्कृत करता है। अपनी उदार धर्मनीति के कारण उसकी श्रद्धा का केन्द्र बन जाता है और कुशल लोकनीति द्वारा उसके शासन-सूत्र को, राजनीति के प्रत्येक निर्णय को दिशाबोध देता है। आगे चलकर कुमारपाल जैसे पराक्रमी शैव नरेशों को तो वह परमार्हत बना देते हैं। मैं समझता हूँ, यह चमत्कार नहीं तो और क्या है?

---

१. प्रभावक चरित के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा को धंधुआ ग्राम (अहमदाबाद के उत्तर पश्चिम में ६२ मील) के चाचदेव नामक वणिक के घर पर होता है। बालक का जन्म नाम चंगदेव रखा जाता है।

किसी को छोटी-सी भी प्रतिष्ठा मिल जाती है, थोड़ा-सा भी अधिकार प्राप्त हो जाता है, तो आप जानते हैं, वह अपने को क्या कुछ समझने लग जाता है। परन्तु आचार्य हेमचन्द्र कितने सागरवरगंभीर और कितने जलकमलवत् निर्लिप्त हैं कि कुमारपाल जैसे सम्राट उनकी चरणधूलि शिर पर लगाते हैं, शासन के हर जनमंगल निर्णय पर उनकी सम्मति जानना चाहते हैं, और वे फिर भी इतने सरल और विनम्र कि विरोधी उन्हें 'हेमड सेवड:' कहकर अपने आक्रोश की ज्वाला से दग्ध करने का प्रयत्न करते हैं, तो वे सरलता के साथ कमल पुष्प के समान मुस्करा देते हैं और उसमें संशोधन उपस्थित करते हैं—"भाई, व्याकरण की दृष्टि से 'हेमड सेवड:' अशुद्ध है, 'सेवड हेमड:' शुद्ध है। 'सेवड' विशेषण है, अत: विशेषण का पहले प्रयोग होना चाहिए न?", विनम्रता और सरलता का कितना बेजोड़ उदाहरण है।

करुणा व स्नेह का अमृत सरोवर :

आचार्य हेमचन्द्र के चरित्र का सबसे विलक्षण रूप यह है कि वह जितना गम्भीर, चिंतक और सुदृढ़ है, उतना ही विनम्र, सरल और करुणा एवं स्नेह से परिपूरित है। उनके जीवनचित्र को सूक्ष्मता से देखने पर ऐसा लगता है कि अमृत सरोवर की उच्छल लहरों का एक दिव्य आवर्त उस पर मंडराया हुआ है। किसी लहर में विनम्रता की कणिकाएं हैं, तो किसी में सरलता का शीतल-स्पर्श ! किसी में मन की स्वच्छता की दुग्ध धवलिमा है, तो किसी में करुणा व स्नेह का सात्विक वेग है। उनके जीवन की अनेकानेक घटनाएँ मेरे स्मृति पटल पर उभर रही हैं, जिनमें उनके चरित्र की गरिमा छन-छन कर सामने आ रही हैं।

एक बार की बात है। आचार्य हेमचन्द्र विहार करते हुए राजधानी पाटन में आ रहे थे। पाटन से कुछ दूर आचार्य एक छोटे से गांव में ठहरे। वहाँ एक गरीब विधवा बहन थी, आय का कोई साधन नहीं होने से सूत कातती और मोटा-सोटा कपड़ा बुनकर बड़ी कठिनाई से अपना जीवन चला रही थी। उस बहन के भावनाशील मन में आचार्य को अपने हाथ से काते हुए सूत की चादर बहराने की प्रबल भावना जागृत हुई। आचार्य श्री से आग्रह किया तो बहन की श्रद्धा और भावना ने आचार्य को गद्गद् कर दिया। अत्यन्त श्रद्धा से दी हुई वह चादर आचार्य ने ग्रहण कर ली और उसी चादर को धारण किए वे पाटन में पधार रहे थे।

सम्राट कुमारपाल जब अपने गुरुदेव के स्वागत में अगवानी के लिए पहुँचा और उनके शरीर पर यह मोटी खादी की चादर देखी तो पहले ही क्षण

चौंक उठा ! अनन्तर विनम्र प्रार्थना की कि–"आचार्यप्रवर ! यह क्या ? आप सम्राट कुमारपाल के गुरु और यह मोटी चादर ? शोभा नहीं देती है आपके शरीर पर । कृपया, दूसरी चादर बदल लीजिए ।"

आचार्य ने सम्राट के मन में अहं की लहर देखी । पूछा–'क्यों ? इसमें क्या बात हो गई ?"

"गुरुदेव ! इससे तो मुझे शर्म आती है । आपके शरीर पर तो बहुमूल्य कौशेय परिधान होना चाहिए... सम्राट के गुरु के योग्य परिधान...... ।"

बात काटकर बीच ही में आचार्य ने ओजस्वी भाषा में कहा "सम्राट ! इस चादर से तुम्हें शर्म आती है ? और जिन गरीबों की यह रोटी रोजगार है, उनकी दयनीय स्थिति पर तुम्हें कोई शर्म नहीं आती ? तुम्हारे जैसे धर्म-निष्ठ सम्राट के राज्य में ऐसी भी गरीब एवं असहाय विधवा बहनें हैं, जिन्हें यह सब श्रम करने पर भी पेट भर खाना नहीं मिलता । मेरे लिए तो यह चादर सादगी का निर्मल शृङ्गार है । इस चादर में जो श्रद्धा, स्नेह व श्रम के सुनहले धागे हैं, वे तुम्हारी रेशमी चादरों में कहाँ मिलेंगे ?"

सम्राट का सिर झुक गया । कहते हैं कि कुमारपाल ने तभी घोषणा की कि राज्य की गरीब व असहाय विधवाओं के लिए शासन प्रति वर्ष एक करोड़ मुद्रा खर्च करेगा ।

यह है आचार्य की करुणा व स्नेह का अमृत सरोवर । जिसकी लहरों ने समाज की दीनता, गरीबी और दुःख की कालिमा का प्रक्षालन किया ।

परंपरा का परिष्कार :

आचार्य के अहिंसा व करुणा के उपदेश से प्रेरित होकर जब सम्राट कुमारपाल ने अपनी कुल देवी के समक्ष पशुबलि बंद करदी, तो कुछ पुजारी-पुरोहितों ने भ्रम फैलाया कि देवी कुपित होकर राज्यको संकट में डाल देगी । सम्राट असमंजस की स्थिति में आचार्य के चरणों में पहुँचे । धैर्य डगमगाया देखकर आचार्य ने इतना सुन्दर समाधान किया कि सम्राटका मन तो स्थिर हुआ सो हुआ, एक ही रात में सम्पूर्ण जनमत भी बदल गया । आचार्य के परामर्श से सम्राट ने देवी के मंदिर में पशुओं को उन्मुक्त छोड़ दिया, कि देवी को यदि बलि अभीष्ट है तो वह अपने आप बलि ले लेगी ! प्रातः जब मन्दिर के द्वार खुले तो सभी पशु आनन्द से हरी-हरी घास चरते मिले । सम्राट ने और जनता ने एक स्वर से स्वीकार किया कि देवी को बलि नहीं चाहिए, बलि स्वार्थी पुजारियों को चाहिए ।"

मैं आपसे बता रहा था कि हजारों वर्षों से चली आती इस हिंसक परंपरा को आचार्य ने कितने सहज और मधुर समाधान के साथ समाप्त कर दिया। परंपरा एक रूढ संस्कार बन जाती है उन बद्ध संस्कारों को बदलना सहज नहीं होता। उनके पीछे प्रबल जनमत होता है। अतः जनता के चिरागत संस्कार और विचार-प्रवाह को बदल देना और वह भी मधुरता तथा सरलता से। वस्तुतः यह एक महान दिव्य कार्य था।

आचार्य हेमचन्द्र में पुरानी परंपरा को नया रूप देकर उसे समाजोपयोगी बनाने की अद्भुत कला थी। वस्तुतः यह एक विलक्षणता ही थी कि उन्होंने पुरानी ज्योति को बुझने नहीं दिया, उसी में नया स्नेह दान करके उस ज्योति को आगे से आगे नये रूप में प्रज्वलित करते गये। पुराने प्रकाश और तेज को अक्षुण्ण रखकर जनचेतना को सतत नव जागरण देना---यह आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा का चमत्कार है।

नव साहित्य सर्जक :

दर्शन और साहित्य के चलते आये पुराने मानदंडों, परिभाषाओं और विचारस्रोतों को उन्होंने नई दिशा दी, नया रूप दिया। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में उन्होंने अपने युग का सर्व श्रेष्ठ और सर्वांगपूर्ण व्याकरण श्री सिद्धहैम शब्दानुशासन तैयार कर दिया। सरल सक्षम सूत्र योजना और सुगम संज्ञाओं के कारण उस युग का विद्वद्वर्ग इस व्याकरण पर मुग्ध हो उठा। जिसकी कमनीयता के सम्बन्ध में आज भी यह उक्ति प्रसिद्ध है—"**श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्री सिद्धहेमोक्तयः।**"[1] तत्कालीन संस्कृतभक्त विद्वत्-समाज में प्राकृत भाषा की प्रतिष्ठा और सुव्यवस्थित भाषा शास्त्र की दृष्टि से उन्होंने प्राकृत व्याकरण की भी संरचना की, जो सिद्ध हेमशब्दानुशासन के आठवें अध्याय के रूप में प्रस्तुत हुआ है। व्याकरण ज्ञान को काव्य की मधुरता के साथ प्रस्तुत करने के लिए दण्डी की तरह उन्होंने भी द्व्याश्रय काव्य का निर्माण किया और वह भी एक नहीं, बल्कि दो-दो। संस्कृत द्व्याश्रय महाकाव्य और प्राकृत द्व्याश्रय महाकाव्य।

कोश भाषाज्ञान की मूल संपत्ति होती है। संस्कृत कोषकारों में जहाँ धनंजय और अमर सिंह का नाम आता है, वहाँ उनसे भी अधिक आदर के

---

१. **भ्रातः संवृणु पाणिनिप्रलपितं कातन्त्रकन्था वृथा,**
मा कार्षीः कटु शाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयत्यात्मानमन्यैरपि,
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्री सिद्धहेमोक्तयः॥

साथ आचार्य हेमचन्द्र का नाम लिया जाता है। उन्होंने एक नहीं, बल्कि चार कोशों की रचना की, जिनमें अभिधान चिन्तामणि तो एक विशालकाय कोश है।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। साहित्य का कोई भी अंग उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा। वाग्भट और मम्मट की तरह उन्होंने काव्य-शास्त्र के विशद विज्ञान हेतु काव्यानुशासन का प्रणयन किया, जिसमें कुछ परिभाषाएँ तो बहुत ही मौलिक और नवीन हैं। काव्य के पुराने प्रयोजन **'यश से, अर्थकृते....कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'**—आदि जो चले आरहे थे, उसमें आचार्य ने एक सर्वथा नवीन प्रयोजन—**'काव्यमानन्दाय'** और जोड़ा, उसी का **'स्वान्तः सुखाय'** रूप वर्तमान में सर्वाधिक सृजनात्मक प्रेरणा के रूप में माना गया है।

जैन जगत के व्यास :

महाभारत के लिए एक कहावत है—**"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्"**—जो इसमें है, वही दूसरी जगह है, जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित के सम्बन्ध में भी यदि यही बात कही जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।[1]

भगवान् आदिनाथ से लेकर महावीर तक के जैन इतिहास को संकलित करने का भगीरथ प्रयत्न सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक नियुक्ति में किया था। पर वह इतिहास इतना संक्षिप्त व संकेत मात्र था कि बिना टीका व भाष्य के उसे केवल स्मृतिसंकेत (नोट्स) मात्र कहा जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कमी को पूरा किया। उन्होंने भगवान् ऋषभदेव से लेकर अपने युग तक के संपूर्ण जैन इतिहास को एक क्रमबद्ध रूप दिया, परम्परा दी और वह भी काव्यात्मक शैली में। त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित के माध्यम से न केवल जैन परंपरा का एक विशद इतिहास उपस्थित होता है, अपितु महाभारत की तरह उसमें भी अध्यात्म, संस्कृति, नीति, धर्म और आचार की अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ भरी हुई हैं। मैं तो मानता हूँ आचार्य ने इस रचना के द्वारा जैन साहित्य की बहुत बड़ी रिक्तता को भरा है, जैन परम्परा व इतिहास को एक अमरता प्रदान की है। वैदिक साहित्य में जो स्थान महाभारतकार व्यास का है, लगभग वही स्थान जैन-साहित्य में आचार्य हेमचन्द्र का है। वे जैनजगत के व्यास कहे जा सकते हैं। जिन्होंने जैन साहित्य को सर्वांगता, एवं संपूर्णता प्रदान की है।

१—महाभारत जिस प्रकार हिन्दू संस्कृति का प्रमुख इतिहास ग्रन्थ माना जाता है, उसी प्रकार त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित भी जैनधर्म व संस्कृति का महान् इतिहास ग्रन्थ है—यह निःसंदेह कहा जा सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र की कृतियों को जब कभी पढ़ने का अवसर मिलता है, तो मेरे मन में एक सहज श्रद्धा स्फुरित हो उठती है कि वह महान आचार्य सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी था। 'सर्वतोमुख' शब्द मैं सामान्य अर्थ में नहीं, किन्तु एक विशेष अर्थ में कह रहा हूँ। भारतीय धर्म की एक कल्पना है कि ब्रह्मा के चार मुख होते है। हमारे यहाँ तीर्थंकरों के लिए भी यह कहा जाता है कि समवसरण में उनके मुख चारों ओर दिखाई देते हैं। यह एक अतिशय माना गया है। शब्द सत्य के रूप में लोगों को यह बात अटपटी लगती है, किन्तु हम यदि शब्द के आवरण को हटाकर भाव का स्पर्श करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि जिस व्यक्ति का ज्ञान सर्वांगीण होता है, वह जीवन के किसी भी पार्श्व को छू ले, प्रकाश ही प्रकाश जगमगाता मिलेगा। जिसका संपूर्ण जीवन ज्ञानालोक से प्रदीप्त होगा, उसे हम ब्रह्मा, सर्वज्ञ, चतुर्मुख या सर्वतोमुख आदि शब्दों से पुकारते हैं। प्रतिभा की इसी विलक्षणता एवं व्यापकता के कारण उन्हें **'कलिकाल सर्वज्ञ'** के विरुद से भूषित किया गया। साहित्य के क्या, जीवन के किसी भी अंग को उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा—यह एक विलक्षण बात है। कभी-कभी सोचता हूँ उनकी प्रतिभा में भारतीय इतिहास की सहस्रों प्रतिभाएँ एक साथ समाहित हो गई हैं। त्रिषष्टि शलाका चरित देखने पर वे जैनजगत के विद्यापीठ पर व्यास के समकक्ष खड़े प्रतीत होते हैं। व्याकरण उठाकर देखता हूँ तो पाणिनि और शाकटायन से भी आगे बढ़े लगते हैं। प्रमाणमीमासा का अध्ययन करते हैं तो लगता है वे सुप्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्म कीर्ति की धवलकीर्ति के धनी हैं। दो-दो द्वयाश्रय महाकाव्यों को पढ़ते ही महाकवि दण्डी के साथ उनकी तुलना करने का जी होता है। काव्यानुशासन का अध्ययन करने पर मम्मट और वाग्भट के साथ आचार्य को प्रतिष्ठित करने का संकल्प जग जाता है। अभिधानचिन्तामणि जब देखें तो अमर और धनंजय की प्रतिभा का समावेश आचार्य में होता प्रतीत होता है और योगशास्त्र का अवलोकन करने पर योगदर्शनकार पतंजलि की स्मृति हुए बिना नहीं रहती। अर्हन्नीति का अध्ययन करने पर लगता है, यह जैन जगत् का मनु उपस्थित हो रहा है। इस प्रकार उनकी सर्वांगीण प्रतिभा पर मन श्रद्धा से झूम-झूम जाता है।

आज कार्तिक पूर्णिमा के दिन भारतीय क्षितिज के संपूर्ण कला मंडित कलाधर आचार्य हेमचन्द्र की यह स्मृति हमारे मन मस्तिष्क को गुदगुदा रही है। और उनके विलक्षण कृतित्व से एक ओर दिव्य प्रेरणाएँ जग रही हैं, तो दूसरी ओर मन श्रद्धाविमुग्ध हुआ पुलक रहा है।

●

कार्तिक पूर्णिमा का एक और दिव्य नक्षत्र

धर्मक्रांति के सूत्रधार : लोंकाशाह

—उपाध्याय अमरमुनि

कार्तिक पूर्णिमा के साथ जहाँ एक ओर आचार्य हेमचन्द्र की स्मृति साकार हो रही है, वहाँ धर्मप्राण लोंकाशाह की धर्म-क्रांति का चित्र भी आज हमारे स्मृति पटल पर छविमान हो रहा है। एक साथ दो-दो महापुरुषों के दिव्य जीवन का आलोक आज हमें मिल रहा है। आचार्य हेमचन्द्र ज्ञानमूर्ति थे। उनकी ज्ञान साधना का दूसरा प्रतिरूप कलियुग में मिलना दुर्लभ है। उनका साहित्य इन्द्र धनुष के समान बहुरंगी है। मैंने इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। अब मुझे धर्ममूर्ति लोंकाशाह के जीवन पर भी कुछ कहना है। श्री शाह धर्मक्रान्ति के अग्रदूत थे, सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी की पृष्ठ भूमि :

जैन इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु तक जैन परम्परा एक अखण्ड प्राणवान् परंपरा रही है। भद्रबाहु के पश्चात् जैन संघ दिगम्बर श्वेताम्बर के रूप में दो टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। इसका परिणाम होता है कि उसकी तेजस्विता धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। पूर्व भारत, जो कभी श्रमण परंपरा का केन्द्र रहा था, वह अब शून्य होने लगता है और जैन श्रमण भारत के दक्षिण तथा पश्चिम अंचल में चले जाते हैं। दक्षिण में जाने वाले जैन श्रमण अधिकांश दिगम्बर श्रमण होते हैं। दक्षिण भारत में जहाँ शंकराचार्य के अद्वैत और रामानुजाचार्य के स्पृश्यास्पृश्य धर्म का बोलवाला रहा है, जैन विचार उससे बहुत दिन तक अप्रभावित नहीं रह सका। ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे परिस्थियों व जन-प्रवाह के साथ सामंजस्य बिठाने के लिए जैन-धर्म

का एक दक्षिण भारतीय संस्करण तैयार हो गया, जिसकी आदि में वेदान्त (निश्चयनय) की भूमिका लिखी गई तो उसके अगले पृष्ठों पर स्त्री अनिर्वाण, शूद्रान्न परिहार आदि अध्याय जुड़ गए। चूंकि ये विचार जैन-धर्म के मूल विचार नहीं थे, अतः उत्तर पश्चिम भारत के जैन श्रमण इस परंपरा से बिलकुल दूर, और कहीं-कहीं तो प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी खड़े हो गए।

भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में जो श्रमण परंपरा फैली, उसमें प्रायः श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण थे। मैं नहीं मानता कि यह परम्परा भी अपने मूल रूप में अविचल एवं अक्षुण्ण रही हो। यदि वैसा हुआ होता तो क्रान्ति की बात सर्वथा असंगत-सी प्रतीत होती। बड़े-बड़े मठों और मठाधीशों के सामंतशाही वातावरण में जो मीठा चेपी रोग छिपा था, उसने धीरे-धीरे जैन श्रमणों को भी आक्रांत कर लिया। वे भी चैत्य और धर्म प्रभावना के नाम पर धन की बरसा कराने लगे, जिन पूजा और जिन भक्ति के नाम पर बड़े-बड़े आडंबर रचे जाने लगे। श्रमण वर्ग अपने '**सज्झायझाणरए स भिक्खू**' के आदर्श से हटकर, लोकसंग्रह में जुट गया। 'अणगार' और 'अणिकेयचारी' कहलाने वाला श्रमण अब चैत्यवासी और उपाश्रय-उपधिधारी बन रहा था। राजाओं, बादशाहों, ठाकुरों आदि को यंत्र मंत्र-तंत्र का चमत्कार बताकर राजकीय सम्मान और अधिकार प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा में कूद पड़ा। भले ही इन सबके पीछे जैनधर्म और संघ की प्रभावना का उद्देश्य रहा हो, पर यह भी मानना होगा कि यह रास्ता गलत था, इससे जैन संघ की मूलभित्ति सुदृढ़ नहीं हुई। हां कुछ आचार्यों व मुनियों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और महिमा में अवश्य ही चार-चांद लगगए।

मैं यह तो नहीं मानता कि कोई भी परम्परा किसी काल में अपने मूल रूप से सर्वथा दूर हट जाती है। श्रुत केवली भद्रबाहु के बाद भी अनेक ज्योतिर्धर आचार्य जैन परम्परा में हुए हैं जिन्होंने इसके गौरव को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया है। कुमारिल्ल, शंकराचार्य, नागार्जुन और धर्मकीर्ति जैसे प्रतिस्पर्धी विद्वानों के आघातों एवं तर्क तूफानों से रक्षा करके इसकी नाव को खेते रहे हैं, बड़ी कुशलता के साथ! यह सब कुछ होते हुए भी श्रमण परम्परा मूलतः अपने अभ्युदय की ओर नहीं बढ़ सकी, स्वेच्छाचार और ऐहिक आकर्षणों से अपने स्वत्व की रक्षा नहीं कर सकी—यह भी खेद के साथ स्वीकार कर लेना पड़ता है। भगवान् महावीर ने धर्मक्रांति की जो गंगा बहाई थी, धीर-धीरे उसमें काफी शैवाल आ गई थी, और उसकी धारा भी प्रायः शुष्क व क्षीण-सी हो गई थी।

परिस्थितियों की विवशता और श्रमणवर्ग की शिथिलता, विचार चिंतन का अभाव और गतानुगतिक वृत्ति का प्राबल्य—ये कुछ चिह्न थे, जो अब किसी नई क्रांति और हल-चल का संकेत दे रहे थे। अतः पन्द्रहवीं शताब्दी पूर्ण होते-होते भारत के उसी पश्चिमांचल गुजरात में लोंकाशाह क्रान्ति का शंखनाद करते हैं।

लोंकाशाह में एक बहुत बड़ा आत्मबल और साहस था कि वे गृहस्थ साधक होते हुए भी श्रमण यति वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति का झंडा उठाकर खड़े हो जाते हैं। एक गृहस्थ साधक के द्वारा धर्म-क्रान्ति का सूत्रपात इतिहास का दुर्लभ सत्य है। साधारण मनुष्य में यह साहस होना बहुत ही कठिन है। एक तो गृहस्थ वैसे ही साधु-सन्यासी से डरा-डरा सा रहता है—वह उसे अग्नि से कम भयानक नहीं मानता—

राजा जोगी अग्नि जल इनकी उलटी रीत।

डरता रहियो परसराम थोड़ी पालें प्रीत॥

और उसमें भी तत्कालीन यतिवर्ग मंत्र-तंत्र के चमत्कारो के लिए भी प्रसिद्ध था, बड़े-बड़े बादशाहों को भी उसने चमत्कार दिखाए थे, उस यति वर्ग से लोहा लेना, उन्हीं की जड़ों पर प्रहार करना, कितना कठिन और साहस का काम था यह? बात यह है कि जिसके पास सत्य का बल होता है उसे कभी किसी से भय नहीं होता, उसका हृदय सदा साहस और आत्म-विश्वास से भरा रहता है।

गंभीर शास्त्र ज्ञाताः

लोंकाशाह का परिचय हमें आज जो मिलता है उसमें सबसे पहली बात यह कही जाती है कि वह एक लहिया (लिपिक) था। उसने शास्त्र लिखते-लिखते जब पढ़े और उनका अर्थ समझा, तो वह चोंक उठा।

मैं सोचता हूं, यह एक अधूरा सत्य है। कोई भी लिपिकार, उस विषय को समझ सके जिसे वह लिख रहा है, आवश्यक नहीं। यदि पुस्तकें देखने और लिखने से ही इतना ज्ञान हो जाता हो तो लिपिकार (नकल करने वाले) तो आज के ये टाइपिस्ट, ये कम्पोजिटर और ये लाइब्रेरियन भी हैं। ये सब से अधिक ज्ञानी बन जाने चाहिएँ। बात यह है कि पढ़ना कुछ और बात है, और उसका मनन-चिंतन करना कुछ और बात है। लोकाशाह

केवल एक लिपिकार ही नहीं थे, वे अध्ययनशील चिंतक भी थे। उनका अध्ययन तलस्पर्शी था। यह बात मैं केवल श्रद्धा के कारण नहीं, किंतु इतिहास के आधार पर कह रहा हूँ। लौकाशाह की दो कृतियां आज प्राप्त होती हैं—'लुंकाना सद्दिया ५८ बोल' और लुंकानी हुंडी ३३ बोल'। इनमें आचारांग, सूत्र कृतांग, भगवती, राजप्रश्नीय, अनुयोग द्वार, प्रज्ञापना आदि अनेक आगम ग्रन्थो तथा आचारांग निर्युक्ति तथा आचारांग वृत्ति, आवश्यक निर्युक्ति, बृहत्कल्प वृत्ति, निशीथ चूर्णि आदि गुरुगंभीर ग्रंथों की जो चर्चा व उनके प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, वे सिद्ध करते हैं कि वह एक सामान्य लिपिकार नहीं, बल्कि आगमों का गंभीर अभ्यासी था।

क्रान्ति का आग्नेय पथ :

लौकाशाह का जीवन यह स्पष्ट कर देता है कि सत्य का साधक कभी असत्य को बरदाश्त नहीं कर सकता। लौकाशाह ने जब आगम के साथ तत्कालीन साधु जीवन और आचार-व्यवहार की तुलना की होगी, तो अवश्य ही उनकी चेतना सहसा चौंक उठी होगी। अहिंसा और करुणा के अवतार भ० महावीर ने भिक्षु के लिए जहाँ एक फूल की पंखुड़ी को छूने का भी निषेध किया है, एक अन्न कण के संग्रह को भी पाप बताया है, वहाँ भक्ति और पूजा के नाम पर फूलों के अनगिनत ढेर कैसे लग सकते हैं, पूर्ण अकिंचन वीतराग की मूर्ति पर सोना और हीरे पन्ने कैसे सजाए जा सकते हैं। समता और वैराग्य प्रधान श्रमण धर्म केवल आडंबर और पूजा प्रतिष्ठा के दलदल में बुरी तरह दब जाए—यह बात किसी भी सत्यशोधक को उद्वेलित कर सकती है। मैं समझता हूँ सत्य की यही प्रबल प्रेरणा लौकाशाह को तत्कालीन श्रमणयति वर्ग के विरुद्ध क्रांति के आग्नेय पथ पर बढ़ा देती है।

जहाँ तक मेरा अध्ययन है, लौकाशाह ने विद्रोह का मर्यादाहीन कठोर पथ नहीं अपनाया था। उनके स्वर में सत्यशोधक की दृढ़ता अवश्य है, पर उसके साथ ही हितचिंतक की मृदुता भी है। वे अपने यति वर्ग और श्रावक वर्ग से विनम्र भाषा में कहते थे—"जो बुद्धिमान हैं, वे मेरी बातों पर विचार करें। विवेकी लोग मेरी बातों को समझें।" सत्य को प्रस्तुत करने की यह मधुर व विचारपूर्ण शैली उनकी क्रांति को व्यापक व सफल बनाने का मूल मंत्र था। यही कारण है कि कुछ ही समय में उनकी क्रांति में एक प्रवाह और बल आ जाता है। लखमसी, जो पाटण का एक बहुत धनाढ्य व्यापारी था, वह लोंकाशाह का समर्थक बन जाता है। धीरे धीरे जनता में विचार क्रांति

की एक लहर दौड़ जाती है, कुछ खलबली-सी मच जाती है और पुरानी परपरा के सिंहासन डगमगाने लगते हैं।[1]

उथल-पुथल का युग :

कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि पन्द्रहवीं शताब्दी विश्व में धर्म-क्रांति की शताब्दी थी। यूरोप में उन दिनों पोप के विरुद्ध जनमत जागृत हो रहा था। जनता में धार्मिक चेतना प्रबुद्ध हो रही थी, और मार्टिन लूथर (जर्मन) जैसे उग्रवादी नेता उसका नेतृत्त्व कर रहे थे। भारत में भी उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक धर्म, समाज और राजनीति में उथल-पुथल थी। पंजाब में गुरु नानकदेव भारत के अद्वैत और अरब के इस्लाम से हिंदू धर्म का नया संस्करण तैयार कर रहे थे, जिसमें समानता और बन्धुता का आदर्श था। पूर्व भारत में कबीर जैसे संत मदिर मस्जिद-दोनों का ही उपहास करके धर्म के बाह्याडंबरों के विरुद्ध क्रांति का शखनाद कर रहे थे।

दक्षिण में उससे भी कुछ पूर्व नामदेव जैसे संतों के स्वर गूंज उठे थे, जो न मंदिर की पूजा में विश्वास करते थे और न मस्जिद की नमाज में।[2] धार्मिक आडंबर, बाह्याचार, मूर्ति पूजा आदि के विरुद्ध समस्त भारत में एक अजब लहर उठ रही थी, जो जन-मानस को शुद्ध और सरल धर्म साधना की ओर उड़ाये ले जा रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोंकाशाह अकेले नहीं, भारत का अधिकांश चिंतक वर्ग उस युग में धार्मिक चेतना और क्रान्ति से आलोदित है।

लोंकाशाह के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि प्रारंभ में उन्होंने केवल साधुवर्ग के शिथिलाचार के विरुद्ध ही आवाज उठाई थी, किन्तु धीरे-धीरे उनका विरोध ज्यों-ज्यों प्रवल होता गया और उसमें विरोध के नये-नये स्फुलिंग स्फुटित होते गये, त्यों-त्यों मूर्तिपूजा-

---

१—उस समय की स्थिति का अंकन करते हुए लोंकाशाह के समकालीन सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीकमलसंयम ने लिखा है—

डगमगपडियुं सघलउ लोक, पोसालइ पणि आवइ थोक।
लुंकइ बात प्रकासी इसी, तेहनुं शिष्य हुउ लखमसी।

—कुमतकंदली कृपाणिका (वि० १५४४)

२—हिन्दु पूजै देहरा मुसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, जहं देहरा न मसीत॥ —नामदेव

विरोध, वेषपरिवर्तन आदि की बातें भी उसमें जुड़ती गईं। यह भी हो सकता है कि मूर्तिपूजा के विरोध का वातावरण उस युग में सर्वत्र बन चुका था। इस कारण भी लोंकाशाह की बात को बल मिला हो, और फिर लखमशी आदि के साथ विचार चर्चा में ज्यों-ज्यों नये-नये मोड़ आते गए, त्यों त्यों मतभेद की बातें अधिकाधिक विस्तृत होती गई हों!

इन सब बातों को समझ लेने पर भी यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि लोंकाशाह में एक निष्ठावान् और तेजस्वी व्यक्तित्व निखर रहा था। जिस सत्य के दर्शन उन्होंने किए उसे प्रकट करने में कभी कतराये नहीं। जिस ज्योति को उन्होंने स्वयं प्राप्त किया, उसे तूफानों और प्रभंजनों के बीच भी जलाते ले गए। सत्य के लिए उन्होंने लोक प्रतिष्ठा का व्यामोह छोड़ा, जीवन की सुख सुविधाओं का त्याग किया, बड़े से बड़े विरोध और आतंक का सामना किया। उनकी धर्म क्रान्ति हजारों हजार साधकों के लिए प्रकाश का मार्ग बन गई, जीवन की संबल बन गई। जीवन के अंत में भले ही सुकरात की तरह उन्हें भी विष मिला हो, किन्तु जिसने जीवन भर अमृत का मंथन किया हो, अमृत बांटा हो, वह भला विष से कभी विचलित हुआ है? मैं तो मानता हूँ वह जगत का विष बटोर कर दूर फेंक गया और हमारे लिए सत्य का अमृत छोड़ गया। स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा लोंकाशाह के उस अमृतमंथन का आज भी ऋणी है, और सदा रहेगा।

●

- **मनुष्य जब अपनी सीमा से बाहर जाता है, सीमा से बाहर काम करता है, सीमा से बाहर विचार भी करता है, तब उसको व्याधि हो सकती है, क्रोध आ सकता है।**
- **मनकी गन्दगी जब तक हमने बाहर नहीं निकाली है, तबतक प्रभु की प्रार्थना करने का हमें कुछ हक है क्या?**
- **गुनाह छिपा नहीं रहता। वह मनुष्य के मुख पर लिखा रहता है। उस शास्त्र को हम पूरे तौर पर नहीं जानते, लेकिन लिखा साफ है।**
- **गलती तब मिटती है जब उसकी दुरुस्ती कर लेते हैं। गलती जब दबा देते हैं, तब वह फोड़े की भाँति फूटती है और भयंकर स्वरूप ले लेती है।**

●

महावीर : आने वाला कल

—जयकुमार 'जलज'

लेकिन गहरे में सोचेंगे तो पायंगे कि महावीर की प्रासंगिकता कल भी घटेगी नहीं, बढ़ेगी ही। आज की अपेक्षा वे हमें कल अधिक याद आयंगे, क्योंकि आज की अपेक्षा कल हमें उनकी अधिक आवश्यकता होगी।

आनेवाला कल कैसा होगा, कहना कठिन है। पर वह आज से बहुत भिन्न शायद ही हो। वह आज का ही आत्मज होगा। इसलिए उसे आज से कुछ बढ़चढ़ कर ही होना चाहिए। अधिक असत्य, अधिक हिंसा, अधिक चोरी, अधिक संग्रह, और अधिक असंयम—कुछ यह तस्वीर होगी, कदाचित् भविष्य की। छोटी-छोटी बातों पर उलझाव, सूचनाओं की भीड़ के होने पर भी समय या बोध की कमी, असहिष्णुता, हड़बड़ी–यह सब बढ़ जाएगा, क्या तब भी महावीर की प्रासंगिकता होगी? महावीर, जो इन सबसे भिन्न और विपरीत जीवन जीते रहे, क्या कल अप्रासंगिक नहीं हो जायंगे?

भविष्य का जो चित्र ऊपर दिया गया है उस पर विवाद हो सकता है। संसार की गति सतयुग से कलयुग की दिशा में—क्रमिक पतन की ओर है, इसे एक धार्मिक अन्धविश्वास कहा जा सकता है। यह माना जा सकता है कि गति न तो क्रमिक पतन की ओर है और न घाणी के बैल की तरह चक्रवादी, बल्कि क्रमिक उन्नति की ओर है। उन्नति को अस्वीकार न भी करें, तो भी यह उन्नति जीवन-यापन की सुविधाओं की उन्नति ही होगी। सुविधाएं भरपूर होंगी, पर, सुख शायद कम हो जायगा, अपनी प्रायः सभी चिन्ताएं कम्प्यूटरों को सौंपकर हम संभवतः निश्चिन्त होना चाहेंगे। पर अपने आपको असंतुष्ट और असहाय ही पायंगे। आज के आधार पर आने वाले कल के सम्बन्ध में यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। समाजवादी समाज तथा अर्थरचना की समृद्धि में भी हम अकेले और रिक्त होंगे, और

भरपूर सुविधाओं की बात भी नवस्वतन्त्र तथा विकासशील देशों के लिए आनेवाले परसों की है। आनेवाले कल में तो इन सुविधाओं के लिए होड़, और संघर्ष देखने को मिलेगा। 'रागदरबारी' का शिवपालगंज इन सभी देशों में फैल जाएगा। जीवन-यापन के साधनों में सुधार के बावजूद यदि व्यक्ति तन और मन से और अधिक स्वस्थ हो जाता है तो यह विकास तो नहीं है। जीवन-स्तर के तथा कथित उठाव से दूष्मण की समस्याएं उत्पन्न होंगी, इस प्रकार एक हाथ से हमें जो मिलेगा दूसरे हाथ से छिन जायगा। फिर भी हम मान भी लें कि कल के दिन व्यक्ति अधिक सुविधासम्पन्न होगा, उसके स्वास्थ्य के लिए कोई संकट नहीं रह जाएगा। सब कुछ व्यवस्थित ही होगा? तब भी क्या महावीर अप्रासंगिक हो सकते हैं? आज से लगभग पच्चीस सौ वर्ष पूर्व जन्मा वह व्यक्ति कल की बदली हुई दुनिया में भी क्या प्रासंगिक रह सकता है, पच्चीस सौ वर्ष की तुलना में आज ही हम कितने बदल गए हैं। व्यक्ति, व्यक्ति की तलाश, रहन-सहन, आचार-विचार, समस्याएं, समाधान, भाषा सभी कुछ बदल गया है। कल यह बदलाव और भी अधिक होगा और हम पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के संदर्भ से और दूर पहुंच जाएँगे। समय का यह अन्तराल एक चुनौती है; लेकिन गहरे में सोचें तो पाएँगे कि महावीर की प्रासंगिकता कल भी घटेगी नहीं, बल्कि बढ़ेगी ही। आज की अपेक्षा वे हमें कल अधिक याद आएंगे, क्योंकि आज की अपेक्षा कल हमें उनकी अधिक आवश्यकता होगी।

व्यवस्था से सुविधा मिलती है, उससे सुख मिलने की संभावना भी बढ़ती है, लेकिन जरूरी नहीं कि उससे सुख मिल ही जाए। सुख तो भीतर से जन्म लेता है, इसलिए सब कुछ व्यवस्थित होने पर भी व्यक्ति दुःखी हो सकता है। हमें सुख की कामना होगी और वह होगी ही, तो महावीर को हम छोड़ नहीं पायेंगे।

दुनियां में बहुत कुछ बदलता है, लेकिन कुछ है जो स्थिर रहता है। महावीर ने समझ लिया था कि सभी सत्ताएँ (सत्) त्रैकालिक सत्ताएँ हैं। उनके गुण और पर्यायों में परिवर्तन होते हैं। लेकिन वे निरन्तर विद्यमान रहती हैं। परवर्ती सूत्रकार ने इसे सूत्रबद्ध किया—'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' (त० सू० ५। ३०। सत् चाहे वह चेतन हो या अचेतन, पदार्थ इस उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के चक्र के बाहर नहीं है। यानी पदार्थों में कुछ धन होता है, कुछ ऋण होता है, फिर भी कुछ सदैव स्थिर रहता है। उत्पन्न और व्यय के बावजूद ध्रौव्य की शाश्वत स्थिति है। मिट्टी जब अपनी पिण्डाकृति

छोड़कर घड़ा बनती है तब इस बदलाव में मिट्टी दोनों ही अवस्थाओं में अनुगत रहती है। पिण्डाकृति का उत्पादन होते हुए भी मिट्टी ध्रौव्यरूप या स्थिर है। महावीर की विशेषता यह है कि वे उत्पाद, व्यय के चक्र के बावजूद इस मूलभूत ध्रौव्य को हृदयगम कर सके। उन्होंने मूलभूत प्रश्नों को उठाया और उनके मौलिक उत्तर खोजने का यत्न किया। इसलिए उनकी प्रासंगिकता सदैव बनी रहेगी।

अपनी मौलिक दृष्टि से महावीर समझ सके कि संसार में सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं, वे दुःख और मृत्यु नहीं चाहते—"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरीजिउं"—"जह मम ण पियं दुक्खं जाणाहि एमेव सव्व-जीवाणं"—यह शाश्वत सत्य है। उत्पाद-व्यय के मध्य यह ध्रौव्य है, इसमें बदलाव नहीं होता। यह जिजीविषा है। इस मौलिक पहचान से जो दर्शन उद्भूत है, काल उसकी प्रासंगिकता को चुनौती नहीं दे सकता। महावीर का दर्शन इसी पहचान से शुरू होता है। इसीलिए वह सम्पूर्णतः अहिंसा पर आधारित है। जिसे अहिंसा कहते हैं विचार में वही अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज व्यवस्था में अपरिग्रह है। तात्पर्य यह कि महावीर के दर्शन में अहिंसा सर्वत्र व्याप्त है। आज जब हम अस्तित्व के संकट की बात करते हैं और कहते हैं कि तत्त्व से पहले अस्तित्व की स्थिति है (एक्जीस्टेंस रिसीडस ईसन्स) तब उसे ही पहचानने का यत्न करते हैं जिसे महावीर ने पहचाना था, अन्तर केवल इतना है कि महावीर जहाँ इसे प्राणिमात्र के लिए पहचानते थे वहाँ हम इसे केवल मनुष्य के सन्दर्भ में पहचानने के लिए यत्नशील हैं। सम्भव है, कल सन्दर्भ को व्यापकता देकर अपनी भूल को सुधारने की चेष्टा करें।

महावीर ने प्रत्येक जड़-चेतन तत्त्व का अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया है, किसी का किसी पर अधिकार नहीं है, सब अपनी प्रक्रिया से गुजर कर परिवर्तित होते हैं। प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकृति आज भी कम क्रान्तिकारी नहीं, विशेष रूप से तब जबकि हम अभी चेतन तत्वों में से एक वर्ग मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता को ही स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। व्यवहार की बात तो अलहदा रही, सिद्धान्त में भी अनेक देश अभी इसे स्वीकार नहीं कर पाए हैं। जिस गति से हम इस दिशा में बढ़ रहे हैं उसमें महावीर के सभी जड़-चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता तक पहुँचने में हमें सम्भव है, पचीस सौ वर्ष और लग जाएं। कहा जा सकता है कि महावीर का चिन्तन आधुनिक और वर्तमान का तो है ही, वह भविष्य का भी है।

सभी जड़-चेतन स्वतन्त्र हैं, और वे अपने परिणामी स्वभाव के अनुसार स्वत: परिवर्तित होते हैं तो फिर एक के लिए दूसरे की भूमिका क्या है ? एक के लिए दूसरा क्या दर्शक मात्र है ? ऐसा नहीं है, पदार्थ नानाधर्मात्मक है, उसमें अनन्त सम्भावनाएँ हैं । अनुकूल परिस्थिति उन संभावनाओं को विकास और साकारता दे सकती है, परिस्थिति यानी निमित, हम दूसरों के विकास में उपादान नहीं बन सकते लेकिन निमित बन सकते हैं । एक के लिए दूसरे की भूमिका है; हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम इतनी सी भूमिका का भी निर्वाह नहीं करते । जब तक हमारी नींद टूटती है, तब तक अवसर बीत जाता है ।

हमें निमित्त की भूमिका देकर महावीर ने हमें अपनी तुच्छता के बोध से बचा लिया है । खतरा था कि कहीं हमें निमित्त बनने का अहंकार न हो जाए । महावीर ने कहा मूल कारण उपादान ही है । वह अनिवार्य है और व्यक्ति अपने लिए स्वयं उपादान है । निमित्त कोई भी बन सकता है । लेकिन अकेला निमित्त कुछ नहीं कर सकता । इस प्रकार महावीर ने अहंकार से भी हमारी रक्षा कर ली है । हम अन्य पदार्थों के विकास में सहायक हैं, लेकिन सहायक होने के अहंकार से हमें रहित होना होगा, क्योंकि हमारे बिना काम चल सकता है । कोई दूसरा व्यक्ति निमित्त बन सकता है । शायद गांधीजी कहा करते थे भारत को आजाद होना ही है । मैं निमित्त नहीं बनूंगा तो कोई दूसरा बनेगा ।

व्यक्ति-सत्ता पर जितना अटूट विश्वास महावीर का है, उतना शायद ही किसी महापुरुष का रहा हो, उनके अनुसार अपने उत्थान-पतन के लिए व्यक्ति किसी ईश्वर पर तो निर्भर है ही नहीं, वह चाहे तो अपनी कर्म-निर्भरता भी मिटा सकता है । कर्म फलीभूत होते हैं, लेकिन यदि आत्मा जागृत है तो वे बिना फल दिए ही झर जाएँगे । इस प्रकार 'करमगति टाले नाहिं टलीं' की अनिवार्यता से भी मनुष्य मुक्त हो सकता है । आत्मा जब चाहे तब अवनति से उन्नति या मुक्ति की दिशा में सक्रिय हो सकती है, दिशा-परिवर्तन में समय नहीं लगता । जैन सन्तों ने बड़े मार्मिक ढंग से महावीर की बात को समझाया है कि यदि हम दस मील तक गलत दिशा में चले जा रहे हैं तो सही दिशा के लिए हमें फिर दस मील नहीं चलना है । हमें सिर्फ पलटना भर है । हम पलटे नहीं कि सही दिशा मिल गई ।

मुक्ति का सरलतम मार्ग क्या है ? महावीर के समस्त उपदेशों के निचोड़ को सूत्रित करते हुए प्रथम शताब्दी ई० पू० के आचार्य उमास्वामि कहते

हैं—'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (तत्वार्थ सूत्र १।१) यहाँ मनुष्य के संतुलित विकास पर बल दिया है। श्रद्धा, ज्ञान और आचार तीनों का ठीक होना आवश्यक है। अकेली श्रद्धा व्यक्ति को लिजलिजी भक्ति से भर सकती है; अकेला ज्ञान व्यक्ति को बाग्विलास में लगा सकता है, अकेले ज्ञान से लम्बी बहसें या शास्त्रार्थ जन्म लेते हैं और उन्हें सुनने के बाद भी व्यक्ति कहीं पहुँचता नहीं है, उसे फिर भी पते की तलाश बनीं रहती है। अकेला ज्ञान पाखण्ड और अहंकार में परिणत हो सकता है। महावीर उस ज्ञान का विरोध करते हैं जो जीवन में न उतर सके। उक्त सूत्र में बल चारित्र पर है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानःचारित्र या आचार के परिपोषक हैं। आचार ही मुख्य है। उसके बिना न तो हमारा भटकना मिट सकता है और न अशान्ति। सदैव विभक्त या दुहरे व्यक्तित्व को ओढ़े फिरने से बढ़कर पीड़ादायी भला और क्या हो सकता है।

व्यक्ति का आचार ही उसकी महत्ता का कारण बनता है। घोड़े की भी चाल देखी जाती है, उसका हिनहिनाना नहीं। हमारे देश में ही गांधी जी से बढ़कर अनेक तत्वज्ञाता विद्वान और वक्ता रहे हैं। लेकिन गांधीजी अपने आचार के कारण जनता का कल्पनातीत पूजा-भाव अर्जित कर सके, आजका सबसे बड़ा दुःख ही यह है कि हर वक्त हमें एक मुखौटा ओढ़ना है, जो हम हैं नहीं-वह प्रदर्शित होना है, हमें हर वक्त तनाव में रहना है कि कहीं ऐसा न हो कि हम असली रूप में दीख जाएँ। हर क्षण की यह सावधानी हमें सहज नहीं होने देती। चपरासियों, अखबारों, विदेशी भाषाओं, अनवरत भाषणों, उपाधियों और पता नहीं किस-किस से हम अपने आपको ढांके रहते हैं। सोचता हूँ वह व्यक्ति कितना सहज रहा होगा जिसने उसे ढंकने वाले वस्त्रों तक को त्याग दिया था जौर देह भी जिसके लिए महत्वहीन हो गयी थी। जिसने एक अतिशय समृद्ध भाषा को छोड़ कर उस भाषा को अपनाया था, जिसमें जनता उसे सम्पूर्णतः समझ सकती थी। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण की त्रयी के बिना मुखौटों से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। हम निरन्तर अनुभव करते हैं कि हमें इनसे छूटना होगा। धीरे-धीरे मुखौटों का बोझ बढ़ता जाएगा, उन्हें उतार फेंकने की छटपटाहट भी बढ़ेगी और दोनों ही स्थितियों में निर्ग्रन्थ महावीर ही हमें आश्वस्ति और स्वस्ति दे सकेंगे।

जयकुमार 'जलज'
सहयोग भवन,
पावर हाउस रोड रतलाम, मध्यप्रदेश

—वीर निर्वाण विचार-सेवा। इन्दौर के सौजन्य से

★

अहिंसा के आयाम : महावीर और गांधी का विशेष योगदान

—यशपाल जैन

मानव-जाति के कल्याण के लिए अहिंसा ही एकमात्र साधन है इस तथ्य को आज सारा संसार स्वीकार करता है। लेकिन कम ही लोग जानते हैं कि अहिंसा की श्रेष्ठता की ओर प्राचीन काल से ही भारतवासियों का ध्यान रहा है। वैदिक काल में हिंसा होती थी, यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी, लेकिन उस युग में भी ऐसे व्यक्ति थे, जो अनुभव करते थे कि जिस प्रकार हमें दुःख-दर्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी होता है। अतः जीवों को मारना उचित नहीं है। आगे चलकर यह भावना और भी विकसित हुई। महाभारत के शान्ति पर्व में हम भीष्म पितामह के मुँह से सुनते हैं कि हिंसा अत्यन्त अनर्थकारी है। उससे न केवल मनुष्यों का संहार होता है, अपितु जो जीवित रह जाते है, उनका भी भारी पतन होता है। उस समय ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम नहीं थी, जो मानते थे कि यदि हिंसा से एकदम बचा नहीं जा सकता तो कम से कम अपने हाथ से तो हिंसा नहीं करनी चाहिए। उन्होंने यह काम कुछ लोगों को सौंप दिया, जो बाद में क्षत्रिय कहलाये। ब्राह्मण उनसे कहते थे कि हम अहिंसा का व्रत लेते है, हिंसा नहीं करेंगे, लेकिन यदि हम पर कोई आक्रमण करे अथवा राक्षस हमारे यज्ञ में बाधा डालें तो तुम हमारी रक्षा करना। विश्वामित्र ब्रह्मर्षि थे। धनुर्विद्या में निष्णात थे, पर उन्होंने अहिंसा का व्रत ले रखा था। अपने हाथ से किसी को नहीं मार सकते थे। उन्होंने राम-लक्ष्मण को धनुष-बाण चलाना सिखाया और अपने यज्ञ की सुरक्षा का दायित्व उन्हें सौंपा।

मारने की शक्ति हाथ में आ जाने से क्षत्रियों का प्रभुत्व बढ़ गया। वे शत्रु के आने पर उसका सामना करते। धीरे-धीरे उनका स्वभाव बन गया। जब शत्रु न होता तो वे आपस में ही लड़ पड़ते और दुःख का कारण बनते।

परशुराम से यह सहन न हुआ। उन्होंने धनुष-बाण उठाया, फरसा लिया और संसार से क्षत्रियों को समाप्त करने के लिए निकल पड़े। जो भी क्षत्रिय मिलता, उसी को मौत के घाट उतार देते। कहते हैं, उन्होंने इक्कीस बार भूमि को क्षत्रियों से विहीन कर दिया। लेकिन हिंसा की जड़ फिर भी बनी ही रही। विश्वामित्र अहिंसा के व्रती थे, वे स्वयं हिंसा नहीं करते थे, पर दूसरों से हिंसा करवाने में उन्हें हिचक नहीं हुई। परशुराम हिंसा से अहिंसा स्थापित करना चाहते थे। दोनों की अहिंसा में निष्ठा थी, किन्तु उनका मार्ग सही नहीं था। उसमें हिंसा के लिए गुंजाइश थी और हिंसा से अहिंसा की स्थापना हो नहीं सकती थी।

भगवान बुद्ध ने एक नई दिशा दी। समाज के हित को ध्यान में रखकर 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का घोष किया। उन्होंने कहा—'वह काम करो, जिसमें बहु-संख्यक लोगों को लाभ पहुँचे, सुख मिले।' इससे स्पष्ट था कि उन्होंने मारक की मर्यादा को छूट दी, अर्थात् जिस कार्य में समाज के अधिकांश व्यक्तियों का हित साधन होता हो, उसे उचित ठहराया, भले ही उससे अल्प संख्यकों के हितों की उपेक्षा क्यों न होती हो।

भगवान् महावीर एक कदम आगे बढ़े—उन्होंने सबके कल्याण की कल्पना की और अहिंसा को परमधर्म मानकर प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य ठहराया। उन्होंने कहा :—

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा।
पियजीविणो जीविउकामा, (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचणं॥

अर्थात् सब प्राणियों को आयु प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुख सबके प्रतिकूल हैं, बध सबको अप्रिय है, सब जीने की इच्छा रखते हैं इससे किसी को मारना अथवा कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए।

हम देखते हैं कि महावीर से पहले भी अनेक धर्मप्रवर्तकों तथा महापुरुषों ने अहिंसा के महत्व एवं उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला था, लेकिन महावीर ने अहिंसा-तत्व की जितनी विस्तृत, सूक्ष्म तथा गहन मीमांसा की, उतनी शायद ही और किसी ने की हो। उन्होंने अहिंसा को अठारह गुण-स्थानों में प्रथम स्थान पर रखा और उस तत्व को चरमसीमा तक पहुँचा दिया। कहना होगा कि उन्होंने अहिंसा को सैद्धान्तिक भूमिका पर ही खड़ा नहीं किया, उसे आचरण का अधिष्ठान भी बनाया। उनका कथन था :—

सयंऽतिवायए पाणे, अदुवन्नेहि घायए।
हणंतं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर को बढ़ाता है।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं :—

तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए ॥

मन, वचन और काया, इनमें से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरंतर धारण ही अहिंसा है।

सब जीवों के प्रति आत्मभाव रखने, किसी को त्रास न पहुंचाने, किसी के भी प्रति वैर-विरोध का भाव न रखने, अपने कर्म के प्रति सदा विवेकशील रहने, स्वयं निर्भय बनने, दूसरों को अभय देने, आदि-आदि बातों पर महावीर ने विशेष बल दिया, जो स्वाभाविक ही था। मानव-जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने और समाज में फैली नाना प्रकार की व्याधियों को दूर करने, उसे स्थायी सुख और शान्ति प्रदान करने के अभिलाषी महावीर ने समस्त चराचर प्राणियों के बीच समता लाने और उन्हें एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। उनका सिद्धान्त था—'जीओ और जीने दो' अर्थात् यदि तुम चाहते हो कि सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करो तो उसके लिए आवश्यक है कि दूसरों को भी उसी प्रकार जीने का अवसर दो। उन्होंने समष्टि के हित में व्यष्टि के हित को समाविष्ट कर देने की प्रेरणा दी। वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को विकृत करने वाली सभी बुराइयों की ओर उनका ध्यान गया और उन्हें दूर करने के लिए उन्होंने मार्ग सुझाया।

महावीर की अहिंसा प्रेम के व्यापक विस्तार में से उपजी थी। उनका प्रेम असीम था। वह केवल मनुष्य-जाति को ही प्रेम नहीं करते थे, उनकी करुणा समस्त जीवधारियों तक व्याप्त थी। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच आदि के भेदभाव को उनके प्रेम ने कभी स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि अहिंसा का उनका महान् आदर्श प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी था।

जिसने राज्य को त्यागा, राजसी ऐश्वर्य को तिलांजलि दी, भरी जवानी में घरबार से मुंह मोड़ा, सारा वैभव छोड़कर अकिंचन बना और बारह वर्ष तक दुर्द्धर्ष तपस्या की, उसके आत्मिक बल की सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती। महावीर ने रातदिन अपने को तप की आध्यात्मिक अग्नि में तपाया

और कंचन बने। उनकी अहिंसा वीरों की अहिंसा थी। दुर्बल व्यक्ति उसका उपयोग नहीं कर सकता था। जो मारने की सामर्थ्य रखता है, फिर भी मारता नहीं, क्षमाशील रहता है, वही अहिंसा का पालन कर सकता है। यदि कोई चूहा कहे कि बिल्ली पर आक्रमण नहीं करेगा. उसने उसे क्षमा कर दिया है, तो उसे अहिंसक नहीं माना जा सकता। वह दिल में बिल्ली को कोसता है, पर उसमें दम ही नहीं कि उसका कुछ बिगाड़ सके। इसीसे कहा है—'क्षमा वीरस्य भूषणम्।' यही बात अहिंसा के विषय में कही जा सकती है। कायर या निर्वीर्य व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने अहिंसा का व्यापक प्रचार-प्रसार किया और उसे धर्म का शक्तिशाली अंग बनाया। उस जमाने में पशु-बध आदि के रूप में घोर हिंसा होती थी। महावीर ने उसके विरुद्ध अपनी आवाज ऊँची की। उन्होंने लोगों में यह विश्वास पैदा किया कि हिंसा अस्वाभाविक है। मनुष्य का स्वाभाविक धर्म अहिंसा है। उसी का अनुसरण करके वह स्वयं सुखी रह सकता है, दूसरों को सुखी रख सकता है। इस दिशा में हम ईशा के योगदान को भी नहीं भूल सकते हैं। उन्होंने हिंसा का निषेध किया और यहाँ तक कहा कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। उन्होंने यह भी कहा कि तुम अपने को जितना प्रेम करते हो, उतना ही अपने पड़ोसी को भी करो।

इसके पश्चात् अहिंसा के प्रचार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कलिंग के युद्ध में एक लाख व्यक्तियों के मारे जाने से सम्राट् अशोक का मन किस प्रकार अहिंसा की ओर आकृष्ट हुआ, यह सर्व विदित है। अपने शिला-लेखों में अशोक ने धर्म की जो शिक्षा दी, उसमें अहिंसा को सबसे ऊँचा स्थान मिला। तेरहवीं, चौदहवीं सदी में वैष्णव धर्म की लहर उठी। उसने अहिंसा के स्वर को देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचा दिया। महाराष्ट्र में बारकरी सम्प्रदाय ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। और भी बहुत से सम्प्रदायों ने हिंसा को रोकने के लिए प्रयत्न किए। सन्तों की वाणी ने लाखों करोड़ों नर-नारियों को प्रभावित किया।

परिणाम यह हुआ कि जो अहिंसा किसी समय में केवल तपश्चरण की वस्तु मानी जाती थी, उसकी उपयोगिता निजी जीवन तथा समाज में व्याप्त हुई।

उसके लिए जहाँ कोई सामूहिक प्रयास नहीं होता था, वहाँ अब बहुत से लोग मिल-जुल कर काम करने लगे।

इन प्रयासों का प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर होने लगा। जिन मनुष्यों और जातियों ने हिंसा का त्याग कर दिया वे सभ्य कहलाने लगीं। उन्हें समाज में अधिक सम्मान मिलने लगा।

लेकिन अहिंसा के विकास की यह अन्तिम सीमा नहीं थी। वर्तमान अवस्था तक जाने में उसे कुछ और सीढ़ियां चढ़नी थी। वह अवसर उसे युग-पुरुष गांधी ने दिया। उन्होंने देखा कि निजी जीवन में अहिंसा और बाह्य क्षेत्र में हिंसा, ये दोनों चीजें साथ-साथ नहीं चल सकतीं। इसलिए उन्होंने धार्मिक ही नहीं, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा अन्य सभी क्षेत्रो में अहिंसा के पालन का आग्रह किया। उन्होंने कहा :—

"हम लोगों के दिल में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा सकती है और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। वास्तव में बात ऐसी नही है। अहिंसा सामाजिक धर्म है और वह सामाजिक धर्म के रूप में विकसित की जा सकती है, यह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है।"

इतना ही नहीं, उन्होंने यहाँ तक कहा :—

"अगर अहिंसा व्यक्तिगत गुण है तो वह मेरे लिए त्याज्य वस्तु है। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। वह करोड़ों की है। मैं तो उसका सेवक हूं। जो चीज करोड़ों की नही हो सकती है, वह मेरे लिए त्याज्य है और मेरे साथियों के लिए भी त्याज्य होनी चाहिए। हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत आचार के ही नियम नहीं हैं, वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति हो सकते हैं। मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशा के लिए है। वह आत्मा का गुण है, इसलिए वह व्यापक है, क्योंकि आत्मा तो सभी के होती है। अहिंसा सबके लिए है, सब जगहों के लिए है, सब समय के लिए है। अगर वह वास्तव में आत्मा का गुण है तो हमारे लिए वह सहज हो जाना चाहिए।"

लोगों ने कहा—"सत्य और अहिंसा व्यापार में नहीं चल सकते हैं। राजनीति में उनकी जगह नहीं हो सकती है।" ऐसे व्यक्तियों को उत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा :—

"आज कहा जाता है कि सत्य व्यापार में नहीं चलता, राजकारण में नहीं चलता, तो फिर कहां चलता है ? अगर सत्य जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी व्यवहारों में नहीं चल सकता तो वह कौड़ी कीमत की चीज नहीं है। जीवन में उसका उपयोग ही क्या रहा ? सत्य और अहिंसा कोई आकाश-पुष्प नहीं हैं। वे हमारे प्रत्येक शब्द, व्यापार और कर्म में प्रकट होने चाहिए।"

गांधीजी ने यह सब कहा ही नहीं, उस पर अमल करके भी दिखाया। उन्होंने प्राचीनकाल से चली आती अहिंसा की परम्परा को आगे बढ़ाया, उसे नया मोड़ दिया। उन्होंने जहां वैयक्तिक जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा की, वहाँ उसे सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों की आधार शिला भी बनाया। अहिंसा के वैयक्तिक एवं सामूहिक प्रयोग के जितने दृष्टान्त हमें गांधीजी के जीवन में मिलते हैं, उतने कदाचित् किसी दूसरे महापुरुष के जीवन में नहीं मिलते।

पर दुर्भाग्य से हिंसा और अहिंसा की आंखमिचौनी आज भी चल रही है। गांधीजी ने अपने आत्मिक बल से अहिंसा को जो प्रतिष्ठा प्रदान की थी, वह अब क्षीण हो गई है। अहिंसा की तेजस्विता मन्द पड़ गई है। हिंसा का स्वर प्रखर हो गया है। इसीसे हम देखते हैं कि आज चारों ओर हिंसा का बोलबाला है। विज्ञान की कृपा से नये-नये आविष्कार हो रहे हैं और शक्तिशाली राष्ट्रों की प्रभुता का आधार विनाशकारी आणविक अस्त्र बने हुए हैं। हीरोशिमा और नागासाकी के नर-संहार की कहानी और वहाँ के असंख्य पीड़ितों की कराह आज भी दिग-दिगन्त में व्याप्त है, फिर भी राष्ट्रों की भौतिक महत्वाकांक्षा तथा अधिकारलिप्सा तृप्त नहीं हो पा रही है। संहारक अस्त्रों का निर्माण तेजी से हो रहा है और उनका प्रयोग आज भी कुछ राष्ट्र बेधड़क कर रहे हैं।

लेकिन हम यह न भूलें कि अहिंसा की जड़ें बहुत गहरी हैं। उन्हें उखाड़ फेंकना संभव नहीं है। उसका विकास निरन्तर होता गया है और अब भी उसकी प्रगति रुकेगी नहीं। हम दो विश्वयुद्ध देख चुके हैं और आज भी शीत-युद्ध की विभीषिका देख रहे हैं। विजेता और पराजित दोनों ही अनुभव कर रहे हैं कि यह अस्वाभाविक स्थिति अधिक समय तक चलने वाली नहीं है। यातायात के साधनों ने दुनिया को बहुत छोटा कर दिया है और छोटे-बड़े सभी राष्ट्र यह मानने लगे हैं कि उनका अस्तित्व युद्ध से नहीं, प्रेम से सुरक्षित रह सकता है।

पर उनमें अभी इतना साहस नहीं है कि वर्ष में ३६४ दिन संहारक अस्त्रों का निर्माण करें और ३६५ वें दिन उन सारे अस्त्रों को समुद्र में फेंक दें।

अहिंसा अब नये मोड़ पर खड़ी है और संकेत करके कह रही है कि विज्ञान के साथ अध्यात्म को जोड़ो और वैज्ञानिक आविष्कारों को रचनात्मक दिशा में मोड़ो। जीवन का चरम लक्ष्य सुख और शान्ति है। उसकी उपलब्धि संघर्ष से नहीं, सद्भाव से होगी।

अहिंसा में निराशा को स्थान नहीं है। वह जानती है कि उषा के आगमन से पूर्व रात्रि के अन्तिम प्रहर का अंधकार गहनतम होता है। आज विश्व में जो कुछ हो रहा है, वह इस बात का सूचक है कि अब शीघ्र ही नये युग का उदय होगा। और संसार में यह विवेक जागृत होगा कि मानव तथा मानव-नीति से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों वह दिन आएगा, जब राष्ट्र नया साहस पाएँगे और वीर-शासन के सर्वोदय-तीर्थ तथा गांधी के रामराज्य की कल्पना को चरितार्थ करेंगे।

श्री यशपाल जैन,
सस्ता साहित्य मण्डल,
कनाट सर्कस, नई दिल्ली

—**वीर निर्वाण-विचार सेवा,**
इन्दौर के सौजन्य से

★

प्रतिध्वनि

श्री शंकराचार्य के नाम आपका पत्र पढ़ा। पत्र में साधक की शालीनता, सत्य और अभय के परिवेश में परिलक्षित हो रही है। चिन्तन को यथार्थ की परिधि में परिवेष्टित करने का उच्च स्तरीय यह प्रयत्न शतशः अभिनन्दनीय है। इससे साम्प्रदायिक सौजन्य की अभिवृद्धि के साथ-साथ जैन एकता की परिपुष्टि हुई है, जैन समाज आपसे बहुत आशाएँ रखता है।

—जसकरण सेठिया
मंत्री
पश्चिम वंग प्रादेशिक अणुव्रत समिति

★

तप के साथ संयम का मेल हो

—श्री अगर चन्द्र नाहटा, बीकानेर

भारतीय संस्कृति में तप का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तप को समस्त सिद्धियो का कारण बतलाया गया है। तप के अलौकिक तेज से जीव और जड़-जगत् में एक अद्भुत क्रान्ति मच जाती है। अतः असम्भव भी सम्भव हो जाता है। तप करने वालों का एक विशेष सम्प्रदाय ही प्रचलित हो गया, जिसका नाम 'तापसी' पड़ गया। अनेक प्रकार के तप विकसित हुए। शरीर को अधिक से अधिक कष्ट देना, इसे महान फलदाता बतलाया गया (देह-दुक्खं महाफलं), पौराणिक और जैन ग्रन्थों में अनेक प्रकार के व्रत उपवास और देह कष्ट रूप तपों और उसके करने वाले तपस्वियों का वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भ० बुद्ध ने भी प्रारम्भिक साधना में तप को अपनाया था, और उससे उनका शरीर हड्डियो के ढांचे जैसा हो गया था। पर मानसिक शान्ति और विशिष्ट-ज्ञान प्राप्त नही हुआ तब उन्होने मध्यम मार्ग को अपनाया कि न तो देह को अधिक कष्ट दो और न सुखशीलपन या विलासिता को ही बढ़ने दो। इसी मध्यम मार्ग के कारण ही बौद्ध धर्म विश्वभर में सर्वाधिक प्रचारित हो सका।

जैन तीर्थंकरों ने भी इसको अपनाया और बहुत महत्व दिया। पर वैदिक परम्परा के तपसे जैन परम्परा के तप में एक महत्वपूर्ण विशेषता दिखलाई देती है जिसकी ओर हमारा ध्यान बहुत ही कम गया है। जैन धर्म में दैहिक कष्ट को भी तप कहा और उसे अपनाया भी, पर साथ ही एक नई बात और जोड़ दी कि तप के साथ संयम का होना भी बहुत जरूरी है। बिना संयम का तप अधिक फलदायी नहीं माना गया। उससे कुछ पुण्य संचय और कुछ भौतिक सुख-साधनों की प्राप्ति हो सकती है, पर आत्म कल्याण और मोक्ष नहीं हो सकती। क्योंकि एक ओर तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होगी और शुभ भावों से पुण्य बंध होगा, पर दूसरी ओर आश्रव-असंयम के कारण नये

कर्मों का बन्ध भी होता रहेगा। इसलिए तप का वास्तविक फल कर्मनाश तभी होगा, जबकि संवर-संयम भाव को अपनाया जायगा। आने वाले कर्मों के द्वारों को बन्द करना या रोकना पड़ेगा। और पुराने कर्मों को तप व उदीरणा द्वारा खपा कर निर्जरित करना होगा। दशवैकालिक श्रुत की प्रथम गाथा में इसीलिए अहिंसा के बाद संयम और तप को उत्कृष्ट धर्म और मंगल कहा है। तप के बारह प्रकार बतलाये गये हैं। जिनमें से ६ बाह्य और ६ अभ्यंतर हैं। अर्थात् तपके मुख्यतः दो प्रकार हैं—बाह्य और अभ्यंतर। हम सभी जानते हैं कि बाहर की बातों की अपेक्षा आन्तरिक अनुभव या भाव ही ज्यादा महत्व के होते हैं। बाहरी बातें जन-साधारण को अधिक आकर्षित करती हैं। पर विचारकों की दृष्टि में उसका अधिक मूल्य नहीं होता। अतः बाहर और भीतर की एकता होना बहुत जरूरी है। कहने का आशय यही है कि बाह्य तप का महत्व तभी है, जब उसके साथ अभ्यंतर तपों का मेल हो। जैन धर्म की यह विशिष्ट देन है कि उसने देहकष्ट रूप बाह्य तपों को अपनाने पर भी उसे 'बाह्य' की संज्ञा दे दी। जिससे उसका इतना महत्व नहीं रहा, जितना अभ्यंतर तप का है। क्योंकि भीतर के भावों या परिणामों के अनुसार ही फल मिलता है। बाहरी दिखावे से तो लोक रंजन और वाह-वाह ही मिल सकती है। आत्मशुद्धि के लिए तो बाह्य तप अभ्यंतर तप के साथ हों, तभी हो सकेगी। खेद है हमने अभ्यंतर तपों की ओर ध्यान देना छोड़-सा दिया और बाह्य तप का आचरण अधिक से अधिक करने लगे।

जैन तीर्थंकरो ने दीक्षा ग्रहण से पूर्व अर्थात् गृहवास में तप किया हो, ऐसा विवरण नहीं मिलता। और दीक्षा लेते ही तप की जबरदस्त साधना प्रारम्भ हो जाती है। दिनभर में एकबार ही आहार पानी वे लेते हैं। और उपवास से लेकर पक्ष, मास, चार मास, छह मास तथा बारह मास तक के उपवास वे करते दिखाई देते हैं। भगवान ऋषभदेव का प्रथम पारणा ४०० उपवास के बाद हुआ, जिसे वर्षी तप कहते हैं। और भगवान महावीर ने भी एक छः मासी और एक पाँच दिन कम छः मासी के उपवास रूप विशिष्ट तप किया। यावत् साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में केवल तीन सौ उनचास दिन ही उन्होंने एकासन या एकलठाणा किया। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्म में संयम के साथ तप करने का विधान है। साधु-साध्वी संयमी होते हैं। इसलिए अधिकाधिक उपवास आदि तप करते हैं। श्रावक श्राविकाओं के लिए जैन आगमों में जहाँ भी उपवास करने का उल्लेख मिलता है, वहाँ घर और परिवार से अलग होकर पौषधशाला में जाकर एकान्त में ध्यान व धार्मिक

अनुष्ठान करने का उल्लेख है। इष्टदेव या मित्र देवता को आकर्षित व आमंत्रित करने के लिए भी जो अष्टम तप किए गए हैं वे भी पौषधशाला आदि में जाकर एकान्त में उनके विशेष स्मरण के रूप में किए गए हैं। अर्थात् घर के सब काम-काज करते हुए केवल भूखे रहने से उपवास या तप नहीं होता। वह तो लंघन है। इसीलिए उपवास के लिए कहा गया है:—

कषाय विषयाहारः त्यागो यत्र विधीयते।

उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

श्रावक श्राविकाओं के लिए जो बारह व्रतों का विधान है उसमें ११वें व्रत का नाम है—पोषधोपवास। अर्थात् उपवास पोषध के साथ किया जाय। जिस दिन भी उपवास किया जाय, उस दिन आरम्भ समारम्भ आदि आश्रव का परित्याग करके संवर या संयम भाव में रहा जाय। ताकि उपवास केवल भूखे रहने के रूप में नहीं हो, धर्म को प्रकट करने वाला हो। उपवास का अर्थ है आत्मा के नजदीक रहना अर्थात् बाहरी पौद्गलिक पर पदार्थों मे ममत्व या उनका भोगोपभोग नहींवत् यानि कमसे कम किया जाय। आगमिक काल में तो उपवास के पहले दिन भी एक बार आहार ग्रहण किया जाता था और पारणे के दिन भी एक बार भोजन करते थे। इसीलिए उपवास का नाम चौथभक्त, बेले का नाम छठ भक्त, तेलेका नाम अठमभक्त आदि पाये जाते हैं। हमें अपनी प्राचीन परम्परा को पुनः अपनाने की अत्यंत आवश्यकता है। आचार्यों ने ज्यों-ज्यों छूट दी त्यों-त्यों चारित्र और तप में शिथिलता आने लगी और मूल विधान को भुला-सा दिया।

वर्षाकाल में चातुर्मास का समय होता है। पर्यूषणपर्व के समय जैन समाज में सर्वत्र तपस्या की एक लहरसी चल पड़ती है। अठाइयों के पीछे आडम्बर बहुत बढ़ गया है। दिखावा, प्रलोभन या लोभ हम पर हावी हुए नजर आते हैं। इससे वास्तविक तप का फल हम प्राप्त नहीं कर सकते। कर्म निर्जरा रूप तपश्चरण क्वचित् ही दिखाई देता है। तप आज अहंकार का पोषक बन गया है। क्रोध, लोभ आदि कषाय कभी-कभी तप में उग्ररूप धारण किए हुए दिखाई देते हैं। अतः समस्त तपस्वियों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे तप के दोषों का निवारण करें। तप के साथ संयम का सुमेल हो। अभ्यंतर तपश्चरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

आभ्यंतर तप के ६ प्रकार हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, (सेवा) स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग। वास्तव में दोषों के परिहार और गुणों के

विकाश के लिए इन तपों को अपनाना बहुत ही आवश्यक है। पर वर्तमान जैन समाज इन तपों से आत्मशुद्धि और सद्‌गुण वृद्धि का लाभ नहीं उठा पा रहा है। इन तपों के एक-एक भेद या प्रकार पर गंभीर चिंतन किया जाय तो आध्यात्मिक साधना बहुत तेजस्वी और बलवती बन सकती है। बाह्य तप तो प्रारंभिक साधना है। उससे देहात्मबुद्धि और पुद्गलों की आसक्ति कम करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रायश्चित्त से पापों के प्रति पश्चात्ताप और किए हुए पापों की विशुद्धि एवं भविष्य में वे कार्य नहीं हों, उसके लिए उचित दंड ग्रहण किया जाता है। विनय के द्वारा अहंकार को हटाया जाता है। गुणीजनों के प्रति आदरभाव, देव-गुरु की भक्ति आदि का समावेश इसी में होता है। वैयावृत्य अर्थात् सेवा भाव की आवश्यकता और उपयोगिता सर्वविदित है। स्वाध्याय के द्वारा स्व और पर का सम्यग्ज्ञान होता है। ध्यान की एकाग्रता से अनुभव के द्वार खुलते हैं। कायोत्सर्ग की उच्च साधना में देहात्मबुद्धि का विसर्जन है। इसमें यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं शुद्ध बुद्ध परमात्म-स्वरूप हूँ—इसका चिंतन करते हुए आत्मरमणता की जाती है।

★

ऐक्य-नाद

सर्व जैन की एक रीति हो, एक नीति हो,
रीति नीति हो एक, साथ ही एक प्रीति हो।
'जैन' वही जो 'जिन' का अनुचर, यही सत्य है,
'जिन' वही जो अन्तर्-बाहर पूर्ण ज्योति हो॥
प्रायः अंतस्तत्व एक ही सर्वमान्य है,
किन्तु बाह्य में कुछ अन्तर है, यही शोध्य है।
सिद्धान्तोचित उसमें भी अब ऐक्य स्थापित हो,
अंतर्मन से घृणा द्वेष का विष निष्कासित हो॥
ध्वजा एक हो, धर्म एक हो, देव एक हो,
मंदिर इक हो, शास्त्र एक हो, गुरू एक हो।
भक्त एक हो, भक्ति एक हो, मार्ग एक हो,
महावीर के वीरपुत्र अब पुनः एक हों॥

—क्षुल्लक दयासागर, लाडनूं

★

जैन-धर्म का विराट् रूप : एक नई दृष्टि

—पं० उदय जैन, कानोड़

जिन, जितेन्द्रिय-महान् पुरुषों को, महामानवों को, महात्माओं को और पूर्णात्माओं को कहते हैं। उनके अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। उनका मान्य धर्म, जैन-धर्म कहलाता है।

कितना छोटा दायरा बना दिया है जैन-धर्म का, जीवन धर्म का और मानव धर्म का। मुझे बार-बार हृदय में महान् पीड़ा होती है कि हम जैनी कहलावें सो तो ठीक है, यथार्थ है। लेकिन विश्वमय जिन धर्म को हम हमारा ही धर्म कहें, यह कितना उपहासास्पद है। जिनों ने—तीर्थंकरों ने धर्म की कोई बाड़ा बंदी नहीं की और उन्होंने अपने अनुयायियों को 'जैनी' या "जैन-धर्मी" शब्द कहकर भी नहीं पुकारा। महदाश्चर्य है कि तीर्थंकर जैसी महान् विभूति ने हमें बार-बार 'देवाणुप्पिया, समणा, निगण्ठा आदि' उपयुक्त शब्दों से पुकारा है।

हम तीर्थंकरों के तीर्थरूप में व संघरूप में वर्तमान हैं। तीर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक, और श्राविका हैं। संघ में इनके अतिरिक्त भी सामान्य नियमों के पालक या सम्यक्त्व-लाभ वाले मानव सम्मिलित हैं। संघ महान् है, सूर्य है और सब के लिए वंदनीय है। तीर्थ, तारणहार है। दोनों का संगम, संघ-तीर्थ बन जाता है। यही जिनों का बिना संप्रदाय या वाड़ा बंदी का महान् धर्म धारक और प्रचारक, मानव कल्याण का प्रेरक और मानव-धर्म का उद्धारक संगठन है।

जिन-धर्म, मानव धर्म है। भूत, वर्तमान और भविष्य मे भी कायम है। विश्व का अनन्त ब्रह्माण्ड, जहाँ मानव रहता है अथवा जीवों का अस्तित्व है और चेतन की विभूति है, धर्ममय है। सहअस्तित्व, सहकार और सहयोग-भाव जहाँ वर्तमान हैं, वहाँ जिन-धर्म है। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" जीवों का धर्म परस्पर सहयोग करना है और यही जिन धर्म है। जहाँ-जहाँ जीव हैं, वहाँ-वहाँ जिन-धर्म है।

अनन्त पृथ्वी पिंडों, ग्रहों, नक्षत्रों, तारों और शून्य लोकाकाशों में जिन-धर्म व्याप्त है। एक दूसरे के सहयोग से दुनियाँ चल रही है। बिना सहयोग, प्रेम, अहिंसा और उपकार के जीवन और जीवन को धकेलने वाला समाज जिंदा नहीं रह सकता। त्रस और स्थावर जीवनिकायों में भी धर्म का

अस्तित्व है। अग्नि, पानी, हवा, पृथ्वी और वनस्पति स्वयं में और उनके आश्रित त्रसों में तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं तिर्यञ्च तथा मानवों में भी धर्म का अस्तित्व है।

बिना धर्म के कोई भी प्राणी जन्म नहीं ले सकता, वृद्धि नहीं पा सकता, जीवनयापन नहीं कर सकता। अतएव यथार्थ वस्तु—"सर्व जीव प्रियायु हैं, सर्व जीव जीना चाहते हैं, सर्व जीवों के अपने-अपने प्राण उन्हें प्रिय हैं–ऐसा समझ किसी भी प्राणी को न सताओ, न दुख दो और प्राणों से विरत न करो। यही धर्म सनातन और शाश्वत है।" यह वीरवाणी है, यह जिनवाणी है। अहिंसा, प्रेम और सहयोग उस व्याख्या को उद्घोषित करने वाले शब्द हैं। दया उसी का नाम है। उपग्रह उसे ही कहते हैं। माता की ममता और पिता का प्रेम उसी स्निग्ध धारा का एक प्रवाह है। क्या मानवों के अलावा अन्य प्राणियों में इस तरह की प्रेम भावना, सहयोग की वृत्ति तथा सहजीवन की वृत्ति नहीं है? फिर हम क्यों जिन-धर्म को अपने तुच्छ स्वार्थवश संकीर्ण दायरे में बाँधे हुए हैं? यह एक सही प्रश्न है। इसका उत्तर संप्रदायवादी नहीं दे सकते। आज के दिगम्बर, श्वेताम्बर या जैनी नहीं दे सकते।

मैं कहता हूँ—जिन-धर्म अनेकान्त सिद्धान्त का प्रदाता (जन्मदाता) है और समन्वय मार्ग का स्रष्टा है, फिर हमारे मानव के महान् समाज में इसका अस्तित्व क्यों नहीं स्वीकारते? विश्व के भिन्न-भिन्न धर्मों, पंथों और क्षेत्रों के रीतिरिवाजों तथा संस्कारों में जो-जो सहयोग की भावनाएं और त्याग की वृत्तियां विद्यमान हैं, उन्हें हम विशाल रूप में क्यों नहीं स्वीकार सकते कि वे भी संघाचार के अंग हैं।

महावीर के दर्शन में अणुव्रत (देशव्रत) जैसा छोटा संकल्प रखने वाला भी संघ का अनुयायी बनने तथा महान् प्रेम देशना में विश्वास रखने वाला भी संघ का अंग बनने का पात्र है। यह महावीर का उद्घोष है। तो क्या इसमें ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान या अन्य मजहब के अनुयायी हमारे विशाल संघ में सम्मिलित नहीं माने जा सकते? उनमें भी प्रेम की वृत्तियाँ हैं, सहयोग की भावनाएँ हैं, किन्हीं अंशों में त्याग की मात्राएँ हैं। भयंकर से भयंकर राक्षस या दुष्टवृत्तिवाला अथवा मांसाहारी मानव भी अपने हृदय में दया, प्रेम, सहयोग और क्षमा का अंश रखता ही है।

वीर ने घृणा करने का उपदेश नहीं दिया, अपितु अपनाने का और दूसरों में भी स्वत्व के दर्शन करने का अनुगमन करना सिखाया। क्या उनके अनुयायी कहलाने वाले अनेकान्तमती एवं समन्वय मार्गी मानव-मानव में भेद वृत्ति का प्रचार करेंगे? क्या अब भी यह मानेंगे कि हम ही जैन हैं और

हमारा धर्म ही जैन-धर्म है ? क्या वे इस तरह की मान्यता और गिनती से विश्वमय जिन धर्म को लाखों-करोड़ों अर्बों की मानव जाति के समुदाय में संकीर्ण नहीं बना रहे हैं ?

"जैन-धर्म विश्व धर्म बन सकता है"—यह उद्घोष आज का घमण्डी जैनी, जैन साधु और जैन विद्वान करता है। लेकिन वह यह नहीं समझता कि जिनों ने पहले ही इस धर्म को विश्व में देखा है और विश्वमय माना है। आपको उसके लिए तैयार करने के लिए तीर्थ रचना की, न कि तीर्थ में बाँध कर संघ को संकीर्ण बनाने का कार्य किया। सब में स्वत्व को देखो और सर्वमय बन जाओ। विश्व का विराट् रूप ही जैन-धर्म का विराट् रूप है। सर्व जीवों का उदय ही सर्वोदय है और सर्वोदय ही सच्चिदानंद बनजाने का प्रशस्त मार्ग है।

मेरी समझ में तो यह आता है कि अपने को जैनी कहने का अभिमान करने वाले 'कूपमण्डूक' हैं। उन्होंने विशाल और शाश्वत जैन-धर्म का, जिन-धर्म का दर्शन ही नहीं किया। अनेकान्त सिद्धान्त में विश्वास नहीं किया और समन्वय मार्ग का अनुसरण नहीं किया। उनको संप्रदायें प्यारी हैं। उन्हें जैन शब्द का मोह है, जब तक यह मोह है धर्म के विराट् रूप का दर्शन नहीं कर पायेंगे।

बार-बार प्रवचनों, भाषणों और लेखों में भलेही उद्घोषणा कर दो कि जैन-धर्म विश्वधर्म है, लेकिन उन प्रवचनकारों, भाषकों और लेखकों को ज्ञात होना चाहिए कि जिनों के धर्म सदा विश्वमय ही होते हैं। विश्व धर्म ही होते हैं। न ये प्रचारक, न ये भाषक और न ये लेखक विश्व धर्म बनाने की शक्ति रखते हैं और न इनके इस तरह के प्रवर्तन से वह विश्व धर्म बन सकता है।

जिनकी विश्वमय चक्षु हैं। जिनका ज्ञान विश्वमय है। वे ही इस धर्म को विश्व में व्याप्त देख सकते हैं और विश्वमय धर्म को समझ सकते हैं। धर्म प्रचार के पाखण्ड का खण्डन कर आओ इस विशाल प्रांगण में और वीर के सच्चे अनुयायी बनने का दावा करते हो तो छोडो इस जैन-धर्म के साम्प्रदायिक व्यामोह को और सब मानवों में अनेकान्तमय अनन्त धर्मरश्मि वाले सूर्य के प्रकाश से सारे विश्व में व्याप्त जिन-धर्म को प्रकाशित कर दो। जिन-धर्म महान् है, जीवन धर्म है, सभी प्राणियों में विद्यमान है। सभी ब्रह्माण्डों में वर्तमान है। विश्व के सभी मानव इसके अनुयायी हैं। विश्व के सभी चेतन तत्व इसके पुजारी है। अहो ! क्या ही सुन्दर, इस विश्वमय विश्व धर्म की लीलाएँ प्रसार पा रही हैं। इसका दर्शन, स्पर्शन और ज्ञान ही विराट् रूप है ! मैं इसका अनुभव कर अनन्त आनन्द में गोते लगा रहा हूँ।

●

निर्वाण शताब्दी समारोह

—अनराज जैन, राजमुन्द्री (आं० प्र०)

भगवान् महावीर का २५वां निर्वाण शताब्दी समारोह मनाने के लिए केन्द्रीय समिति का गठन हुआ है। सूची में राष्ट्र के सर्वोच्च स्तर के व्यक्तियों का समावेश है। ऐसे महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिए सर्वोच्च शक्तियों का सक्रिय सहयोग उपलब्ध करना आवश्यक है।

इस प्रकार की समितियाँ साधारणतया कार्यक्रम के महत्व को बताने हेतु एवं उच्चस्तरीय सहायता एवं सहयोग प्राप्त करने के लिए गठित की जाती हैं, परन्तु कार्यक्रम का सारा दायित्व तो उसके वास्तविक कार्यकर्ताओं पर ही रहता है। उक्त समारोह को सफल बनाने हेतु जो भी आयोजना बनी है, उस का जन-साधारण के लिए प्रकाशित होना आवश्यक है। साथ ही उपरोक्त आधार पर प्रादेशिक, नगर व ग्राम समितियों का गठन भी आवश्यक है, ताकि योजना के अनुसार कार्य प्रारम्भ हो सके।

केन्द्रीय सरकार ने इस समारोह के लिए ५० लाख का अनुदान दिया है। इस औदार्य के लिए जैन समाज सरकार का कृतज्ञ है। परन्तु जैन समाज को यह न भूल जाना चाहिए कि इससे कई गुनी रकम उसे अपने घर से भी इस भव्य समारोह के लिए एकत्र करना है। इस प्रसंग पर पुस्तक एवं ग्रन्थ-प्रकाशन, प्रदर्शनी, नाट्य, संगीत एवं अन्य धार्मिक व सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर पर्याप्त खर्च होगा, परन्तु साथ ही रचनात्मक कार्यों पर भी करोड़ों रुपयों की आवश्यकता है। इनमें आदर्श शिक्षालय, छात्रावास, औषधालय, नर्सिंग होम, वाचनालय, छात्र-वृत्तियाँ, जैन-दर्शन प्रचारहेतु विदेश यात्राएँ, अनाथाश्रम आदि की स्थापना हो सकती है।

हमारे जैन समाज ने अर्थोपार्जन करना अवश्य सीखा है, परन्तु उसे उचित रूप से खर्च करने में वह अभी भी पीछे है। वह परंपरा से उपधान, वर्षीतप, तीर्थयात्रा, चतुर्मास, जिनालय, प्रतिष्ठा आदि में खर्च कर संतोष मान

लेता है परन्तु आज के बदलते युग में यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपने परिग्रह की सीमा बांध कर अतिरिक्त धन को समाज की शिक्षा दीक्षा में लगावे और जैन दर्शन में चर्चित त्याग का आदर्श जनता के सामने रखे।

साथ में यह भी मानना पड़ेगा कि आज हमारा समाज कितना बिश्रृंखल होकर कई शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो गया है—क्या यह नितान्त आवश्यक नहीं कि उस परमपावन पुण्य तिथि के आने तक समस्त जैन समाज का एकीकरण हो जाय, जिनमें व्यक्तिविशेष को अनावश्यक महत्त्व न देकर केवल वीतराग प्रभु के संदेश का अनुकरण किया जाय।

कार्यसमिति अपनी योजना की रूप-रेखा व विस्तृत कार्यप्रणाली जन-साधारण के लिए प्रकाशित करे। साथ ही ठोस रचनात्मक कार्य के लिए जो भी महत्वाकांक्षाएँ हैं उनका उल्लेख करे, समय-समय पर इस दिशा में जहाँ-जहाँ भी कार्य हो उसका उल्लेख साप्ताहिक पत्र द्वारा प्रकाशित करे, ताकि कार्यकर्ताओं की चिन्तन एवं गतिविधि से समाज को प्रेरणा मिलती रहे।

आशा है सम्बन्धित सदस्य एवं संस्थाएँ इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे।

●

अग्निपरीक्षा के सन्दर्भ में श्री शंकराचार्य के नाम दिए गए आपके पत्र में सत्य एवं यथार्थ का जो सशक्त, स्पष्ट एवं गंभीर विवेचन हुआ है वह युग-युग अभिनन्दनीय रहेगा। सत्य को उजागर करने में आपने जो निर्भयता के साथ सत्साहस का परिचय दिया है, वह अनुकरणीय है। मुझे विश्वास है, इसी प्रकार भविष्य में भी आप निरन्तर सत्य का मार्ग-दर्शन करते रहेंगे।

—चंचल डागा, जयपुर।

जगद्गुरु श्री शंकराचार्य को दिया गया पत्र पढ़ा तो एक ऐतिहासिक स्मृति जाग उठी। शिवा जी ने जैसे महाराजा जयसिंह को पत्र लिखा था, ठीक वैसा ही यह पत्र है। पत्र बहुत ही प्रेरणा-दायक तथा सत्य का बोध कराने वाला है। शताब्दियों तक इससे समाज को प्रेरणा मिलती रहेगी।

—रोशनलाल जैन, मेरठ।

वी रा य त न

भगवान् महावीर की पुण्यस्मृति

—साध्वी चन्दना, दर्शनाचार्य

कांटों के बीच में जब कोई गुलाब खिलता है, तब उसकी पूजा होती है। इसलिए कि वह स्वयं तो खिलता ही है, महकता ही है, साथ ही दूसरों को भी सुगन्ध देता है, दूसरों की भी शोभा बढ़ाता है, और सूख जाने पर भी दूसरों के उपयोग में आता है। ऐसा ही एक पुष्प खिला था ढाई हजार वर्ष पहले। जो कांटों के बीच मुस्कुराया था। उसे मिटाने के कोई कम प्रयत्न नहीं हुए। किन्तु वह नहीं मिटा और आंधी तथा तूफान के बीच भी वह मुस्कुराता रहा, सुगन्ध बिखेरता रहा। उस सुगन्ध के प्रभाव से आज भी मानवमन सुगन्धित हो रहा है। अगर हम अपने चिन्तन में से भगवान् महावीर और उनकी परम्परा के द्वारा दिए गए विचार निकाल दें तो हमारे पास क्या बचेगा? जो वैचारिक समृद्धि और आचार की सुन्दरता हमारे पास है, वह किसकी है? जिस सभ्यता का विकास हुआ है वह किसकी कृपा है? इस विकसित सभ्यता को निकाल देने पर क्या हम आदिवासी वन्य लोगों की तरह नहीं होंगे? निश्चित वैसे ही होंगे। आदिवासियों को भगवान् महावीर जैसे लोग नहीं मिले। इन्हीं दस-बीस महान् आत्माओं की कृपा है, जिनसे आज हम यहां तक पहुंच पाए हैं।

आज वे शरीररूप में नहीं रहे हैं, लेकिन, मानवसभ्यता का अस्तित्व आज भी उनकी सुगन्ध से सुगन्धित है। इत्रकी शीशी में से इत्र निकल भी जाए, फिर भी उसकी सुगन्ध रहती है। भगवान् महावीर की सुगन्ध आज भी है हमारे पास। पिछली कई शताब्दियों से हम अपने अस्तित्व के लिए बराबर संघर्ष करते रहे हैं। जिन परिस्थितियों में से समाज को गुजरना पड़ा है, वह सब हमसे अपरिचित नहीं है। किन्तु इसके बाद भी आज हमारे समाज की प्रतिष्ठा है। हमारी आवाज है। 'जैन हैं तो अहिंसक हैं, ये बहुत अच्छे लोग होते हैं'—ऐसी जन-साधारण की मान्यता है। हम जैन समाज

को भारतीय समाज में किसी से कम नहीं देखते हैं। संख्या भले ही इनकी कम है, किन्तु प्रतिष्ठा की दृष्टि से जैनों की धाक है। और सारे भारतीय जीवन पर छाए हुए हैं। कोई प्रान्त ऐसा नहीं है, जहाँ जैन नहीं हैं। जैन समाज ने ऐतिहासिक स्तर पर अनेक धार्मिक और सामाजिक कार्य किए हैं। क्रान्तियां की हैं, परिवर्तन किए है, अंध श्रद्धाओं को उखाड़ा है। दो चार क्या, बहुत कुछ दिया है जैन संस्कृति ने। आज भी इस समाज का वैचारिक आग्रह है कि कोई किसी को उत्पीडित न करे, सभी शान्ति से रहें, मित्रता का भाव फैले। आज विश्व के महान् चिंतक काफी दूर तक घूम-फिर कर इस निर्णय पर आ गए हैं कि हमें जातीय अथवा राष्ट्रीय संघर्षों से मानव जाति को मुक्त करना है। सभी को मित्रता का पाठ देना है। ढाई हजार साल पहले भगवान् महावीर ने जो संदेश दिया था—'जीओ और जीने दो' उसी जन-कल्याणी चिन्तना पर आज के चिन्तक पहुँच रहे हैं।

ऐसा यह पुनीत जीवनदर्शन, एक अनमोल मणिमुक्ता के समान आपके पास है। आप उसे अपने ही तलघर में छिपा कर रखें, तो दुनिया उससे अनभिज्ञ रह जाती है। आप अपने चिन्तन के मोतियों को दुनिया में बिखर जाने दें, फैल जाने दें, उनका मूल्य होने दें। उसकी कीमत के साथ आपकी भी कीमत बढ़ेगी। श्रमण भगवान् महावीर का २५००वाँ निर्वाण दिवस निकट भविष्य में आ रहा है, यह एक ऐतिहासिक मूल्य का पावन पर्व है। इस पुनीत अवसर पर प्रभु के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण करना है, आपको। समय आने पर भक्त भगवान् के श्री चरणों में अपनी सहज श्रद्धा के पुष्प चढ़ाए बिना कैसे रह सकता है ? जल से भरा मेघ गर्जे, और मयूर चुप रह जाए, ऐसा कैसे हो सकता है। अगर चुप रहता है, तो वह मयूर ही नहीं है। अस्तु हमें अब निर्माण के सृजनात्मक व रचनात्मक कार्य में पूरी शक्ति के साथ लग जाना है। वीरायतन की योजना इसी दिशा में एक सृजनात्मक प्रयास है।

भगवान् महावीर की स्मृति में वीरायतन के नाम से जो भव्य स्मारक खड़ा किया जा रहा है, उसके अंतर्गत हम और भी स्मारक खड़े कर सकते हैं। उस महापुरुष के नाम पर लगाए जा रहे विशाल पुष्पाराम में हम और भी अनेक पुष्पकुञ्ज लगा सकते हैं। समाज की कार्य शक्ति महान है। पर इधर उधर न बिखर कर यदि केन्द्रित रूप में उभरे तो वह अधिक दीर्घजीवी हो सकती है। संपूर्ण राष्ट्रीय स्तरपर यह कार्य होगा। सभी का सहयोग इसे मिलेगा।

अ० भा० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स ने इसे मान्यता दी है और सहयोग देने और दिलाने का आश्वासन दिया है। राजस्थान के जयपुर आदि प्रमुख संघों ने सहयोग के वचन दिए हैं। महाराष्ट्र और मद्रास से भी आश्वासन मिले हैं। नगर-नगर और गांव-गांव में व्यापक प्रचार की योजना है। अब तक जहाँ भी प्रचार हुआ है, मुक्त सहयोग मिला है। धीरे-धीरे आने वाले इन दो वर्षों में वीरायतन का आन्दोलन राष्ट्रव्यापी रूप ले सकेगा। स्वतन्त्रता संग्राम भी सर्व प्रथम पूर्व से ही प्रारंभ हुआ था, पश्चात् सारे राष्ट्र ने उसके स्वर में स्वर मिलाया था। वीरायतन की योजना भी पूर्व से ही शुरू हो रही है, आशा है धीरे-धीरे पूरे राष्ट्र में फैलती जाएगी। और यह फैलाव एक दिन विराट रूप धारण करेगा। आप जितनी आवाज बुलन्द करेंगे उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही दूरगामी होगी। आवश्यकता है शीघ्रता की।

हमारी श्रद्धा की कसौटी का यह एक महान अवसर आया है। सावधान रहें, परीक्षार्थियों में आप सबका नाम जा रहा है। अतः कोई भी भूल किए बिना आपको इसमें श्रम और श्री दोनों ही तरह का अपना योगदान देना है, वर्तमान पीढ़ी को यह स्वर्ण अवसर मिला है। अतः सचमुच में वह भाग्यशाली है।

इस अवसर का उत्साह के साथ सर्वात्मना स्वागत है।

★

वीरायतन : लोकमत

महावीर निर्वाण शताब्दी की स्मृति में राजगृह में जो वीरायतन केन्द्र खोला जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता है। सामाजिक संस्थाएँ अपने निश्चित ध्येय में प्रगतिशील बनें, यही हार्दिक अभिलाषा के साथ अभिनन्दन है।

—दुर्लभजी शामजी वीराणी, राजकोट।

वीरायतन योजना सभी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योजना है। यह जैन-जैनेत्तर सभी के लिए आदर्शवत् है, इसके लिए राजगृह का केन्द्र सभी दृष्टि से उचित है।

—प्रो० माधव श्री रणदिवे एम० ए० सितारा।

वीरायतन सर्वोदय तीर्थ है। कल्पवृक्ष है यह। इसकी शीतलछाया में बैठ कर मानव अभीष्ट लाभ पाने में सफल होगा। संकल्प में सिद्धि का वास है।

—यति जतनलाल, महासमुंद (म० प्र०)

★

साहित्य समीक्षा

जैन-धर्म में अहिंसा

लेखक—डॉ० वशिष्ठनारायण सिन्हा

प्रकाशक—सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर

प्राप्ति स्थान—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी–५

मूल्य—२० रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक शोध ग्रन्थ है। अहिंसा के सम्बन्ध में सर्वतोमुखी व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में जैन-परम्परा से भिन्न विश्व के अन्य धर्मों में अहिंसा का क्या दृष्टिकोण रहा है—इस विषय पर विस्तार से चर्चा है। मुख्य रूप में इस अध्याय में वैदिक-परंपरा में अहिंसा का क्या स्थान रहा है, इस पर विचार करते हुए वेद उपनिषद्, स्मृति, सूत्र, रामायण, महाभारत, गीता और पुराण आदि से पर्याप्त उद्धरण दिए गए हैं। योग, सांख्य और वेदान्त-दर्शन की दृष्टि से भी अहिंसा पर विचार किया है।

बौद्ध-परम्परा में दीघनिकाय, संयुत्तनिकाय, सुत्तनिपात, धम्मपद, विसुद्धिमग्गो और बोधिचर्यावतार जैसे विख्यात ग्रन्थों के आधार पर अहिंसा का पर्यवेक्षण किया गया है। साथ ही सिक्ख-धर्म, पारसी-धर्म, यहूदी-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि ऐशिया के प्राचीन धर्मों के संदर्भ में अहिंसा पर दृष्टिपात किया गया है। कन्फ्यूसियस, सूफी सम्प्रदाय और सिन्तो-धर्म के अनुसार भी अहिंसा का विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में जैन परंपरा के दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर अहिंसा के सम्बन्ध में पर्याप्त गंभीर विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में श्रावक के पाँच अणुव्रत, साधु के पाँच महाव्रत आदि पर काफी विस्तार के साथ लिखा गया है। अहिंसा की परिभाषा, अहिंसा का

स्वरूप, अहिंसा के विभिन्न नाम, हिंसा की उत्पत्ति एवं भेद, षट् काय की हिंसा और उसके कारण, स्व हिंसा और पर हिंसा, हिंसा करने वाले कुछ विशेष लोग तथा जातियों, हिंसा के फल, हिंसा के पोषक तत्त्व, अहिंसा और दया के भेद-प्रभेद, यथा प्रसंग दान का स्वरूप, दान के प्रकार तथा दान के फल— इस प्रसंग पर अनुकम्पा दान को लेकर स्थानकवासी और तेरहपन्थियों में जो विचार भेद है, उस पर भी विचार किया गया है। इस अध्याय के अन्त में अहिंसा का तात्त्विक विवेचन तथा महावीरकालीन अहिंसा के सिद्धान्त पर बहुत सुन्दर लिखा गया है।

चतुर्थ अध्याय में जैनाचार में अहिंसा का स्थान, श्रावक के १२ व्रतों का अतिचार सहित वर्णन, उपासकदशांग सूत्र के आधार पर २६ बोलों की मर्यादा और १५ कर्मादानों पर सुन्दर रीति से प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय में गांधीवादी अहिंसा तथा जैन-धर्म प्रतिपादित अहिंसा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि गांधीजी की अहिंसा और जैनधर्म की अहिंसा में कितना अन्तर है। इसी प्रसंग पर यह भी विचार किया गया है—अहिंसा और खेती, श्रमण और श्रावक, अहिंसा और यज्ञ, अहिंसा और ईश्वर, अहिंसा और दान तथा अहिंसा के अपवाद आदि विषयो पर प्रकाश डालते हुए अहिंसा का आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक विवेचन आदि अनेक दृष्टियों से अहिंसा को शोधकर्ता ने विचार की तुला पर तोला है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उपसंहार अध्याय में समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर गंभीर अनुशीलन एवं चिन्तन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक श्री वशिष्ठ नारायण सिन्हा अपने ग्रन्थ लेखन के उद्देश्य में शत-प्रतिशत सफल हुए हैं। अभी तक हिन्दी साहित्य में अहिंसा पर इतना सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था। भविष्य में अहिंसा पर शोध करने वाले विद्वानों के लिए यह ग्रन्थ मार्ग दर्शक का कार्य करेगा। अहिंसा पर गंभीर अध्ययन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ग्रन्थ पठनीय है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से भी ग्रन्थ अपने आप में परिपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य विषय अहिंसा होते हुए भी अहिंसा से सम्बन्धित अन्य विषयों पर भी यथाप्रसंग लेखक ने विचार किया है। अतः प्रत्येक दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वजन उपयोगी सिद्ध होगा। इतने सुन्दर प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं। —**बसन्त शास्त्री।**

●

मागधम्

सम्पादक—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री।

प्रकाशक—संस्कृत-प्राकृत विभाग, एच० डी० जैन कॉलेज मगध विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

पृष्ठ संख्या १०४।

प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत भाषा में है। वस्तुतः यह अनेक विद्वानों के द्वारा लिखे गए निबन्धों का एक अतीव सुन्दर संग्रह एवं संकलन है।

भारतीय दर्शनों में—"प्रमाण" यह एक मुख्य विषय रहा है। प्रत्येक दर्शन में अपने अभिमत तत्त्व की पुष्टि के लिए प्रमाण का लक्षण, उसका स्वरूप और उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन अपनी परम्परा के अभिमत ग्रन्थों में किया है। मुख्य रूप में प्रमाण, न्याय शास्त्र एवं तर्क-शास्त्र का विषय है। न्याय-शास्त्र में प्रमेय पर उतना बल नहीं दिया गया, जितना प्रमाण पर दिया गया है। न्याय-शास्त्र के अतिरिक्त वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, और मीमांसा आदि दर्शनों में भी प्रमाण पर अपनी-अपनी पद्धति से विचार किया गया है। बौद्ध-दर्शन में तो आगे चलकर प्रमाण चर्चा एक मुख्य विषय ही बन गया था। जैन-परम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही शाखाओं के आचार्यों ने प्रमाण विषय पर संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में एक-एक निबन्ध में विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं द्वारा अभिमत प्रमाण के स्वरूप को बताने का सफल प्रयास किया गया है।

अन्त में सम्पादक ने अपने सम्पादकीय लेख में समन्वयात्मक पद्धति से प्रमाण, प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का फल, प्रमाण के भेद-प्रभेद और प्रमाण के प्रामाण्य पर विद्वत्तापरिपूर्ण दृष्टि से बहुत ही सुन्दर लिखा है। यदि यह पुस्तक हिन्दी भाषा में लिखी गई होती तो, सर्व सामान्य के लिए अधिक उपयोगी होती। प्रकाशन एवं मुद्रण सुन्दर है।

—वसन्त शास्त्री।

●

समाचार दर्शन

● श्री जैन-सभा कलकत्ता के तत्त्वावधान में पर्यूषणपर्व पर क्षमापना का अतीव महत्त्वपूर्ण आयोजन हुआ। जैन समाज की वर्तमान सभी शाखाओं के सहधर्मी बन्धुओं की विराट उपस्थिति उल्लेखनीय थी। पं० मुनिश्री महेन्द्र कुमारजी प्रथम, साध्वी श्री चन्दनाजी दर्शनाचार्य, श्री विजयसिंहजी नाहर, प्रोफेसर के० सी० ललवानी आदि के प्रवचन बडे ही प्रभावशाली एवं प्रेरणाप्रद थे।

● तेरापंथी महासभा कलकत्ता द्वारा संचालित 'महावीर निर्वाण समिति' का दिल्ली में हुआ अधिवेशन रचनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा। उक्त अवसर पर अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी डी० लिट् के प्रेरणादायी प्रवचन ने उपस्थित जनता को काफी प्रभावित किया। समिति के सह-संयोजक श्री सरदारमल बैंगानी के परामर्श पर समिति का यह निर्णय उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय समिति के सदस्यों से हजार-हजार व पाँच सौ-पाँच सौ रुपये प्रति वर्ष लिए जाएँ।

● श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ नागपुर का स्वर्ण जयन्ती तथा स्मारिका प्रकाशन समारोह सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री संचालालजी बाफना की अध्यक्षता में विराट् आयोजन के साथ संपन्न हुआ। कांदावाड़ी तथा बालकेश्वर एस० एस० जैनसंघ के मंत्री श्री नगीनदास कल्याणजी शाह ने उद्घाटन-कार्य संपन्न किया।

● राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमरमुनिजी का आश्विन पूर्णिमा के दिन ६९वाँ जन्मोत्सव, कामानी जैन-भवन भवानीपुर में, बड़े समारोह के साथ संपन्न हुआ। उक्त अवसर पर योगसाधना, जप, आसन, प्रश्नोत्तर, धार्मिक अध्ययन आदि के लिए, त्रिदिवसीय शिवर का आयोजन भी था, जिसमें १६० बालक बालिकाओं ने भाग लिया। शिविर का उद्घाटन श्री रामकृष्ण सरावगी

(बंग राज्य सरकार के मंत्री) ने किया। विदुषीरत्न महासती श्री सुमति-कुंवरजी, श्री चन्दनाजी दर्शनाचार्य, श्री रमणभाई, तथा श्री रसिकभाई दोशी आदि के प्रभावशाली प्रवचन हुए। प्रत्येक शिविरार्थी को सुमति महिला मंडल, श्री वीराणीजी तथा जे० पी० मेहता की ओर से २३ रु० तथा धार्मिक पुस्तकों के उपहार दिए गए। उक्त अवसर पर जैन-कामानी भवन के अध्यक्ष श्री जगजीवन भाई ने जैन-पाठशाला का उद्घाटन भी किया।

● उपाध्याय अमरमुनि वक्तृत्व प्रतियोगिता का, दिनांक २२–१०–७२ के दिन, श्री श्वे० गुजराती स्थानकवासी जैन संघ० २७ मोलक स्ट्रीट कलकत्ता की ओर से, भव्य आयोजन किया गया। विषय था—'अणुयुग में धर्म की उपयोगिता।' प्रतियोगिता में ४० व्यक्तियों ने भाग लिया। गुणवंत भाई बोरा बेंगलोर साड़ीहाउस की ओर से प्रतियोगी भाई बहनों को अलग-अलग तीन पारितोषिक एवं ट्राफी तथा संघ की ओर से प्रत्येक को ११) प्रदान किए गए। प्रथम इनाम ३०० का, द्वितीय २०० का, और तृतीय १०० का था।

बहनों में प्रथम	सौ०	पुष्पाबहन शाह
द्वितीय	सौ०	गीता बहन मेहता
तृतीय	सौ०	हंसा बहन मेहता
भाइयों में प्रथम		पीयूष बदानी
द्वितीय		मुकेश लाठिया
तृतीय		अशोक दोमडिया

प्रथम आने वालों को तीन महीने के लिए ट्राफी दी गई।

—सौ० चन्द्राबहन हेमाणी

मंत्री—श्री सुमति महिला मंडल

● श्री गिरधरलाल भाई दामोदर दफ्तरी (बंबई) का दि० १–११–७२ को आकस्मिक स्वर्गवास, जैन संघ की अपूरणीय क्षति है। आप अतीव श्रद्धालु, समाज सेवी एवं कर्मठ सज्जन थे। धार्मिक और सामाजिक संस्थानों को आपके द्वारा प्राणवान सहयोग मिलता था। सीधासादा निश्छल धर्ममय जीवन था आपका। परिग्रह परिमाण व्रत के रूप में ३५ हजार की मर्यादा ले रखी थी, वर्ष में इससे ऊपर जो बढ़ता, वह सब दान कर दिया करते थे। उनकी यह उदार दान वृत्ति अनुकरणीय है। दिवंगत आत्मा को शान्ति लाभ हो, यह हम सबकी अन्तर्भावना है।

● श्री आनन्दराज जी सुराना जैन जगत् के सुप्रसिद्ध समाजसेवी कर्मठ नेता हैं। देश की राजनीति, धर्म एवं समाजनीति में आपकी सेवाएँ चिर-स्मरणीय हैं। श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेन्स के आप वर्षों से प्रधान मंत्री चले आ रहे हैं। अभी पिछले दिनों दिल्ली में बड़े समारोह के साथ आपका अभिनन्दन किया गया है और ८१वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में समाज की ओर से ८१ हजार की थैली अर्पण की गई है। हम प्राणिमित्र पद्मश्री सुराणा जी के दीर्घ, साथ ही सक्रिय जीवन की मंगल-कामना करते हैं।

● कलकत्ता-भवानीपुर में कार्तिक पूर्णिमा के मंगल पर्व पर साध्वी श्री चन्दनाजी द्वारा संपादित उत्तराध्ययन सूत्र का ग्रन्थविमोचन-उत्सव बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ। धर्मनिष्ठा सौ० ललिताबहन उत्तमचन्द पंचमिया के करकमलों से उद्घाटन विधि सम्पन्न हुई। उक्त अवसर पर महासती श्री यशाजी एवं कुमारी गीता मेहता के द्वारा ५० अवधान प्रयोग भी हुए, अदभुत स्मरण शक्ति से जनता चमत्कृत हो गई। उद्घाटन-उत्सव वस्तुत: अपनी विलक्षणता के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा।

● मध्यप्रदेश के सिंचाई व विद्युत मंत्री श्री अमोलकचन्द्रजी ने श्रीकृष्ण जैन महिला कलाकेन्द्र रतलाम का निरीक्षण कर प्रसन्नता प्रकट की कि बिना किसी सरकारी अनुदान के यह संस्था महिलाओं के लिए महत्वपूर्ण सेवाकार्य कर रही है। अपनी ओर से उन्होंने १०१) संस्था को भेंट किए। धन्यवाद।

● इन्दौर में मालवकेशरी प्र० व० मुनि श्री सौभाग्यमलजी के सुशिष्य श्री कमलमुनिजी ने ५२, श्री रतनमुनिजी ने ३२, महासती शील कुंवरजी ने ४२ तथा १५ वर्षीय बालिका प्रवीण कुमारी ने १८ उपवास किए। वैशाली मण्डप में तपोत्सव का विराट आयोजन किया गया, जिसमें मालवकेशरीजी, जैनाचार्य श्री विजयसमुद्र सूरीजी, श्री हंसमुखमुनिजी महासती श्रीमाणिककुंवर जी, म० प्र० के मंत्री श्री अमोलकचन्द्रजी छाजेड़, जैनरत्न श्री सुगनमल जी भंडारी, श्री फकीरचन्द्रजी मेहता, श्री सौभाग्यमलजी जैन तथा श्री संचालाल जी बाफना आदि के उद्बोधक अभिभाषण हुए। तप:पूर्ति के अन्तिम दिन ३०० तेले व १००० से अधिक उपवास की तपस्या हुई— हस्तीमल झेलावत।

जयपुर संघ के मंत्री जी का प्रेरणाप्रद उद्बोधन

● चारित्र चूड़ामणि, आचार्य प्रवर, पूज्य श्री नानालालजी म० के जयपुर चातुर्मास की समाप्ति पर विराट् जन सभा को संबोधित करते हुए, जयपुर संघ के महामंत्री श्री सरदारमलजी चौपड़ा ने कहा :—

····मुझे यह कहते हुए हार्दिक प्रसन्नता और गर्व की अनुभूति हो रही है कि जहाँ आचार्य श्री का चातुर्मास धार्मिक प्रधानता के सफल सम्पादन का प्रेरक

रहा है वहाँ दूसरी ओर वह सामाजीकरण की ओर बढ़ने के लिए स्फूर्तिदायक भी सिद्ध हुआ है। आज हमें विभिन्न सम्प्रदायों तथा पाट परम्पराओं के पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर भगवान महावीर की वाणी को मुखरित करना चाहिए। अलग-अलग बिखरे रहकर अपनी-अपनी शिष्य परम्परा को अमरत्व प्रदान करने की भावना को मिटाकर जैन सब एक हैं, के विचार को सुदृढ़ करना आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। आशा है आचार्य श्री और उनके साथी मेरे उक्त कथन को दृष्टि में रखेंगे तथा नई दिशा भी देंगे।····

आचार्य श्री नानालालजी महाराज जैसे क्रान्तिकारी सन्त ही इस दिशा में प्रबल नेतृत्व दे सकते हैं। बिखरे रह कर अमर होने की आशा करना एक भ्रान्ति होगी। हो सकता है परिवर्तन तथा परिवर्द्धन के परिवेश में आप को रूढ़िवादिता के कोप का भाजन भी होना पड़े। किन्तु चिकित्सक यह नहीं सोचता कि रोगी उसके इस व्यवहार से क्रुद्ध हो रहा है। वह तो कटु औषधि देकर भी उसकी पीड़ा को दूर करता है, यही आज की स्थिति है। जब तक आचार्य श्री जैसे समर्थ, साहसी तथा युग प्रवर्तक आगे बढ़कर इन रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों को नहीं ललकारेंगे, देश, जाति और समाज का कल्याण सम्भव नहीं। आज तो श्रमण संस्कृति के उपासक धार्मिक आयोजनों में भी व्यर्थ के बाह्य आडम्बरों में पैसे को पानी की तरह बहाते हैं। जैनधर्म तो अध्यात्मवादी धर्म है—उसकी सूक्ष्म दृष्टि मानव की आत्मा पर अवस्थित है ··· वह ऊँचता-नीचता के मानदण्डों से पर शुद्ध आत्मा की बात करता है। अतः जाति, सम्प्रदाय वेश आदि का ब्लेकमेल करने वाले जैन धर्म की आत्मा के साथ अन्याय कर रहे हैं····समाज के नैतिक चिकित्सक कहलाने वाले जब क्रान्तिकारी कदम उठायेंगे तभी समाज को नई दिशा मिल सकेगी। तभी युग की आवश्यकता के अनुसार धर्म के मानदण्डों में परिवर्तन हो सकेंगे।····

साधु काल और क्षेत्रकी सीमामें बन्धकर नहीं रहता है। यह तो, 'चरैवेति चरैवेति' के सिद्धान्त का अनुशीलन करता है। विचरण और विहार ही उस जीवन की साधना है। प्रकृति उसकी पाठ्य पुस्तक है—यह स्थान-स्थान पर जाकर भगवान् महावीर की वाणी को श्रवण कराता है। यदि समग्र भारत के छोटे-छोटे क्षेत्र की जनता के बीच पधार कर भगवान् की वाणी का रसास्वादन करावें तो रूढ़िवादिता से ग्रस्त समाज के ढंगों में बदलाव आ सकता है। मैं तो महाराज श्री से भी अनुनय विनय करूँगा कि वे भी चातुर्मास व्यवस्था में मितव्ययता लाने के लिये प्रेरणा दें तथा नूतन जागरण की स्नेहानिल से सबको शिक्षा दें—ताकि पुनीत चातुर्मास प्रक्रिया से छोटे बड़े गाँव तथा कस्बे सबही लाभान्वित हों···· ।●

मगध विश्वविद्यालय बोध गया में प्राकृत भाषा का अध्ययन

मगध चिर अतीत से ही श्रमण संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। तीर्थंकर महावीर और तथागत बुद्ध के चरण कमलों से यह प्रदेश पावन होता रहा है। उन्होंने प्रमुखरूप से मगध की ही तत्कालीन मागधी (पाली और अर्धमागधी, जो प्राकृत भाषा की ही एक शाखा है) भाषा में ही धर्मदेशना देकर जन जागरण का शंखनाद किया था।

प्रसन्नता है मगध विश्वविद्यालय ने अपनी पुरानी सांस्कृतिक परंपरा के सूत्र को फिर से पकड़ा है। फलस्वरूप प्राकृत एवं जैनसाहित्य विषयक M. A. की कक्षाएँ प्रारंभ की हैं। इसके लिए डा० श्री राजाराम जैन, उपकुलपति महोदय तथा प्रबंध समिति के अन्य सदस्य धन्यवादार्ह हैं।

डा० राजाराम जी ने उपाध्याय श्री (अमरमुनि) जी की सेवा में, इस संदर्भ में, जो पत्र दिया है, वह कितना भावनास्निग्ध एवं प्राकृतप्रेम का परिचायक है, एतदर्थ हम पाठकों की जानकारी के लिए डाक्टर साहब का पत्र और अध्ययन सम्बन्धी सूचना नीचे दे रहे हैं। पाली के ३२ छात्र-भिक्षु विदेशों से आकर अध्ययन-कर रहे हैं, जबकि प्राकृत के अभी तक ५ ही छात्र हैं। प्राकृत के छात्रों की यह अल्प संख्या सूचित करती है कि हमारी ज्ञानपिपासा कितनी अल्प है। उपाध्याय श्री जो चाहते हैं—यह प्यास बढ़े, ताकि हमारे ज्ञान विज्ञान के बंद द्वार खुलते जाएँ।

—संपादक

परम पूज्य मुनिश्री जी !

सविनय चरण स्पर्श

पिछले समय आपके सन्मति ज्ञानपीठ में ही आपके दर्शन किए थे। मैं आपके विराजमान रहने से आगरा को पुण्यतीर्थ मानता हूँ तथा उधर आने के लिए निरन्तर उत्सुक रहता हूँ।

आपकी अमर भारती हमें नियमित रूप से मिल रही है। मैं और मेरा परिवार आपके अमृतमय उपदेशों से बड़ा ही लाभान्वित हुआ है। गूढ़ एवं रहस्यपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन अत्यन्त सीधी सादी एवं प्रचलित भाषा-शैली में होता है, यह अमर-भारती की विशेषता है। यही कारण है कि वह सभी स्तर के लोगों में समान रूप से लोकप्रिय है।

इधर 'वीरायतन' की नवीन चर्चाएँ एवं विचार उसमें आ रहे हैं। सचमुच ही उसकी बड़ी आवश्यकता है। १९७४ तक उसके समग्र रूप से संचालन की क्षमता आपमें ही है। अतः मुझे विश्वास है कि आप उस कार्य हेतु तत्पर रहेंगे, जिससे एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो सके।

मगध विश्वविद्यालय ने पिछली फरवरी १९७२ से प्राकृत एवं जैन साहित्य विषयक M .A. का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया है। ५ छात्र अध्ययन कर रहे हैं। अब नवीन सत्र प्रारम्भ है। उसके लिए आप यदि कुछ योग्य छात्र या कुछ साधुओं को अध्ययन हेतु भेज सकें तो बड़ी प्रसन्नता होगी। बौद्ध देशों के लगभग ३२ छात्र-भिक्षु यहाँ पालि एवं बौद्ध दर्शन आदि का अध्ययन कर रहे हैं।............

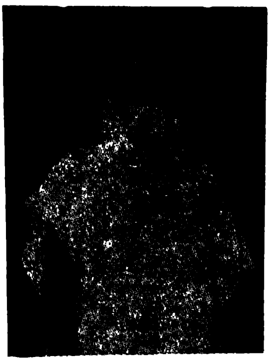
मगध विश्वविद्यालय बोधगया [बिहार]

उक्त विश्वविद्यालय ने प्राकृत एवं जैन साहित्य विषयक M. A. की कक्षाएं गतवर्ष से ही प्रारम्भ कर दी हैं।

नवीन सत्र (१९७२-७३) में उक्त कक्षाओं में प्रवेश प्रारम्भ होने जा रहा है। प्रवेशेच्छु छात्र, रजिस्ट्रार-मगध विश्वविद्यालय बोधगया (बिहार) को २।) सवा दो रुपए का पोस्टल आर्डर भेजकर प्रवेश सम्बन्धी नियम एवं आवेदन-पत्र शीघ्र ही मंगाकर आवेदन करें अथवा मुझसे सम्पर्क स्थापित करें।

योग्य छात्रों को समुचित छात्रवृत्ति आदि की भी व्यवस्था है।

—डा० राजाराम जैन, M. A. (द्वय) Ph .D. आचार्य
प्रभारी—स्नातकोत्तर प्राकृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)



उत्तराध्ययन सूत्र, संपूर्ण

संपादिका—साध्वी श्री चन्दना जी, दर्शनाचार्य
प्रकाशक —सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२
मूल्य —सुन्दर पक्की जिल्द के साथ
१५ रुपया मात्र

उत्तराध्ययन सूत्र, श्रमण भगवान् महावीर की अन्तिम धर्मदेशना है। अध्यात्मिक बोध का अक्षय स्रोत है यह महान् सूत्र। चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु से लेकर आजतक अनेक निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका और अनुवाद आदि जितने उत्तराध्ययन सूत्र पर हुए हैं, उतने अन्य किसी आगम पर नहीं।

प्रस्तुत संस्करण उसी स्वर्णशृंखला की एक सुन्दर कड़ी है। शुद्ध मूल पाठ, प्रत्येक अध्ययन का संक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित विवेचन, आज की परिष्कृत हिन्दी भाषा में मूलानुसारी भाववाही अनुवाद, अन्त में मूलसूत्र की अनेक जटिल गुरु-ग्रन्थियों को उद्घाटित करने वाले मार्मिक टिप्पण। सब कुछ इतना सुन्दर कि पिछले अनेक संस्करणों को पीछे छोड़ गया है यह विराट संस्करण ! आवरण पृष्ठ और अन्दर की साज सज्जा दर्शनीय है।

प्रारम्भ में उपाध्याय श्री अमरमुनि जी म० तथा पं० श्री विजय मुनि जी शास्त्री की विवेचनाप्रधान प्रस्तावना पठनीय है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन के सर्वांग सुन्दर संस्करण की जिन स्वाध्याय प्रेमी सज्जनों को अपेक्षा हो, वे शीघ्र ही लाभ उठाएं। —संपादक

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एवं प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२ द्वारा मुद्रित।